अंक : 66, भाग : 2, वर्ष : 2020-21
Vol. : 66, No. : 2, Year : 2020-21

ISSN:0554-9884
U.G.C. Care Listed Journal

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

भारत रत्न महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जी का सन्देश

"हम धर्म को चरित्र-निर्माण का सीधा मार्ग और सांसारिक सुख का सच्चा द्वार समझते हैं। हम देश-भक्ति को सर्वोत्तम शक्ति मानते हैं, जो मनुष्य को उच्चकोटि की निःस्वार्थ सेवा करने की ओर प्रवृत्त करती है।"

"पढ़ते समय सारी दुनिया को एक ओर रख दो और पुस्तकों में, लेखक की विचार धारा में डूब जाओ। यही तुम्हारी समाधि है, यही तुम्हारी उपासना है और यही तुम्हारी पूजा है।"

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अंक 66, भाग 2

वर्ष 2020-21

Published
by
The Banaras Hindu University

PRAJÑĀ
(Journal of the Banaras Hindu University)
Vol. 66 No. 2, 2020-21
ISSN 0554-9884
U.G.C Care Listed Journal

© Banaras Hindu University
January, 2022

All correspondence should be addressed to
The Editor 'PRAJÑĀ'
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI - 221 005

Printed at
B.H.U. Press
BANARAS HINDU UNIVERSITY

प्रज्ञा

मुख्य संरक्षक : प्रो. सुधीर कुमार जैन

कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संरक्षक मण्डल

रेक्टर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

निदेशक, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी.एच.यू.)

निदेशक, कृषि विज्ञान संस्थान

निदेशक, प्रबन्ध शास्त्र संस्थान

प्राचार्या, महिला महाविद्यालय

प्रमुख, सामाजिक विज्ञान संकाय

प्रमुख, संगीत एवं मंच कला संकाय

निदेशक, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

निदेशक, विज्ञान संस्थान

निदेशक, पर्यावरण एवं धारणीय विकास संस्थान

प्रमुख, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय

प्रमुख, दृश्य कला संकाय

प्रमुख, विधि संकाय

प्रमुख, वाणिज्य संकाय

सम्पादक मण्डल

प्रो. जय शंकर झा
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

प्रो. कमल नयन द्विवेदी
द्रव्यगुण विभाग, आयुर्वेद संकाय,
चिकित्सा विज्ञान संस्थान

प्रो. मिथिलेश कुमार पाण्डेय
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

डॉ. ज्ञान प्रकाश मिश्र
पत्रकारिता एवं जनसम्प्रेषण विभाग, कला संकाय

प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी
संस्कृत विभाग, कला संकाय

प्रो. आनन्द प्रसाद मिश्र
भूगोल विभाग, विज्ञान संस्थान

प्रो. सुमन जैन
महिला महाविद्यालय

डॉ. शत्रुघ्न त्रिपाठी
ज्योतिष विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय

सम्पादक

प्रमुख, कला संकाय

प्रो. विजय बहादुर सिंह

मानद सम्पादक

प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय

इमेरिटस प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

कुलगीत

मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी।
यह तीन लोकों से न्यारी काशी।
सुज्ञान धर्म और सत्यराशी॥
बसी है गंङ्गा के रम्य तट पर, यह सर्वविद्या की राजधानी। मधुर०॥
नये नहीं हैं ये ईंट पत्थर।
है विश्वकर्मा का कार्य सुन्दर॥
रचे हैं विद्या के भव्य मन्दिर, यह सर्वसृष्टी की राजधानी। मधुर०॥
यहाँ की है यह पवित्र शिक्षा।
कि सत्य पहले फिर आत्म-रक्षा॥
बिके हरिश्चन्द्र थे यहीं पर, यह सत्यशिक्षा की राजधानी। मधुर०॥
वह वेद ईश्वर की सत्यबानी।
बनें जिन्हें पढ़ के ब्रह्मज्ञानी॥
थे व्यास जी ने रचे यहीं पर, यह ब्रह्म-विद्या की राजधानी। मधुर०॥
वह मुक्तिपद को दिलानेवाले।
सुधर्मपथ पर चलाने वाले॥
यहीं फले-फूले बुद्ध शंकर, यह राज-ऋषियों की राजधानी। मधुर०॥
सुरम्य धाराएँ वरुणा अस्सी।
नहाए जिनमें कबीर तुलसी॥
भला हो कविता का क्यों न आकर, यह वागविद्या की राजधानी। मधुर०॥
विविध कला अर्थशास्त्र गायन।
गणित खनिज औषधि रसायन॥
प्रतीचि-प्राची का मेल सुन्दर, यह विश्वविद्या की राजधानी। मधुर०॥
यह मालवी की है देशभक्ति।
यह उनका साहस यह उनकी शक्ति॥
प्रकट हुई है नवीन होकर, यह कर्मवीरों की राजधानी।
मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी॥

- डॉ. शान्ति स्वरूप भटनागर

★

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

भारतरत्न पं० मदन मोहन मालवीय जी

संस्थापक - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आविर्भाव : वि.सं. 1918 पौषकृष्ण 8 (25.12.1861)
तिरोभाव : वि.सं. 2003 मार्गशीर्षकृष्ण (12.11.1946)

प्रो० विजय कुमार शुक्ल
कुलगुरू एवं
कार्यवाहक कुलपति
Prof. Vijay Kumar Shukla
Rector &
Officiating Vice-Chancellor

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय BANARAS HINDU UNIVERSITY

Telephone : 0542-2368938
Fax : 0542-2369100
Email : vc@bhu.ac.in
rector@bhu.ac.in
Website: www.bhu.ac.in

१८ अगस्त, २०२१

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष की अनुभूति हो रही है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठित शोध-पत्रिका **"प्रज्ञा"** के वर्तमान अंक – ६६, भाग – २, वर्ष २०२०-२१ का प्रकाशन किया जा रहा है। यह पत्रिका विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की केयर सूची में नामित है तथा इस त्रिभाषिक पत्रिका में हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा मे लिखे गये शोध प्रपत्र / लेख प्रकाशित होते हैं । **"प्रज्ञा"** पत्रिका विगत ६३ वर्षों से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की वैदूष्य परम्परा का सफल निर्वहन करती आ रही है। इस बहुआयामी पत्रिका में ज्ञान/विज्ञान के अनेक क्षेत्रों से संबन्धित स्तरीय लेख प्रकाशित होते हैं।

यह पत्रिका गत अंकों की भाँति विद्वान पाठकों में समादृत एवं सामान्य पाठकों में लोकप्रिय सिद्ध हो, इसी विश्वास के साथ मैं इस पत्रिका के मुख्य संपादक (मानद) एवं उनके सभी सहयोगियों को साधुवाद और शुभकामना देता हूँ।

(विजय कुमार शुक्ला)

BHU capital of knowledge

स्वच्छ भारत एक कदम स्वच्छता की ओर

सम्पादकीय

भविष्यद्रष्टा भारतरत्न से विभूषित पूज्य महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय जी ने बसन्त पंचमी के शुभ दिन पर सन् 1916 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। उन्हें सुदृढ़ विश्वास था कि देश अवश्यमेव स्वतन्त्रता को प्राप्त करेगा। उनका संकल्प था कि यहाँ से अध्ययन प्राप्त किये छात्र प्राच्य एवं पाश्चात्य ज्ञान से समन्वित हों। इस महान् विश्वविद्यालय का मूल उद्देश्य प्राची एवं प्रतीची विद्याओं का सुन्दर समन्वय कराना था। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुये विश्वविद्यालय से ''प्रज्ञा'' पत्रिका प्रकाशित होना आरम्भ हुयी। ''प्रज्ञा'' के अंक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की बेवसाइट पर भी उपलब्ध हैं।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली की केयर लिस्ट में सम्मिलित प्रसिद्ध शोध-पत्रिका ''प्रज्ञा'' के प्रस्तुत अंक (अंक-66, भाग-2, वर्ष-2020-21) में कुल 53 (तिरपन) शोध प्रपत्र/लेख संकलित हैं। इस अंक में हिन्दी-भाषा में लिखे गये 20 शोध प्रपत्र/लेख संकलित हैं। इस अंक में ज्ञान/विज्ञान के विविध विषयों पर आधारित लेख संकलित हैं। इन क्षेत्रों में हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, साहित्य तथा राजनीतिविज्ञान, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, योगविद्या, ज्योतिषशास्त्र, संगीत, शिक्षा, भारतीय-संस्कृति, भूगोल, मीडिया, चिकित्साविज्ञान, आयुर्वेदशास्त्र, बौद्ध-साहित्य, दर्शनशास्त्र एवं विधिशास्त्र आदि क्षेत्रों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुझे आशा है कि इन लेखों के अध्ययन से जिज्ञासु पाठकों को पर्याप्त लाभ होगा।

प्रस्तुत अंक के प्रकाशन के अवसर पर मैं सर्वप्रथम अपने कुलपति आदरणीय प्रो0 सुधीर कुमार जैन के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिनकी डायनमिक पर्सनालिटी प्रभावशाली रही हैं। तदुपरान्त कुलगुरु (रेक्टर) प्रो0 विजय कुमार शुक्ल के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, आपके बहुमूल्य विचारों और प्रेरणाओं से हम सदैव लाभान्वित होते रहते हैं। इसके उपरान्त कुलसचिव डॉ0 नीरज त्रिपाठी, वित्ताधिकारी श्री अभय ठाकुर, परीक्षा-नियन्त्रक डॉ0 मनोज कुमार पाण्डेय एवं अन्य अधिकारियों को उनके सकारात्मक सहयोग हेतु हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। संरक्षक-मण्डल एवं सम्पादक मण्डल के सभी सम्मानित सदस्यों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनका बहुमूल्य परामर्श मुझे प्राप्त होता रहा है। जिन विद्वानों एवं विदुषियों ने अपने वैदुष्यपूर्ण लेख से इस अंक को समृद्ध किया है, उन्हें भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस के प्रभारी प्रो0 हीरालाल प्रजापति एवं उनके समस्त सहयोगियों को साधुवाद देता हूँ, जिन्होंने इस अंक के यथोचित प्रकाशन में सकारात्मक सहयोग किया। अन्त में ''प्रज्ञा'' कार्यालय के अपने आत्मीय सहयोगियों, श्री जयप्रकाश एवं श्री अशोक कुमार के प्रति धन्यवाद प्रकट करता हूँ, जिन्होंने इस अंक के मुद्रण एवं प्रकाशन में सक्रिय भूमिका का निर्वहन किया है।

विजय बहादुर सिंह

(प्रो0 विजय बहादुर सिंह)
सम्पादक 'प्रज्ञा' जर्नल
कला संकाय प्रमुख, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादकीय

भविष्य दृष्टा भारतरत्न पूज्य महामना पंण्डित मदन मोहन मालवीय जी ने बसंत पंचमी के दिन सन् 1916 ई0 में इस महान विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। उन्हें विश्वास था कि एक न एक दिन हमारा देश अवश्य स्वतंत्र होगा, तब उसके सफल संचालन एवं कुशल प्रबंधन हेतु राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत विद्वानों एवं सक्षम प्रशासकों की आवश्यकता होगी। दूरदर्शी महामना ने राष्ट्र की भावी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु इस महान विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। उनका स्पष्ट मत था कि इस विश्वविद्यालय से निकले हुये छात्र न केवल उच्चकोटि की बौद्धिक क्षमता से युक्त हों अपितु उनमें उत्तम कोटि की आचरणगत पवित्रता एवं सात्विक नैतिक मूल्यों का भी समावेश हो। उनका संकल्प था कि यहाँ से निकले हुए छात्र प्राच्य विद्या एवं पाश्चात्य ज्ञान से समन्वित हों। इस महान विश्वविद्यालय का मूल उद्देश्य प्राची एवं प्रतिची विद्यायों का सुंदर मेल कराना है। ''**प्रज्ञा**'' पत्रिका यू0जी0सी0 की केयर लिस्ट में सम्मिलित है। ''**प्रज्ञा**'' के अंक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की बेबसाइट पर भी उपलब्ध हैं।

''प्रज्ञा'' के प्रस्तुत अंक (अंक-66, भाग-2, वर्ष 2020-21) में कुल 53 (तिरपन) शोध प्रपत्र/लेख संकलित हैं। इस अंक में हिंदी भाषा में लिखे गये 31 शोध प्रपत्र/लेख, संस्कृत भाषा में लिखे गये 02 शोध प्रपत्र/ लेख एवं अंग्रेजी भाषा में लिखे गये 20 शोध प्रपत्र/ लेख संकलित हैं। इस अंक में ज्ञान/विज्ञान के विविध अनुशासनों से सम्बन्धित स्तरीय लेख संकलित हैं। इन क्षेत्रों में-हिंदी, संस्कृत एवं अंग्रेजी साहित्य तथा राजनीतिविज्ञान, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, योगविद्या, ज्योतिष शास्त्र, संगीत, शिक्षा, भारतीय संस्कृति, भूगोल, मीडिया, चिकित्साविज्ञान, आयुर्वेद शास्त्र, बौद्ध साहित्य, दर्शन शास्त्र, एवं विधि शास्त्र आदि क्षेत्रों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुझे विश्वास है कि इन लेखों के अध्ययन से जिज्ञासु पाठकों को पर्याप्त लाभ होगा।

प्रस्तुत अंक के प्रकाशन के अवसर पर मैं सर्वप्रथम वर्तमान कुलपति प्रो0 सुधीर कुमार जैन के प्रति अपार श्रद्धा एवं हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके कर्मठ व्यक्तित्व से हमें पर्याप्त प्रेरणा मिलती है तदनन्तर कुलगुरु प्रो0 विजय कुमार शुक्ल के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिनकी डायनमिक पर्सनालिटी से मैं सदा प्रभावित रहा हूँ। तदुपरान्त कुलसचिव डॉ0 नीरज त्रिपाठी, वित्तअधिकारी श्री अभय ठाकुर, परीक्षा नियंत्रक, डॉ0 मनोज कुमार पाण्डेय एवं अन्य अधिकारियों को उनके सकारात्मक सहयोग एवं सुझावों हेतु हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। संरक्षक मण्डल एवं सम्पादक मण्डल के सभी सम्मानित सदस्यों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिनका बहुमूल्य परामर्श मुझे मिलता रहा है। कला संकाय के प्रमुख प्रो0 विजय बहादुर सिंह को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिनके निरभिमान व्यक्तित्व एवं आत्मीयतापूर्व व्यवहारों ने मुझे सदा प्रभावित किया है। जिन विद्वानों ने अपने विद्वतापूर्ण लेख से इस अंक को समृद्ध किया है, उन्हें भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। बी0एच0यू0 प्रेस के प्रभारी प्रो0 हीरालाल प्रजापति एवं उनके समस्त सहयोगियों को साधुवाद देता हूँ, जिन्होंने इस अंक के यथोचित प्रकाशन में सकारात्मक सहयोग किया। मैं ''प्रज्ञा'' कार्यालय के अपने आत्मीय सहयोगियों, श्री जयप्रकाश एवं श्री अशोक कुमार के प्रति शुक्रिया अदा करता हुँ, जिन्होंने इस अंक के मुद्रण एवं प्रकाशन में सक्रीय सहयोग किया।

(डॉ. श्रीनिवास पाण्डेय)
सम्पादक (मानद), 'प्रज्ञा' जर्नल
इमरिटस प्रोफेसर एवं पूर्वाध्यक्ष हिन्दी विभाग
तथा पूर्व प्रमुख कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विषय-सूची

1. रीतिकालीन कवि सेनापति के काव्य का वैशिष्ट्य 1
प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय

2. ज्योतिशास्त्र में भूगर्भविज्ञान 5
डॉ. शत्रुघ्न त्रिपाठी

3. योग-विद्या की विकास-यात्रा-ऐतिहासिक सिंहावलोकन 11
प्रो. उपेन्द्र कुमार त्रिपाठी एवं डॉ. कृष्ण मुरारी त्रिपाठी

4. डॉ. बी0आर0 आम्बेडकर का सामाजिक और लैंगिक - न्याय दर्शन : भारतीय राजनीतिक परिप्रेक्ष्य 17
डॉ. अंशु मिश्रा एवं डॉ. धर्मेन्द्र कुमार मिश्रा

5. भारतीय साहित्य में भक्ति आंदोलन (हिन्दी-साहित्य के विशेष संदर्भ में) 24
प्रो. अशोक सिंह एवं दिप्ति

6. दक्षिण भारत की सांगीतिक मेल पद्धति 28
प्रियंका एवं डॉ. मंगला कपूर

7. हिन्दी साहित्य में कजली की परम्परा : कुछ साक्ष्य 32
सतीश कुमार एवं डॉ. सतीश चन्द्र दुबे

8. भारत की समृद्ध कसीदाकारी परम्परा : एक परिचय 38
डॉ. जसमिन्दर कौर

9. शिक्षा के संदर्भ में भारतीय मनीषियों के विचार 44
डॉ. उषा त्रिपाठी

10. जैन देवकुल में ब्राह्मण देवी - देवताओं का आत्मसातीकरण 50
राहुल कुमार भारती एवं डॉ. प्रियंका सिंह

11. शक-क्षत्रपों का भारतीय संस्कृति में आत्मसातीकरण 55
डॉली पटवा एवं डॉ. प्रियंका सिंह

12. गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में अंकित दैनिक उपादान की वस्तुएँ 59
डॉ. आनन्द कुमार गौतम एवं डॉ. आभा मिश्रा पाठक

13. गीता में ज्ञान एवं विज्ञान 67
डॉ. कंचन दूबे

14. महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी का आदर्श व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व 71
डॉ. विचित्रसेन गुप्त

15. विविध विज्ञानों का केन्द्र बिन्दु आम्नाय समग्र 76
डॉ. (श्रीमती) निधि गोस्वामी

16. प्रेमचंद की साम्प्रदायिकता विरोधी चेतना 83
डॉ. राजीव कुमार वर्मा

17. नरेश मेहता की काव्य-भाषा 87
डॉ. प्रेम निवास सिन्हा

18. किशोरावस्था में मनो-सामाजिक समस्याएँ एवं समाधान 98
डॉ. माया सिंह

19. 'रामराज' की परिकल्पना में समाज-व्यवस्था का स्वरूप 102
डॉ. विकास कुमार

20. शक्ति-उपासना 106
डॉ. धनंजय प्रसाद शास्त्री

21. न्याय का आदर्श - जॉन रॉल्सके विशेष सन्दर्भ में 121
डॉ. ममता उपाध्याय

22. गोंड जनजाति की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन (1526 से 1707 के विशेष संदर्भ में) 125
डॉ. रामेश्वर मिश्र एवं डॉ. चूणामणि मिश्र

23. मानवीय मूल्य और महामना मालवीय जी का चिंतन 130
डॉ. ऋतम्भरा तिवारी

24. संत-मत में माया का स्वरूप 133
डॉ. राकेश कुमार द्विवेदी

25. छत्तीसगढ़ राज्य के बस्तर संभाग में जनजातीय घढ़वा हस्तशिल्प (बेलमेटल या ढोकरा कला) उद्‌भव एवं विकास 138
शिव कुमार सिंघल एवं डॉ. एल.आर. सिन्हा

26. भक्तिमार्गविशारदा शबरी 144
सुनीता मिश्रा एवं प्रो. उपेन्द्र पाण्डेय

27. भारत में पर्यटन की समस्यायें एवं संभावनाएँ 148
डॉ. राजबहादुर एवं डॉ. संजय सिंह

28. 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में संस्कृत-साहित्य का प्रभाव 156
रिंकी कुमारी एवं डॉ. शिल्पा सिंह

29. लोकमान्य तिलक के स्वराज्य विषयक सूत्र एवं सूरत कांग्रेस अधिवेशन में नरमपंथ-गरमपंथ की विभाजक - गाथा : अंग्रेजी समाचार पत्रों की तिलक विषयक टिप्पणी पर आधारित समीक्षात्मक आलेख 161
प्रो. राकेश कुमार उपाध्याय

30. साहित्यचूडामणि पं0 वायुनन्दन पाण्डेय की सारस्वतोपासना 168
डॉ. राजेश सरकार

31. जगत्सृष्टिनिरूपणम् 174
डॉ. मिताली देव

32. बौद्ध-वैदिक परम्परयो : कर्मसिद्धान्तविवेचनम् 176
डॉ. सरोज कुमार पाढ़ी एवम् रम्बुक्कन अमितानन्द थेरो

33. सत्यव्रतशास्त्रिविरचितं श्रीबोधिसत्त्वचरितस्य-समीक्षात्मकम् अध्ययनम् 178
डॉ. शिप्रा-राया

34. Medical Humanities : Language and Literature in Medical Profession 181
Arti Nirmal

35. Research Productivity of Banaras Hindu University During 2012-2019: a Bibliometric Study 188
Ashwin Kumar Kushwaha and Prof. Ajay P. Singh

36. A Smart City in India Context : Constraints and Aspirations From Varanasi City 196
U.K. Banerjee, Prof. G.S. Singh and Prof. D. Mohan

37. Media and Nationalism : A Pratnership That's ended 204
Dr. Susmita Singh and Neelaksh Pithauria

38. Digital Companionship and Alone-Together- A New Demographic Indulgence 212
Dr. Neha Pandey

39. Related Researches on Educational Aspiration : A Review 216
Khushaboo Verma and Dr. G.C. Bhattacharya

40. An Essay on the History, Origin and Fluidity of the Term Gender 221
Dr. Seema Tiwari

41. Observational Study of Respiratory Disease Through Radio - Diagnostic W.S.R. to Pranavahasrotas 226
Dr. A. K. Dwivedi, Dr. S. S. Mishra, Dr. A. K. Singh and Dr. P. Mishra

42. Use of Soil Health Card for Crop Management Practice in Varanasi District of Uttar Pradesh, India 229
Dr. O.P. Singh, Dr. P.K. Singh and Rakesh Mishra

43. Buddhist Pilgrimage in India : Promoting Regional Cooperation, Harmony and Peace 236
Dr. Priyanka Singh and Dr. Pravin Singh Rana

44. Bed-Time Stories, The Princess and The Prince : Gender Role Socialization 241
Bithika Das and Dr. Susmita Singh

45. *Kāma Puruṣārtha*, A Philosophical Reappraisal 246
Dr. Jai Singh

46. Understanding Crime, Gender and Society 250
Dr. Bibha Tripathi

47. Kautilya's Approach to Agriculture and Industry 254
Prof. A. P. Pandey

48. Covid 19 : A Major Role Player in Changing Indian Office and Work Culture 260
Dr. Shivesh

49. Dimensions of Sustainability of Rural Livelihood : A Theoretical Perspective 263
Dhiraj Kumar Sharma and Prof. Suman Singh

50. Kautilya's Arthashastra - The Disappearance and Resurfacing 268
Prof. Rachna Srivastava

51. Management Education Need to Prepare Students with Employability 275
Dr. Subhash Pratap Singh

52. Gandhian Overtones in Dina Mehta's and Some Take a Lover 278
Prof. J. S. Jha

53. Does India Really Need a Uniform Civil Code 283
Om Prasad Tripathy and Prof. Sibaram Tripathy

54. **''प्रज्ञा'': नियम एवं निर्देश** 160

आवश्यक सूचना : **''प्रज्ञा''** पत्रिका के इस अंक में छपे हुए सभी लेखों/शोध-प्रपत्रों में व्यक्त विचार लेखकों के स्वयं के विचार हैं। उनसे सम्पादक, प्रकाशक अथवा विश्वविद्यालय प्रशासन का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

रीतिकालीन कवि सेनापति के काव्य का वैशिष्ट्य

*डॉ. श्रीनिवास पाण्डेय**

कविवर सेनापति रीतिकाल के आरम्भिक दौर के महत्वपूर्ण कवि हैं। सेनापति का मूल नाम अज्ञात है। वे कवि नाम सेनापति के नाम से हिंदी जगत में प्रसिद्ध हुए हैं। सेनापति की प्रसिद्ध कृति 'कवित्त रत्नाकर' है, जिसकी पहली तरंग के छंद संख्या 5 में उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि का उल्लेख किया गया है—

''दीक्षित परसराम दादौ है बिदित नाम।
जिन कीनै यज्ञ, जाकी जग मैं बड़ाई है।
गंगाधर पिता, गंगाधर की समान जाकौं,
गंगा तीर बसति अनूप जिन पाई है।
महाजानिमनि, विद्यादानहू कौं चिंतामनि,
हीरामनि दीक्षित तैं पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई, सीतापति के प्रसाद जाकि,
सब कबि कान दै सुनत कविताई हैं।''

उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लेख है कि इनके पितामह परशुराम दीक्षित एवं पिता गंगाधर दीक्षित जी थे। ये गंगा के किनारे स्थित अनूप शहर के निवासी थे। इनके विद्यागुरु हीरामनि दीक्षित थे। ये रामोपासक थे और राम की कृपा का प्रसाद अपनी कविताई को मानते थे। इनकी एक और रचना 'काव्यकल्पद्रुम' का भी उल्लेख मिलता है, लेकिन वह अभी तक अप्राप्य है। सम्भवतः संवत् 1680 के आसपास इस ग्रंथ की रचना हुई थी; अतः अनुमान किया जाता है कि इनका जन्म लगभग संवत 1650 के आसपास हुआ होगा। इस छंद से स्पष्ट है कि ये दीक्षित परिवार में जन्म लिये थे और असली नाम दीक्षित से जुड़ा हुआ होगा, लेकिन अभी तक इनका मूल नाम अज्ञात है।

सेनापति की अत्यन्त प्रसिद्ध कृति 'कवित्तरत्नाकर' है, जो पाँच तरंगों में विभाजित है। पहली तरंग में कुल 96 कवित्त हैं, जिनमें 'श्लेष-वर्णन' है। दूसरी तरंग में कुल 74 कवित्त हैं, जिनमें 'शृंगार वर्णन' हैं। तीसरी तरंग में कुल 62 छंद हैं, जिनमें 'ऋतु वर्णन' है। चौथी तरंग में 76 छंद हैं, जिनमें 'रामकथा' का चित्रण किया गया है। इस तरंग में कवि ने राम कथा के कुछ चुने हुए प्रसंगों का चित्रण किया है, जिसमें कवि के रूचि के अनुरूप ओज गुण की प्रधानता है। पांचवी तरंग में कुल छंद संख्या 86 है, जिनमें 'राम रसायन का वर्णन' किया गया है। इसर तरंग में सेनापति की रामभक्ति का स्पष्ट परिचय मिलता है।

सेनापति का प्रकृति चित्रण

1. प्रकृति का आलम्बनगत चित्रण–

कविवर सेनापति असाधारण काव्य प्रतिभा के धनी थे। उनकी भाषा-शैली, अलंकार का प्रयोग एवं उनके विम्बविधान भी अत्यन्त उच्चकोटि के हैं। प्रकृति वर्णन की दृष्टि से सेनापति का काव्य समूचे रीतिकाल के कवियों में बेजोड़ है। रीतिकाल के अधिकांश कवि प्रकृति का उद्दीपनगत चित्रण करते हैं। उनके यहाँ प्रकृति नायक का नायिका के मनोभावों के उदीप्त करने के साधन मात्र हैं। रीतिकाल के अधिकांश कवियों के यहाँ प्रकृति नायक या नायिका की बिरहावस्था या संयोगावस्था को प्रगाढ़ता प्रदान करते हैं। सेनापति का प्रकृति चित्रण इस दृष्टि से विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि इनके यहाँ प्रकृति का स्वतंत्र रूप का भी काफी मार्मिक चित्रण किया गया है। इनके यहाँ प्रकृति स्वयं आलम्बन है। इसका पर्याप्त प्रसार हमें आगे चलकर छायावादी कवियों में दिखाई पड़ता है।

इनके यहाँ स्वतंत्ररूप से प्रकृति के स्वरूप का चित्रण आलम्बनरूप में है। इसका एक स्पष्ट एवं सशक्त उदाहरण निम्न पंक्तियों में दृष्टव्य है—

''वृष कौ तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत है।
तचति धरनि जग जरत झरनि सीरी
छाँह कौं पकरि पंथी-पंछी बिरमत है।
सेनापति नैंक दुपहरी के ढरत होत
धमका विषम ज्यौं न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर कौं पकरि कौंनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामैं बितवत है।''

यहाँ स्पष्ट है कि वृष राशि का सूर्य सहस्रों किरणों से धरती को तपा रहा है। उसकी प्रचण्ड ज्वाला से सम्पूर्ण धरती भयंकर रूप से जल रही है और उस ज्वाला से पीड़ित पंथी किसी छाया में विश्राम कर रहा है। प्रचण्ड दुपहरी में कोई पत्ता भी नहीं खड़कता (हिलता) है। ऐसा लग रहा है कि भीषण गर्मी से व्याकुल होकर पवन भी किसी पंथी की तरह किसी छाया में विश्राम कर रहा है। यहाँ स्पष्ट रूप से वृष राशि के सूर्य की प्रचण्डता का स्वतंत्ररूप से वर्णन किया गया है। यह प्रकृति किसी नायक नायिका के भावों को उदीप्त नहीं कर रही है। प्रकृति का ऐसा सूक्ष्म नीरीक्षण एवं जीवंत

* एमरिटस प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

चित्रण रीतिकाल के अधिकांश कवियों में नहीं पाया जाता है। यही सेनापति के प्रकृति चित्रण की खास विशेषता है।

'ऋतुवर्णन' नामक तीसरी तरंग के प्रथम छंद में कविवर सेनापति ने ऋतुराज बसंत का चतुरंगीणी सेना समेत एक राजा के आगमन के रूप में सजीव चित्रण किया है। इस छंद में रूपक अलंकार के माध्यम से ऋतुराज बसंत के राजसी ठाट-बाट, उनके शानदार आगमन एवं उनके सहायक उपादानों का स्पष्ट रूप से चित्रण किया गया है। यह चित्रण उनकी असाधारण काव्य प्रतिभा एवं प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचायक है—

'बरन बरन तरु फूले उपवन बन,
सोई चतुरंग संग दल लहियत है।
बंदी जिमि बोलत बिरद बीर कोकिल है
गुंजत मधुप गान गुन गहियत है।
आवै आस-पास पुहुपन की सुबास सोई
सोधे के सुगंध माँझ सने रहियत है।
सोभा कौ समाज सेनापति सुख-साज, आज
आवत बसंत रितुराज कहियत है।'

उपर्युक्त कवित्त में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि बसंत रूपी राजा की चतुरंगिणी सेना है, विविध वर्णों (रंगों) में बृक्षों एवं बगीचों में फुले हुए ढेर सारे फूल उसके अंग हैं। ऋतुराज वसंत राजा के स्वागत में कोयल एवं भौंरे बंदी जनों की भाँति उसका गुणगान कर रहे हैं। विविध प्रकार के पुष्पों से निकलने वाली अनेक प्रकार की सुगंधों से ऋतुराज सरोबार हैं। इस प्रकार शोभा एवं राजसी वैभव से सजे हुए वसंत राजा का धरती पर शानदार आगमन हो रहा है। इस छंद में राजसी वैभव एवं प्रकृति-सौन्दर्य में अद्भुत सामंजस्य स्थापित किया गया है।

'ऋतुवर्णन' नामक तीसरी तरंग के इकतीसवें छंद में सेनापति के सावन ऋतु के बादलों का आलम्बनगत चित्रण किया गया है। सावन ऋतु में काले-काले बादलों को काजल के पहाड़ों जैसा बताकर एक रमणीय दृश्य बिम्ब का सृजन किया गया है। उन्हें दिन में व्याप्त अंधकार को देखकर लगता है मानों सूर्यदेव कहीं छिप कर बैठ गये हैं या खो गये हैं। यहाँ पर एक विलक्षण उत्प्रेक्षा है, जो उनकी काव्य प्रतिभा एवं असाधरण पौराणिक ज्ञान का परिचायक है। उनकी यह उत्प्रेक्षा की सावन मास के दिन में भी व्याप्त अंधकार को देखकर लगता है कि दिन में रात के भ्रम के कारण नारायण (स्याम) भी सो गये हैं। चतुर्मास में नारायण के शयन पर जाने का प्रसंग शास्त्रों में स्पष्ट रूप से वर्णित है। इसी पौराणिक मान्यता को सेनापति ने निम्न छंद में अपनी कल्पना का आधार बनाया है—

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोइ कै।
सोभा सरसाने न बखाने जात काहू भाँति
आने हैं पहार मानौं काजर के ढोई कै।
घन सौं गगन छयौ तिमिर सघन भयौ
देखि न परत मानौं रवि गयौ खोई कै।
चारिमास भरि स्याम निसा के भरम करि
मेरे जान याही तैं रहत हरि सोइ कै।

इस छंद में उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना बहु अर्थगर्भी एवं गहरे सांस्कृतिक बोध से समन्वित है।

2. प्रकृति का उद्दीपन गत चित्रण–

रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने प्रकृति का उद्दीपनगत चित्रण बहुतायत से किया है। इन कवियों के यहाँ प्रकृति नायक या नायिका के साहचर्य में रहती है। उसकी भावनाओं के अनुरूप प्रकृति का प्रभाव एवं स्वभाव बदलता रहता है। यदि प्रिय एवं प्रियतम साथ में हैं और वे परस्पर प्रेम में आमग्न हैं, तब वे सुखद भाव का अनुभव करते हैं, उन्हें प्रकृति सुखदायी एवं आनन्दमयी प्रतीत होती है। जब प्रिय एवं प्रियतम एक दूसरे से दूर रह कर बिरह पीड़ा का अनुभव करते हैं, तब उनके जीवन का क्षण-क्षण अत्यन्त दुःखदायी एवं पीड़ादायक प्रतीत होता है। ऐसे समय में नायक एवं नायिका को प्रकृति के प्रत्येक उपादान पीड़ादायक प्रतीत होते हैं। संयोगावस्था में जो प्रकृति उन्हें प्रीतिकर लगती थी वही प्रकृति अब वियोगावस्था में कष्टकर प्रतीत हो रही है। प्रकृति के उद्दीपन गत स्वरूप की यही विशेषता है कि वह नायक या नायिका के सुखात्मक या दुःखात्मक भावों को उद्दीप्त करती है। कविवर सेनापति भी अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति प्रकृति के उद्दीपन गत रूपों का पर्याप्त मात्रा में चित्रण किया है। इस दृष्टि से निम्न छंद विशेषरूप से उल्लेखनीय है—

''लाल लाल केसू फूलि रहे हैं बिसाल, संग
स्याम रंग भेंटि मानों मसि में मिलाए हैं।
तहाँ मधुकाज आइ बैठे मधुकर-पुंज,
मलय पवन उपबन-बन धाए हैं।।
सेनापति माधव महीना मैं पलास तरू
देखि देखि भाउ कविता के मन आए हैं।
आधे अन-सुलगि, सुलगि रहे आधे, मानौं
बिरही दहन काम क्वैला परचाए हैं।।''

उपर्युक्त छंद में उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से माधव महीना की प्रकृति का अत्यन्त मनोहर ढंग से उद्दीपनगत चित्रण किया गया है। फूले हुए पलास के लाल फूल एवं उसके मूल में लगी हुयी कालिमा (स्याम रंग) को देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है, मानो काम देव ने विरहिणियों को दग्ध करने हेतु काला कोयला जला रखा है, जिसमें आधे तप्त होकर लाल रंग के हैं और आधे अनजले हुए

काले रंग के हैं। कवि ने अनजले काले रंग की उपमा काले काले मधुपों से भी दी है।

सावन की रात में विरहिणी को अपने प्रिय की स्मृति एवं उनकी प्रेमपूर्ण वाणियों का ध्यान आता है, जिसे पावस की ऋतु और अधिक उदीप्त करती है। इस उदीप्त माहौल में प्रिय की प्रेम पाती न मिलने से उसकी भावनाये उमड़ पड़ती हैं। बादलों की मधुर गर्जन से उसकी प्रेममयी छतियाँ उमड़-घुमड़ रही हैं। मनभावन लाल के न आने से सावन ऋतु की रात बावन भगवान के विराट पग (कदम) जैसी विशाल हो गयी है। यहाँ पर कवि के पौराणिक ज्ञान का बोध होता है। यहाँ पर कवि ने विष्णुभगवान के बावनावतार की कथा की काव्यमय अभिव्यक्ति कलात्मक रूप में किया है।

पावस ऋतु में विरहिणियों की बिरह व्यथा को बढ़ाने में प्रकृति के अनेक उपदान उत्तेजक की भूमिका अदा करते हैं। प्रिय के अभाव में विरहिणियों की व्यथा को उमड़ते-घुमड़ते बादल, वर्षा ऋतु की झीनी-झीनी फुहारें, चातक एवं कोकिला की मधुर ध्वनियाँ से नायिका के हृदय अत्यन्त दग्ध होने लगते हैं और प्रतीत होता है कि इस दारूण पीड़ा से विरहिणी का प्राण ही निकल जायेगा। उसे प्रियतम की पल-पल प्रतीक्षा अत्यन्त भारी लगती है। इन सभी बिरहानुभूतियों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण निम्न काव्य पंक्तियों में किया गया है—

''आई रितु पाउस कृपाउस न कीनी कंत
छाइ रहयौ अंत, उर बिरह दहत है।
गरजत घन, तरजत है मदन लरजत
तन-मन नीर नैंननि बहति है॥
अंग-अंग भंग, बोलै चातक बिहग, प्रान
धुनि सुनि कोकिल की बिरहिनि को किलकी,
केका के सुने तौं प्रान एकाके रहत है।''

3. प्रकृति चित्रण का सामाजिक सरोकार–

कविवर सेनापति के प्रकृति चित्रण की एक और महत्वपूर्ण विशेषता है कि वह सामाजिक सरोकारों से भी सम्बन्धित हैं। विभिन्न ऋतुओं में लोक-जीवन एवं सामन्ती जीवन के विविध पहलुओं पर भी सेनापति ने ध्यान दिया है। सामाजिक संदर्भों में भी सेनापति ने प्रकृति का सजीव एवं स्वाभाविक चित्रण किया है। तत्कालीन समाज में सामन्त वर्ग एवं रईस लोग किस प्रकार की व्यवस्था करते थे, कैसा जीवन यापन करते थे, इस सबका बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है—

''जेठ नजिकाने सुधरत खसखाने, तल
ताख तहखाने के सुधारि झारियत हैं।
होति है मरम्मति बिबिध जल-जन्त्रन की
ऊँचे-ऊँचे अटा से सुधा सुधारियत हैं॥
सेनापति अतर, गुलाब अरगजा साजि,
ग्रीष्म के बासर बराइबे सौं सीरे सब
राज-भोग काज साज यौं सम्हारियत हैं।''

ग्रीष्म ऋतु में सम्पन्न लोग गर्मी से राहत पाने के लिए अनेक उपाय करते हैं। वे तहखानों की मरम्मत करवाके उसकी शीतलता का अनन्द लेते थे। विविधि प्रकार के जल यंत्रों को सुव्यवस्थित कर शीतल जल के फुहारों को चालू करते थे। वे सुगन्धमय वातावरण के निर्माण हेतु इत्र, सुगन्धित गुलाब जल एवं शीतल चन्दन आदि का प्रयोग करते थे। स्पष्ट है कि ये सारी सुविधा साधन सम्पन्न लोगों से ही जुड़ी हुयी है, जिसका सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए सेनापति ने ऐसा सजीव चित्रण किया है।

सामन्त लोग न केवल ग्रीष्म ऋतु में अपितु शरद ऋतु में भी सुखदायी व्यवस्था करते थे, ताकि शीत की पीड़ा से मुक्त रहें। शीत ऋतु में सम्पन्न लोगों की दैनिक क्रिया कलापों एवं उनके द्वारा विविध प्रकार के गर्म कपड़ों के प्रयोग का भी सेनापति ने सजीव वर्णन किया है—

''प्रात उठि आइबे कौं, तेलहिं लगाइबे कौं
मलि मलि न्हाइबे कौं गरम हमाम है।
ओढ़िबे कौं साल, जे बिसाल हैं अनेक रंग
बैठिबे कौं सभा जहाँ सूरज कौं घाम है॥
धूप कौं अगर, सेनापित सोंधौं सौरभ कौं
सुख करिबे कौं छिति अंतर कौं धाम है।
आए अगहन, हिम पवन चलन लागे
ऐसे प्रभु लोगन कौं होत बिसराम है॥''

सेनापति प्रभु लोगों के अतिरिक्त सामान्य जन एवं अभाव ग्रस्त समाज का भी प्रकृति के संदर्भ में सूक्ष्म निरीक्षण किया है और उस अनुभव को अत्यन्त मार्मिक ढंग से व्यक्त भी किया है। शीत की प्रबलता के निवारण हेतु सम्पन्न वर्ग जहाँ विविध प्रकार के सुख-साधन की व्यवस्था करता है, वहीं सामान्य जन शीत की प्रबलता को झेलते हैं। उनके आँखों से जल गिरता है क्योंकि वे धुँए एवं आग के पास डटे रहते हैं। आग को वे अपने हृदय से लगा कर रखते हैं, ताकि शीत का प्रकोप उन्हे अधिक पीड़ित न कर सकें—

''धूम नैन बहै, लोग आगि पर गिरे रहें,
हिए सौ लगाई रहें नैंक सुलगाई कै।
मानो भीति जानि, महा सीत तैं पसारि पानि
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाई कै॥''

4. आलंकारिक प्रकृति वर्णन–

सेनापति के प्रकृति वर्णन का एक विशिष्ट रूप उसका आलंकारिक वर्णन है। रीतिकाल के अन्य प्रमुख कवियों की भाँति सेनापति ने भी विविध प्रकार के शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों की योजना की है। इन्होंने मुख्यरूप से श्लेष, यमक, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, उपमा एवं प्रतीप अलंकारों का सफल प्रयोग किया है। उन्हें श्लेष अलंकार योजना में महारथ हासिल है। उन्होंने अभंग एवं सभंग दोनों प्रकार के श्लेष अलंकारों का उत्कृष्ट प्रयोग किया है। यह अलंकार प्रियता उनके प्रकृति चित्रण में भी दिखायी पड़ती है। ऐसे स्थलों पर प्रकृति की अपेक्षा उत्कृष्ट अलंकार योजना में विशेष रूचि दिखाई पड़ती है। ऐसे स्थलों पर प्रकृति चित्रण साधन मात्र है, साध्य है अलंकार योजना। इस कथन को निम्न काव्यांश द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—

''अखियाँ सिराती ताप छाती की बुझाती रोम
रोम सरसाती तन सरस परस ते।
श्रावने अधीन तुम बिन अति दीन हम
नीर हीन मीन जिम काहे कौ तरसते।।
सेनापति जीवन अधार निरधार तुम
जहाँ कौं ढरत तहाँ टूटत अरस ते।
उनैं उनैं गरजि गरजि आए घनस्याम
ह्वै कैं बरसाऊ एक बार तौ बरसते।।''

उपर्युक्त कवित्त में 'घनश्याम' से बादल एवं श्रीकृष्ण दोनों का अर्थ अभिप्रेत है। नायिका बादल एवं घनस्याम दोनों को एक साथ उपालम्भ देती है कि आप अन्यत्र बरस आये, प्रेम लुटा आये एक बार मेरे यहां बरसो। जीवन के आधार (बादल एवं कृष्ण) दोनों के अभाव में नायिका अत्यन्त संतप्त है। यहाँ प्रकृति का संकेत मात्र है, लेकिन श्लेष अलंकार की योजना उच्चकोटि की है।

कार्तिक मास की उज्जवल एवं निर्मल चाँदनी रात की छटा प्रकृति में ऐसी फैली हुयी है, मानों सारा संसार क्षीर सागर में डूबा हुआ है। चाँदनी रात में कुमुद, मालती, चमकते हुए तारे, उदित पूर्ण चंद्र की ज्योत्सना और सर्वत्र फैली स्वच्छ चाँदनी से परिपूर्ण यह धरती क्षीर सागर सी प्रतीत हो रही है। यहाँ कवि का ध्यान वस्तूत्प्रेक्षा की ओर विशेष रूप से है—

''कातिक की राति थोरी थोरी सियराति, सेना–
पति है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूलि रहे कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं॥
उदित बिमल चंद, चाँदनि छिटकि रही,
राम कैसौं जस अध अरध गगन है॥
तिमिर हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन है।''

5. निष्कर्ष

समग्रतः सेनापति का महत्व प्रकृति चित्रण के अतिरिक्त उनके विविध प्रकार के अलंकारों के प्रयोग के कारण भी है। इन्होंने चमत्कार पूर्ण अलंकारों की पर्याप्त योजना की है। सादृश्यमूलक अलंकारों (उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह) के प्रयोग में उन्हें विशेष सफलता मिली है, क्योंकि यहाँ पर वे भावानुभूति एवं उसकी कलात्मक प्रस्तुति दोनों में अद्भुत संतुलन स्थापित कर सके हैं। 'श्लेष' एवं 'उत्प्रेक्षा' अलंकारों के सार्थक प्रयोग की दृष्टि से सेनापति को हिंदी साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। सेनापति को 'रति', उत्साह, क्रोध, भय एवं निर्वेद जैसे भावों के मार्मिक चित्रण में विशेष सफलता मिली है। सेनापति में राम के प्रति आस्था है, अतएव यथास्थान उन्होंने भक्ति भाव से प्रेरित अनेक छंद भी लिखे हैं और अपनी कवित्व शक्ति का सारा श्रेय राम की कृपा/प्रसाद को मानते हैं। सम्पूर्ण हिंदी साहित्य में कविवर सेनापति प्रकृति चित्रण, श्लेष एवं उत्प्रेक्षा अलंकारों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने प्रकृति के आलम्बन रूप, उद्दीपन रूप, सामाजिक सरोकारों से सम्बद्ध रूप एवं अलंकार प्रधान रूप से सम्बन्धित उच्चकोटि के अनेक छंद लिखे हैं, जो विषय वस्तु एवं कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से अद्वितीय है। निःसंदेह कविवर सेनापति उच्चकोटि की काव्य प्रतिभा से सम्पन्न सफल कवि थे और प्रकृति-चित्रण के विविध छवियों के अद्भुत चितेरे थे।

संदर्भ ग्रंथ-सूची–

1. सेनापति कृत 'कवित्त-रत्नाकर', सम्पादक पं. उमाशंकर शुक्ल, हिंदी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय। पहला संस्करण1936 ई. (प्रस्तुत लेख में दिये गये सभी उद्धरण इसी ग्रंथ से हैं)
2. 'हिंदी साहित्य का अतीत भाग 2 श्रृंगार काल' विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी-वितान प्रकाशन, ब्रह्मलाल, वाराणसी। प्रथम संस्करण संवत् 2017।
3. 'रीतिकाव्य धारा', सम्पादक- डॉ. रामचंद्र तिवारी एवं डॉ. रामफेर त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी। संस्करण 2000 ई.।
4. 'हिंदी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 36वाँ संस्करण 2056 वि. संवत्।
5. 'हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास, भाग 6 एवं 7, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

''ज्योतिषशास्त्र में भूगर्भविज्ञान''

*डॉ. शत्रुघ्न त्रिपाठी**

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' यह सूक्ति हमारे संस्कृत वाङ्मय की परम्परा के अनुसार माता रूप में पृथिवी को स्वीकार करती है, जिसके हम सभी सन्तान रुप में परिलक्षित होते हैं। अनेक ऐसी उक्तियाँ हमारी भूमि के लिए प्रसिद्ध एवं वर्णित हैं। पुराणों में तो अनेक स्थलों पर इसकी प्रशंसा उन्मुक्त कण्ठ से की गई है जिसमें अग्निपुराण, भगवत्महापुराण, महाभारत, वायुपुराण आदि प्रमुख हैं। समस्त अखण्ड ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत एक पृथ्वी ही ऐसी पिण्ड रुप में ईश्वर की संरचना है, जिसमें जीवन की कल्पना है। अन्य पिण्डों के ऊपर जीवन की अभिकल्पना का सर्वथा अभाव है। भूमि की दो स्थितियाँ हमारे वाङ्मय में प्राप्त होती हैं। तथा दोनों ही स्थितियों का परिज्ञान दो शास्त्रों के आधार पर किया जाता है।

1. भौतिक स्वरूप – ज्योतिषशास्त्र के आधार पर।

2. आध्यात्मिक स्वरूप-पुराणों एवं धर्मशास्त्र के आधार पर।

भू-भौतिक स्वरुप का संक्षिप्त परिचय (ज्योतिषशास्त्र के आधार पर)

भूमि-विस्तार	योजन प्रमाण में
भूमि की स्थिति	ब्रह्माण्ड के मध्य में,
भूमि का आधार	निराधार
भू-व्यास	1600 योजनासन्न,
भू-परिधि	5060 योजनासन्न,
भूमि की आकाशीय स्थिति	मध्य आकाश में अण्डा के तरह
भूमि का आकार	कूर्मपृष्ठ के तरह एवं कदम्ब (कदम्बकुसुमग्रन्थिः केसरप्रसरैरिव) की तरह
भूमि की आयु	2 अरब वर्ष आसन्न,

आध्यात्मिक स्वरूप का वर्णन प्रायः समस्त पुराणों में सुलभता से प्राप्त हो जाता है। जैसे-

भारत के समान पृथ्वी का कोई भी दूसरा देश नहीं है –

अहो अमीषां किमकारि शोभनं

प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।

यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे

मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥[1]

वस्तुतः पृथ्वी पर 7 द्वीपों की कल्पना पुराणों की अपनी निजि विशेषता है।

इसमें तीन महत्वपूर्ण द्वीप हैं - (1) कुशद्वीप (2) शकद्वीप (3) जम्बूद्वीप[2]

अव्यवताङ्गपृथिवीपद्मं मेरुपर्वतकर्णिम्[3]

वायुपुराण (5।।80) के आधार पर मेरु पर्वत को गर्भ में मानकर भूमि के विस्तार की प्रकल्पना है। यथा-

हिरण्मयस्तु यो मेरुतल्लम्बं तन्महात्मनः।

गर्भोदकं समुद्राश्च शिराधस्थीनि पर्वताः॥[4]

जम्बूद्वीपो द्वीपमध्येतन्मध्ये मेरुरुच्छ्रितः।।

कुत्रचित् चतुष्द्वीप की भी कल्पना है[5]

प्रत्येक द्वीप में कुछ विशिष्ट स्थिति एवं पदार्थों की स्थिति है

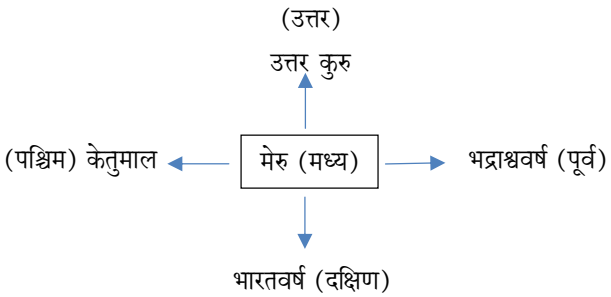

पर्वत	कैलाश (हिमालय)
नदी	अलकनन्दा
वन	नन्दन
सरोवर	मानसरोवर
वृक्ष	जम्बू वृक्ष
देवता	कच्छप भगवान

* एसोसिएट प्रोफेसर ज्योतिष विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वायुपुराण – 4 द्वीप वर्णित हैं । यथा

-महाद्वीपास्तु विख्याताश्चत्वारः पत्रसंस्थिताः।[6]

जम्बूद्वीप (क्षारसमुद्र एवं लवणोदधि वेष्टित)

7. सत्यः

6. तपः

5. जनः

4. महः

3. स्वः

2. भुवः

भूमि

अतल

वितल

सुतल

तलातल

रसातल

महातल

पाताल[7, 8, 9]

भूगर्भ विज्ञान का पुराणों में तात्त्विक चिन्तन ।

भूमि की आयु	2 अरब वर्षों के आसन्न है । -पुराण विमर्श पृ. 300
पृथ्वी की आयु	2 अरब आसन्न वर्ष भूमि की आयु मानी गई है। -हिन्दी समिति लखनऊ, 1962, नारायण मेहरोत्रा

पुराणों में भूगर्भ पर से पाताल का भी ज्ञान होता है। कुछ पुराणों का यह मानना है कि हमारे नीचे जो स्थित हैं वे पाताल में हैं तथा वहाँ सर्प आदि का निवास स्थान है।

पाताल लोकों के विषय में श्रीमद्भागवत् महापुराण में साङ्गोपाङ्ग वर्णन प्राप्त होता है। देखें-

न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे।

परिवासः सुखस्तादृग् रसातलतले यथा॥[10]

पाताल लोक में मनुष्यों का अभाव है वहाँ भगवान विष्णु की तामसी तनु शेषनाग रुप में विद्यमान है। परन्तु आचार्य बलदेव उपाध्याय जी पुराण विमर्श में लिखते हैं कि मेरी दृष्टि में समग्र अमेरिका को ही पाताल से पहचान करना सर्वथा सत्य, प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक है। -पृ. 345 (पुराणविमर्श) अग्निपुराण में व्यास जी कहते हैं कि,

विस्तारस्तु स्मृतो भूमेः सहस्त्राणि च सप्ततिः।

उच्छ्रायो दशसाहस्त्रं पातालं चैकसप्तकम्॥[11]

अर्थात् – भूविस्तार	70,000 योजन
भू ऊँचाई	10,000 योजन
भू के अन्दर	7 पाताल

ज्योतिषशास्त्र से भूगर्भशास्त्र का सम्बन्ध –

ज्योतिष शास्त्र कालविधायक शास्त्र के रुप में प्रतिष्ठित है। काल का कार्य मापन के आधार रुप में भी किया जाता है, जिससे समस्त सांसारिक संरचना बधी हुई है। भूमि के विषय से सन्दर्भित ज्ञान के आरम्भ कर अनेक ऐसे विज्ञान हैं जिनका मूल बीजरुप में ज्योतिषशास्त्र में प्राप्त होता है। प्राचीन काल में 2 विज्ञान प्राप्त होते हैं।

1. आयुर्वेद विज्ञान – चिकित्सा (प्राणी जगत् की)
2. ज्योतिर्विज्ञान – अन्य समस्त विज्ञान (मूलरुप में)

वस्तुतः भूगर्भ से प्राप्त विभिन्न वस्तुओं का काल ज्योतिषशास्त्र के द्वारा जितनी आसानी से और प्रमाणिकता पूर्वक सुनिश्चित किया जा सकता है उतना अन्य विधा से नहीं हो सकता। इस सन्दर्भ में श्री गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा जी लिखते हैं कि, पुरातत्त्व की वस्तुओं के यथार्थ समय जानने के लिए ज्योतिषशास्त्र की आवश्यकता है।

किसी भी उच्चतम पहाड़ की ऊँचाई या अतिगम्भीर नदी की गहराई का ज्ञान भी ज्योतिषशास्त्र के द्वारा ही संभव है। यद्यपि यहाँ मूल गणित रेखागणित द्वारा साधन होता है फिर भी रेखागणित ज्योतिष शास्त्र का अभिन्न अङ्ग है। यथा लीलावती में वर्णित है। इस प्रकार से ही भागवत्महापुराण में भी बताया गया है-

नमो द्विशीर्ष्णे चतुः शृङ्गाय तन्तवे।

सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः॥[12]

भूगर्भविज्ञान एवं ज्योतिष -

वस्तुतः भूगर्भशास्त्र को अंग्रेजी भाषा में GEOLOGY कहा गया है। इसकी परिभाषा बताई गई है कि-

"Geology is the study of the earth, the meterials of which it is made, the structure of those meterials and the process acting upon them.

What does a Geologist do?

1. Geologists study earth processes – landslides, earthquakes
2. Geologists study earth meterials – Oil, metals, rocks, earth History etc.

उपर्युक्त परिभाषा एवं क्षेत्र पर विचार करें तो हम पाते हैं कि, पर्वतों का स्खलन, भूकम्प, तैलीय पदार्थ, धातु, पर्वत एवं पृथ्वी की विविध स्थितियों का अध्ययन हमारे ज्योतिष शास्त्र में मूलरुप में विद्यमान हैं, यद्यपि भूकम्प एवं भूस्थिति तथा धातु आदि के ज्ञान से सन्दर्भित बहुत ऐसे विषय विद्यमान हैं जिनका हम अध्ययन कर सकते हैं।

प्राचीन पुराणों में पर्वतों के पंख का चलना तथा उसके स्वरुप परिवर्तित होने आदि की स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है परन्तु गम्भीर परिचर्चा नहीं प्राप्त होती, जिससे मूल कारण एवं लक्षण का परिज्ञान सुलभता से किया जा सके।

ज्योतिषशास्त्र में भूगर्भ से सन्दर्भित विविध विषयों की चर्चा प्राप्त होती है। जिसके अन्तर्गत प्रमुख रुप से भूकम्प है।

(क) भूकम्प –

क्षितिकम्पमाहुरेके बृहदन्तर्जलनिवासिसत्त्वकृतम् ।

भूभारखिन्नदिग्गजविश्रामसमुद्भवं चान्ये ॥

कश्यपादि मुनियों का कहना है कि जल में निवास करने वाले बड़े जीवों के धक्के से भूमि हिलती है। गर्गादि महर्षियों का मत है कि जिस समय भूमि में वजन बढ़ जाता है, इसलिए दिग्गज अर्थात् दिशाओं के मालिक थक कर थोड़ा आराम करने की सोचते हैं, अतः भूमि में कम्पन होता है।

कश्यपऋषि ने कहा है -

वारुणस्योपरि पृथ्वी सशैलवनकानना।

स्थिता जलजसत्त्वाश्च सक्षोभाश्चालयन्ति ताम्॥1॥

तथा गर्गाचार्य जी भी -

चत्वारः पृथिवीं नागा धारयन्ति चतुर्दिशम् ।

वर्धमानः सुवृद्धश्चातिवृद्धश्च पृथुश्रवाः॥

वर्धमानो दिशं पूर्वां सुवृद्धो दक्षिणां दिशम् ।

पश्चिमामतिवृद्धिश्च सौम्याशां तु पृथुश्रवाः॥

नियोगाद् ब्रह्मणो ह्येते धारयन्ति वसुन्धराम् ।

ये श्वसन्ति यदा शान्ता स वायुः श्वसितो महान् ॥

वेगान् महीं चालयन्ति भावाभावाय देहिनाम् ॥

पुनः प्रकारान्तर से -

अनिलोऽनिलेन निहतः क्षितौ पतन्सस्वनं करोत्येके।

केचित्वदृष्टकारितमिदमन्ये प्राहुराचार्याः॥

श्री वसिष्ठऋषि का कहना है कि जब आकाश में वायु से वायु टकराकर भूमि में गिरती है तो शब्द के साथ भूकम्प होता है।

वृद्धगर्गाचार्य जी का कथन है कि प्रजाओं के अदृष्ट अर्थात् पुण्य-पाप के कारण पृथिवी हिलती है।

वसिष्ठ ऋषि ने कहा है-

यदा तु बलवान् वायुरान्तरिक्षानिलाहताः

पतत्याशु स निर्घातो भवेदनिलसंभवः ।

तस्य योगान्निपततश्चलत्यन्याहता क्षितिः

सोऽभिघातः समुत्थः स्यात् सनिर्घातं महीचलः॥

तथा वृद्धगर्गजी का कथन 'प्रजा धर्मरता यत्र तत्र कम्पं शुभं भवेत् । जनानां श्रेयसे नित्यं विसृजन्ति सुरोत्तमाः। विपरीतस्थिता यत्र जनास्तत्र शुभं तथा। विसृजन्ति प्रजानान्तु दुःखशोकाभिवृद्धये'।

पराशर आदि मुनियों का मत है कि -

गिरिभिः पुरा सपक्षैर्वसुधा प्रपतद्भिरुत्पतद्भिश्च।

आकम्पिता पितामहमहामरसदास सव्रीडम् ॥3॥

भगवन्नाम ममैतत्त्वया कृतं यदचलेति तन्न तथा।

क्रियतेऽचलैश्चलद्भिः शक्ताहं नास्य खेदस्य॥4॥

तस्याः सगद्गद्गिरं किञ्चित्स्फुरिताधरं विनतमीषत्।

साश्रुविलोचनमाननमवलोक्य पितामहः प्राह॥5॥

मन्युं हरेन्द्र धात्र्याः क्षिप कुलिशं शैलपक्षभङ्गाय।

शक्रः कृतमित्युक्त्वा मा भैरिति वसुमतीमाह॥6॥

किन्त्वनिलदहनसुरपतिवरुणाः सदसत्फलावबोधार्थम् ।

प्राग्द्वित्रिचतुर्भागेषु दिननिशोः कम्पयिष्यन्ति॥7॥

पूर्वकाल में आकाश से गिरते हुए व भूमि से उड़ते हुए पंख वाले पहाड़ों के द्वारा कम्पित पृथ्वी देवताओं की सभा में लज्जा के साथ ब्रह्माजी से बोली हे प्रभु आप ने मेरा नाम अचला रखा है

किन्तु चलायमान, भ्रमण करते हुए पर्वतों के द्वारा वह नाम वैसा नहीं रहा अर्थात् मैं चलायमान हूँ । अतः इस दुःख को सहन करने के लिये मैं समर्थ नहीं हूँ। इस प्रकार भूमि का गद्-गद् वाणी वाला कुछ-कुछ फड़कते हुए अधर वाला, विनम्र तथा आसुओं से युक्त नेत्र वाला मुख देखकर ब्रह्माजी ने कहा-हे इन्द्र तुम पृथ्वी के दुःख का नाश करो और पर्वतों के पंखों को नष्ट करने के लिये वज्र का प्रहार करो। इस प्रकार ब्रह्मा जी का आदेश जानकर इन्द्र ने भूमि से कहा तुम डरा मत करो। मैं इनके पंखों को काट देता हूँ। किन्तु शुभाशुभ फल जानने के लिये **वायु, अग्नि, इन्द्र और वरुण** दिन तथा रात के क्रम से प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ भाग में तुझे कम्पित करेंगे।

जैसे दिन के पूर्वार्ध में वायु, उत्तरार्ध में अग्नि, रात्रि के पूर्वार्ध में इन्द्र और उत्तरार्ध में वरुण तुझे कम्पित करेंगे।

कहा भी है 'रात्रौ दिवा च पूर्वाह्णे वायव्यः कम्प उच्यते। मध्याह्ने चार्द्धरात्रे च हौताशः कम्प उच्यते।। दिवारात्रौ तृतीयेऽशे माहेन्द्रश्चाभिगीयते। चतुर्थे वर्तमानेंऽशे वारुणं निर्दिशेद्बुधः'।।3-7।।

तथा गर्गाचार्य जी ने कहा है -

कृत्वा चतुर्धाहोरात्रं द्विधाहोऽथ द्विधा निशम् ।

देवताश्रययोगाच्च चतुर्धा भगणो तथा।।

पूर्वे दिनार्धे वायव्य आग्नेयोऽर्द्धे तु पश्चिमे।

ऐन्द्रः पूर्वे च रात्र्यर्द्धे पश्चिमार्द्धे तु वारुणः।।

चत्वार एवमेते स्युरहोरात्रविकल्पजाः।

निमित्तभूता लोकानामुल्कानिर्घातभूचलाः।।

(ख) भूगर्भस्थ पर्वत एवं द्रव्यज्ञान -

खातं भूमिपरीक्षणे करमितं तत्पूरयेत्तन्मृदा

होने हीनफलं समे समफले लाभो रजो वर्द्धते।

तत्कृत्वा जलपूर्णमाशतपदं गत्वा परीक्ष्यं पुनः

पादोनार्द्धविहीनकेथ निभृते मध्याधमेष्टांबुभिः।।3 1 9।।[13]

वास्तुराजवल्लभ में बताया है कि भूमि परीक्षार्थ एक हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा और एक हाथ गहरा गड्ढा खोकर उसे उसकी ही मिट्टी से भर कर देखना चाहिए। यदि भरने में माटी कम हो जाय तो अशुभ, बराबर हो तो मध्यम और अधिक होने पर भूमि उत्तम होती है।

अथवा उस गर्त को पानी से पूर्ण करके 100 पैर जाकर लौटना, लौटने पर यदि सूख जाय तो अशुभ, कुछ पानी कम हो जाय तो मध्यम अर्थात् चौथाई पानी सूखने पर मध्यम आधे से कम रहने अधम भूमि समझनी चाहिये। इससे मिट्टी का ज्ञान होगा ।

खाते यदिऽश्मा लभते हिरण्यं तथेष्टिकायां च समृद्धिरत्र।

द्रव्यं च रम्याणि सुखानि धत्ते ताम्रादिधातुर्यदि तत्र वृद्धिः।।

यदि खोदते समय पत्थर प्राप्त हो तो सुवर्ण का लाभ, ईंट मिले तो समृद्धि होती है, द्रव्य मिले तो उत्तम सुख मिलता है और तामा आदि धातु मिलने पर वृद्धि होती है।

पिपीलिकाषोडशपक्षनिद्रा भवन्ति चेत्तत्र वसेन्न कर्ता।

तुषास्थिचीराणि तर्थव भस्मान्यण्डानि सर्पा मरणप्रदाः स्युः।।

वराटिका दुःखकलितप्रदात्री कार्पास एवातिददाति दुःखम् ।

काष्ठं प्रदग्धं यतिरोगभीतिर्भवेत्कलिः खर्परदर्शनेन।।

लौहेन कर्तुर्मरणं निगद्यं विचार्य वास्तुं प्रदिशन्ति धीराः।।

चींटी, दीमक, अजगर वगैरह मिलने पर उसमें गृह कर्ता को निवास नहीं करना चाहिये तथा भूसा, भस्म, अण्डा, सर्प आदि निकलने पर मृत्यु, कौड़ी मिलने पर दुःख व कलह की प्राप्त, कर्पास से विशेष दुःख, जले हुए काठ से अधिक रोग, खप्पर से कलह और लोहे से मकान स्वामी का मरण होता है। इसलिये इनका विचार करके बुद्धिमान् को गृहारम्भ कराना चाहिये।

इस प्रकार भूगर्भ के विविध वस्तुओं की चर्चा वास्तुशास्त्र में सरलता से प्राप्त होती है।

ज्योतिष के ग्रन्थों में शिलाभेद ज्ञान भी प्राप्त होता है, जिसके अन्तर्गत शिला को तोड़ने की विधि का वर्णन है।

बृहस्पति-

कृष्णाष्टम्यां च सप्तम्यां रौद्रभे यस्य कस्यचित् ।

राशौ लग्ने कुजांशे च शिलाभेदः प्रचोदितः।।

आचार्य बृहस्पति जी ने बताया है कि कृष्णपक्ष की सप्तमी या अष्टमी तिथि, आर्द्रा नक्षत्र, भौम की राशि लग्न व मंगल के नवांश में शिलाभेद (पत्थर तोड़ना) करना चाहिये।

चतुर्णामधिकाराणां भूरेवादौ प्रवक्ष्यते।

भूतानामादिभूतत्वादाधारत्वाज्जगत्स्थितेः।।[14]

अनिन्द्या भूः ''प्रसङ्ग में मयमतम् में प्राप्त होता है कि, भूमि के अन्तर्गत कपालास्थि, कंकड़ पत्थर, हड्डी, महीन बालू, कोयला, कीचड़, धूल, राख एवं भूसा आदि प्राप्त होते हैं। -

यथा-

अस्थिवर्ज्या नसुषिरा तनुवालुकसंयुता।

शर्कराभिरयुक्ता या भस्माद्यैस्तु तुषैरपि।।[15]

(ग) भूगर्भ में जलज्ञान -

आचार्यवराहमिहिर ने दकार्गल अध्याय के अन्तर्गत बृहत्संहिता ग्रन्थ में भूगर्भ में विद्यमान विविध वस्तुओं का परिज्ञान भूमि के उपरि लक्षण से बताते हैं। आचार्य कहते हैं कि,

''धर्म्यं यशस्यं च वदाम्यतोऽहं दकार्गलं येन जलोपलब्धिः।

पुंसा यथाङ्गेषु शिरास्तथैव क्षितावपि प्रोन्नतनिम्नसंस्थाः।''[16]

आगे इस प्रकार जल के विविध स्रोतों के परिज्ञान हेतु लगभग 124 श्लोकों के द्वारा जल का विचार किया गया है जिसका हम लाभ प्राप्त करते हैं। इसके ज्ञान हेतु हमें व्यर्थ का भूमि के अन्दर छिद्र नहीं करना पड़ता है अपितु बाह्य चिह्नों के द्वारा हम जल का परिज्ञान आसानी से कर लेते हैं। न केवल जलज्ञान ही यहाँ बताया गया है अपितु –

अपाण्डुपीतिका मृदगोरसवर्णश्च भवति पाषाणः ।

पुरुषार्धे कुमुदनिभो दृष्टिपथं मूषको याति ।।[17]

इस प्रकार पाषाण एवं राख लकड़ी का ज्ञान भी हम ऊपर के लक्षणों को देखकर जान सकते हैं। यथा लौहपक्ष में कहते हैं-

''कौबेरी चात्र शिरा वहति जलं लोहगन्धि चाक्षोभ्यम् ।

कनकनिभो मण्डूको नरमात्रे मृत्तिका पीता।।''[18]

(घ) भूगर्भ में रत्नविज्ञान -

रत्नप्रसंग में कहते हैं कि –

नीलो भुजगः पुरुषे मृत् पीता मरकतोपमश्चाश्मा।

कृष्णा भूः प्रथमं वारुणी शिरा दक्षिणेनान्या।।[19]

यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी इति युतिः।

इयं तु पृथ्वी द्युमणिः पुरासीत् सूर्यस्तु केतुः स कदाचिदासीत् ।

ये केतवः सन्ति त एव काले सूर्यो भविष्यन्ति परे परेऽपि ।।[20]

केतुस्त्वकस्मात् स्वयमेव भूत्वा कालेन सूर्य्यं सृजति क्षितिञ्च ।[21]

यह बात वैज्ञानिकों को चिन्तन के लिए बाध्य करता है कि प्राचीन काल में हमारी पृथिवी सूर्य थी तथा वर्तमान सूर्य केतु रुप (कदाचित्) था पुनः यहीं केतु कालान्तर में सूर्य होगा तथा स्वयं वह सूर्य एवं पृथिवी की संरचना करेगा। ऐसी धारणा हमारे प्राचीन ऋषियों की थी। जिस पर आज विचार करना आवश्यक है तथा भू निर्माण प्रसङ्ग में ऐसी धारणा भी वैज्ञानिकों की आ रही है।

रत्नज्ञान – जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते के द्वारा आचार्य भट्टोत्पल ने बृहत्संहिता के अन्तर्गत रत्नों की परिभाषा परिकल्पित करते हुए रत्न के उत्पत्ति प्रसंग में बताते हैं कि, भूगर्भ में विविध रत्न हैं जो शुभकारक होते हैं।

रत्नानि बलादैत्याद्धीन्तिये वदन्ति जातानि।

केचिद् भुवः स्वभावाद् वैचित्र्यं प्राहुरुपलानाम्।।[22]

आचार्य का वचन कि 'भुवः स्वभावाद्' वैचित्र्यं के अनुसार भूगर्भ की विचित्रता ही प्रतीत होती है जिसमें विविध रत्नों की उत्पत्ति होती है।

1. वज्रमणि (DIAMOND) - वेणा नदी के किनारे यह रत्न प्राप्त होता है।

2. मुक्ताफल (PEARL)–यहाँ आचार्य कहते हैं कि, द्विप-भुजग---

'मुक्ताफलानि तेषां बहुसाधु च शुक्तिजं भवति'[23]

सूक्ति से उत्पन्न मोती प्रचूर मात्रा में सभी के लिए श्रेष्ठ होता है। यह भूगर्भ में शुक्ति (सीप) के द्वारा प्राप्त होता है। इसका उद्गम स्थल-सिंहल देश, सौराष्ट्र, ताम्रपर्णी नदी आदि है।

3. पद्यराग (EMERALD) – यहाँ आचार्य कहते हैं कि

''सौगन्धिककुरूविन्दस्फटिकेभ्यः पद्यरागसम्भूतिः।।''[24]

इसकी उत्पत्ति के मूल में धातु को बताते हैं।

इस प्रकार रत्नों के विषय में अग्निपुराण, गरुणपुराण, देवी भागवत, भावप्रकाश, रसरत्नसमुच्चय, बृहत्संहिता एवं अर्थशास्त्र प्रभृति ग्रन्थों में वर्णन प्राप्त होता है। जो हमारी भूगर्भ की सम्पदा है।

(ङ) भूगर्भ में मिट्टी का विचार -

वास्तुविद्या के अन्तर्गत मिट्टी का गुण-दोष शुभाशुभ रुप में प्रतिपादित हैं। वास्तुविद्या के अन्तर्गत अहिबल चक्र के द्वारा धन-वैभव एवं भूमि के गर्भस्थ खजाने के ज्ञान की विधि प्रतिपादित है। यथा-

अहिचक्रं प्रवक्ष्यामि यथा सर्वज्ञभाषितम् ।

द्रव्यं शल्यं तथा शून्यं येन जानन्ति साधकाः।।[25]

इस प्रकार भूगर्भ के अन्तर्गत ऐसे बहुत विषयों का संग्रह ज्योतिषशास्त्र में प्राप्त होता है जिसके आधार पर हमें खनिज पदार्थों का उपभोगादि करना चाहिए तथा अल्प श्रम एवं अल्प व्यय के आधार पर इन प्राचीन सिद्धान्तों के मानकों द्वारा भूगर्भ में विद्यमान पदार्थों का ज्ञान कर सकते हैं तथा नूतन चिन्तन एवं शोध की दिशा में मदद भी कर सकते हैं। शमिति।

सन्दर्भ गन्थसूची-

1 भागवत पुराण 5।।19।।21

2 भागवत पुराण, पृ.315

3 वायु पुराण – 34।।37

4 वायु. (5।।80)

5 कूर्मपुराण-108।।3

6 वायु पुराण – 34

7 विष्णुपुराण – 2।।5

8 भागवत पुराण 5।।24

9 वायुपुराण – 50-1-48

10 महाभारत, आरण्यपर्व-102।15

11 अग्नि.पुराण 120।।1

12 श्रीमद्भाग. 8।।16।।31

13 बृहत्संहिता

14 मयमतम् 1।।9

15 मयमतम् 3।।6-9

16 बृहत्संहिता 52।।1

17 बृहतंहिता 53।।2

18 बृहत्संहिता 53।।39

19 तत्रैव 53।।46

20 रजोवाद-841

21 रजोवाद-842

22 बृहत्संहिता 79।।3

23 बृहत्संहिता 80।।1

24 बृहत्संहिता-81।।1

25 वास्तुरत्नाकर 3।।1

●

योग-विद्या की विकास-यात्रा-ऐतिहासिक सिंहावलोकन

प्रो. उपेन्द्र कुमार त्रिपाठी एवम् डॉ. Ñष्ण मुरारी त्रिपाठी***

योग विद्या के उद्भव-काल का विनिश्चयन सरल कार्य नहीं है। यह वैदिक संहितावों से पौराणिक विवरणों का आश्रय ग्रहण किया जाये तो सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ (ब्रह्म/ब्रह्मा) ने सूर्य को योग विद्या का उपदेश प्रदान किया। इसी आदिकालीन कालबिन्दु पर योग विद्या दो भागों में विभक्त हुई : एक ब्रह्म-योग धारा और दूसरी कर्मयोग धारा। ब्रह्म-योग-विद्या धारा को सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल आदि ऋषियों तथा पंचशिख, नारद आदि महामुनियों के द्वारा आगे बढ़ाया गया तथा कर्मयोग की धारा को विवस्वान, मनु, इक्ष्वाकु, जनक आदि राजर्षियों एवं योगेश्वर वासुदेव श्रीकृष्ण ने विस्तार प्रदान किया। ब्रह्म-योग-विद्या धारा ही आगे चलकर सांख्ययोग, आध्यात्मयोग एवं ज्ञानयोग के रूप में विकसित हुई। अगले क्रम में हिरण्यगर्भ ने समय की अपेक्षाओं को देखते हुए पुनः योग विद्या का प्रासंगिक उपदेश वैश्वानर (अग्नि) एवं मरूद्गणों (वायु) को भी दिया। आगे चलकर वैश्वानर (अग्नि) एवं मरूद्गणों (वायु) ने योग विद्या के शारीर क्षेत्र में क्रमशः अग्नि परम्परा एवं वायु परम्परा को प्रवर्तित किया, जिनके द्वारा क्रमानुसार आयुर्वेद एवं हठयोग में योगदान हुआ। हिरण्यगर्भ को ही कुछ विद्वान कपिल ऋषि बतलाते हैं, जिन्होंने कि आदि-मानित वैदिक दर्शन 'सांख्य' का प्रवर्तन किया।

आधुनिक इतिहासवेत्ता तो भारतीय इतिहास का आद्य कालबिन्दु सैन्धव सभ्यता को ही मानते हैं और वे सैन्धव सभ्यता से ही भारतवर्ष में योग विद्या की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानों का मत यह भी है कि योग विद्या भारत के मूल निवासियों का आविष्कार एवं विचार विभूति थी, जिसे कि आगन्तुक प्रजातियों ने धीरे-2 आत्मसात कर लिया। सैन्धव सभ्यता के दौर में ही योग विद्या तकनीकी विकास के एक महत्वपूर्ण स्तर को प्राप्त कर चुकी थी। सिन्धु-सरस्वती घाटी के पुरातात्विक उत्खनन में भित्तियों एवं मृद्भाण्डों पर योगाभ्यास करते चित्र तथा मूर्तियों एवं मोहरों पर योग मुद्राओं के अंकन प्राप्त हुए हैं। इतिहासवेत्ता सैन्धव सभ्यता का काल 3000 से 5000 ईसा पूर्व ठहराते हैं। तो भी योग विद्या से सम्बन्धित तथ्यों के बारे में सर्वप्रथम स्पष्ट शाब्दिक विवरण वैदिक संहिताओं, आरण्यकों एवं उपनिषदों में ही मिलते है। वस्तुतः वैदिक ज्ञान चिन्तन में योग का स्पष्ट स्वरूप प्राप्त होता है, अतेऽएव हम इस विद्या को वैदिक ज्ञान परम्परा से निःसृत मान सकते है।

योग एवं आध्यात्मिकता के क्षेत्र में ऊर्ध्वगत और क्षैतिज दोनों ही प्रवृतियाँ अपेक्षित होती हैं। सामान्यतया योग साधना में साधक अपने प्राण तथा चेतना की गहराइयों में उतरकर अपना व्यक्तिगत उन्नयन करता है जिससे साधक के व्यक्तित्व में दिव्यत्व का विकास होता है। चेतना का यह सूक्ष्मीकरण और उन्नयन आत्म साक्षात्कार की ओर ले जाता है। चेतना के इसी उन्नयन को ही योगविद् आध्यात्मिकता के उर्ध्वगत आयाम के रूप में निरूपित करते हैं। क्षैतिज आध्यात्मिकता योगसाधक को सरल नैसर्गिक सन्तत्व की ओर ले जाती है। योगसाधक इस विराट विश्व की समस्त प्राकृतिक एवं पर्यावरणीय शक्तियों, औषधियों तथा प्राणियों में ब्रह्म-तत्व का ही अनुभव करने लगता है। वैदिक संहिताओं में योग के ऊर्ध्वगत एवं क्षैतिज दोनों ही आयाम देखने को मिलते हैं। जहां तक वैदिक संहिताओं में योग के ऊर्ध्वगत आयाम की बात है तो अथर्ववेद के 11वें काण्ड के चैथे सूक्त में प्राणविद्या के बारे में सटीक विवरण मिलते हैं। अथर्ववेद में प्राण और अपान तथा व्यान एवं समान के युगल का सुन्दर उल्लेख मिलता है। वैदिक संहिताओं में योग और आध्यात्मिकता की क्षैतिज प्रवृति पर ही प्रधानतया बल दिया गया है और वैदिक ऋषि गणों में आध्यात्मिकता के क्षैतिज आयाम के ही विशेष दर्शन होते हैं। वे ब्रह्माण्ड, समाज व पर्यावरण के साथ सूक्ष्म संवाद-क्षमता से सम्पन्न थे।

वैदिक आरण्यक साहित्य में प्रमुख स्थान रखने वाले तैत्तिरीय आरण्यक में प्राण की महत्ता पर तथा वृहदारण्यक में ब्रह्म की सत्ता एवं स्वरूप पर प्रश्नोत्तर शैली में विशद चर्चा हुई है। उपनिषद वैदिक साहित्य के उत्तरवर्ती भाग माने जाते हैं। इसी कारण उपनिषद साहित्य को वेदान्त की संज्ञा भी दी जाती है। उपनिषद साहित्य में छान्दोग्य उपनिषद में ब्रह्म के साथ साथ आत्मा के स्वरूप को विस्तार से समझने समझाने के प्रयास हुए हैं। अतः छान्दोग्य उपनिषद वैदिक आध्यात्म विज्ञान का आधारभूत ग्रन्थ माना जा सकता है। छान्दोग्य उपनिषद के अनन्तर प्रकाश में आये आद्य उपनिषदों ने योग के सैद्धान्तिक एवं पद्धतिपरक पहलुओं को जिज्ञासु मानव समाज को समक्ष प्रकाशित करने का यथोचित प्रयास किया। आदि-उपनिषद-स्तर तक योग एवं आध्यात्म की अवधारणा अपनी परिपक्वता प्राप्त कर लेती है।

कुल मिलाकर ईशावास्य तथा केन उपनिषद में सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों एवं प्राणगत क्रियाओं में परमात्म तत्व की व्याप्ति बतलायी गयी है। केन उपनिषद में मनुष्य की सम्पूर्ण मानसिक एवं प्राणगत क्रियाओं में परब्रह्म तत्व की परिव्याप्ति बतलाते हुए भी परब्रह्म तत्व को समस्त प्राणीय गतियों से अनस्पर्शित बताया गया है। ईशावास्य उपनिषद में योगविद्या के मार्गदर्शक तत्वों का भी सामासिक वर्णन प्राप्त होता है इसी के साथ साथ अभ्युदय एवं

* आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, वेद विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सङ्काय तथा समन्वयक, वैदिक विज्ञान केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** पूर्व उपनिदेशक शा0 शि0 (योग), योग केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

निःश्रेयस दोनों को उत्कृष्ट मानव जीवन के प्राप्तव्य लक्ष्यों के रूप में प्रतिपादित किया गया है। कठोपनिषद में चेतना के मन, बुद्धि, इन्द्रियादि विविध पहलुओं के अन्तर्सम्बन्धों का बोधगम्य निरूपण हुआ है। कठोपनिषद में ही योगविद्या को परिभाषित करने के प्रथमतम सार्थक प्रयास हुआ है। तैत्तिरीय उपनिषदों शिक्षा प्रक्रिया एवं आत्मा या चेतना के पंचकाशों पर प्रकाश डालते हुए उनसे पार जाने हेतु तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधानपरक क्रियायोग प्रक्रिया का भी प्रथमतम परोक्ष उल्लेख हुआ है। आद्य उपनिषदों में अन्तिम मान्य श्वेताश्वतर उपनिषद में योग साधना के प्रायोगिक पक्ष, प्रासंगिक कारकों, नियमित योगसाधनाजन्य शारीरिक लक्षणों तथा निष्ठावान योग साधना की क्रमागत उपलब्धियों का सामासिक और वैज्ञानिक निरूपण किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद में साधना में सफलता के लिये तप के साथ साथ ईश्वरीय अनुकम्पा को भी महत्व प्रदान किया गया है। आद्य उपनिषदों में प्राण के स्वरूप एवं भेद, उनके वासस्थान, प्राणायाम प्रक्रिया आदि हठयोग के आधारभूत तत्वों तथा तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधानपरक क्रियायोग प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला गया है। आद्य उपनिषद साहित्य ने अगले कालखण्डों में विषदतया विवेचित ज्ञान, कर्म एवं भक्ति मार्गों तथा मन्त्रयोग, राजयोग, हठयोग तथा क्रियायोग साधनाओं को भी आवश्यक आधारभूमि प्रदान किया।

वैदिक संस्कृति के विकास की सहगामिनी बनी योगविद्या महाभारत-काल तक एक अपेक्षित सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक परिपक्वता को प्राप्त हुई। महाभारत-युद्ध वैदिक आर्य संस्कृति का अवकारी संक्रान्तिक बिन्दु सिद्ध हुआ। भगवद्गीता के उपदेष्टा वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारा तो महाभारत-युद्ध से पूर्व ही उसके दूरगामी विनाशकारी परिणामों का सटीक पूर्वानुमान कर लिया गया था, उनके द्वारा उसको रोके जाने का पूर्ण प्रयास भी हुआ था, जो कि सफलता प्राप्त न कर सका। आर्य सभ्यता के इस संक्रान्तिक बिन्दु को पूवसंज्ञापित कर भगवान श्रीकृष्ण द्वारा आगामी पीढ़ी के लिये भगवद्गीता के उपदेशों को वेद एवं उपनिषदों के सारभूत के रूप में प्रवर्तित किया गया। भगवद्गीता के सभी अठारह अध्यायों की पुष्पिका (अन्त) में प्रत्येक अध्याय विशेष को उपनिषद एवं ब्रह्मविद्या के साथ साथ योगशास्त्र के किसी विशेषनामधारक अध्याय के तौर पर संज्ञापित किया गया है। महाभारत-कालीन कृति श्रीमदभगवद्गीता में योगशास्त्र शब्द का प्रथम बार स्पष्ट प्रयोग हुआ। भगवद्गीता द्वारा योगविद्या को ऐसी व्यावहारिक विशदता प्रदान किया गया कि योगविद्या मानवीय जीवन की केन्द्रीय समस्याओं से गहन सरोकार रखने एवं जीवनगत समस्याओं के सन्दर्भ में प्रभावी मार्गदर्शन प्रदान करने वाली विद्या के रूप में लोकमानस के मध्य स्थापित हो गयी। वासुदेव श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में सांसारिक कर्तव्यगत सक्रियता के साथ दैनन्दिन कर्तव्यकर्मो की कुशलता एवं समस्त सांसारिक अन्तःक्रियाओं में योग-साधनाजन्य भावपरक समता पर बल देते हुए कर्मो को आध्यात्म की ओर उन्मुख करने की साधना का उपदेश दिया। इस प्रकार से भगवद्गीता में व्यावहारिक जीवन के क्षेत्र में योगविधियों के उपादेय स्वरूप का विवेचन किया गया। भगवद्गीतोक्त योगमार्ग सम्बन्धी अवधारणाओं को और भी सुबोधगम्य बनाने हेतु अगले क्रम में व्यासदेव द्वारा श्रीमद्भागवद्पुराण में भगवान कृष्ण द्वारा प्रतिपादित योगमार्ग को ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के मार्गों में त्रिधा विभाजित कर दिया गया।

आरम्भ से ही योगविद्या वेदान्त, ब्रह्मविद्या, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र एवं आयुर्वेद के अनुशाङिक विधा के रूप में में सतत परिवर्धित होरही थी किन्तु भगवद्गीता के उपदेशों द्वारा प्राप्त विषय-विस्तार के अनन्तर योगविद्या के स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकास की संभावनायें अत्यन्त प्रशस्त हो उठीं। आगे विकसित पौराणिक साहित्य में अग्नि, वायु, विष्णु, पद्म, शिव एवं भागवत पुराण में वेदान्त, धर्म, दर्शन एवं आयुर्वेद के साथ साथ योगविद्या से सम्बन्धित विषयवस्तुओं का भी सामासिक विवरण मिलता है। भागवद्पुराण में भक्तियोग को प्रकर्शता प्रदान की गयी है।

महाभारत-युद्ध द्वारा वैदिक आर्य संस्कृति के गहनतया आहत हो जाने पर तदन्तर उभरे प्रतिक्रिया काल में जैन, बौद्ध आदि नास्तिक मतों तथा वैष्णव, शैव, तान्त्रिक आदि आस्तिक संप्रदायों द्वारा योगविद्या के विषय-विस्तार में प्रभावशाली अवदान किया गया। जैन परम्परा में तपपूर्ण मोक्ष मार्ग को ही योग के रूप में विवेचित किया गया। आयुर्वेदविदों ने भी योग के मोक्षमार्ग प्रवर्तक पक्ष को ही ठोस व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया। बौद्ध परम्परा में अष्टांगिक मध्यम मार्ग तथा विपासना ध्यानादि बहुजनोपयोगी योग प्रणाली का विकास हुआ। परन्तु योगदर्शन की विचारधारा का पूर्ण विकास महर्षि पतंजलि की कालजयी कृति योगसूत्र के द्वारा हुआ। इतिहासविदों के अनुसार पतंजलि की रचना योगसूत्र ईसा से लगभग दो सदी पूर्व में प्रकाश में आयी।

योगसूत्र में योगविषयक विशाल ज्ञानराशि को संकलित एवं व्यवस्थित करके उसे नितान्त वैज्ञानिक तथा सामासिक ढंग से चार पादों के अन्तर्गत 195 संक्षिप्त सूत्रों में निबद्ध किया गया। योगसूत्र ने समन्वयात्मक दृष्टि को साथ योग विद्या को संकलित किया। इसी कारण 'योग-सूत्र' को योगदर्शन का आधारभूत ग्रंथ माना जाता है। महर्षि पतंजलि की रचना योगसूत्र के माध्यम से पुरातन योगविद्या का एक सुव्यवस्थित स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विधिवत प्रवर्तन होगया। उस समय से लेकर आज तक यह ग्रन्थ योग जिज्ञासुओं की जिज्ञासा का समाधान प्रदान कर रहा है। आज भी इसकी प्रस्थापनायें एवं प्रतिपादित साधनायें योग के क्षेत्र में निर्विवाद और अनन्तिम मानी जाती हैं।

इस योग सूत्र की बोधगम्यता के लिए विद्वानों ने समय-समय पर अनेक भाष्य और टीकाएँ लिखी हैं। योग सूत्र के व्याख्याताओं की एक अच्छी खासी परम्परा है जिसमें व्यास, वाचस्पति मिश्र, भोज और विज्ञानभिक्षु एवं आधुनिकयुगीन हरिहरानन्द अरण्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। योग सूत्र की यह परम्परा, जो कि अपने भाष्यकारों, टीकाकारों और साधकों के

माध्यम से प्रवाहित होती हुई आधुनिक आध्यात्मिक जिज्ञासुओं तक पहुँच रही है, राजयोग के नाम से विख्यात हुई है। पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए बतलाया कि **चित्तिवृतिनिरोधः योगः** 'चित्तवृत्तियों का निरोध' कर लेना ही योग है और चारित्रिक पक्षों में परिमार्जन को योगावस्था की प्राप्ति हेतु प्राथमिक अपेक्षा माना है।

गौतम बुद्ध एवं उनके अनुयायियों ने वैज्ञानिक विश्लेषण के साथ आध्यात्म के क्षेत्र में मध्यम मार्ग का प्रवर्तन कर योग साधना पथ को बहुजनहिताय व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया। ईशा सदी से पूर्व की उक्त योग धाराओं के अतिरिक्त उत्तर ईश्वी-सदियों में पुराकालीन शाक्त एवं शैव परम्परायें भी पुनर्जीवित हुयीं और तन्त्र तथा आगम ग्रन्थों मे प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों के मध्य सम्यक् समन्वयन पर बल दिया गया। उत्तरवर्ती बौद्ध महायान एवं वङ्क्रायान तथा शाक्त तन्त्र परम्पराओं द्वारा कुण्डलिनी जागरण की साधना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अवदान दिया गया। छठी ईश्वी शताब्दी में आदिगुरु शंकराचार्य ने विश्वविख्यात अद्वैत वेदान्त दर्शन का प्रतिपादन करके अद्वैतभाव-युत ब्रह्मभाव की प्राप्ति को ही साधना का चरम लक्ष्य बतलाया। इसी के साथ साथ आदिगुरु शंकराचार्य जी ने कतिपय समाज सुधारों के साथ वैदिक ज्ञान की पुनर्प्राणप्रतिष्ठा की, वैदिक परम्परागत लोकार्थक कर्मकाण्डपरक पक्ष को प्रतिष्ठित किया एवं बहिरंग शैव तथा वैष्णव भक्तिमार्ग को ठोस आधारभूमि प्रदान किया। इन सबसे भी अधिक आदिगुरु शंकराचार्य ने विविध मतवादों से दिग्भ्रमित ततकालीन वैदिकधर्मानुयायी हिन्दू समाज के पुनर्संगठन का महती योगदान दिया।

तदन्तर सातवीं से दशवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य उत्तरभारत में एक ऐसी धारा प्रवाहित हुई जिसके विकास का श्रेय सिद्ध और नाथ योगियों को जाता है, मत्स्येन्द्र, जालन्धर, गोरक्ष या गोरखनाथ जी इत्यादि इस परम्परा के शीर्ष विश्रुत आचार्य है। जहाँ तक वेदबाह्य या अवैदिक हिन्दू समाज के पुनर्संगठन एवं उनके कल्याणार्थ योग के लोकार्थक पद्धतिपरक पक्ष का सम्बन्ध है तो वहां नौवीं दशवीं शताब्दी ईस्वी के कालखण्ड का बाबा गोरखनाथ जी का अवदान अद्वितीय एवं अविस्मरणीय है। उन्होंने तत्सामयिक तन्त्रमार्ग-प्रभावित जटिल योग साधना धारा का परिशोधन करके परम्परागत शैवप्रभाव-मंडित अपनी सुपरिष्कृत योग साधना प्रणाली के माध्यम से सामाजिक विकृतियों को नियंन्त्रित करने के प्रयास किये।

योग के पद्धतिपरक एवं सैद्धान्तिक पक्षों का सम्यक विकास करते हुए बाबा गोरखनाथ जी ने योग के क्षेत्र में स्वान्तःस्फूर्त नितान्त वैज्ञानिक उपागम को प्रवर्तित किया और इसे सिद्धसिद्धान्त-पद्धति के तौर पर प्रचारित किया। एतदर्थ मार्गदर्शन हेतु गोरखनाथ जी सिद्धसिद्धान्त-पद्धति, गोरखबानी, गोरखबोध और गोरक्षसंहिता जैसी अनमोल कृतियोँ का सर्जन किया। बाबा गोरखनाथश्जी के काल तक योगविद्या पूर्ण सत्यापनीय अनुभवपरक, सिद्धान्त एवं पद्धतिपक्ष-संपन्न सुसंगठित विज्ञान में रूपान्तरित होगयी। गोरखनाथ जी द्वारा परिशोधित सत्यापनीय अनुभवपरक योग-प्रणाली को ही कुछ काल बाद कतिपय तार्किक परिमार्जनों के साथ स्वात्माराम जी ने हठयोग के पूर्ण विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठापित कर दिया। हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता एवं कतिपय परवर्ती योगोपनिषद इस हठयोग परम्परा के मूल ग्रन्थ माने जाते हैं। आगे चलकर सन्त चरणदास जी ने जनभाषा में हठयोग पर अपने लोकप्रिय ग्रन्थ 'अष्टांग योग' को प्रस्तुत किया। हठयोग प्रणाली शरीर के सूक्ष्म अनुभूतिपरक ज्ञान पर आधारित है। इस मार्ग में कुण्डलिनी शक्ति, इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना इत्यादि नाड़ियों, षट्चक्रों, दस पवनों इत्यादि के बोध के साथ आसन, प्राणायाम, षट्कर्म, मुद्राओं, बन्ध और नादानुसंधान इत्यादि का साधना क्रम है। हठयोग परम्परा में साधक शरीर के माध्यम से प्राण एवं मन पर अधिकार करके व्यक्तित्व उन्नयन के पथ पर प्रगति करते हैं। भारतीय इतिहास की समस्त पूर्व-मध्ययुगीन साधना-प्रणालियों पर हठयोगियों का प्रभाव व्याप्त है।

योग के पद्धतिपरक पक्ष को वैज्ञानिकतया व्यवस्थित करते हुए स्वात्माराम जी ने हठयोग को राजयोग की पूर्वभूमि के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की थी जबकि दूसरे प्रख्यात हठयोगाचार्य धेरण्ड मुनि और भक्त चरणदास जी ने हठयोग को भक्तिसाधना को पूर्वाभ्यास को तौर पर मान्यता प्रदान की। तेजोबिन्दु उपनिषद में महामुनि पतंजलि के अष्टांग राजयोग के साथ कतिपय हठयौगिक अवयवों को सम्मिलित कर पंचदशांग-योग की राजयोग एवं हठयोग समन्वित व्यावहारिक प्रणाली प्रवर्तित की गयी। उपर्युक्त विख्यात योग परम्पराओं के अतिरिक्त परवर्ती योगोपनिषदों द्वारा लय-योग, मंत्र-योग, क्रिया-योग, और शक्ति-योग इत्यादि योग के विविध प्रकार तथा योग की षडंग, सप्तांग, अष्टांग प्रणालियों के साथ पंचदशांग-योग प्रणाली भी प्रस्तुत की गयी।

कतिपय हठयोगिक प्रभावों को ग्रहण कर 15वीं सदी के दौर में सन्त कबीर एवं जायसी ने अपनी जनभाषा रचनाओं के माध्यम से निराकार भक्ति साधना का प्रवर्तन किया। परवर्ती काल में कृष्ण-भक्तिधारा के शीर्षकवि सूरदासजी ने अद्वैत-भाव साधना के ऊपर प्रेमा-भक्ति साधना को प्रश्रय प्रदान किया गया। तदन्तर गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा जीवात्मा-परमात्मा सायुज्य एवं मोक्षप्रद परमज्ञान के सन्दर्भ में हठयोग तथा पतंजलि की योग प्रणाली के समक्ष भी सार्थक प्रश्नचिन्ह खड़े कर दिये और सांख्य-योग साधना की तुलना में अनन्य भगवद-भक्ति साधना को वरेण्यता प्रदान की गयी (राम च0 मा0/उत्तरकाण्ड/दो0 114-120)। भक्तिकाल के नितान्त आरम्भिक दौर में ही सिन्ध, पंजाब क्षेत्रवासी बाबा गुरूनानक साहब ने मध्यकालीन उत्तरभारतीय समाजव्यापी रूढ़िवाद, जांतपांत तथा साम्प्रदायिकता का विरोध करते हुए लगभग पूरे उत्तरभारतीय क्षेत्रों तथा मध्येशिया तक भ्रमण करके सच्चे अनुभवसिद्ध भक्तों, सन्तों एवं कवियों की संगत की और उनकी वाणियों का न केवल प्रचार किया आपितु व्यापक जनसमर्थन एवं अपनी उत्कट आस्थावान अनुयायी परम्परा के साथ 15वीं शदी के अन्तिम दौर में एक अभिनव सिख आन्दोलन का प्रवर्तन किया। इस सिख सम्प्रदाय में

मूर्तिपूजा, यज्ञ एवं जातपांत का विरोध था, ग्रन्थ साहब ही पूजनीय थे तथा व्यावहारिक मूल्यों के तौर पर श्रमपरक आर्थिक आत्मनिर्भरता, उपार्जितांश का सम्यक् सामाजिक-वितरणपूर्वक उपभोग तथा सामुदायिक सेवा पर बल दिया गया और आध्यात्मिक साधना के तौर पर गहन भक्ति परक कर्मयोग का मार्ग प्रशस्त किया गया, जिसे दसवें व अन्तिम सिख गुरु गोविन्द सिंह जी ने उत्कर्ष तक पहुंचाया। सिखों की गुरू परम्परा ने आध्यात्म एवं सामरिकता को संयोजित कर देवी दुर्गा एवं भगवान कृष्ण की भांति युगानुकूल सांस्कृतिक दायित्वपरक आध्यात्मिकता का अभिनव उपागम प्रस्तुत किया और यह प्रबलतया प्रस्थापित किया कि आध्यात्म, सन्तपरम्परा व संस्कृति की रक्षा के लिये समर एवं संघर्ष वरेण्य है। गुरु गोविन्द सिंह जी ने भारतीय संस्कृति के आदर्शों में दुर्गा, राम व कृष्ण के तेजोमय कर्मनिष्ठ आदर्श की पुनःस्थापना की।

मध्ययुग को उपरान्त योग विधा कुछ समय तक एकान्तिक साधना की विषय बनी रही। तथापि 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में आन्ध्र प्रान्त के श्रीनिवास जी द्वारा विरचित 'हठरत्नावली' तथा श्री जयत्राम जी द्वारा 18वीं सदी के मध्यार्द्ध में विरचित 'जोगप्रदीपिका' के माध्यम से हठयोग के क्षेत्र में उल्लेखनीय अवदान हुए। 18वीं 19वीं सदी के कालखण्ड में तैलंग स्वामी, तोतापुरी जी एवं लाहिड़ी महाशय जैसे महान योगी साधक भी वर्तमान थे किन्तु योग को विकास को एक बार फिर नयी गति एवं ऊर्जा तभी प्राप्त हुई जब स्वामी विवेकानन्द जी द्वारा 19वीं शदी के अन्तिम दशक में पाश्चात्य जगत के समक्ष कर्म-योग एवं वेदान्त के समन्वित दर्शनिक उपागम को उसके समकालीन वैज्ञानिक स्वरूप में प्रस्तुत किया गया। आधुनिक युग में योग को देश की सीमाओं के पार पाश्चात्य देशों तक पहुंचाने तथा इसमें प्रथमतया विश्व की रूचि जगाने का श्रेय स्वामी विवेकानन्द जी को ही जाता है।

स्वामी विवेकानन्द ने योगविधा को समकालीन राष्ट्रीय जागृति एवं समाजकल्याण के पक्षों के साथ जोड़कर प्रस्तुत एवं प्रचारित किया। स्वामी विवेकानन्द ने अपने विविध व्याख्यानों द्वारा भारतीय जनमानस को चेताया कि जब तक भारतीय समाज अशिक्षा, रूढ़िवाद, अस्वास्थ्य, हीनभावना एवं दैन्य से मुक्त होकर दार्शनिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता के साथ कर्मनिष्ठा की ओर प्रगतिमान नहीं होगा तब तक एकान्तिक अन्तरंग योग साधना एवं भक्तिभाव के प्रचार प्रसार की भी कोई सार्थकता न होगी। स्वामी विवेकानन्द जी ने आधुनिक वैज्ञानिक जानकारियों की पृष्ठभूमि के साथ महामुनि पतंजलि के 'योग-सूत्र' पर अपनी 'राजयोग' नामक टीका की रचना की। 'ज्ञानयोग' 'कर्मयोग' 'प्रेमयोग' नामक उनके व्याख्यानों के संकलन भी प्रकाशित हुए।

स्वामी विवेकानन्द जी के उक्त उद्बोधनों से उत्प्रेरित होकर गुजरात के अवधूत सन्त माधवदास जी ने अपने दो मेधावी शिष्यों, जो कि आगे चलकर श्री योगेन्द्र जी एवं स्वामी कुवलयानन्द जी के रूप में प्रख्यात हुये, को योग विधा के वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक स्वरूप के विकास एवं प्रचार-प्रसार हेतु संप्रेरित किया। लगभग तीन दशक बाद श्री योगेन्द्र जी ने 1924 में शान्ताक्रूज, बॉम्बे में सामान्य ग्रहस्थजनों के हितार्थ योग व्यावहारिक स्वरूप के विकास एवं प्रचार-प्रसार हेतु अपने योग इन्स्टीट्यूट नामक योग केन्द्र की तथा स्वामी कुवलयानन्द जी ने डॉ0 विनायकर के साथ 1924-25 में पूना के पास लूनावला में अपने कैवल्यधाम नामक योग संस्थान की स्थापना की। स्वामी कुवलयानन्द जी ने डॉ0 विनायकर ने 1925 में योगविषयक प्रथम शोधपत्रिका 'योगमीमांसा' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। कैवल्यधाम योग संस्थान में अपने ऊपर योग सम्बन्धी विविध परीक्षण कराके उनके परिणामों के आधार पर शोध-प्रबन्ध लिखने वाले प्रथम अध्येता श्री टी0 एच0 बेहनान थे। उन्हें इस प्रबन्ध पर येल विश्वविद्यालय से पी0एच0डी0 की उपाधि मिली। जिसके बाद वैज्ञानिक जगत में योग के अध्ययन में सक्रिय रुचि का प्रारम्भ हुआ। 1963 में भारत सरकार के अनुरोध पर स्वामी कुवलयानन्द जी तथा डॉ0 विनायकर ने 'प्रिसिपल्स आफ योग थिरैपी' नामक योग चिकित्सा की प्रथम पुस्तक प्रकाशित की। लगभग इसी कालखण्ड में 20वीं सदी के दूसरे चतुर्थार्ध में योगी कृष्णमाचार्य ने प्रकाशन, व्याख्यानों, योग प्रशिक्षण एवे योगोपचार शिविरों के माध्यम से दक्षिण भारत में योगविधा के प्रचार प्रसार में अविस्मरणीय योगदान दिया और 1939 में कृष्णमाचार्य योग मंदिरम की स्थापना की। उन्हें दक्षिण भारत में आधुनिक योग का प्रवर्तक माना जाता है। उनके बाद उनके जामाता प्रख्यात योगाचार्य बी0के0एस0 आयंगार तथा उनके सुपुत्र टी0के0 देशिकाचार्य भी योगविधा के प्रचार में निरत रहे।

कुछ काल तक आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की सेवा करके के बाद संन्यासी जीवन अपनाने वाले स्वामी शिवानन्द जी ने भी अपने शिष्यों स्वामी चिदानन्द जी, चिन्मयानन्द एवं स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जी को आधुनिक सामान्य जनों के मध्य योग एवं आध्यात्म के प्रचार प्रसार हेतु उत्प्रेरित किया। स्वामी शिवानन्द जी ने अपने चिकित्सा विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान की पृष्ठभूमि के आधर पर योगाभ्यासों की उपचारपरक संभावनाओं को ठोस स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जी ने बिहार प्रान्त के मुगेर में गंगातट पर गंगादर्शन नामक अपने सुप्रसिद्ध योग संस्थान की स्थापना की। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जी एवं उनके शिष्य निरंजनानन्द द्वारा प्रचारित योगनिद्रा, शंख- प्रच्छालन एवं पवनमुक्तासन क्रम लोकप्रिय हुये हैं। स्वामी चिन्मयानन्द जी ने देश विदेश में श्रीमदभगवद्गीता पर उद्भट विद्वतापूर्ण प्रवचन दिये।

स्वामी विवेकानन्द जी ने आधुनिक युग में योगविद्या को पुनजीवन प्रदान करने के साथ साथ नव्य-वेदान्त विचारधारा का प्रवर्तन भी किया। अतः वैचारिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण से भी 20 वीं शदी का पूवार्ध योगविधा में नव्य-वेदान्त विचारधारा के उन्मेश और विकास का कालखण्ड भी रहा है। 19सवीं शदी के अन्तिम तथा 20वीं शदी के प्रारम्भिक दशकों में महामना मालवीय जी एवं

महात्मा गांधी ने भी योग साधना के युगानुरूप आशय का प्रवर्तन किया। जहां महात्मा गांधी की साधना प्रणाली सर्वोदय एवं अनासक्ति योग के नाम से विख्यात है तो मालवीय जी की साधना प्रणाली भागवत-योग तथा शिक्षा-योग है। महात्मा गांधी जी की भांति मालवीय जी ने भी अपने विचार एवं दर्शन में योग शब्द का प्रयोग विरले ही किया है किन्तु कृतित्व व अवदानों द्वारा योग के परिक्षेत्र का लगभग सार्थकतया संस्पर्ष किया है।

महात्मा गांधी जी ने सत्य की साधना सत्याग्रह के साथ करना तथा सर्वोदय हेतु सदा प्रयासरत रहने को ही समकालीन आध्यात्मिक साधना के रूप में निरूपित किया। सत्य-साधना और सत्याग्रह के लिये ईश्वर के न्याय पर दृढ विश्वास आवश्यक है। गांधी जी 'गीता विचार' की प्रस्तावना में लिखते हैं कि दृढ इच्छा शक्ति के साथ ईश्वर की इच्छा के साथ जुड़ना ही योग है। ईश्वर की इच्छा से जुड़ने पर व्यक्तित्व में स्वतः दिव्यत्व एवं ईश्वरत्व का अवतरण होने लगता है। सर्वोदय से महात्मा गांधी का भी आशय स्वयं के सर्वांगीण विकास के साथ साथ भारतीय समाज के अन्तिम व्यक्ति तक में व्याप्त अशिक्षा, रूढ़िवाद, अस्वास्थ्य, एवं दैन्य के निवारण हेतु सतत प्रयासरत रहते हुए स्वावलम्बन पूर्ण मार्ग से वैदेशिक पराधीनता से मुक्त होकर राष्ट्र के दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक एवं राजनीतिक आत्मनिर्भरता के मार्ग को प्रशस्त करना था।

आधुनिक युगीन महायोगी अरविन्दो जिन्हें महर्षि अरविन्दो की भी संज्ञा दी जाती है, ने काव्य, कला एवं दर्शन का संयोजन करते हुए तथा दर्शन के क्षेत्र में भी सांख्य-योग, आगम-तन्त्र एवं वेदान्त विचारधाराओं का अदभुत समन्वयन करते हुए समग्र-योग एवं पूर्णाद्वैत दर्शन प्रस्तुत करने में अपनी विलक्षण मेधा का परिचय दिया और नव्य-वेदान्त विचारधारा को उसका चरम प्रदान कर दिया। अरविन्दो ने पाण्डिचेरी तथा ओरोविले में अपना आश्रम स्थापित किया। स्वामी विवेकानन्द, महामना मालवीय, महात्मा गांधी एवं महर्षि अरविन्दो ये उक्त सभी महाविभूतियां अपनी आस्थाओं से आस्तिक थे किन्तु 20वीं शदी का उत्तरार्ध के बहुचर्चित दार्शनिक विचारक, दक्षिण भारत में जन्मे और काशी मे पले बढ़े, नैसर्गिक सहज प्रेम, सौन्दर्य एवं ज्ञान के पक्षधर जद्दू कृष्णामूर्ति जी नास्तिक आस्थाओं वाले प्रतीत होते हुए भी अपनी विचारधारा में आर्ष संहिताओं में प्रधानतया निरूपित आध्यात्मिकता की क्षैतिज प्रवृति को ही परोक्षतया प्रश्रय प्रदान करने वाले दार्शनिक है।

20वीं शदी का उत्तरार्ध योगविधा में नव्य पद्धतिपरक एवं अनुप्रयोगात्मक विकास हेतु अत्यन्त उर्वर काल रहा। इसी कालखण्ड में प्रयाग के निकट गंगातट पर स्थित आश्रम में प्रसिद्ध सन्त हड़िया बाबा दुःसाध्य रोगों के उपचार में योग विधियों के सफल प्रयोग की एकान्त सेवा साधना कर रहे थे तो हिमालय-क्षेत्रवासी नागा साधक आधुनिक कालीन सामान्य ग्रहस्थजनों के स्वास्थ्य संरक्षणार्थ आधुनिक युगीन जनों के अनुकुल नवीन योगविधियों को विकसित कर रहे थे। इनमें स्वामी कार्तिकेय एवं उनके शिष्य धीरेन्द्र ब्रह्मचारी द्वारा प्रचारित सूक्ष्म एवं स्थूल व्यायाम, स्वामी रामलाल जी एवं उनके शिष्य चन्द्रमोहन की जीवन-तत्व साधन, तथा आचार्य देवमूर्ती के मेरू व्यायाम योगिक प्रविधियाँ प्रसिद्ध हुयीं। धीरेन्द्र ब्रह्मचारी जी ने अपने राजनीतिक सम्पर्कों द्वारा योगाभ्यास प्रशिक्षण को प्रथम बार औपचारिक तौर पर केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा प्रणाली में शामिल करा पाने में सफलता प्राप्त की।

योगाभ्यास पर विज्ञानपरक अध्ययनों का विधिवत प्रारम्भ अमेरिका से आये हुए वैज्ञानिकों वेन्गर तथा बागची इत्यादि ने 1954-56 में किया। ये अध्ययन तत्कालीन कतिपय पहुंचे हुए प्रमुख योगियों पर इलेक्ट्रानिक यन्त्रों की मदद से किये गये। इनमें से कुछ अनुभवों एवं अध्ययनों से प्रो0 वेन्गर तो इतने प्रभावित हुए कि वे संन्यास लेकर योगसाधना में ही लग गये। इसी अध्येता समूह से परोक्षापरोक्ष रूप से जुड़े हुये आनन्द, छिना तथा सिंह इत्यादि ने अगले क्रम में 1961 में योगाभ्यासों पर सार्थक शारीरक्रियात्मक शोध अध्ययन किये। कैवल्यधाम, लूनावला, पूना के डा0 घरोटे एवं डा0 भोले तथा बॉम्बे के डॉ0 दाते ने योगाभ्यासों को स्वास्थ्य--सुधारात्मक तथा रोग उपचारक सम्भावनाओं पर अपने महत्वपूर्ण शोध परिणामों को प्रकाशित किया। दाते ने हाइपरटेन्सन पर योगाभ्यासों के सकारात्मक प्रभावों पर उल्लेखनीय अध्ययन किये तथा भोले ने श्वांस रोग तथा श्वसन प्रक्रियाओं को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया। घरोटे ने शारीरिक क्षमता पर महत्वपूर्ण अनुसंन्धान किये। डा0 भोले आजीवन योगोपचार प्रणाली को उसका औपचारिक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान कराने में निरत रहे।

यूरोप में महर्षि महेशयोगी द्वारा प्रचारित भावातीत ध्यान प्रविधि को वैज्ञानिक द्वय वेन्सन और वैलेस ने अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया और अनेकों महत्वपूर्ण शोधपत्र प्रस्तुत किये। अमेरिका में हिमालयन इन्स्टीट्यूट के स्वामी राम ने भी पाश्चात्य वैज्ञानिकों के समक्ष योग एवं ध्यान के गहन पक्षों का रहस्योद्घाटन किया। महर्षि महेशयोगी के भावातीत ध्यान के अतिरिक्त बर्मन महोदय द्वारा कुछ परिमार्जनों के साथ पुनर्प्रचारित बौद्ध विपासना ध्यान-पद्धति, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जी की योगनिद्रा ध्यान-पद्धति, आचार्य महाप्राज्ञ जी द्वारा प्रतिपादित प्रेक्षा-ध्यान तथा आचार्य रजनीश की नटराज ध्यान आदि अन्यान्य प्रसिद्ध ध्यान प्रविधियोँ पर भी सार्थक वैज्ञानिक अनुसन्धान कार्य हुए हैं। भौतिकवादी विचारधारा वाले सोवियत रूस की 'कास्मिक योग' एवं 'किर्लियन फोटोग्राफी' भी चर्चा में रहीं और इन वैज्ञानिक प्रविधियों ने योग अनुसन्धान के क्षेत्र में नये आयामों का प्रवत्रन किया।

जब बेन्सन और बैलेस के अनुसन्धान कार्य विदेशों में जोरों पर थे तो उस समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्विज्ञान संस्थान के निदेशक प्रो0 के0 एन0 उडुपा की रूचि योगाभ्यासों के आर्युवैज्ञानिक मूल्यांकन में बढ़ती जा रही थी। प्रो0 के0 एन0 उडुपा, डा0 आर0 एच0 सिंह प्रभृति वैज्ञानिकों ने स्वास्थ्य सुधार और तनावजन्य मनोकायिक रोगों के उपचार की दृष्टि से आसन,

प्राणायाम, क्रियाओं तथा ध्यान पर अनेकों महत्वपूर्ण अध्ययन किये और योगाभ्यासों की आयुर्वैज्ञानिक मूल्यवत्ता को स्थापित किया। प्रो0 उडुपा 1975 से 1990 की अवधि में 'आम आदमी के लिये योग' या 'बेहतर जीवन के लिए योग' आन्दोलन के जनक माने जा सकते हैं। 20वीं शदी के अन्तिम दशक में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के डा0 आर0 एच0 सिंह, डा0 के0एम त्रिपाठी तथा निमहान्स, बंगलूरु के डा0 टी0 एच0 मैती प्रभृति मनोवैज्ञानिक योगाभ्यासों के मानसोपचारक संभाव्यताओं को खंगाल रहे थे। उपरोक्त मूर्धन्य वैज्ञानिकों के इन्ही उत्साही प्रयासों के कारण आज योग एक विश्वजनीन मनोशारीरिक स्वास्थ्य विज्ञान का रूप धारण कर चुका है।

इधर विगत दशकों में योगाभ्यास पुनः लोकरूचि के, विशेषतः वैज्ञानिक रूचि के केन्द्र बने हैं। देश-विदेश में योगाभ्यासों पर बड़ी तीव्रता और आशाओं के साथ वैज्ञानिक अनुसन्धान कार्य हुए हैं । इस सन्दर्भ में योग की अनेकों सम्भावनाओं का पता लग चुका है और कतिपय अनेको विवादास्पद है। दिनानुदिन योगाभ्यासों पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में वैज्ञानिक चर्चाओं, प्रयासो और स्पष्टीकरणों का अनुपात बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार से सत्यापनीय विधियों एवं सुसंगठित सिद्धान्तों से संपन्न पूर्ण अनुभवपरक विज्ञान के रूप में योग का उदभव हुआ। आज के आम समाज में लोकप्रिय योगविद्या एक आधुनिक कालीन विज्ञान है जिसका उद्भव (या पुनरुद्भव) स्वामी विवेकानन्द, स्वामी कुवलयानन्द व स्वामी शिवानन्द जैसे मनीषियों द्वारा योग के क्षेत्र में प्रवर्तित वैचारिक क्रान्तियों का प्रतिफलन है।

आधुनिक युगीन योग विद्या राष्ट्रीय, सामाजिक एवं व्यक्तिगत सन्दर्भों को विशेष महत्त्व प्रदान करने वाली विधा है जो निरन्तर शारीरिक शिक्षा विधा के निकट से निकटतर होती जा रही है। वर्तमान काल में हरिद्वार के स्वामी रामदेव जी द्वारा प्रचारित आसनाभ्यासों तथा श्वसन-अभ्यासों ने भी विश्वख्याति अर्जित की। इधर श्री रविशंकर जी प्रवर्तित 'सुदर्शन-क्रिया' भी बड़े स्तर पर सुधीजनों के आकर्षण का केन्द्र एवं चर्चा का विषय है। योगाभ्यासों की विश्वख्याति को लक्ष्य करके भारत के वर्तमान प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी के प्रयासों से सम्पूर्ण विश्व में प्रतिवर्ष दिनांक 21 जून को अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस का आयोजन किया जाता है जिसमें भारत सरकार द्वारा सुविहित सामान्य-योगाचार के योगाभ्यासों का विविध सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थानों में सामूहिक अभ्यास होता है। इस प्रकार से भारतीय परम्परा का वैदिक आगम और निगम धाराओं को साथ योग-प्रणाली वैदिकेतर श्रमण धाराओं को द्वारा लालित पोषित योग प्रणाली एक सतत विकासमान एवम् समय $\leq$ पर युगानुरूप अपेक्षानुसार परिमार्जित विधा के रूप में सामने आती है।

संदर्भ-स्रोतः

1 'ईशादि नौ उपनिषद' गीताप्रेस, गोरखपुर।

2 'राम चरित मानस', उत्तरकाण्ड/गरुण-काकभुसुण्डी-संवाद/दोहा सं0 114-120, ले0 गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर।

3 'संस्कृति के चार अध्याय', ले0- श्री रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1990, आइ0एस0बी0एन0/संख्या-81-85341 -05-2।

4 'सन्मार्ग योग विशेषांक' वर्ष -32, अंक - 205, 1977।

5 'वायु पुराण अंक' कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुर।

6 'अग्नि पुराण अंक' कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुर।

7 'योगांक' कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुर

8 'गोरखनाथ', ले0- श्री नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, 1991।

9 'द फाउन्डेसन आफ कन्टेपोरेरी योग', ले0- प्रोफे0आर0एच0 सिंह, चैखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1991।

10 'योग व्यायाम-इतिहास एवं अभ्यास', ले0-श्री जीतेन्द्र कु0 पाठक, प्रोग्रेसिव बुक सेण्टर, वाराणसी, 2017, आइ0एस0बी0एन0/संख्या-978 -81 -85997-30-8।

11 'एट्री फोर आसनाज- अ सर्वे आफ ट्रेडीसन्स', ले0-श्री गुडरुन ब्यूहनेमन, डी0के0प्रिण्टवर्ड प्रा0 लिमिटेड, नयी दिल्ली, 1955, आइ0एस0बी0एन0/संख्या- 81-246-0417-7।

12 श्वैदिक संहिताओं एवं साहित्य में योग की अवधारणाओं का विकासश् ले0- डा0 कृष्ण मुरारी त्रिपाठी, 'मेधा' वाल्यूम-2 अंक 1 अप्रैल. जून 2010, पृ0 61-67; आइ0एस0बी0एन0/संख्या- 0975-0886।

13 'योगाभ्यास-परिचय', ले0-डा0 कृष्ण मुरारी त्रिपाठी एवं ऋतज त्रिपाठी, चैखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी, 2018।

●

डॉ. बी. आर. आम्बेडकर का सामाजिक और लैंगिक-न्याय दर्शन : भारतीय राजनीतिक परिप्रेक्ष्य

डॉ. अंशु मिश्रा एवम् डॉ. धर्मेन्द्र कुमार मिश्रा***

पृथ्वी पर समस्त प्राणधारियों में मनुष्य एक मात्र प्राणी है जो तर्कशक्तियुक्त एवं विवेकशील होता है। यह तर्कशक्ति एवं विवेक मनुष्य को स्वयं को जानने और अपने परितः पर्यावरण एवं वातावरण को पहचानने की सामर्थ्य प्रदान करता है। इस विशिष्ट क्षमता से मानव जीवन बहुत कुछ सीमा तक निर्मित, परिवर्तित एवं नियन्त्रित होता है तथा उसे अन्य जीवधारी से अलग भी करता है।[1] यह संसार प्राकृतिक एवं कृत्रिम संसाधनों की विविधता से परिपूर्ण है। इन विविधताओं में समरूपता अथवा उसमें सामंजस्य का प्रश्न, प्रारम्भिक काल से ही, समस्त दार्शनिकों, चिन्तकों एवं विचारकों के अध्ययन का एक प्रमुख विषय रहा है और यही अध्ययन 'न्याय की संकल्पना' का प्रमुख आधार माना गया है।

अतः 'न्याय' मानव जीवन से जुड़ी एक संकल्पना है। यह सार्वकालिक, सार्वभौमिक तथा व्यक्तिगत अनुभूति से युक्त होती है। यह समय, स्थान, परिस्थिति तथा संस्कृति आदि के सापेक्ष परिवर्तित भी होती रहती है। मानव सभ्यता के विकासक्रम के साथ दार्शनिकों के द्वारा 'न्याय' सम्प्रत्यय को परिभाषित करने का निरन्तर प्रयत्न होता रहता है। जहाँ एक ओर अरस्तू से लेकर रॉल्स आदि द्वारा प्रतिपादित न्याय का पाश्चात्य-दर्शन है तो दूसरी ओर भारत का प्राचीन वैदिक-न्याय दर्शन भी इस संकल्पना को रेखांकित करता है। प्राचीन भारत में न्याय का सम्बन्ध अधिकार से नहीं, वरन् कर्तव्य से होता था।[2] प्रारम्भिक काल में न्याय से सम्बन्धित दो दृष्टिकोण प्रचलित थे- प्रथम दण्डनीति, तथा द्वितीय धर्म। इन दोनों में दण्डनीति का आधुनिक न्याय की अवधारणा से निकटतम सम्बन्ध प्रतीत होता है। यह न्याय के विधिक पक्षों से सम्बन्धित है। धर्म, वस्तुतः, कर्तव्यों का संहिताकरण है, तदनुसार 'न्याय' मानव का धर्मपरायण जीवन-यापन कहलाता है। यदि देखा जाए तो यूनानी चिन्तक प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त तथा प्राचीन भारतीय परम्परा में धर्म के अनुसार कर्तव्यपरायणता को न्याय के समरूप मानना, दोनों में सादृश्यता प्रतीत होती है।[3] न्याय के आधुनिक दृष्टिकोण को उदारवादी और मार्क्सवादी दो वर्गों में बाँटा जाता है। उदारवादियों का तर्क है कि एक न्यायोचित समाज के लिए वैयक्तिक अधिकार तथा स्वतंत्रता आवश्यक है, जबकि मार्क्सवादी दृष्टिकोण इस हेतु समानता पर ज्यादा बल देता है। इनका इनका मत है कि जब तक समाज में विद्यमान असमानता का अन्त नहीं होगा, तब तक न्यायोचित समाज की स्थापना नहीं की जा सकती। स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय को प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था की मूलभूत आवश्यकता माना गया है।

सामाजिक न्याय की संकल्पना

सामाजिक मानदण्डों, विधिक व्यवस्था तथा नैतिकता के क्रमिक विकास के फलस्वरूप सामाजिक न्याय की अवधारण अस्तित्व में आयी। यह अवधारणा न्यायोचित कृत्य पर बल देती है तथा सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के आधार पर प्रवर्तनीय सत्ता को विधि व्यवस्था लागू करने हेतु समाज में हस्तक्षेप का पर्याप्त अधिकार प्रदान करती है। सामाजिक न्याय में 'सामाजिक' और 'न्याय' दो शब्द समाहित है, जिसमें 'सामाजिक' का सम्बन्ध समाज में रहने वाले सभी व्यक्तियों से है तथा 'न्याय' शब्द स्वतंत्रता, समानता व न्याय से सम्बन्धित है। इस प्रकार सामाजिक न्याय का तात्पर्य, स्वतंत्रता की प्रत्याभूति (गारण्टी), समानता की स्थापना तथा समाज के सभी व्यक्तियों को वैयक्तिक अधिकार सुलभ कराने से है। सामाजिक न्याय की अवधारणा बहुआयामी है, अतः इस विषय पर विधि, दर्शन तथा राजनीतिशास्त्र के विद्वानों के विचार भिन्न-भिन्न है। यह वास्तव में व्यापक और विशद शब्दावली है। सामाजिक न्याय अधिकारों का गट्ठर है। यह सम्पत्तिवान और सम्पत्तिहीन के बीच सन्तुलन के चक्के की भांति कार्य करता है। स्थिर समाज की स्थापना या देश में एकता की स्थापना करने में इसका विशेष सामाजिक महत्व है। संक्षेप में, सामाजिक न्याय को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि यह शोषित, कमजोर, वृद्ध, गरीब, महिलाओं, बच्चों तथा वंचितों को उनका अधिकार दिलाना है।

प्राचीन भारतीय समाज तथा सामाजिक न्याय

प्राचीन भारतीय समाज वर्ण व्यवस्था पर आधारित था ।[4] यह सामाजिक न्याय के मानदण्ड पर आधारित एक सुव्यवस्थित समाज था। उत्तरवैदिक काल में, क्रमशः यह वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था में परिवर्तित हो गयी। जाति-व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति का वर्ण उसके कार्य से नहीं, वरन् जन्म से निर्धारित होने लगा। जाति-व्यवस्था के फलस्वरूप मानवजाति उच्चवर्णीय तथा निम्नवर्णीय श्रेणी में विभक्त हो गयी । इस व्यवस्था में कुछ कार्य निम्नवर्ण वाले व्यक्तिव्यों को जातिगत आधार पर दिए गए। कालान्तर में, इसके

* एसोसिएट प्रोफेसर (राजनीतिशास्त्र), श्री बलदेव स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बड़ागाँव, वाराणसी।
** प्रोफेसर, विधि संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

दुरुपयोग के परिणामस्वरुप, यह व्यवस्था आगे चल कर अभिशाप साबित हुयी। इस जातिगत व्यवस्था में कुछ लोगों को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया तथा समाज के बहुसंख्य वर्ग को केवल शारीरिक श्रम के कार्यों के लिए ही उपयुक्त माना गया। इस वर्ग को सामाजिक व्यवस्था में लघुस्थान प्राप्त था तथा वह लोग शिक्षा के अधिकार से वंचित थे। इससे विशेषाधिकृत वर्ग के विशेषाधिकारों में निरन्तर वृद्धि होती गयी तथा अन्य शेष वर्ग पहले से ज्यादा शोषित और वंचित होता गया। अन्ततः, यह एक अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के जन्म का कारण बन गया। आज, स्वतंत्र भारत में, जन्म आधारित पदसोपानीय जातिव्यवस्था का अन्त करके, वर्तमान काल एवं परिस्थिति के अनुसार, भारतीय संविधान में अन्तर्निहित सामाजिक न्याय की अवधारणा की मूल भावना के अनुरूप एक न्यायपूर्ण समाज की स्थापना की गयी है।

आम्बेडकर एवं सामाजिक न्याय

भारत में वर्तमान काल के सामाजिक न्याय के अग्रणी विचारकों के नामों की सूची में डॉ. भीमराव आम्बेडकर का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। डॉ. आम्बेडकर महाराष्ट्र राज्य में पैदा हुए थे। उन्होंने बाल्यावस्था से ही एक समुदाय विशेष के लोगों का जातिगत दमन देखा और अपने सम्पूर्ण जीवन काल में सामाजिक भेदभाव को जगह-जगह अनुभव किया। अतः वह दलितों, वंचितों तथा शोषितों की स्थिति पर हमेशा ही चिन्तन-मनन करते थे। इसी विचार के कारण वह आगे चलकर इन समुदायों के उत्थान के लिए अनेकों कार्य किये। कोलम्बिया विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त करने के समय तथा प्रशासन में पद प्राप्त करने के बावजूद उन्होंने यह अनुभव किया कि जातिवाद की भावना वहाँ भी विद्यमान रही। अतः उनकी अनुभूति में सामाजिक न्याय का सिद्वान्त एक कपोलकल्पना रही है। इसे देखते हुए उन्होंने इसका अन्त करने, वंचित एवं शोषित समुदाय के उत्थान तथा सम्पूर्ण समाज में स्वतंत्रता, समानता व भ्रातृत्व की स्थापना का संकल्प लेकर उसे पूर्ण करने का कार्य किया।

भारत में विद्यमान जातिप्रथा पूर्णतः धर्मोद्भूत मानी गयी। यद्यपि कि आम्बेडकर धर्म को मानव जाति के लिए अनिवार्य मानते थे। उनका मानना था कि 'धर्म मनुष्य के विकास के लिए अति आवश्यक है'।[5] धर्म मनुष्य के जीवन में आशा का संचार करता है तथा उसे कार्य के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। परन्तु ग्रन्थों के उपदेश तथा व्यक्ति के सम्बन्ध में वह व्यक्ति को प्रमुखता देते थे। उनके अनुसार जो धर्म व्यक्ति की वैयक्तिकता का सम्मान नहीं करता, वह स्वीकार्य नहीं हो सकता। उन्होंने हिन्दू धर्म में विद्यमान जाति प्रथा का गहन अध्ययन किया तथा वंचित समुदाय को इस कुप्रथा के खिलाफ संघर्ष करने को प्रेरित किया । उन्होंने लिखा है- 'हिन्दुओं के नैतिक आचरण पर जाति का प्रभाव निश्चित ही निन्दनीय है। जाति ने जनमानस की आत्मा का अन्त कर दिया है। एक हिन्दू के लिए उसका जनसमूह केवल उसकी अपनी जाति है, उसका दायित्व केवल अपनी जाति के प्रति है, उसके गुण-अवगुण सब जाति से बंधे है'।[6] ऐसी व्यवस्था, जो कतिपय जातियों को कोई अधिकार नहीं देता, उसके विरूद्ध डॉ. आम्बेडकर ने आवाज उठायी। वर्ष 1927 के माहद तालाब आन्दोलन के द्वारा उन्होंने शोषितों व वंचितों को समाज की मुख्य धारा में लाने का प्रयास किया और अपने राजनीतिक जीवन में जातिगत मुद्दे पर आद्योपान्त संर्घषरत रहे।

सामाजिक न्याय से डॉ. आम्बेडकर का तात्पर्य मात्र जाति-प्रथा के उन्मूलन से नहीं था, वरन् वह हर तरह की असमानता चाहे वह जाति पर आधारित हो, या वर्ण, लिंग, पद, एवं प्रतिष्ठा पर आधारित हो, सभी के विरूद्ध थे। उनका कहना था कि सामाजिक न्याय ही राजनीतिक और आर्थिक न्याय-सम्पन्न समाज की स्थापना कर सकता है। उन्होंने भारतीय संविधान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी तथा एक कालखण्ड में विकृत भारतीय सामाजिक संरचना एवं जन अपेक्षाओं से वह भली-भांति परिचित थे। अतः उन्होंने सामाजिक न्याय एवं सामाजिक लोकतन्त्र की प्राप्ति ''एक व्यक्ति-एक मूल्य'' के आधार पर करने की वकालत की तथा वह इसे राष्ट्रीय आन्दोलन का मुख्य आधार भी मानते थे। उन्होंने भारतीय वर्ण-व्यवस्था,[7] प्लेटो के न्याय सिद्धान्त[8], गांधी जी की सर्वोदय की अवधारणा[9] अथवा कार्ल मार्क्स के सर्वहारा समाजवाद[10] के सिद्धान्त को सामाजिक न्याय की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि के रूप में नहीं स्वीकार किया। डॉ. आम्बेडकर के अनुसार सामाजिक न्याय का तात्पर्य सम्पूर्ण जनमानस की एकता, स्त्री और पुरुष में समानता, मानवाधिकारों का संरक्षण तथा पारस्परिक सौहार्द से था। उनके अनुसार मानव द्वारा निर्मित सभी प्रकार की असमानताओं का अन्त ही सामाजिक न्याय की स्थापना का मुख्य उद्देश्य है।

लैंगिक-न्याय की संकल्पना

बीसवीं शताब्दी नारीवादी आन्दोलनों की थी, परन्तु इक्कीसवीं शताब्दी में 'नारीवाद' के स्थान पर 'लैंगिक-न्याय' शब्द प्रयुक्त किया जा रहा है। 'लैंगिग-न्याय' शब्द को 'लैंगिक समानता', 'लैंगिक साम्य', 'महिला-सशक्तीकरण' तथा 'महिला अधिकारों' के समानार्थी के रूप में देखा जाता है। सामान्यतया, लैंगिक-न्याय उन प्रावधानों के समापन तथा निवारण से सम्बन्धित है, जो स्त्री और पुरुष में असमानता को जन्म देता है और जिसके फलस्वरूप स्त्री पुरुष के अधीन हो जाती है। लैंगिक-न्याय की व्याख्या से स्पष्ट होता है कि यह अवधारणा पितृसत्तात्मक समाज के प्रतिक्रियास्वरूप अस्तित्व में आयी है। संसार में कुछ जगहों पर आज भी मातृसत्तात्मक समाज हैं, जैसे- भारत में मेघालय में खासी समुदाय। यद्यपि, उनकी संख्या नगण्य है। पितृसत्तात्मक समाज पुरुष प्राथमिकता अथवा महत्ता पर आधारित होते हैं तथा महिलाओं को गौंड़ स्थान प्रदान करते हैं। पुरुष प्रधान समाज की अवधारणा कहाँ से आयी, इस सम्बन्ध में यह अनुमान है कि अति प्राचीनकाल में

जब शक्ति को विशेष महत्व प्राप्त था, तब शारीरिक रूप से सबल होने के कारण पुरुषों के हाथ में समाज की बागडोर आ गयी। हालांकि, आज चिकित्सा विज्ञान यह स्वीकार करता है कि पुरुषों की तुलना में स्त्रियाँ जैविक रूप से ज्यादा मजबूत होती है तथा नर भ्रूण के समकक्ष मादा भ्रूण के जीवित रहने की सम्भावना ज्यादा होती है।[11]

प्राचीन भारतीय समाज एवं लैंगिक-न्याय

लैंगिक-न्याय की संकल्पना को प्राचीन भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखने पर ज्ञात होता है कि यहाँ अति प्राचीन काल से महिलाओं को समाज में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। सिंधु घाटी सभ्यता में प्राकृतिक शक्तियों को देवी स्वरूप में पूजा जाता था। इतिहासकारों के अनुमान के अनुसार सिंधु सभ्यता मातृसत्तात्मक थी।[12] ऋग्वेद काल में महिलाओं को पुरुषों के समतुल्य स्थान प्राप्त था।[13] महिलाओं को भी शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त था । यदि कोई महिला बिना विवाह किए अपनी शिक्षा जारी रखना चाहती थी, तो उसे यह स्वतन्त्रता प्राप्त थी। लोपामुद्रा ने अगस्त्य मुनि के साथ मिलकर ऋग्वेद की 179 ऋचाओं की रचना की थी। उस समय महिलाएं पुरुषों के साथ हर सामाजिक समारोह में समान रूप से भाग लेती थीं। रोमाशा, गार्गी, मैत्रेयी, अपाला एवं अदिति आदि महिलाएं समान रूप से वेद-ज्ञान पर अधिकार रखती थीं। विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह आदि के वैदिक काल में प्रचलित होने के संकेत, ऐतिहासिक रूप से, मिलते हैं।

महिलाओं की इस सहभागिता एवं उत्तम स्थिति में उत्तर वैदिक काल में परिवर्तन आने शुरु हो गए। वैदिकोत्तर काल वर्ण व्यवस्था के स्थान पर जाति व्यवस्था पर आधारित था। इस प्रकार ऋग्वेद काल की सहधर्मिणी की अवधारणा उत्तरवैदिक काल में पतिव्रता धर्म में परिवर्तित हो गयी। मनुस्मृति में वर्णित तथ्य से कदाचित ऐसा प्रकट होता है।[14] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विवाह की अधिकतम आयु, गृहस्थ नियमों का उल्लंघन, तथा विवाह सम्बन्धी वर्णित नियमों से उस काल में स्त्रियों की गौड़ स्थिति का पता चलता है।[15]

मध्यकाल में स्त्रियों की प्रस्थिति अच्छी नहीं रही। वाह्य आक्रान्ताओं और मुगलों के आक्रमण से भयभीत होकर पर्दा प्रथा, सतीप्रथा, बालविवाह आदि प्रथाएँ समाज में स्थापित हो गयी, तथा कालान्तर में इनका दुरूपयोग शुरू हो गया। जिसने महिलाओं की स्थिति को अत्यन्त दयनीय बना दिया। 19वीं और 20वीं शताब्दी में, जब यूरोपीय लोगों ने भारतीय इतिहास का अध्ययन आरम्भ किया तो उनके दो दृष्टिकोण बने थे। एक श्रृंखला प्राच्यवेत्ताओं की थी तथा दूसरी उपयोगितावादियों एवं इसाई धर्म प्रचारकों की थी, जिन्होंने समकालीन भारतीय समाज में महिलाओं की दयनीय स्थिति पर कड़े प्रहार किए। एशियाटिक सोसाइटी के हेनरी थॉमस कोलब्रुक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने सतीप्रथा के प्रश्न को सबसे पहले उठाया। जेम्स मिल ने अपनी पुस्तक 'द हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया' में लिखा कि हिन्दू समाज में व्याप्त सतीप्रथा तुर्कों के आक्रमण का प्रतिफल नहीं थी, बल्कि वह हिन्दुओं में प्रचलित इस अवधारणा के फलस्वरूप थी कि स्त्रियों को हमेशा नियन्त्रित करने की आवश्यकता है। स्त्रियों की भारतीय समाज में स्थिति को देखकर ही यूरोपीय लोगों ने कहना शुरू किया कि यह स्वशासन के योग्य नहीं हैं।[16] यूरोपीय लोगों के नकारात्मक दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप ही राजाराममोहन राय एवं दयानन्द सरस्वती आदि ने भारतीय स्त्रियों की स्थिति में सुधार के प्रयास आरम्भ किए। इस संबंध में बंकिम चन्द्र चटर्जी ने अपने उपन्यास 'आनन्द मठ' में शान्ति नामक एक चरित्र का चित्रण किया, जो देश को स्वतन्त्र कराने के लिए पति के कंधे से कंधा मिलाकर चलती हैं। दयानन्द सरस्वती एवं ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने बालविवाह एवं उनके फलस्वरूप उत्पन्न विधवा स्त्रियों की स्थिति में सुधार के लिए आवाज उठायी।

आम्बेडकर एवं लैंगिक-न्याय

सामाजिक रूप से अतिसंवेदनशील होने के कारण डॉ. आम्बेडकर समाज में महिलाओं की दयनीय स्थिति के प्रति भी चिंतित थे। महिलाओं, विशेष रूप से, हिन्दू महिलाओं के सामाजिक उत्थान के क्षेत्र में उन्होंने पथप्रदर्शक का कार्य किया था। उनका मानना था कि हिन्दू महिलाएँ अंधविश्वासों और रूढ़ियों की बेड़ी में बंधे-बंधे ही अपने जीवन का अन्त कर देती हैं। महिलाओं के जीवन में रूढ़ियों का जाल स्वयं उनके द्वारा आधारहीन परम्पराओं के पालन तथा शास्त्रों की तर्कहीन व्याख्या के पालन से बनता है। हिन्दू कोड बिल के माध्यम से डॉ. आम्बेडकर ने महिलाओं की स्थिति में सुधार करने के लिए श्रेष्ठ व क्रान्तिकारी प्रयास किया था। भारत में स्वतंत्रता के पश्चात विवाह, विवाह-विच्छेद एवं उत्तराधिकार से सम्बन्धित विधियों में एकरूपता एवं तार्किकता लाने का हिन्दू कोड बिल के माध्यम से एक अच्छा प्रयास किया गया था। हिन्दू कोड बिल सामाजिक अभियान्त्रिकी का स्वतन्त्रता के बाद एक अच्छा उदाहरण माना गया। यद्यपि इस विधेयक का संसद में और उसके बाहर तीव्र विरोध हुआ क्योंकि आलोचक इन सुधारों को रूढ़िगत हिन्दू समाज के लिए खतरा मान रहे थे। तथापि हिन्दू कोड बिल पर डॉ. आम्बेडकर द्वारा उठाया गया कड़ा कदम उन्हें महिला आन्दोलन के प्रणेता के रूप में स्थापित करता है। उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पी.बी. गजेन्द्रगड़कर का कहना था कि, 'भारतीय संविधान के अनुच्छेद 44 की अप्रयोज्यता प्रजातन्त्र की असफलता है'।[17] यदि डॉ. आम्बेडकर हम भारतवासियों को हिन्दू कोड बिल देते हैं, तो उनकी यह उपलब्धि इतिहास के पन्नों में सामाजिक न्याय के एक चरण के रूप में लिखी जाएगी। डॉ. आम्बेडकर के अनुसार महिलाएँ परिवार का बोझ उठाती हैं, बच्चों का पालन-पोषण करती हैं तथा माता व पत्नी के रूप में हर तरह के कर्तव्य का जीवनभर निर्वाह करती हैं। फिर भी, समाज का परम्परागत श्रम विभाजन महिलाओं के हितों के अनुरूप नहीं रहा है। इसी कारण भारतीय

महिलाएँ अस्तित्व का संकट झेल रही हैं। गरीबी, अशिक्षा, तथा स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव आदि अनेक समस्याओं से भारतीय महिलाएँ घिरी हुयी हैं। पीढ़ियों से चली आ रही परम्पराओं के भार से महिलाएँ दबी हैं तथा शारीरिक, मानसिक व सामाजिक रूप से पुरुषों के अधीन होकर प्रताड़ना का शिकार हो रही हैं। परिवार और समाज के नीति-निर्माण की प्रक्रिया में भागीदारी के अभाव से महिलाओं से जुड़ी समस्याओं ने विकराल रूप ले लिया।

डॉ. आम्बेडकर हिन्दू महिलाओं के साथ-साथ मुस्लिम महिलाओं की स्थिति के सम्बन्ध में भी चिन्तित रहते थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में जनसंख्यात्मक आँकड़ों के आधार पर बताया कि भारतीय मुस्लिम समाज भी महिलाओं के प्रति संवेदनशील नहीं है। मुस्लिम विधि में महिलाओं की स्थिति के संबंध में अस्तित्ववान विधि को क्रियान्वित कराने की शक्ति मुस्लिम महिलाओं में नहीं है। एक महिला अपनी इच्छानुरूप विवाह न होने पर भी मना नहीं कर सकती, परन्तु पुरुष को इस सम्बन्ध में पूरी स्वतन्त्रता है। मुस्लिम पुरुष को बहु-विवाह के अधिकार ने इस वर्ग की महिलाओं की स्थिति को बदतर बनाने में बहुत बड़ी भूमिका निभायी है। इस सम्बन्ध में डॉ. आम्बेडकर का कहना था कि परदा प्रथा मुस्लिम महिलाओं को मानसिक और नैतिक दोनों तरह के पोषण से वंचित करता है। बाहरी संसार से महिलाओं का पृथक्करण उन्हें परिवार के छोटे-मोटे झगड़ों व समस्याओं तक सीमित कर देता है जिससे उनका दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है।[18]

सन् 1936 में बम्बई के दामोदर हॉल में उनके एक भाषण का उल्लेख करना उपयुक्त होगा, जिसमें उन्होंने देवदासियों की स्थिति पर भी सार्वजनिक मंच पर अपने विचार रखे तथा देवदासियों से अपने घृणित कार्य को त्याग करके सामान्य जनमानस में शामिल होने की अपील की। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि भारतीय समाज में स्त्रियों को पूजनीय माना जाता है, परन्तु आज महिलाओं की स्थिति के कारण भारतीय जनमानस अपने आप पर लज्जित है। डॉ. आम्बेडकर की इस अपील का अनेक देवदासियों पर गहरा प्रभाव पड़ा तथा उन्होंने डॉ. आम्बेडकर से मिलकर अपनी स्थिति के बारे में उन्हें बताया एवं उन परम्पराओं को त्यागने की अपनी इच्छा भी प्रगट की। डॉ. आम्बेडकर का दृष्टिकोण भविष्यदर्शी था। उन्होंने इस तथ्य को भली-भाँति समझ लिया था कि किसी समुदाय का विकास तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक उसमें महिलाओं की उन्नति के लिए प्रयास नहीं किया जाता। उन्होंने अपना यह विचार नागपुर में अखिल भारतीय शोषित महिला संघ के अधिवेशन में 20 जुलाई 1942 को प्रकट किया था। वह विवाह संस्कार को एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी मानते थे। उनके अनुसार, 'हर लड़की, जिसका विवाह हो, वह अपने पति के साथ कदम से कदम मिलाकर चले, पति की मित्र बने तथा दासी बनने का विरोध करें'।[19]

भारतीय संविधान एवं सामाजिक न्याय

डॉ. आम्बेडकर ने संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में संविधान निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। अतः उनकी सामाजिक न्यायोन्मुखी अवधारणा संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में परिलक्षित होती है। समाज के वंचित वर्ग से संबंध रखने के कारण भारतीय जनमानस की आकांक्षाओं एवं अपेक्षाओं से वह भली-भाँति परिचित थे। सामाजिक न्याय को भारतीय संविधान द्वारा कहीं भी परिभाषित नहीं किया गया है। फिर भी संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों द्वारा इस विचार को पर्याप्त संरक्षण देने का प्रयास किया गया। इसीलिए भारतीय संविधान सामाजिक अभियान्त्रिकी का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना, मूल अधिकार तथा राज्य के नीति निर्देशक तत्व सामाजिक न्याय की त्रिमूर्ति के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं और भारत के राजनीतिक एवं सामाजिक पुनर्जागरण का निर्माण करते हैं। यह तीनों प्रावधान भारतीय संविधान की मूल पहचान हैं।[20]

संविधान की प्रस्तावना सामाजिक न्याय का दर्पण है। यह सम्प्रभु, समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय को प्रतिविम्बित करता है। स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् संविधान निर्मात्री सभा का सबसे प्रमुख कार्य था कि वह संविधान की उद्देशिका एवं मार्गदर्शिका तैयार करे। अतः संविधान की प्रस्तावना द्वारा सामाजिक न्याय की गारण्टी देने की स्पष्ट शब्दों में घोषणा की गई है। इसी प्रकार संविधान का भाग तीन, जो मूल अधिकार से सम्बन्धित है, उसके द्वारा भी सामाजिक न्याय की स्थापना का प्रयास किया गया है। मूल अधिकारों द्वारा समानता के अधिकार, जाति, धर्म मूलवंश, जन्म के आधार पर विभेद के निषेध तथा बालश्रम एवं बेगार पर रोक के माध्यम से भी सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने का कार्य संविधान द्वारा किया गया है। इन सभी के अलावा संविधान इस भाग तीन के माध्यम से ही राज्य को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह सामाजिक व आर्थिक रूप से वंचित वर्ग के लिए विशेष प्रावधान भी बना सकती है। संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदत्त यह मौलिक अधिकार सही रूप से सामाजिक न्याय की स्थापना की दिशा में प्रयास हैं।

संविधान के माध्यम से सामाजिक न्याय की स्थापना का जो प्रयास किया गया है, उसमें एक कड़ी नीति निर्देशक तत्वों के माध्यम से भी जुड़ती है जो संविधान के भाग चार में दिया हुआ है। यद्यपि भाग चार के प्रावधान न्यायालय में वादनीय नहीं हैं परन्तु संविधान द्वारा यह आशा व्यक्त की गयी है कि भविष्य की सरकारें इन प्रावधानों को कानून के माध्यम से लागू करने का प्रयास करेंगी। इस भाग में वर्णित है कि राज्य आय की असमानताओं को कम करने का प्रयास करेगा और न केवल व्यक्तियों के बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले और विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए लोगों के समूहों के बीच भी प्रतिष्ठा, सुविधाओं और अवसरों की

असमानता समाप्त करने का प्रयास करेगा'।[21] संविधान के इसी भाग द्वारा राज्य को यह निर्देशित किया गया है कि वह काम का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, काम की मानवोचित दशा का अधिकार, जनता के पोषाहार स्तर को ऊँचा करने का प्रयास तथा देश में समान नागरिक संहिता लागू करने का प्रयास करेगा। डॉ. आम्बेडकर ने नीति निर्देशक तत्वों में अन्तर्निहित उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा था कि 'हम ऐसे किसी तन्त्र का निर्माण नहीं करना चाहते जो केवल सत्ता हासिल करने का यन्त्र मात्र बन कर रह जाए। संविधान उन सभी के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करेगा जो भविष्य में सरकारों का निर्माण करेंगे। हमारा आदर्श आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना है और इस आदर्श की स्थापना हेतु प्रावधान नीति निर्देशक तत्वों में रखे गए हैं। इस आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना में हम विभिन्न विचारधाराओं को पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान कर रहे हैं'।[22]

लैंगिक-न्याय : वर्तमान दार्शनिक दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति में अनादि काल से स्त्री और पुरुष को एक दूसरे का पूरक माना गया है। यहाँ अर्धनारीश्वर की संकल्पना को स्वीकार किया गया है। सृष्टि के सृजन व पोषण में स्त्री और पुरुष दोनों की ही समान भूमिका होती है। आज भी सम्पूर्ण वैश्विक आबादी का लगभग आधा भाग महिलाएँ है। भारतीय अथवा पश्चिमी इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलाता है कि महिलाओं ने राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। परन्तु उपरोक्त तथ्यों के बावजूद इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि हर समाज में महिलाओं को विभिन्न स्तरों पर दबाने का प्रयास किया गया है। इसी उपेक्षा के फलस्वरूप बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में नारीवादी आन्दोलन की शुरुआत हुई। इस शताब्दी का सत्तर और अस्सी का दशक नारीवादी विचारधारा का ही था । फ्रांस में सिमोन दि बुआ की पुस्तक 'दी सेकेंड सेक्स' (1949), ब्रिटेन में मेरी वोल्स्टोनक्राफ्ट की पुस्तक 'विंडिक्शन ऑफ दी राइट्स आफ विमेन' (1792), जॉन स्टुअर्ट मिल की पुस्तक 'सब्जेक्शन ऑफ विमेन' (1869) तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमेरिका में आई बेट्टी फ्रीडन की पुस्तक 'दी फेमिनिन मिस्टीक' (1963) ने नारीवादी आन्दोलन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

आज, इक्कीसवीं शताब्दी, में 'नारीवाद' के स्थान पर 'लैंगिक-न्याय' का प्रयोग होने लगा है। 'लैगिक-न्याय' (जेंडर जस्टिश) को समझने के लिए ऑग्ल शब्दों 'सेक्स' और 'जेंडर' शब्द में अन्तर को समझना आवश्यक है। ऑग्ल शब्द 'सेक्स', 'पुरुष और स्त्री के बीच एक जैविक-क्रिया' को संदर्भित करता है, जबकि शब्द 'जेंडर' का संबंध उसके साथ गुंथे 'सांस्कृतिक-सामाजिक कृत्यों' से है। हर समाज में महिलाओं की अधीनता को स्त्री-पुरुष के बीच जैविक अंतर के आधार पर ही सही ठहराया जाता है। यह जैविक निर्धारणवाद ही महिला उत्पीड़न को सदियों से वैधता प्रदान करता रहा है। इसलिए जैविक निर्धारणवाद को चुनौती देना नारीवादी राजनीति के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

मानवशास्त्री 'मार्गरिट मीड' के अनुसार पुरुषत्व और नारीत्व की अवधारणाएँ विभिन्न संस्कृतियों में अलग-अलग रहीं हैं। इनके अनुसार स्त्री-पुरुष की जैविक संरचना और पुरुषत्व एवं नारीत्व के साथ जोड़कर दिखाए जाने वाले लक्षणों के बीच कोई अनिवार्य सह-सम्बन्ध नहीं है।[23] बचपन से ही लड़कों और लड़कियों को लैंगिक भेद के अनुरूप व्यवहार करना, वस्त्र पहनना, खेलना आदि सिखाया जाता है। सिमोन द बुआ ने एक स्थान पर कहा है- 'महिला पैदा नहीं होती बल्कि बन जाती है'।[24] जो स्त्री-पुरुष जेंडर भेद मानक पर खरे नहीं उतरते, उन्हें निरंतर उचित व्यवहार के सांचे में ढ़ालने का प्रयास किया जाता है। इसलिए लिंग के आधार पर श्रम-विभाजन में प्राकृतिक कुछ भी नहीं है। परिवार के भीतर और बाहर स्त्री और पुरुष अलग-अलग तरह के कार्य करते हैं। इस तथ्य का उनकी जैविक संरचना से कोई लेना देना नहीं है। घर के भीतर के सभी कार्य, जो महिलाओं के ही लिए माने जाते हैं- गृहस्थी, भोजन और बच्चों की देखभाल आदि कार्यों को पुरुष भी उतनी ही दक्षता से कर सकते हैं। लेकिन, इन कामों को महिलाओं का काम कहा जाता है। लिंग के आधार पर श्रम विभाजन वेतनभोगी कामों के सार्वजनिक क्षेत्र तक भी फैला हुआ है। इसका जैविक संक्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है। बल्कि यह मात्र जेंडर (संस्कृति) पर आधारित है। इस प्रकार कार्य विभाजन करके कुछ प्रकार के कार्य को मात्र महिलाओं का और कुछ पुरूषों के लिए निर्धारण वस्तुतः लैंगिक न्याय की भावना का समपहरण है। महिला इन कामों के लिए कम वेतन पाती हैं और उस काम का महत्व भी कम माना जाता है। जैसे- नर्सरी और प्राइमरी स्तर पर अध्यापन को स्त्रियों का ही कार्य माना जाता है। इन कार्यों का महिलाकरण इसलिए कर दिया गया है क्योंकि इन कामों को मोटे तौर पर उनके द्वारा घर के भीतर किए जाने वाले बच्चों के लालन-पालन जैसे कार्यों के ही विस्तार के रूप में देखा जाता हैं।

इस प्रकार लिंग के आधार पर श्रम विभाजन के पीछे कोई प्राकृतिक या जैविक असमानताएँ नहीं है, बल्कि इसकी जड़ में कुछ विचारधारात्मक मान्यताएँ हैं। इसीलिए, एक तरफ तो महिलाओं को शारीरिक रूप से कमजोर और भारी शारीरिक श्रम के लिए अनुपयुक्त माना जाता है और वहीं दूसरी तरफ घर के भीतर और बाहर सभी भारी काम उन्हीं के द्वारा सम्पादित होता हैं । लेकिन, जब विकास-क्रम में महिला द्वारा किए जाने वाले कार्यों का मशीनीकरण हो जाता है, जिससे वह कार्य आसान हो जाता है और उसका पारिश्रमिक बढ़ जाता है, तब उस नयी मशीनरी के प्रयोग करने का प्रशिक्षण मात्र पुरुषों को दिया जाता है और महिलाएं हाशिए पर कर दी जाती हैं। यह मात्र सार्वजनिक स्थानों तक ही सीमित नहीं होता, बल्कि समाज में, पारम्परिक रूप से, महिलाओं द्वारा किए जाने वाले कामों तक भी विस्तृत होता है। जैसे- जब

अनाज पीसने के लिए हाथ की चक्की की जगह मशीन वाली चक्की आयी, तो उसे चलाने के लिए पुरुष प्रशिक्षित किए गए तथा महिलाएँ कहीं ज्यादा थकाऊ शारीरिक कामों में धकेल दी गयी। इस प्रकार महिलाओं की वर्तमान अधीनता अपरिवर्तनीय जैविक असमानताओं से नहीं पैदा होती है, बल्कि यह ऐसे सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों, विचारधाराओं और संस्थाओं की देन है, जो महिलाओं की वैचारिक तथा भौतिक अधीनता को सुनिश्चित करने में अपना मौन योगदान देती हैं।

भारतीय संविधान एवं लैंगिक न्याय

स्वतन्त्रता के प्राप्ति के बाद जब देश में संविधान का निर्माण आरम्भ हुआ, तब संविधान-निर्माता देश में विद्यमान सामाजिक असमानता की भाँति लैंगिक असमानता से भी भली-भाँति परिचित थे, इसीलिए उन लोगों ने समाज में 'हाशिए पर विद्यमान लोगों' तथा 'प्रहार्य वर्ग' के अधिकारों की रक्षा के लिए भारतीय संविधान में विशेष प्रावधान रखें। सर्वप्रथम, संविधान के भाग-तीन में मौलिक अधिकारों के माध्यम से संविधान की प्रस्तावना में स्वतन्त्रता, समानता व न्याय के आदर्श को मूर्त रूप देने का प्रयास किया गया है। संविधान का अनुच्छेद 14 'विधि के समक्ष समानता तथा विधियों के समान संरक्षण का अधिकार' प्रदान करता है। इसके अनुसार स्त्री को वही संरक्षण प्राप्त होगा जो एक पुरुष प्राप्त करता है। अनुच्छेद 15 ऐसे विभेद का निषेध करता है, जिसमें कहीं भी लैंगिक असमानता का उल्लेख रहे। संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 15(3) के माध्यम से महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए राज्य को संरक्षणत्मक विधि एवं नियम बनाने का अधिकार भी दिया है। अनुच्छेद 16 लोक सेवाओं में अवसर की समानता प्रदान करता है। इसे स्त्री और पुरुष में मध्य लिंगभेद नहीं माना जाएगा। इस क्रम में महिलाओं को संविधान संशोधनों द्वारा स्थानीय निकायों के निर्वाचन और प्रशासन जैसे पंचायत तथा नगरपालिकाएँ आदि में आरक्षण प्रदान किया गया है।[25]

मौलिक अधिकारों के अलावा भाग-चार में वर्णित नीति निर्देशक तत्व भी राज्य को महिलाओं के हितों को देखते हुए विधि बनाने के लिए निर्देशित करते हैं। यह प्रावधान राज्य को यह आदेशित करता है कि वह कार्य की मानवोचित दशाओं एवं मातृत्व सुरक्षा के लिए प्रावधान बनाएगा। वर्ष 1976 में भाग-चार-क को मूल कर्तव्यों के रूप में संविधान में स्थान दिया गया है। इसमें अनुच्छेद 51क (ङ) द्वारा स्पष्ट रूप से निर्देशित किया गया है कि सभी भारतीय नागरिक उन प्रथाओं का त्याग करें, जो महिलाओं का अनादर करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि संविधान के भाग तीन, चार तथा चार-क के द्वारा लैंगिक-न्याय की अवधारणा को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों रूप से हर सम्भव लागू करने का प्रयास किया गया है।

निष्कर्ष

संविधान में अधिकारों का उल्लेख मात्र कर देने तथा सामाजिक और लैंगिक न्याय के लिए केवल विधि बना देने से अधिकारों का संरक्षण नहीं हो सकता है । आज भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सामाजिक और लैंगिक न्याय से वंचितों का दीर्घकालीन शोषण अभी समाप्त नहीं हुआ है; वह किसी न किसी रूप में आज भी विद्यमान है। इन शोषितों और वंचितों के प्रति दमन और अपराधों की संख्या निरन्तर न केवल हिंसात्मक रूप से ही बढ़ रही हैं बल्कि उनकी तीव्रता और निर्ममता भी बढ़ गई है। खुली बाजार व्यवस्था तथा बाजारवाद के विस्तार ने इन शोषितों और वंचितों, विशेषकर महिला, को उपभोक्ता वस्तुओं के प्रचार का माध्यम बना कर रख दिया है। समस्त वर्ग की महिलाओं पर परिवार और समाज के संरक्षण एवं पोषण की बड़ी जिम्मेदारी है, परन्तु आज भी परिवार और समाज में वे निर्णयाक भूमिका में नहीं हैं। डॉ. आम्बेडकर के अनुसार सामाजिक न्याय का सैद्धान्तिक अर्थ है कि समाज न्याय के सिद्धान्त पर आधारित हो। इस अवधारणा के मूल में महिलाओं, पिछड़ों एवं वंचित वर्ग का उत्थान निहित है ताकि उन्हें समाज की मुख्यधारा में लाया जा सके। जब डॉ. आम्बेडकर की सामाजिक न्यायोन्मुखी अवधारणा पर हम विचार करते हैं तो स्पष्ट होता है कि उन्होंने वंचित व शोषित वर्ग को ऊपर उठाने में अपना संपूर्ण जीवन ही समर्पित कर दिया था। उन्होंने समाज में प्रचलित जातिगत और लैंगिक असमानता का पूरा विरोध किया। इसलिए सामाजिक न्याय के लिए उनका किया गया संघर्ष भारतीय संविधान में परिलक्षित होता है। इस प्रकार डॉ. बी. आर. आम्बेडकर ने वंचित वर्ग के उत्थान के लिए एक सामाजिक जन आन्दोलन का, भारत में, जो आरम्भ किया है, वह आज भी निरन्तर जारी है।

समाजिक और लैंगिक-न्याय के लक्ष्य को विधि द्वारा एक सीमा तक ही प्राप्त किया जा सकता है । निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समाज में जागरूकता पैदा करने एवं संवेदनशीलता बढ़ाने, विशेष रूप से पुरुषों में चेतना जगाने और उनकी परम्परागत सोच में परिवर्तन की अधिक आवश्यकता है।

संन्दर्भ

1. आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्। धर्मोहि तेषामऽधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।, हितोपदेश ;
2. कर्मण्येवाधिकारस्ते.....। श्रीमद्भगवतगीता, 2.47,
3. एडवर्ड जे. उरविक, द *मैसेज ऑफ प्लेटो : अ रि-इन्टरप्रिटेशन ऑफ द रिपब्लिक,* मैथ्यूएन एण्ड कं. लि.,लन्दन, (1921), पृ 14
4. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः, तस्य कर्तारमपि मां विद्वयकर्तारमव्ययम् । श्रीमद्भगवतगीता, 4.13; पाणिनी अष्टाध्यायी- वर (वर्)। चु. सेट् उ. (1.3.74)। वर्रँ ईप्सायाम् 10.390; वर्ण् । चु. सेट् उ. (1.3.74)। वर्णेऽ। प्रेरणे । वर्ण वर्णेन इत्येके 10.25।।

5. अक्टूबर 15, 1956, नागपुर सभा में डॉ. आम्बेडकर का अभिभाषण

6. दिसम्बर 12, 1935,'जात-पॉति तोड़क मण्डल' के राष्ट्रीय सम्मेलन में *'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट'* शीर्षक के अर्न्तगत प्रेषित लिखित अभिभाषण

7. शब्द वर्ण की व्युत्पत्ति 'वर' (क्रि.) से है जिसका अर्थ है- चुनना, मॉगना, पाने के लिए खोजना, चाहना अथवा 'वर' (क्रि.) से है जिसका अर्थ है- उद्योग करना, द्वारिका प्रसाद शर्मा, संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, (संस्करण 1917) से उद्धृत। तत्कालीन सामाजिक-राजनैतिक परिवेश में वर्ण व्यवस्था का जाति से कोई संबंध नहीं था।

8. 'न्याय व्यक्ति का एक आन्तरिक सद्गुण है, जो वृहद स्तर पर समाज में विभिन्न वर्ग के मध्य कार्य-विभाजन के रूप में दिखलायी देता है। यह एक प्रक्रिया है न कि उद्देश्य। इसका न केवल इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है, वरन् विवेक द्वारा भी अनुभूत हो सकता है', प्लेटो, *रिपब्लिक*

9. 'सर्वोदय' संस्कृत शब्द का अर्थ 'सबको उपर उठाने से' है। गॉधी जी की सर्वोदय की अवधारणा से अभिप्राय समाज के सब वर्ग के लोगों के सामाजिक उत्थान अर्थात् सबका कल्याण/ सबकी भलाई से है। गॉधी जी के अनुसार, 'सामाजिक दर्शन के क्षेत्र में भारत द्वारा सर्वोदय एक वैशिष्ट्य योगदान है', एम. के. गॉधी, सर्वोदय, पृ. 7

10. कार्ल एच. मार्क्स के अनुसार, 'मानव इतिहास वर्ग संर्घष का रहा है, जो पूॅजीपति और शोषित वर्ग (सर्वहारा) के मध्य का है। इतिहास की भौतिक शक्तियॉ व्यक्ति और समाज को स्वतंत्रता प्रदान कर सकती हैं। यदि यह मानव-संबंध शोषण से मुक्त, स्वतंत्र और व्यक्ति को स्वानुभूति की ओर ले जाने वाला हो। अन्याय की जड़ें मानव जाति के सामाजिक और आर्थिक इतिहास में निहित हैं', जार्ज ई. मैकार्थे, *मार्क्स एण्ड सोशल जस्टिश : एथिक्स एण्ड नेचुरल लॉ इन द क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी,* हिस्टॉरिकल मेटेरियलिज्म बुक सीरिज, वाल्यूम 147

11. वर्जिनिया जारूली, जूलिया अ बार्थोल्ड जोन्स, अन्ना ओकसुज्यन, रूने एल.जैकोबसेन, कारे क्रिस्टेन्सेन एण्ड जेम्स डब्ल्यू. वॉपेल, *वीमेन लाइव लॉगर दैन मेन इवेन ड्यूरिंग सीवियर एण्ड एपिडेमिक्स,* पीएएनएस 23.01.2018 115 (4),

12. कैथेराइन जेन्टीन विट्च, ए थेसिस, इन द डिपार्टमेण्ट ऑफ रिलिजन, प्रजेन्टेड फॉर एम. ए. एट सर जार्ज विलियम्स यूनिवर्सिटी, मॉट्रियल, कनाडा, अप्रैल 1973, चैप्टर 1, पृ. 7

13. 'उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्रादराधसः'।, ऋगवेद,5.61.6; अहं केर्तुहं मुर्धा हमुग्रा विवाचिनि। ममेदनु क्रतं पतिह सेहनया उपाचरेत।ऋगवेद,10.159.2

14. पिता रक्षति कौमार्यं, भर्ता रक्षति यौवने। पुत्रः च स्थविरे भावे, स्त्री स्वातन्त्र्यंनाऽर्हसि, मनुस्मृति, 9.3; उपाध्यायान् दशाचार्या आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते।। मनुस्मृति, 2.145

15. *अर्थशास्त्र,* अधिकरण 2.44; 3.59

16. जेम्स मिल, *द हिस्टी* ऑफ *ब्रिटिश इंडिया,* वाल्यूम 1, पृ 99-102, लन्दन, (1817); डॉ0 पी. वी. काणे का मत है कि सती-प्रथा बहुधा राजघरानों एवं भद्र लोगों में प्रचलित रही है। धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ0 पाण्डुरंग वामन काणे, उ0 प्र0 हिन्दी संस्थान, (1992)

17. गजेन्द्र गडकर,*सेक्यूलरिज्म एण्ड द कांस्टीट्यूशन* ऑफ *इंडिया,* काशीनाथ त्रयम्बक तेलंग इन्डाउमेन्ट लेक्चर्स, मुम्बई विश्वविद्यालय, (1971), पृ. 126

18. बी.आर. आम्बेडकर,*'पाकिस्तान और पार्टीशन ऑफ इण्डिया',* वाल्यूम 8, पेज 226

19. बी.आर. आम्बेडकर, 'राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज़', वाल्यूम 17 भाग 3, पेज 283

20. (मो.) शब्बीर,*'आम्बेडकर ऑन लॉ, कांस्टीट्यूशन एण्ड सोशल जस्टिस',* रावत पब्लिकेशन, जयपुर, (2005), पृ. 131

21. भारत का संविधान, अनुच्छेद 38; अनुच्छेद 39 (क), (घ), (ङ); अनुच्छेद 42,43 एवं 46

22. बी.आर. पुरोहित, संदीप जोशी, *'सोशल जस्टिस इन इण्डिया',* रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2003, पृ. 25

23. मार्गरिट मीड, *मेल एण्ड फिमेल,* प्रथम संस्करण, हार्पर कालिन्स प. (1949)

24. सीमोन दि बुआ, द सेकेण्ड सेक्स, 1949

25. संविधान (तिहत्तरवॉ संशोधन) अधिनियम,1992 एवं संविधान (चौहत्तरवॉ संशोधन) अधिनियम,1992

●

भारतीय साहित्य में भक्ति आंदोलन (हिन्दी-साहित्य के विशेष संदर्भ में)

प्रो. अशोक सिंह एवम् दीप्ति***

आज के वर्तमान समाज में हिन्दी को लेकर प्रायः यह भ्रम फैलाया जाता है कि वह अपनी स्थानीय बोलियों एवं उपबोलियों को डोमिनेट करती है जबकि आज की नई दुनिया में नये भारत की नई हिन्दी इस भ्रामक धारणा को तोड़ रही है। यह नई हिन्दी वैश्विक परिदृश्य पर जहाँ अपना डंका बजा रही है, वहाँ दूसरी तरफ अपनी स्थानीय बोलियों एवं उपबोलियों को भी साथ लेकर चल रही है। भले ही आज के दौर में अंग्रेजी ज्ञान-विज्ञान की भाषा के रूप में विश्व-भाषा का दर्जा प्राप्त कर चुकी हो, किन्तु आज के नये भारत में संपर्क भाषा के रूप में हिन्दी का स्थान कोई अन्य भाषा नहीं ले सकती। कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के पूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष एवं 'हिन्दी बचाओं मंच' के संयोजक डॉ0 अमरनाथ के अनुसार अंग्रेजी ही ज्ञान की भाषा है- यह बहुत बड़ा झूठ है। यह गलत अफवाह फैलायी जाती है कि उच्च शिक्षा (ज्ञान-विज्ञान-तकनीक) की पढ़ाई हिन्दी में नहीं हो सकती। जब चीन की मंदारिन (चीनी) जैसी कठिन भाषा में ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीक की पढ़ाई हो सकती है तो हिन्दी में क्यों नहीं हो सकती? आज चीन जिस ऊँचाई पर पहुँचा है उसका सबसे प्रमुख कारण यही है कि उसने अपने देश में शिक्षा का माध्यम अपनी चीनी भाषा को बनाया है। इसी तरह अमेरिका, इग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, रूस आदि दुनिया के सभी विकसित देशों में वहाँ की अपनी भाषाओं क्रमशः अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी आदि में भी शिक्षा दी जाती है। हिन्दी विश्व की सबसे ज्यादा लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं में दूसरे स्थान पर है। इसके पास देवनागरी जैसी वैज्ञानिक लिपि है जिसमें जो बोला जाता है वही लिखा जाता है। यह अत्यंत सहज और सरल भाषा है, किन्तु इसको माध्यम के रूप में न अपनाने के कारण देश की प्रतिभाओं का गला घोटा जाता है।[1]

भारत विविध भाषाओं का देश हैं और हिन्दी इस विविधता का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें कोई दोराय नहीं है। वैश्विक स्तर पर देखें तो अन्य यूरोपीय एवं एशियाई विद्यालयों-विश्वविद्यालयों में हिन्दी-भाषा का अकादमिक स्तर पर पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन किया जाता है। अंग्रेजी साहित्य में हिन्दी अनुवाद की बहुत भारी माँग है। हिन्दी-अंग्रेजी भाषा को बार-बार एक दूसरे के विरोध में खड़ा किया जाता है किन्तु हिन्दी भाषा को किसी भी भाषा से न कभी प्रतिस्पर्धा थी, न रहेगी। वह अतुलनीय थी और रहेगी। इससे उसके महत्व और मूल्य पर कोई असर नहीं पड़ता है। अंग्रेजी भाषा का ज्ञान होना कोई अनुचित बात नहीं है, किन्तु अंग्रेजी ज्ञाता होने पर हिन्दी को कमतर कहना या इसके प्रति हीन-भावना महसूस करना और कराना कदापि उचित नहीं है, किन्तु दुःख की बात यह है कि अंग्रेजी भाषा का ज्ञान होना हमारे समाज में सुशिक्षित होने का पर्याय बनता जा रहा है। आश्चर्य तो तब होता है जब विदेशियों द्वारा टूटी-फूटी हिन्दी बोलने पर हम उन्हें सराहते हैं किन्तु टूटी-टूटी अंग्रेजी बोलने वाला हिन्दी-भाषी हँसी-मजाक का पात्र बनता है। गैर हिन्दी भाषी को हिन्दी के लिए इतनी छूट और हिन्दी भाषी को अंग्रेजी के अल्प ज्ञान के लिए निन्दा। हिन्दी का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तो भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है, किन्तु विडम्बना यह है कि निःसंदेह अपनी ही भारतभूमि में यह सर्वाधिक उपेक्षित भी है। भारतीय साहित्य में भक्ति -आंदोलन हिन्दी साहित्य के वास्तविक निर्माण को समझने की एक गहन दृष्टि देता है। इस आंदोलन को तत्कालीन जनपदीय मातृभाषाओं के सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रकाश में आने के आंदोलन के रूप में भी देखा जाता है। गुजरात में नरसी मेहता, राजस्थान में मीराँबाई, उत्तर में कश्मीरी कवयित्री लल्लेश्वरी, असम में शंकरदेव, दक्षिण में अलवार (वैष्णव-भक्तों) और नयनार (शैव-भक्तों) आदि भक्तों ने अपनी-अपनी मातृभाषाओं में अभिव्यक्ति के माध्यम से भक्ति-आंदोलन को मजबूती प्रदान की, जिससे आज की नई हिन्दी प्रेरित एवं अनुप्राणित है।

भारतीय साहित्य में भक्ति-आंदोलन का उदय भारतीय समाज की एक प्रमुख क्रांतिकारी घटना थी। यह आंदोलन अखिल भारतीय स्वरूप में एक धार्मिक-सांस्कृतिक-सामाजिक-आर्थिक परिघटना के रूप में प्रकाश में आया था। इस आंदोलन का अखिल भारतीय स्वरूप पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण तक भारतीय जनसमुदाय की एकता में संगठित है। यह व्यापक धरातल पर निम्नवर्गीय एवं निम्नजातीय समुदाय की मूलवर्ती प्रेरणाओं व गतिविधियों को शिद्दत से समाज में लाने का संघर्ष है। इस आंदोलन के भीतर पहली बार संपूर्ण भारतीय जनमानस में धर्म भावना का विषय बना आडंबरों का नहीं। इस आंदोलन में व्यापक स्तर पर निम्नवर्णों तथा वर्गों का सांस्कृतिक क्षेत्र में पहली बार नेतृत्व और पर्दापण हुआ। भक्ति-आंदोलन के संबंध में सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि 'आंदोलन' जैसा अवधारणात्मक शब्द 'भक्ति' के साथ क्यों प्रक्षेपित किया गया है? क्योंकि, जिस समय यह सामाजिक-सांस्कृतिक परिघटना घट रही थी, उस समय कोई भी कवि इस शब्द से परिचित भी नहीं था। निश्चित रूप से यह आधुनिक शब्द है। इसका अर्थ यह तो नहीं है कि आधुनिक-काल के आलोचक भक्ति-साहित्य को एक उपनिवेशवाद-विरोधी मानसिकता से जोड़कर देख रहे हैं। यह प्रश्न विचारणीय होते हुए भी ऐतिहासिक संदर्भों में विवादास्पद

* प्रोफेसर, डीन, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

हो सकता है। डॉ0 नामवर सिंह ने मौखिक रूप से इस आंदोलन को भक्ति के प्रवाह के रूप में घोषित किया है।[2] इस आंदोलन में मुख्य रूप से हिन्दू-धर्म के भीतर पाखण्डों को दूर करने व बड़ी संख्या में हिन्दू धर्म की निम्न जातियों को पुनः हिन्दू-धर्म में शामिल करने की मुहिम चलायी जा रही थी।[3]

भक्ति-आंदोलन हिन्दी साहित्य के इतिहास में सबसे व्यापक, जीवन्त और प्रभावशाली आन्दोलन है। डॉ0 ग्रियर्सन ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में भक्ति-आंदोलन को बिजली की चमक के समान तथा भक्ति-आंदोलन के उदय को ईसाईयत की देन कहा है।[4] डॉ0 ग्रियर्सन का यह मत बाद के इतिहासकारों द्वारा सर्वसम्मति से निराधार सिद्ध कर दिया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति-आंदोलन को भारत में इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रियास्वरूप हताश और निराश हिन्दू-जाति की भक्ति-भावना से जोड़ा था। शुक्ल जी की यह धारणा हिन्दी-आलोचना में इतनी पुष्ट हो गयी कि शुक्ल जी के परवर्ती इतिहासकारों ने सर्वसम्मति से शुक्ल जी के इस तर्क को उचित मान लिया, किन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल जी की इस प्रचलित मान्यता का अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में खण्डन किया है कि अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' में शुक्ल जी की यह धारणा किस भ्रम से बनी है। इसकी भी स्पष्टता से पड़ताल की है। द्विवेदी जी ने जोर देकर कहा है कि - ''यदि इस्लाम न भी आया होता तो भी साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा कि आज है..... कहीं भी सगुण भक्त कवियों में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की प्रतिक्रिया के कोई चिह्न नहीं है।''[5] भक्ति-आंदोलन संबंधी द्विवेदी जी के मत को आचार्य शुक्ल की भक्ति-आंदोलन संबंधी स्थापना से अधिक वैज्ञानिक, पुष्ट और तार्किक धरातल पर प्रतिष्ठित माना जाता है। यही कारण है कि आचार्य द्विवेदी ने इसे इस्लामी आक्रमण के फलस्वरूप पराजित हिन्दू-जाति की प्रतिक्रिया नहीं अपितु प्रभाव से जोड़कर देखा है। उन्होंने वैज्ञानिक और तार्किक मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि- ''...मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ता था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उत्तर-भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में''[6] आचार्य शुक्ल की भक्ति-आंदोलन संबंधी मान्यता के पीछे द्विवेदी जी ने अंग्रेजी इतिहासकारों को उत्तरदायी माना है। यही कारण है कि खण्डन के लक्ष्य के रूप में द्विवेदी जी ने शुक्ल जी को नहीं अपितु अंग्रेजी इतिहासकारों को चुना है। इसका निरूपण डॉ0 नामवर सिंह ने अपने पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' में किया है। उनके अनुसार - ''भक्ति-आंदोलन को मुसलमानों के विरूद्ध हिंदुओं की प्रतिक्रिया बताने की जिम्मेदारी मूलतः साम्राज्यवादी अंग्रेज इतिहासकारों पर है इसलिए यदि कोई भारतीय इतिहासकार उसी बात को दुहराता है तो वह अनजाने ही अंग्रेज साम्राज्यवाद द्वारा प्रचारित भ्रम का शिकार है।''[7] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस प्रकार से भक्ति-आंदोलन को भारतीय चिंता का स्वभाविक विकास माना है उनके मत में भक्ति-आन्दोलन के मूल में हिन्दू और मुसलमान का द्वन्द्व नहीं है। भक्ति के उदय को जो शास्त्र का आधार लेकर प्रस्फुटित हो रही थी, उसे लोक की ओर स्वाभाविक रूप से बाह्य होकर झुकना पड़ा। डॉ0 नामवर सिंह ने 'दूसरी परंपरा की खोज' में इसका विश्लेषण करते हुए कहा है कि ''यह स्वाभाविक है स्वतः स्फूर्त नहीं।''[8] अर्थात् विवशता अधिक है। आचार्य शुक्ल की भक्ति-आंदोलन संबंधी स्थापना पर सांप्रदायिक इतिहास-दृष्टि का भी आरोप लगाया जाता है। इसका खण्डन डॉ0 शिवकुमार मिश्र ने दो तर्कों के माध्यम से किया है। उनके अनुसार यह सही है कि आचार्य शुक्ल के भक्ति-आंदोलन संबंधी विचारों और स्थापनाओं को सही नहीं कहा जा सकता, किन्तु इस स्थापना मात्र से उनकी संपूर्ण इतिहास दृष्टि को सांप्रदायिक भावना से दूषित मानना अनुचित है। डा0 मिश्र का दूसरा तर्क यह है कि आचार्य शुक्ल के भक्ति-आन्दोलन संबंधी स्थापना के मूल में उनके धार्मिक-विश्वास व संस्कार हावी हैं। इसमें उनका कोई दोष नहीं है। यही कारण है कि कबीर के विषय में कोई भी मत देते हुए वे उसका विस्तार नहीं कर पाते हैं। आचार्य द्विवेदी ने अपनी स्थापना में जिस 'बारह आने' की बात की है जो इस्लामी आक्रमण से अप्रभावित है और जिस 'चार आने' के विषय में वे चुप हैं। उससे संभवतः यही स्पष्ट होता है कि कहीं न कहीं द्विवेदी जी भी आचार्य शुक्ल के मत को पूरी तरह अमान्य नहीं ठहराते। संभवतः वे इसे इस्लामी-आक्रमण की प्रतिक्रिया भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकारते हैं। उन्होंने अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में 'भारतीय धर्म-साधना' में कबीर का स्थान' शीर्षक अध्याय में इस प्रभाव को स्वीकारते हुए यह विचार प्रकट किया है कि- ''कबीर के आगमन से एक शताब्दी पूर्व भारत में इस्लामी-आक्रमण के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति ने अपने धार्मिक आचार-विचार व वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-प्रथा आदि कठोर नियमों को और भी कठोर बना लिया था ताकि वे अपनी संस्कृति को विदेशी संस्कृति के प्रदूषण से बचा सकें।''[9]डॉ0 शिवकुमार मिश्र ने आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के मतों का अपनी पुस्तक में विश्लेषण करते हुए यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया है कि दोनों के मतों को किसी भी दृष्टि से पूरी तरह खारिज नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों ही स्थापनाएँ भक्ति-आंदोलन के मूल स्रोतों को समझने का महत्त्वपूर्ण आयाम प्रदान तो करती हैं किन्तु दोनों की स्थापनाओं में कही भी भक्ति-आंदोलन के आंतरिक अंतर्विरोधों व लोक-शक्ति का सामंतवाद के प्रति विद्रोह आदि मूल सामाजिक-आर्थिक पहलुओं पर ध्यान नहीं जाता या फिर ये दोनों मूल पहलू इनकी स्थापना में उपेक्षित ही रह जाते हैं। डॉ0 रामविलास शर्मा ने मध्यकालीन समाज-व्यवस्था में भक्ति आन्दोलन को जनता का सामंत विरोधी सांस्कृतिक आंदोलन कहा है।''[10] वे भक्ति-आंदोलन संबंधी हर द्वन्द्व को, चाहे वह सगुण-निर्गुण, शैव-शाक्त-वैष्णव आदि से संबंधित हो, स्वीकारते ही नहीं है। उनके मत

में द्वन्द्व और टकराहट की स्थिति भक्तिकालीन कवियों में नहीं अपितु आलोचकों में अधिक दिखलायी पड़ती है। डॉ0 रामविलास शर्मा के भक्ति-आंदोलन संबंधी चिन्तन की महत्त्वपूर्ण सीमा यह है कि उन्होंने भक्ति आंदोलन के अन्य प्रतिनिधि कवियों के महत्त्वपूर्ण अवदान को महत्त्व न देकर केवल तुलसीदास को ही एकमात्र भक्ति-आंदोलन का निर्माता मान लिया है।

मध्यकालीन भारतीय समाज एवं साहित्य में भक्ति-आंदोलन अपने मूल रूप में दो मुख्य सामंती तत्त्वों के विद्रोह स्वरूप खड़ा हुआ। पहला, जाति एवं वर्णव्यवस्था और दूसरा स्त्री-पराधीनता । आज के आधुनिक साहित्य में ये दोनों मूल तत्त्व हमें क्रमशः दलित एवं स्त्री-विमर्श के रूप में दिखलायी पड़ते है। तत्कालीन परिस्थितियों और वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार सिर्फ अवधारणाएँ और परिभाषिक शब्दावलियों में ही अंतर हुआ है। भक्ति-आंदोलन के भीतर हिन्दी साहित्य के इन दोनों आधुनिक विमर्शों की पूर्वपीठिका को सरलता से समझा जा सकता है। भक्ति-आंदोलन के अंतर्विरोधों के संदर्भ में गजानन माधव मुक्तिबोध का एक चर्चित लेख[11] उल्लेखनीय है जिससे यह स्पष्ट होता है कि भक्ति-आंदोलन में अंतर्विरोध का बीज जब पड़ा तब प्रारंभ में कबीर के नेतृत्व में निर्गुण सन्तकाव्य में जिन धर्मशास्त्रों, वेदों तथा पुराणों की वर्णव्यवस्था तथा सामंतवादी व्यवस्था का व्यापक विद्रोह किया गया, उसी विद्रोह के सगुण भक्तिकाव्य में शांत और समन्वित करके सामंतवादी तत्त्वों की जड़ों को मजबूत किया गया है या कहीं भी इन्हें समाप्त करने की पुरजोर कोशिश भी नहीं की गयी है। डॉ0 शिवकुमार मिश्र ने भी भक्ति-आंदोलन के अंतर्विरोधों के संदर्भ में भक्ति-आन्दोलन का सम्पूर्ण सच उद्घाटित करते हुए भक्ति-आन्दोलन के सबसे बड़े विरोधाभास भक्ति एवं उपासना के क्षेत्र में समानता का ढोंग तथा जमीनी स्तर पर सामाजिक असमानता के व्यवहार को उजागर किया है।[12] भक्ति-आंदोलन की विराट् चेतना के अंदर सामाजिक-समानता और जाति-व्यवस्था के विरोध का नारा भक्ति-आंदोलन की सामाजिक अन्तर्वस्तु और सामाजिक व धार्मिक विरोधाभास से टकराकर चकनाचूर हो जाता है। इस संदर्भ में डॉ0 मिश्र की निम्न टिप्पणी भी बहुत उपयुक्त प्रतीत होती है- 'भक्ति-आंदोलन की मूलवर्ती प्रेरणा बिंदुओं या फिर से जिन मूल जनवादी रूझानों से संबंधित मुद्दों को लेकर खड़ा हुआ था। वे सामाजिक धरातल पर पूरी तरह घटित नहीं हो पाएँ अपितु काल्पनिक व आध्यात्मिक समाधानों में ही गड्मड्ड हो गए।'[13] के0 दामोदरन के अनुसार रामानुजाचार्य और रामानंद जैसे भक्ति-आन्दोलन के नेतृत्वकर्ताओं की भूमिका केवल सामंतीय परिधि के दायरे में ही रहकर भक्ति-सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने की है।[14]

आमतौर पर भक्ति-आंदोलन को एक महत्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक परिघटना के रूप में वर्णित किया जाता है। जहाँ सामाजिक-सांस्कृतिक एकता, जाति एवं वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध एवं भक्ति की शास्त्रीय जड़ताओं के स्थान पर उसके सरलीकरण की प्रक्रिया आदि की दृष्टि से इस आंदोलन को महिमामंडित किया जाता है। वहाँ इसी साहित्य में निहित स्त्री संबंधी पारंपरिक दृष्टिकोणों को लेकर हिन्दी साहित्य एवं आलोचना में समग्रतापूर्वक कोई विश्लेषण विवेचन नहीं किया गया है। स्त्री-संबंधी पक्ष आते ही परिचय स्वरूप केवल इतना ही कहा जाता है कि भक्तिकालीन सन्त-काव्य में स्त्री-चित्रण दो रूपों में किया गया है- सती अथवा पतिव्रता-रूप की प्रशंसा तथा कामिनी रूप की निंदा । सूफी काव्य में स्त्री को दैवीय तथा अलौकिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। कृष्णकाव्य में बाल-मनोविज्ञान का चित्रण किया गया है तथा रामभक्तिकाव्य स्त्री के आदर्शवादी स्वरूप को गढ़ता है। भक्ति-आंदोलन में इसी मानसिकता के अनुसार तत्कालीन स्त्री का जीवन हर स्तर पर संचालित एवं पीड़ित है। भक्ति-आंदोलन में भक्ति का विषय एक बहाना मात्र है। इसके माध्यम से प्रत्येक संत, भक्त एवं सूफी का एक ही लक्ष्य है मनुष्यता और प्रेम की स्थापना, जिसे प्रतिष्ठित करने के लिए ही समस्त सामंत विरोधी मानसिकता और विद्रोही-चेतना का प्रतिकार किया गया है। कबीर के यहाँ फक्कड़ या अक्खड़ स्वर में, जायसी के यहाँ लोकसंस्कृति के स्वर में, सूरदास के यहाँ उन्मुक्त प्रेम के स्वर में, तुलसीदास के यहाँ समंवय की विराट चेष्टा के रूप में, मीरा के यहाँ विद्रोही स्वर में। भक्ति-आन्दोलन का अखिल भारतीय स्वरूप इसे भारत की एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक परिघटना बनाता है। भक्ति-आंदोलन के सूत्रों को कुछ आलोचक वेदों से जोड़ते हैं किन्तु यह पक्ष भक्ति-आंदोलन का अधूरा रूप ही प्रस्तुत करता है जबकि, इन दोनों के मूल में ऐतिहासिक-सामाजिक कारण विद्यमान हैं। इसी के समानांतर प्रत्येक कवि में कभी वर्णव्यवस्था एवं जातिव्यवस्था तो कभी स्त्री संबंधी पारंपरिक एवं अन्तर्विरोधी दृष्टिकोणों के चलते विरोधाभास भी दिखलायी देता है। दरअसल ये अंतर्विरोध ही भारतीय एवं हिन्दी साहित्य के भक्ति-आंदोलन को लोकप्रिय, चर्चित, जटिल एवं विवादास्पद बना देते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अपनी भाषा माध्यम से शिक्षा अभियान - 1, hindibachamanch.org.comin/- एक्सीस्ड, दिसम्बर 01, 2019
2. सिंह, नामवर, दूसरी परंपरा की खोज, राजमकल प्रकाशन, नई-दिल्ली, 2017, पृ० 30
3. Sarao, K.T.S. Decline of Buddhism in India : A Fresh Perspective published by Munshiram Manoharlal puhlishers Pvt. Ltd. New Delhi, India, 2012. Page 56
4. चतुर्वेदी, संतोष कुमार, भक्तिकाल का आधुनिक संदर्भ (सम्पादित पुस्तक), (लेख : भक्ति आंदोलन और कबीर), साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2016, पृ0 95
5. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ0 15

6. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ0 20
7. सिंह, नामवर, दूसरी परंपरा की खोज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ0 30
8. यथावत् , पृ0 32
9. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ० 70
10. शर्मा, रामविलास, परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, 1981, पृ0 100
11. सिंह, गोपेश्वर, भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार (संकलित लेख-मध्ययुगीन भक्ति का एक पहलू मुक्तिबोध), भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2007, पृ0 193
12. मिश्र, डॉ0 शिवकुमार, भक्ति-आंदोलन और भक्तिकाव्य, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012, पृ0 152
13. यथावत् , पृ0 155
14. यथावत् , पृ0 160

●

दक्षिण भारत की सांगीतिक मेल पद्धति

प्रियंका[*] एवम् मंगला कपूर[**]

मेल की उत्पत्ति

मुहम्मद तुगलक (राज्य काल 1325-1351 ई) के शासन की अव्यवस्था ने विजयनगर राज्य को जन्म दिया था। विद्यारण्य-जैसे महान राजनीतिज्ञ विद्वान इस साम्राज्य के महामंत्री थे समस्त देश के विद्वान, कलाकार इस साम्राज्य के महामंत्री थे समस्त देश के विद्वान कलाकार और प्रतिभाशाली व्यक्ति विजयनगर आ रहे थे। सन् 1326-1327 ई0 में मुहम्मद तुगलक ने दिल्ली से सभी निवासियों के दक्षिण में देवगिरि को राजधानी बनाने के विचार से भेज दिया था। इस कारण दिल्ली के अनेक निवासी दक्षिण पहुँच चुके थे।[1]

इस प्रकार विजयनगर की स्थापना से लोगों का भाग्य जागा और जो भी उत्तर भारतीय गुणी कलाकार थे अब वह दक्षिण में बस चुके थे।

इस पद्धति का प्रादुर्भाव मध्य युग में हुआ है। इस पद्धति के प्रवर्तक विद्यारण्य थे जिनका समय 14वीं शताब्दी माना जाता है।[2]

मेल संस्कृत का शब्द है जो 'मिल' और 'घञ्' प्रत्ययों के मिलने से बना है। मिलृ+घञ् = जिसका अर्थ है मिलाप, संग अथवा जोड़। संगीत की दृष्टि से मेल शब्द का अर्थ इस प्रकार समझा जा सकता है कि क्रमपूर्वक स्वरों का वह समूह जिसमें राग उत्पन्न करने की शक्ति हों।

प्राचीन काल में इस प्रकार के स्वर समूह जिनमें राग उत्पन्न करने की शक्ति होती थी, वह ग्राम कहलाते थे। बृहद्देशी में मतंग ने कहा है -

'समूहवाचिनौ ग्रामौ स्वरश्रुत्थादिसंयुतौ'।

अर्थात्-

स्वर और श्रुति इत्यादि से युक्त समूह का नाम ग्राम है।

ग्रामों से मूर्च्छनाओं की उत्पत्ति होती थी जिसमें तत्कालीन राग अर्थात जातियों का वर्गीकरण होता था। तभी तो संगीत रत्नाकर में आचार्य शारंगदेव ने कहा है -

''ग्राम स्वर समूहः स्यान्मूर्च्छनाऽदेः समाश्रयः।

अर्थात् - उस स्वर समूह को ग्राम कहा गया है जो मूर्च्छनादि का आश्रय हैं।

मेल पद्धति के प्रवर्तक दक्षिण के विजयनगर राज्य के महामात्य माध्वाचार्य विद्यारण्य ने 14वीं शताब्दी में अपने ग्रंथ (संगीत सार) में सर्वप्रथम मेल शब्द का प्रयोग राग वर्गीकरण के संदर्भ में किया है।

स्वरमेलकलानिधि में रामामात्य ने मेल के बारे में कहा है कि -

''देशभाषाप्रसिद्धेन रागनाम्ना विशेषितान्।

तक्षद्रागप्रधानत्वान्मेलान् वक्ष्ये क्रमादिमान् ॥

अर्थात् देश भाषा प्रसिद्ध जो राग नाम है वे ही मेल को दिये गये हैं। क्योंकि उन मेलों के अन्य रागों में वे प्रधान राग है।

संगीत परिजात में मेल का उल्लेख

उत्तर भारतीय संगीत के प्रख्यात विद्वान पंडित अहोबल ने 17वीं शताब्दी में संगीत पारिजात ग्रंथ की रचना कि पंडित अहोबल ने मेल के संदर्भ में यह परिभाषा दी है जो निम्न है-

'मेलः स्वरसमूहः स्याद्रागव्य जनशक्तिमान्।

शिलष्टोच्चारणमेदागं सं इदारः प्रकीर्तितः॥

अर्थात् मेल स्वरों का ऐसा समूह है जिसमें राग उत्पन्न करने की शक्ति होती है। वह मेल राग का व्यंजन व्यक्त करने की शक्ति वाला होता है। यहाँ यह भी कहा गया है कि मेल के सभी स्वर जुड़े होने चाहिए।

संगीत पारिजात में तीन मेलों के प्रकार के बारे में भी बताया गया है जो निम्न है-

1. सात स्वरो के प्रयोग से सम्पूर्ण
2. छः स्वरों के प्रयोग से षाड्व
3. पांच स्वरों के प्रयोग से औड्व

संगीत पारिजात में पंडित अहोबल ने 12 प्रकार के मेल रागों का वर्णन किया है जो निम्न है-

1. शुद्ध	7. मालव
2. गौरी	8. शंकराभरण
3. मुखारी	9. वेलावली
4. भैरवी	10. नाट्य

* शोध छात्रा, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** पूर्व प्रोफेसर, गायन विभाग, एम0एम0वी0 काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

5. आमीरी 11. श्री राग

6. सारंग 12. कल्याण

अन्य दो मेलों का भी उल्लेख मिलता है -

1. वराटी 2. सामंत[3]

5.3.3 हृदयकौतुक ग्रंथ में मेल की व्याख्या - 17वीं शताब्दी में अर्थात् 1724 संवत में हृदयनारायण देव ने अपने ग्रंथ 'हृदय कौतुक' नामक ग्रंथ की रचना की। पंडित हृदय नारायण देव ने अपने ग्रंथ हृदय प्रकाश में 12 मेलों का वर्णन किया हैं मेलों के संदर्भ में हृदय प्रकाश में लिखा गया है कि -

संगीतशास्त्र सर्वस्वम साधारणगौचरम्।

वीणादो रागमेलादि हृदये शेन कथयते।।

आकारे बहवो मेला द्वादशे हो पयोगिनः

मेलः स्वर समूहः स्याद्रागवय जनशक्तिमान्।

अर्थात्-

संगीत के सागर में अगणित मेल है, किन्तु यहाँ केवल 12 ही उपयोगी है मेल उस स्वर 'समूह' को कहते है जिसमें राग को उत्पन्न करने की शक्ति हो। इन दोनों ग्रन्थों में मेल के लक्षण व सिद्धान्त दिये गये है। हृदयनारायण देव के अनुसार 12 मेलों के नाम प्राप्त होते है जो कि निम्न हैं-

1. भैरवी 7. मुखारी

2. कर्णाट 8. तोड़ी

3. केदार 9. गौरी

4. इमन 10. सारंग

5. मेघ 11. पूर्वी

6. हृदयरामा 12. धनाश्री

5.3.4 (क) हृदयनारायण देव द्वारा 76 रागों का मेल के अन्तर्गत नामोल्लेखः

हृदयनारायण देव ने अपने ग्रथ में 76 रागों का वर्णन 12 मेलों के अन्तर्गत किया है जिनका नामोल्लेख निम्न प्रकार हैं-

1	सैंधव	2	भैरवी
3	नीलांबरी	4	कर्णाट
5	कुकुभा	6	जैजवंती
7	सौराष्ट्री	8	सुधराई
9	कामोद	10	अड़ाना
11	बागेश्वरी	12	मुखारी
13	तोड़ी	14	केदार
15	श्यामनट	16	खंबावती
17	हमीर	18	शंकराभरण
19	जयत केदार	20	पूरिया
21	केदार	22	विहागरा
23	अहीर नट	24	हृदयरामा
25	गौरी	26	मुलतानी
27	धनासरी	28	श्री राग
29	षड राग	30	गौड
31	देशकाल	32	विभास
33	सारंग	34	पूर्वा
35	चैतागिरी	36	बसन्त
37	जयश्री	38	मारू
39	भीमपलासी	40	छायानट
41	केदारनट्ट	42	मालकौंस
43	भूपाली	44	इमन
45	पूरिया	46	कल्याण
47	जयत कल्याण	48	शुद्ध कल्याण
49	मेघ	50	शुद्धनट
51	नट	52	देवगिरी
53	गौड़ सारंग	54	अहल्या
55	देवाभरण	56	देशाख
57	गौड़मल्हार	58	सूहव
59	मध्यमादी	60	मल्हार
61	रामकली	62	परज
63	पंचमगंधार	64	आसावरी
65	देशी	66	तोड़ी
67	भैरव	68	बहुली
69	गुर्जरी	70	गुणक्री
71	तिर्वण	72	पटमंजरी
73	बड़हंस	74	धनाश्री
75	मालश्री	76	सामंत

इस प्रकार हृदयनारायण देव ने अपने 76 रागों को 12 मेलों के अन्तर्गत रखा है।[4]

(ख) हृदयनारायण देव ने अपने ग्रंथों में संस्थान, थाट तथा मेल तीनों शब्दों का प्रयोग किया है।[5]

हृदयनारायण देव ने 'राग तरंगिणी' के 12 संस्थान को अपनाया हैं तथा उनमें से अपना एक तेरहवा मेल 'हृदयरामा' कहा है। उन्होंने अपने मेलों को उनके विकृत स्वरों के अनुसार विभिन्न समुदायों में बाँटा है।

1. शुद्ध मेल — 1. भैरवी।

2. एक विकृत स्वर वाले दो मेल

(क) तीव्रतर गन्धार — 2. कर्णाट

(ख) धैवत कोमल — 3. मुखारी

3. दो विकृत स्वर वाले मेल

(क) कोमल रिषभ व कोमल धैवत — 4. तोड़ी

(ख) तीव्र गन्धार व तीव्र निषाद — 5. केदार

4. तीन विकृत स्वरों वाले मेल

(क) तीव्रतर गन्धार, तीव्र मध्यम व तीव्रतर निषाद 6.ईमन

(ख) तीव्रतर गन्धार, तीव्रतर धैवत् व तीव्र निषाद 7.मेघ

(ग) गन्धार मध्यम व निषाद तीव्रतर 8. हृदयरामा

नोट- इस राग में हृदयरामा ने दो नवीन स्वरों का समावेश किया है जिसे वे त्रिश्रुति म व त्रिश्रुति नि कहते हैं।

5. चार विकृत स्वरों वाले मेल

(क) ऋषम व धैवत कोमल, गन्धार व निषाद तीव्रतर 9. गौरी

(ख) तीव्रतम गन्धार, तीव्रतर मध्यम तथा धैवत,काकली निषाद 10. सारंग

(ग) गन्धार धैवत मध्यम तीव्रतर काकली निषाद 11. पूर्वी।

6. पांच विकृत स्वरों वाले मेल

(क) गन्धार मध्यम तीव्रतर

(ख) रिषभ, धैवत कोमल

(ग) निषाद काकली 12. धनाश्री[6]

5.3.5 रासकौमुदी ग्रंन्थ में मेल की व्याख्याः

रस कौमुदी नामक ग्रंथ के रचयिता 'श्री कंठ' थे। यह ग्रंथ उन्होंने तब लिखा था जब वे नवानगर के राजा साहब की नौकरी में थें श्री कंठ ने नौ मेल तथा उनके स्वरों के नाम बताये हैं जो निम्न हैं-

क्र.सं.	ठाठ का नाम	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	हिन्दुस्तानी स्वर नाम
1	मालव गौड़	सा	शुद्ध	पतम	शुद्ध	शुद्ध	शुद्ध	पत सा	सा रे ग म प ध नि सां
2	श्री	"	चतुश्रुति	साधारण	"	"	चतुश्रुति	कौशिक नि	सा रे ग म प नि नि सां
3	शुद्ध नाट	"	तिर्श्रुति ग म	पतम	"	"	त्रिश्रुति नि	पत सा	सा ग ग म प ध नि सां
4	कर्णाट गौड़	"	शुद्ध ग	"	"	"	शुद्ध नि	कौशिक नि	सा रे ग म प ध नि सां
5	केदार	"	"	"	"	"	"	पतसा	सा रे ग म प ध नि सां
6	मल्लार	"	"	"	"	"	त्रिश्रुति नि	"	सा रे ग म प ध नि नि सां
7	देशाक्षी	"	त्रिश्रुति म	"	"	"	शुद्धनि	"	सा ग ग म प ध नि सां
8	कल्याण	"	शुद्ध म	साधारण म	पतम	"	"	"	सा रे ग म प ध नि सां
9	सारंग	"	"	शुद्ध ग	"	"	कैशिक नि	"	सा रे ग म प नि नि सां

"श्री कंठ जी कहते है कि शुद्ध मेल मुखारी है जो दक्षिण के शुद्ध ठाट के समान है वह कहते हैं –

यत्र शुद्धस्वराः सप्त भवेयुश्चित्तरंजकाः।
सं स्यान्मुखरिका मेलः सजातीया भवंत्यतः॥

5.3.6 श्रीकंठ के द्वारा जन्य जनक राग का स्वरूपः

क्रमांक	मेल का नाम	जन्य राग	
1	मालवगौड़	1. मालवगौड़ 2. सौराष्ट्र 3. गुर्जरी 4. मल्हारी 5. बहुली 6. पहाड़ी 7. गौड़ पंचम 8. भैरव 9. कर्णाट बंगाल, 10. ललित 11. गौड़ी	भैरव
2	श्री राग	1. श्री 2. मालवश्री 3. धनाश्री 4. भैरवी देव गन्धार	काफी ठाट
3	शुद्धनाट	1. शुद्धनाट	
4	कर्णाट गौड़	1. कर्णाट गौड़	खमाज ठाट
5	केदार	1. बेलावली 2. नटनारायण 3. शंकराभरण	बिलावल ठाट
6	मल्लार	1. गौड़ मल्लार 2. कामोद	
7	देशाक्षी	देशाक्षी	हमीर
8	कल्याण	कामोद	
9	सारंग	सारंग	

इस प्रकार श्री कंठ ने मेल पद्धति की व्याख्या की है।[7]

उत्तर भारतीय संगीत पद्धति तथा दक्षिण भारतीय राग के साम्य दस ठाठों का उल्लेख-

क्रमांक	उत्तर भारतीय पद्धति के 10 ठाठ	दक्षिण भारतीय मेलों के नाम
1	कल्याण	मेच कल्याणी
2	खमाज	हरिकांभोजी
3	भैरव	मायामालव गौड़
4	पूर्वी	कामवर्धिनी
5	मारवा	गमनाश्रिय
6	काफी	खरहरप्रिय
7	भैरवी	हनुमत्ततोड़ी
8	आसावरी	नटभैरवी
9	तोड़ी	शुभचंतुवराली[8]

दक्षिण के विद्वानों ने इस पद्धति को मेल एवं संस्थान आदि संज्ञाओं से नामित किया है। 14वीं शताबदी में माधवाचार्य ने 50 रागों का वर्गीकरण 15 मेलों के अन्तर्गत किया है।

सन्दर्भ

1. संगीत चिंतामणि, आचार्य वृहस्पतिकृत, संपादक लक्ष्मीनारायण गर्ग, द्वितीय संस्करण, हाथरस, 1966, पृ0 225-226
2. पन्ना लाल मदन, मीरा मदन जे कुमार, संगीत शास्त्र, द्वितीय संशोधित संस्करण, चण्डीगढ़, 1991, पृ0 67
3. सरिता निगम, हिन्दुस्तानी संगीत में राग वर्गीकरण, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, 2012, पृ0 140-141
4. वहीं, पृ0 145-148
5. रेनु जैन, स्वर और राग (पारिभाषिक संज्ञाओं के परिप्रेक्ष्य में), प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, 2006, पृ0 214
6. शोभा माथुर भारतीय संगीत में मेल अथवा ठाठ का एतिहासिक अध्ययन, नई दिल्ली, 1992, पृ0 29, 30
7. वहीं, पृ0 51-52
8. मंगला कपूर, संगीतमांगल्य, वाराणसी, 2006 पृ0 62-63

●

हिन्दी साहित्य में कजली की परम्परा : कुछ साक्ष्य

सतीश कुमार एवम् डॉ. सतीश चन्द्र दुबे***

पावस ऋतु ने प्रत्येक समय के साहित्य प्रेमियों को अपने मनोरम वातावरण, मखमली हरियाली, रिमझिम फुहार व शीतल-मंद बयार से सहज ही प्रभावित किया है। यह प्रभाव अकारण ही नहीं बल्कि ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के तमतमाए रूप, भीषण गर्मी तथा तेज उमस से मुक्ति दिलाने हेतु होता है। पावस-ऋतु के ठीक समय पर आगमन होते ही सभी प्राणी अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और नये सृष्टि का संचार होता है तथा प्रत्येक भू-भाग पर नये-नये वनस्पतियों का सृजन होता है।

भारत देश के अधिकांश भू-भाग पर वर्षा जल से ही कृषि फसल उगायी जाती है। यदि वर्षा का आगमन किसी कारणवश न भी हो तो मानव जीवन के साथ पशु-पक्षी, नदी-झील, ताल, खेत-खलिहान, नहर-नाली आदि सूखे ही पड़े रहते हैं। कभी-कभी लगातार वर्षा होते रहते हैं। ये दोनों स्थितियाँ सभी प्राणियों के लिए दुःखद ही होती है अर्थात् संतुलित वातावरण का होना अत्यन्त आवश्यक जान पड़ता है, जिससे सभी प्राणी सुखपूर्वक रह सकें। यही कारण है कि साहित्य के साथ-साथ संगीत ने भी इसे अपने स्वरूप में समाहित किया है।

महाकवि कालिदास के ऋतुसंहार, भाग-2 मनमोहक-वर्षा ऋतु का सचित्र वर्णन मिलता है- ''पावस जल की फुहारों से भरा हुआ, बादलों के मतवाले हाथी पर चढ़ा हुआ, विद्युत की पताका फहराता हुआ, मेघ-गर्जन की मृदंग ध्वनि करता हुआ, धरती पर राजसी थाट-बाट से उतरता है।''[1] इस संदर्भ में आदि कवि वाल्मीकि, महाकवि माघ तथा भारवी आदि के ग्रन्थों में भी प्रकृति का सुन्दर वर्णन मिलता है।

पावस ऋतु के सन्दर्भ में यह सही कहा जाता है कि सुहागिनियों के लिए वर्षा ऋतु जितना सुखद व आनन्ददाई होता है, उतना ही विरहिणियों के लिए दुःखद और कष्टकारी भी होता है। हिन्दी साहित्य में 'बारहमासा' की परम्परा का उल्लेख 'बीसलदेव रासो' में मिलता है। जिसमें 'राजमती' के सुख-दुःख का वर्णन भारतीय संस्कृति एवं यहाँ के रीति-रिवाजों को उद्घाटित करता है। इस तरह इस परम्परा का विकास भक्ति काल के प्रेम मार्गी सूफी काव्य धारा के प्रवर्तक मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पद्मावत' सन्-1540 ई. में 'नागमती' के विरह वर्णन का बहुत सुन्दर उल्लेख किया है। जो इस प्रकार है-

''चढ़ा असाढ़ गगन घर गाजा
साजा बिरह दुंद दल बाजा।
सावन बरस मेंह अतवारी
मरन परी हौ बिरह झुरानी।
भरी भादों दुपहर अति भारी।
कैसे भरों रयनि अंधियारी।
मंदिर सून पिय अंतहि बसा
सेज नाग भइ दहि दहि डसा।''[2]

यह धुन लोक में पहले से मौजूद है, जिसको आधार बनाकर जायसी ने बहुत ही मार्मिक अभिव्यक्त की है। अब यह धुन कजली के एक प्रकार के रूप में प्रसिद्ध हो चुका है, जिसका प्रयोग कजली गीतों में खूब किया जाता है। आदिकालीन कवियों के यहाँ यह धुन दो तरह के भावों में अभिव्यक्त हुआ है। एक तो राजा-रानी दूसरा राधा-कृष्ण (प्रेमी-प्रेमिका) के जीवन को आधार बनाकर मिलने अथवा बिछुड़ने की अभिव्यक्ति हुई है।

यह परम्परा यहीं नहीं समाप्त हो जाती बल्कि भक्ति काल के सगुण शाखा के कृष्ण काव्य धारा के प्रवर्तक 'महाकवि सूरदास' के यहाँ भी दिखायी पड़ती है। श्रृंगार रस के सम्राट कहे जाने वाले महाकवि सूरदास तो श्रृंगार रस के कोना-कोना तक झाँक चुके थे। इन्होंने लोक में प्रसिद्ध नायक-नायिका राधा-कृष्ण को आधार बनाकर, मार्मिक संवेदना का सजीव चित्रण किया है। एक स्थान पर कृष्ण की वियोगिनी सखियाँ कृष्ण के इंतजार में कई वर्ष बिता देती हैं जब सावन माह का आगमन होता है, तब यहीं सखियाँ, उन्हें खूब याद करती हैं। उनके वियोग में तड़प-तड़प कर सुख जाती हैं। जब सावन माह के कजरा-रे बादल अपने चमक-धमक के साथ वर्षा करने लगते है, तब हृदय को आनंदित करने वाले यहीं, वर्षा, उन सखियों को इसलिए नहीं भाता क्योंकि उन सभी के प्रियतम परदेश में हैं। ऐसे मौसम में भला प्रेमी अथवा पति का परदेस में होना वियोगिनियों के लिए बहुत ही कष्ट देय होता है। ऐसे ही इस तरह के दृश्य का बहुत सुन्दर वर्णन सूरदास के यहाँ दिखायी पड़ता है, जो इस प्रकार है-

---

* शोध छात्र, भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** ऐसोसिएट प्रोफेसर, सदस्य, शोध क्रियान्वयन समिति, भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

''परम वियोगिनी गोविन्द बिनु कैसे बितवै दिन सावन के

हरित भूमि, भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के॥

पहिरे सुहाए सुबास सुहागिनी झुंडन झूलन गावन के।

गरजत घूमरि घमंड दामिनी मदन धनुष धरि धावन के॥

दादुर मोर सोर सारंग पिंक सोहैं निसा सूरमा बन के॥

सूरदास निसि कैसे निघटत त्रिगुन किए सिर रावन के॥''[3]

इस पद के एक-एक पंक्ति पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि जिनके पति सावन के दिनों में प्रदेश होते हैं, उनके लिए यह उत्सव व शृंगार का दिन बड़ा नीरस होता है। वहीं जिनके पति या प्रेमी घर ही हो उनके लिए यह उत्सव बड़ा आनंददाई व सुखद होता है। इस प्रकार देख सकते हैं कि पति के पास होने पर पत्नी शृंगार कैसे करती हैं और झुंड के झुंड बनाकर झूलन गीत गाती हैं। तीसरी पंक्ति में कवि ने स्पष्ट रूप से सुहागिनों को झुंड में झूलन गीत गाने की बात कही है। इससे स्पष्ट है कि झूलन गीत का आशय सावन के दिनों में गाई जाने वाली कजली गीत से है। अब निःसंदेह कहा जा सकता है कि कजरी गीत की असल शुरुआत सूरदास जी के समय से ही हो जाता है। किन्तु उनके यहाँ सावन माह का बहुत सूक्ष्म चित्रण देखने को मिलता है। इसलिए हिन्दी साहित्य में कजली की असल शुरुआत 16वीं सदी या उससे पहले मानना चाहिए।

इस तरह की परम्परा का विकास यहीं पर नहीं समाप्त हो जाता है। बल्कि रीतिकालीन कवियों के यहाँ भी व्यापक-स्तर पर दिखायी पड़ता है। इस काल के कवियों की कविताओं का मुख्य वर्ण-विषय है- प्रकृति चित्रण, नायक-नायिका को आधार बनाकर उनके अंग-प्रत्यंग का सचित्र वर्णन करना ही रीतिकालीन कवियों का मुख्य ध्येय था। रीतिकालीन कवियों की कविताओं में कजली के वर्ण्य-विषय मुख्यतः प्रकृति का मनोरम चित्र, राधा-कृष्ण के मिलने अथवा बिछुड़ने तथा बिजली के चमकने, मयूरों के कुहुकने से है।

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि देव की रचनाओं में वर्षा ऋतु का सचित्र वर्णन मिलता है। इनके एक कवित्त में प्रकृति का सूक्ष्म चित्रण देखा जा सकता है-

''सहर सहर सोंधों सीतल समीर डोले, घहर-घहर घन कै घहरिया।

झहर-झहर झुकि झीनी झर लायो 'देव', छहर-छहर छोटी बुंदर छहरिया।

हहर-हहर हंसी-हंसी के हिंडोल चढ़ीं, थहर-थहर तनु कोमल लहरिया।

फहर-फहर होत पीतम को पीत पट, लहर होति प्यारी की लहरिया।''[4]

इस कविता से स्पष्ट है कि जिस में पावस ऋतु अपने चरम सौंदर्य को बिखेर रहा है और नायिका बहुत हर्षित होकर हिंडोल (झूले) पर चढ़कर पेंग भर रही है। नायिका का हिंडोर पर चढ़ना कवि की सिर्फ कल्पना ही नहीं, बल्कि इस बात को प्रमाणित करता है कि वह अपने समय में सावन के दिनों में महिलाओं-युवतियों को झूले पर चढ़कर गीत गाते हुए देखा है, जिसका सचित्र वर्णन इस कविता में किया है। इतना ही नहीं बल्कि इसी तरह के दृश्य का हू-ब-हू वर्णन कवि 'द्विजदेव' के कवित्त में भी दिखायी पड़ता है....

''घहरि घहरि घन सघन चाहूंघा घेरि,

छहरि छहरि विष बुंद बरसावै ना।

द्विजदेव की सौ अब चूंक मत दांव एरे-

पातकि पपीहा! तू पिया की सुधि गांवै ना।''[5]

पावस के दिनों में काले-काले बादलों का आना, मसूलाधार बारिश का होना, पपीहा, मेढ़क, झींगुर आदि का अपना धुन अलापना, ये सब प्रकृति के अनुकूल होता है। यदि कोइ वियोगिनी अपने प्रेमी के वियोग में चुर है, तो उसे इन सभी की ध्वनि कर्कस लगने लगती है और वहीं प्रेमी से मिलते समय बहुत ही आनंददाई होता है। ऐसे ही प्रसंगों का उद्घाटन बोधा की कविताओं में भी दिखायी पड़ता है-

'रितु पावस स्याम घटा उनई, लखिकै मन धीर धिरातो नहीं।

पुनि दादुर मोर पपीहन की सुनिकै धुनी चित थिरातो नहीं॥''[6]

रीतिकालीन कवियों के यहाँ पावस ऋतु का वर्णन ही नहीं, बल्कि लोक प्रचलित समस्त विधाएँ-बारहमासा, होली-फाग एवं प्रत्येक ऋतु में होने वाले उत्सव किसी न किसी रूप में दिखायी देता है। देव, बोधा, द्विजदेव, घनानन्द एवं पद्माकर आदि कवियों ने वर्षा ऋतु के साथ-साथ नायक-नायिका के प्रेम के चरम उत्कर्ष का वर्णन भी किया है। पावस ऋतु की परम्परा का जो स्वरूप शिष्ठ साहित्य में दिखायी पड़ता है, वह लोक कवियों के यहाँ कजली गीतों में प्रमुखता से परिलक्षित होता है। इसे हिन्दी साहित्यकारों ने वृहद स्तर पर सजाने और सवारने का कार्य किया है। आगे चलकर साहित्यिक कजलियों का विकास वाचिक परम्परा के समानांतर ही हुआ। वाचिक परम्परा भारतेन्दु युग तक आते-आते अत्यन्त समृद्ध व जन-जन के जुबान पर रच बस गया।

इस प्रकार कह सकते हैं कि पावस ऋतु का वर्णन आदिकाल और भक्ति काल से अधिक रीतिकाल में हुआ। किन्तु कजली को जो प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए थी, वह प्रतिष्ठा भारतेन्दु युग में ही मिल सकीं।

बाबू भारतेन्दु 'हरिश्चन्द्र' लोक पारखी थे। लोक दर्शन के लिए लोक साहित्य, उनकी तीसरी आँख थी। उन्होंने अपनी खुली आँखों से हिन्दी साहित्य और लोक साहित्य को संवारने का पुरजोर प्रयास किया।

भारतेन्दु का समय रीतिकालीन बंधनों से पूर्णतः मुक्त नहीं हुआ था। उनके पहले के रचनाकार श्रृंगारिक और भक्ति परक रचनाओं में ही मग्न थे। उन्होंने देखा कि भारत देश की पूरी सांस्कृतिक भण्डार लोक साहित्य में ही समाहित है, जिसे बचाना बहुत ही आवश्यक है। भारतेन्दु की बड़ी चिंता यह थी कि यहाँ की अधिकतर जनता कम पढ़ी लिखी है। लोगों के पास लोक ज्ञान तो बहुत है। किन्तु शिक्षा का बहुत अभाव है। ऐसी स्थिति में परम्परागत जो लोकगीत हैं, उसी के धुनों को आधार बनाकर जनता को शिक्षित करने का कार्य किया।

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतेन्दु युग के साहित्यकारों ने नवजागरण में बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया। बाबू भारतेन्दु यह भी समझ चुके थे कि लोक बहुत ज्यादा परिवर्तनशील होता है। इसलिए उन्होंने लोक साहित्य की रचनाओं में कजली, लावनी, बारहमासा, खेमटा, नकटा, झूमर, गारी तथा होली जैसी विधाओं की रचना की जिससे उनकी आवाज सभी जन तक साधारणतः पहुँच सकें। बाबू भारतेन्दु के इस लोक प्रेम से उनके युगीन साहित्यकार बहुत ही प्रभावित हुए। भारतेन्दु बाबू कजली लिखने से पहले 'लावनियों' की रचना करते थे जिसकी बोल कजली से मिलता जुलता था। भारतेन्दु बाबू जी को कजली लेखन की प्रेरणा तो जिला मिर्जापुर के निवासी श्री बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' से ही प्राप्त हुई।

'प्रेमघन' ने कजली विधा में गहरी पकड़ बनाने के लिए लोक से जुड़ी विभिन्न आयोजनों में हिस्सा लेना शुरू किया और आगे चलकर संगीत के जातिगत धुनों में गहरी पकड़ बनायीं। इसमें उनको कजली प्रेम अत्यधिक प्रभावित किया। उन्होंने देखा कि लोक प्रचलित कजलियों में वेद, पुराण, इतिहास, दर्शन, तत्कालीन समस्याएँ, सामाजिक, राजनीति आदि सभी रूपों का विकास हो चुका था। प्रेमघन ने सं. 1970वि0 (सन् 1913ई.) में 'वर्षा बिन्दु' शीर्षक में कुल 150 साहित्यिक कजलियों तथा मेघ मल्हार, दूरियाँ मलार, बरसाती खेमटा, हिंडोर का खिमटा तथा राग-सोरठा, मलार आदि लिखे हैं जो 'प्रेमघन -सर्वस्व' भाग-1 में संग्रहित हैं। इस प्रकार प्रेमघन ने कुल 22 से अधिक लोक में प्रचलित धुनों को आधार बनाकर साहित्यिक कजलियों का लेखन कार्य किया जिसकी भाषा अत्यन्त परिमार्जित तथा परिनिष्ठित हैं। एक कजली में 'प्रेमघन' का कजली प्रेम उमड़ कर सामने आया है, जिसमें वर्षा ऋतु दसों दिशाओं में सज-धज कर अपनी सौन्दर्य किस प्रकार बिखेर रही है और सुहागीन नारी सोलहो श्रृंगार कर कजली-मलार गीत गा रहीं हैं। जिसका सचित्र वर्णन कवि ने किया है-

''दसो दिशा में दमक रही दामिनी है देखो बार-बार।
प्रभा प्रकृति प्रगटाती है अंबर का अंबर फार फार॥
घीरकर काली घटा बरसती बूंद सुधा सी गार गार।
उमड़ उमड़ कर बहता है जल झील नदी औ नार नार॥''[7]

'प्रेमघन' एक ऐसे कजलीकार थे जिन्होंने सभी तत्कालीन समस्याओं को कजली विषय को आधार बनाया तथा स्त्री जीवन को पराधीनता से मुक्त करना, उनका मुख्य उद्देश्य था। जिसमें- स्त्री शिक्षा, बाल विवाह, अनेमल विवाह एवं सतीप्रथा जैसे- कुप्रथाओं से मुक्ति दिलाने हेतु बहुत-सी कजलियाँ लिखीं। इनका अनमेल विवाह पर आधारित एक कजली देख सकते है-

''नैहर में देबै बिताया बरू बिरथा बैस जवानी रामा।
हरि हरि! का करबै लै ई छोटा साजनवां रे हरी!!!
पापी पंडित पामर पाधा गैलैं तितक चढ़ावै राम!
गोदी चढ़े दूध से पीयत दूलह ब्याहन आए रामा!
हरि!हरि! लै बैठाते माड़व बीच अगनवां रे हरि!''[8]

''प्रेमघन' के समय अनमेल विवाह चरम सीमा पर थी। कहीं सयानी स्त्री से दूध पीता हुआ बालक का शादी करा दिया जाता था। ऐसी स्थिति में बाभन से स्त्री सवाल करती हुई दिखायी पड़ती है। वह सवाल करती है कि आखिर दूध, पीता हुआ बालक से मेरा विवाह कैसे होगा? इससे अच्छा तो यही होगा कि मैं नैहर में ही रह जाऊँ। ऐसे ही उन्होंने लोक से जुड़ी तमाम समस्याओं पर कजली लिख कर जनता को संदेश देने का कार्य किया। एक जगह तो भारतवाषियों के दीन-दशा को देखकर ईश्वर से देश की समृद्धि हेतु मंगल कामना करते हैं।

''मंगल करै ईस भारत को सकल अमंगल बेगि बहार।
आलस निद्रा हों उठि जागैं भारतवासी धाय॥
एका, समुति, कला विद्या, बल तेज, स्वत्व निज पाय॥''[9]

'प्रेमघन' मिर्जापुर से 'कादंबिनी' नामक पत्रिका का सम्पादन भी करते थे। इसमें उनकी ऋतु परक निबन्ध भी छपती थी। कजली पर लिखीं गयी दो निबन्ध 'कजली कौतूहल' तथा दूसरा 'कजली' की कुछ व्याख्या' शीर्षक से प्रेमघन -सर्वस्व भाग-2 में संग्रहित है। इसमें 'प्रेमघन' ने कजली की उत्पत्ति, स्वरूप, वर्ण विषय, बनावट-बुनावट तथा विकास के परिप्रेक्ष्य में विस्तृत चर्चा की है।

भारतेन्दु से 'प्रेमघन' की पहली मुलाकात 1874 ई. में जौनपुर से लौटते वक्त हुई थी। उस समय भारतेन्दु ने 'बुढ़वा मंगल' का अयोजन किया था जिसमें भारतेन्दु के आग्रह पर 'प्रेमघन' खुद सम्मिलित हुए और वहाँ की मौज-मस्ती तथा लोकधर्मी भव्यता को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए। 'प्रेमघन' ने अपने क्षेत्र में होने वाला

'कजली महोत्सव' में भारतेन्दु को भी आमंत्रित किया। भारतेन्दु ने 'प्रेमघन' के आग्रह को स्वीकार किया और कजली महोत्सव में सम्मिलित होकर, वहाँ की सरस-सुहावन कजली का खूब आनन्द उठाया और 'प्रेमघन' के आग्रह पर कजली लिखना भी आरंभ कर दिया।

भारतेन्दु के इस कजली प्रेम को देखकर, खुद उनके समकालीन कवि तथा लेखक भी कजली लिखना शुरू कर दिए इसमें अंबिकादत व्यास, बालकृष्ण भट्ट, विशोरीलाल गोस्वमी, वामनाचार्य गिरि, मनोहर दास रस्तोगी, शिवदास मालवीय आदि का प्रमुख नाम आता है ऐसे ही इस कजली महोत्सव में आने के बाद पंडित मदन मोहन मालवीय भी स्वयं प्रभावित होकर, कजलियाँ लिखने लगे।

इस प्रकार कजरी लेखन के एक नये युग का उदय हुआ। परन्तु कजली लेखन में भारतेन्दु और 'प्रेमघन' ही शीर्ष पर रहें। भारतेन्दु द्वारा रचित कजली पर आधारित कई पुस्तकें मिलती हैं जिसमें इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'फूलों का गुच्छा', 'रस बरसात', 'वर्षा विनोद' तथा कजली जयंती आदि हैं। भारतेन्दु ने यह नाम अकारण ही नहीं रखा दिया, बल्कि उसके पीछे यह कारण देखा जा सकता है कि इन नामों में एक तरफ 'रस' तो दूसरी तरफ 'वर्षा' है जिसका संबंध सीधे मनुष्य के आतंरिक मन एवं बाहरी वातावरण से जुड़ता है और मन को सहज ही अपनी तरफ आकर्षित करता है। इस प्रकार कजली का सीधे जुड़ाव प्रकृति सौन्दर्य से होता है। जैसे-पूरवा हवा का बहना, बादलों का झुकना, बिजली का चमकना तथा वंशी का बजना, यह सभी नायक-नायिका के मिलनोत्कंठा को और भी बढ़ा देते हैं। यहाँ इस सन्दर्भ में भारतेन्दु बाबू द्वारा रचित एक कजली देना आवश्यक जान पड़ रहा है-

''मोहि नन्द के कंधाई बेलमाई रे हरी॥

बहे पुरवाई और बंदरिया झुकि आई रामा,

कुंज में बुलाई ब्रजराई रे हरी॥

बंसिया बजाई सुनि सखि उठि आई रामा,

सब जुरि आई रस बरसाई रे हरी॥

माधवी भी जाई जिया अति हुलसाई रामा,

कजरी सुनाई मन भाई रे हरी॥

मिल उर लाई प्यारी पिय को लुभाई रामा,

नाहीं हरिश्चन्द्र पछताई रे हरी।''[10]

हमारे समाज में राधा-कृष्ण के युगल जोड़ी को ईष्ट के रूप में स्वीकार किया गया है जिसकी परम्परा भारतीय साहित्य में चिरकाल से चली आ रही है। यदि देखा जाए तो जहाँ कहीं भी प्रेमी-प्रेमिका के मिलने अथवा विछुड़ने की बात कहीं जा रही हो, वहाँ राधा-कृष्ण की उपस्थिति अनिवार्यतः दिखायी पड़ती है। इसी को आधार बनाकर हिन्दी साहित्यकारों और लोक कवियों ने हजारों हजार रचनाएँ (कजलियाँ) कीं। भारतेन्दु अपने समय के तत्कालीन समस्याओं का साक्षात्कार किया था। वे अपने कजलियों के माध्यम से जन-जन को जगाने का कार्य कर रहे थे। उनके द्वारा रचित 'लोकचिंता' पर आधारित एक कजली देखें-

'देखो भारत ऊपर कैसी छाई कजरी।

मिटी धूर में सफेदी सब आई कजरी॥

दुज बेद की रिचन छोड़ि गाई कजरी॥

नृप गन लाज छोड़ि मुँह लाई कजरी।''[11]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कजली वर्ष ऋतु का लोकगीत ही नहीं, बल्कि युग परिवर्तन का महाआलेख है जो पूरे समाज को एक सूत्र में बाँधने का कार्य कर रही थी। द्विज' से लेकर 'नृप' के जुबान पर, अपनी सिंघासन जमा चुकी थीं तथा सदियों से चली आ रही अभिजात्य वर्गीय चेतना को छिन्न-भिन्न कर दी थीं। भारतेन्दु तथा 'प्रेमघन' का समकालीन कवियों से आग्रह था कि वे आखड़े व दंगल की कजलियाँ न लिखकर, लोकांचल से जुड़ी नारियों के मधुर कण्ठों से निश्रित धुनों की कजलियाँ ही लिखें। इस प्रकार कह सकते हैं कि 'प्रेमघन' तथा भारतेन्दु की कजलियाँ एक तरफ सूरदास, जायसी, देव, द्विजदेव, पद्ममाकर तथा बोधा के श्रृंगारिक पक्षों को उद्घाटित करती है, तो वहीं दूसरी तरफ तत्कालीन समस्याओं को चुनौती देती हुई, नवजागरण के मानवीय मूल्यों को स्थापित करती हैं।

भारतेन्दु मण्डल तथा मंडलेत्तर के छोटे-बड़े सैकड़ों कवि तथा लेखक कजली लेखन का कार्य किया। किन्तु बहुत से लेखकों की कजलियाँ आज भी प्राप्त नहीं हैं। हिन्दी साहित्य में कजली लेखन की जो लम्बी परम्परा दिखाई पड़ती है, वह आगे तक नहीं चल पाती है। हालाँकि भारतेन्दु के समय से ही पूर्वांचल में अखाड़ों व दंगलों की वृहद परम्परा दिखायी पड़ती है जो करीब 21वीं शतीं के प्रारम्भ तक बहुत धूम-धाम से चलती है। किन्तु भारतेन्दु मण्डल के बाद, हिन्दी साहित्य में 'साहित्यिक कजली' का एक लम्बा अन्तराल ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी साहित्यकारों ने कजली विधा को उपेक्षा भरी दृष्टि से देखा, जिसकी भरपाई संग्रहकर्ता के रूप में पं. रामनरेश त्रिपाठी तथा शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' करते दिखाई पड़ते हैं।

पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने 'ग्राम गीतों' के संकलन हेतु सन् 1916-1935 ई. तक संपूर्ण भारत की ग्राम यात्रा की। इन्होंने अपनी रचना कविता कौमुदी भाग-3 के 'ग्राम गीत खण्ड' में 'वर्षा से संबंधित' बहुत ही आश्चर्यजनक बातों का उल्लेख किया है- ''जब सावन में घटा घिर आती है, तब उनके चेहरों की चिन्ता के बादल घिरे आते हैं। जब पानी बरसने लगता है, तब उनकी आँखे चूने

लगती है। बरसती हुई रात में रात-रात भर बेचारे सो नहीं सकते या तो किसी कोने में उकडू-मुकडू बैठकर रात बिता देते हैं, या किसी जगह, जहाँ चूता न हो खड़े-खड़े आँखों में रात निकाल देते हैं और सवेरा होते ही दिनभर पेट के धंधे में लगे रहते हैं।''[12]

निश्चय ही सावन के बरसते, गरजते, चमकते माह, लोगों के लिए अत्यन्त कष्टकारी होता है। जो अपने बाल-बच्चों के नसीब से किसी तरह दो-जून की रोटी नहीं कमा पाते हैं। उन लोगों के पास न तो रहने के लिए घर है न तन ढ़कने के लिए लिए कपड़ा। वर्षा के दिनो में आज भी गाँवों की ये बदहाली किसी से छिपी नहीं है। इसी समस्या से संबंधित एक कजली, जिसमें एक नई नवेली दुल्हन सावन के दिनों में ससुराल नहीं रहना पसन्द करती, वह अपने नैहर वालों का किस तरह इंतजार करती हैं, देखिए-

''खड़ी झरोखवाँ मैं चितवउ नैहरे से केउ नाहीं आइ।

मोहि रे मयरिया कैसन बपई जेकर ससुरे में सावन॥''[13]

पूर्वांचल में ही नहीं बल्कि पूरे उत्तर भारत की यह परम्परा है कि सावन माह में नई नवेली दुल्हन को ससुराल नहीं रहने दिया जाता है। यदि किसी महिला के माँ-बाप सावन के दिनों में अपनी बेटी को ससुराल में छोड़ देते हैं, तो बाद में अपने को अपमानित महसूस करती हैं। हिन्दी साहित्य के प्रतिष्ठित साहित्यकार पंडित राम नरेश त्रिपाठी ने कजली अथवा लोक गीतों की रचना तो नहीं की लेकिन हजारों हजार गीतों की रक्षा की, जिनका अस्तित्व खतरे में था।

प्रसिद्ध दूसरे साहित्यकार शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का प्रसिद्ध उपन्यास 'बहती गंगा' सन् 1952 ई. में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में कुल 17 कहानियाँ उपशीर्षक के रूप में वर्णित हैं जिनमें- 'नागर नैया जाला काले पनियाँ रे हरी' तथा दूसरा 'एही ठैया झुलनी हेरानी हो रामा!' दो शीर्षक ऐसे हैं जो बनारसी कजली के धुनों में रची गई हैं। इनमें संकलित कथा वस्तु के माध्यम से रुद्र जी ने यह दिखाने की कोशिश की है कि बनारस के जन-जन के जुबान पर कजली इस तरह रचि-बशी थी, जिसमें-इतिहास, भूगोल, जन-जीवन,रहन-सहन तथा उसके वृहद् संस्कृति की प्रतिष्ठा हुई है।

रुद्र जी ने 'नागर नैया जाला काले पनिया रे हरी' की रचना काशी के राजा चेत सिंह के पुत्रों और ब्रिटिश गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स के बीच हुई लड़ाई से ऊपजी समस्या को आधार बनाकर लिखे हैं। वे एक जगह लिखें हैं – ''सन् 1772 की काशी अपने गुंडों के लिए प्रसिद्ध थी। वारेन हेस्टिंग्स द्वारा काशी राज्य की लूट के बाद जब विदेशी शासन ने वीरों को अपनी तलवारें कोष में ही रखने के लिए विवश किया, तब उनके लिए सिंह-वृत्ति ग्रहण करने के अतिरिक्त और मार्ग न रहा।.... ऐसे लोगों में दाताराम नागर और भंगड़ भिक्षुक प्रमुख थे।''[14]

एक तरफ राजा चेत सिंह और वहाँ की जनता अंग्रेजों से लड़ाई लड़ रही थी, तो वही दूसरी तरफ अंग्रेजों की सहायता करने वालों-में शंभूराम पंडित, बेनीराम पंडित, मौलवी अलाउद्दीन, कोबरा और मुंशी फैयाज अली तथा मिर्जापुर में अंग्रेजों की ओर से ठेकेदार बन कर मिसिर अंग्रेजों के प्रमुख सहायक थे। ऐसे में दाताराम अंग्रेजों के साथ-साथ अपने यहाँ के घुसखोरों से भी निपट रहा था।

अन्ततः अंग्रेजों ने उसे 20 वर्ष कालेपानी की सजा सुना दी। नागर की इस सजा से काशी की जनता काँप उठी थीं, तब भी नागर अपनी मुछों पर ताव देता हुआ, अंग्रेजों के समक्ष 'काले पानी की सजा' स्वीकार कीं और वह मिसिर से सुन्दरी की रक्षा के लिए, उसे नारघाट भेजता है तथा उससे वही मिलने का वादा करता है। सुन्दर (महिला) को जब पता चलता है कि नागर को काले पानी की सजा हो गई, तब उसका हृदय भर आता है और रो-रो कर, करुण स्वर में, यही ऐतिहासिक कजली गाती है-

''अरे रामा, नागर नैया जाला काले पनिया रे हरी!

सब कर नैया जाला कासी हो विसेसण रामा,

नागर नैया जाला काले पनिया रे हरी!!....

जो मैं जनत्यूं नागर जइबा काले पनियाँ रामा,

तोरे पसवा चली अवत्यूं बिनुरे गवनवाँ रे हरी!''[15]

इस प्रकार सुन्दर (महिला) नागर के याद में बावली हो जाती है और नारघाट (मिर्जापुर) पर बहुत दिनों तक गाती रहीं। उस रास्ते जो कोई जाता, वह उस पगली से वह गीत जरूर सुनता। इस प्रकार आज भी वह गीत ऐतिहासिक कजली के रूप में अपनी लोकप्रियता हासिल की है। उनकी दूसरी बनारसी धुन की कजली – ''एही ठैया झुलनी हेरानी हो रामा' है जो काशी की पृष्ठभूमि को केन्द्र में रखकर, ऐसे पात्रों को इस कथा का आधार बनाया हैं जो समाज में प्रायः उपेक्षित रहे हैं। किन्तु देश को आजादी दिलाने में उनकी बड़ी भूमिका रही हैं। इस कथा के केन्द्र में दुलारी और टुन्नू नामक दो पात्र हैं जो पेसे से कजली गायन का कार्य करते हैं।

रूद्र जी ने यह दिखाने की कोशिश किया है कि उन दिनों किस प्रकार बनारस तथा मिर्जापुर के गलियों, चौराहों पर कजली दंगल होता था। वह इस संदर्भ में एक जगह लिखते हैं- ''दुलारी के जीवन में टुन्नू का प्रवेश हुए अभी कुल 6 माह हुए थे पिछली भादों में तीज़ के अवसर पर, दुलारी खोजवाँ बाजार में गाने गायी थी। दुक्कड़ (एक प्रकार का वाद्ययंत्र) पर गाने वालियों में दुलारी की महती ख्याति थी। उसे पद्य में सवाल-जवाब करने की अद्भुत क्षमता प्राप्त थी। इसलिए उसके मुँह पर आने में सभी घबराते थे। उसी दुलारी को कजली दंगल में अपनी ओर खड़ा कर खोजवाँ वालो ने अपनी जीत सुनिश्चित समझ ली थी।''[16] बालक टुन्नू, उस महफिल में बड़े जोश के साथ कजली के शायरी अंदाज में दुलारी को गाते हुए कहता है-

''रनियाँ लऽ परमेसरी लोट!

दरगोड़े से घेवर बुंदिया....

टाक सुनहली गोट। रनियाँ....''[17]

कुछ समय बाद दुलारी भी बड़ा सटीक उत्तर देती है-

''कोढ़ियल मुँहवैं लेब वकोट

तोर बाप तऽ घाट अगोरन...

कब देखले लोट। कोढ़ियल...!''[18]

इस प्रकार दोनों एक दूसरे से सवाल जवाब करते रहे, पर टुन्नू को कोई भी नहीं जानता था कि वह इस तरह से कजली शायरी गा लेता है। पूरे बजरडीहा वाले, उसके तरफ से हो गये। उसने भैरोहेला को अपना उस्ताद बनाया और शीघ्र ही सुन्दर कजली रचना करने लगा। उसके मीठे स्वर ने दुलारी को खुद आकर्षित कर लिया था। रुद्र जी जहाँ पर यह दिखाने की कोशिश किये हैं। कि तमाम वर्जनाओं के वाद भी, पुरुषों के साथ-साथ महिलाएँ पूरी आजादी के साथ कजली विधा में अपनी उपस्थिति दर्ज की है। यह अत्यन्त तार्किक व मनोरंजन परक होता था। इस कथा के अन्त में भारी जुलूस निकलती है, जिसमें टुन्नू को भारत माता की जय' बोलने पर एक अंग्रेज सिपाही द्वारा मार दिया जाता है। दुलारी इस घटना को सुनकर अत्यन्त दुःखी हुई और उसे जब टाउन हाल में गाने के लिए बुलाया जाता है, तो वह करुण स्वर में गा उठती है-

''एही ठैयाँ झूलनी हेरानी हो रामा, कासों मैं पूछूँ।

सास से पूँछूँ, ननदिया से पूँछूँ, देवरा से पूछत लजानी हो रामा।''

इस प्रकार सभा में उसकी आँखें भर आती है। वह दुःखी होने के सिवाय किसी से कुछ कह नहीं पाती। इसलिए कि टुन्नू उसका पति नहीं रहता सिर्फ प्रेमी रहता और समाज चोरी छुपके प्रेम करने की इजाजत नहीं देता है। ये कजली धुन आज भी लोक में प्रसिद्ध है जो अपने समय के इतिहास, संस्कृति, भूगोल के साथ-साथ सामान्य जन-जीवन के गौरव गाथा का जीवंत उदाहरण है।

उपरोक्त तथ्यों के अध्ययन एवं खोजबीन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कजली विधा का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। हिन्दी साहित्य में इसकी निर्मिति आदिकालीन प्रवृत्तियों के पृष्ठभूमि पर होकर चलती है, वह भक्तिकाल तथा रीतिकाल से होते हुए, भारतेन्दु मण्डल के कवियों के पास पहुँचाती है ये कवि भी 'लोकगीतों में कजली विधा को साहित्यिक स्वरूप प्रदान करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उसके बाद, हिन्दी साहित्य में कजली को जो प्रतिष्ठा व समृद्धि मिलनी चाहिए,वह प्रतिष्ठा तो कजली आखड़ों के कवियों तथा गायकों के यहाँ ही मिल पाती है। पूर्वांचल के क्षेंत्रों में, इसकी एक वृहद परम्परा रही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-

1. कजरी : सं. –डॉ. शान्ति जैन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2014, पृ. सं.-1
2. वही, पृ.-3
3. भ्रमरगीत सार : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण-2013, विश्वविद्यालय, प्रकाशन, वाराणसी, पृ. सं.-130
4. रीति काव्यधारा : सं. रामचन्द्र तिवारी, डॉ. रामफरेश तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण-सन् 2000, पृ. सं. 101
5. वही, पृ. सं.-188
6. वही, पृ. सं. – 178
7. प्रेमघन-सर्वस्व (प्रथम भाग) : सं. श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय, दिनेश नारायण, उपाध्याय, प्रथम संस्करण-सवंत् 1996 वि., हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयागराज, पृ. सं. 514-515
8. वही, पृ. सं.-534-535
9. वही, पृ. सं.-541
10. सोन चिरैया पाती : सं. –मालिनी अवस्थी, प्रथम संस्करण-2011, विजय खण्ड-1 गोमती नगर, लखनऊ, पृ. सं. 25
11. वही, पृ. सं. 29
12. वही, पृ. सं. 15
13. वही, पृ. सं.17
14. बहती गंगा : शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र', चतुर्थ संस्करण-2019, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, पृ. सं. 25
15. वही, पृ. सं. 32-33
16. वही, पृ. सं.89
17. वही, पृ. सं. 90
18. वही, पृ. सं.91

●

भारत की समृद्ध कसीदाकारी परम्परा-एक परिचय

*डॉ. जसमिन्दर कौर**

मानव सुई का प्रयोग अति प्राचीन काल से करता आया है। पहले तो वस्त्रों को सिलने के लिए तथा बाद में अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये। कोई प्रामाणिक आधार न होने के बावजूद हमें यह मानना ही होगा कि कसीदाकारी किसी न किसी रूप में भारत में प्राचीन काल से ही अस्तित्व में थी। भारत में कसीदाकारी का उद्‌भव सम्भवतः खेतिहर लोगों या किसानों के यहाँ से शुरू हुआ तथा इस कला को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने में खानाबदोश जातियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। भारतीय कसीदाकारी शैली की जन्मदाता निश्चित रूप से ग्रामीण महिलायें रही हैं तथा इस कला का विकास मुख्यतः घरेलू कला के रूप में हुआ। खेतिहर महिलायें, जिनके पास साल के कुछ महीने ही काम होता था, खाली समय अपनी कलात्मक प्रवृत्ति, भावनाओं के प्रयोग व विकास में लगाती थी। इन कलात्मक प्रवृत्तियों में कसीदाकारी का महत्वपूर्ण स्थान था। अन्य कलाओं की भाँति कसीदाकारी भी उसके निर्माताओं की सांस्कृतिक परम्पराओं व सामाजिक स्थितियों को प्रतिबिम्बित करती है। भारत के प्रत्येक प्रान्त की कसीदाकारी का अपना एक अलग प्रभावी अलंकरण, रंग संयोजन एवं विशिष्ट तकनीक है, अतः जिसमें कलाकृतियों के आधार पर सम्बन्धित क्षेत्र या प्रान्त का बखूबी अनुमान लगाया जा सकता है।

भारत के उत्तरी क्षेत्रों में स्थित **काश्मीर** अपने उत्कृष्ट पारम्परिक कसीदाकारी नमूनों के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध है। जहां भारत के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में प्रचलित कसीदा महिलाओं द्वारा की जाती है, वहीं काश्मीर में कसीदाकारी का कार्य मुख्यतः पुरूषों द्वारा किया जाता है, जो उनकी आजीविका का एक प्रमुख माध्यम है। काश्मीर अपने कसीदाकृत शालों, दुशालों तथा अक्सी शालों की कढ़ाई के लिये विश्वविख्यात है। एक मत के अनुसार, यह कला पन्द्रहवीं शताब्दी में शासक जैनुल आब्दीन शाह (1420-1470) के द्वारा प्रचलन में लायी गयी, जो अपने साथ फारसी दस्तकारों को लेकर आया, जिन्होनें स्थानीय लोगों को यह कला सिखायी।[1] काश्मीरी कसीदा पर हमें आज भी फारसी प्रभाव देखने को मिलता है। काश्मीरी कसीदा मुख्यतः अपने प्राकृतिक अलंकरणों के लिए जानी जाती हैं। गुलाब, पोस्ते के फूल, लिली के फूलों से युक्त झाड़ियां, चिनार के पेड़, पत्ते, अंगूर, बादाम इत्यादि अलंकरणों को कढ़ाई में प्रमुखता से अंकित किया गया। काश्मीरी कसीदा मुख्यतः मुगलों के प्रभुत्व में पनपी, जिसके कारण इसके अलंकरणों मे जानवरों के नमूनों का पूर्णतया अभाव रहा। पक्षियों में तोता, नीलकंठ, चिड़िया, कठफोड़वा, कबूतर आदि को अंकित किया गया।

आमतौर पर काश्मीरी कसीदाकार ऐसे सभी प्रकार के काम को **कसीदा** कहते हैं, जिसके अन्तर्गत **रफूगरी, डोरिया, जरदोज़ी, वाटा-चिकन, नमदा, गब्बा** आदि आ जाते हैं। सोज़नकारी और रफूगरी, काश्मीरी शाल व दुशालों पर किये जाने वाले सबसे अधिक कलात्मक काम हैं, जो अपनी उत्कृष्टता के लिये विश्वप्रसिद्ध हैं। काश्मीरी **दोरूखे दुशालों** में रफूगरी इतनी महीन व खूबसूरती से की जाती है कि इसके दोनों ओर की जमीन पर कढ़ाई का प्रभाव एक सा दिखता है। कुछ दोरूखे शालों जिनकी दोनों ओर की जमीन पर अलग-अलग डिजाइन बनानी होती हैं, दोनों सतहों पर अलग-अलग कढ़ाई का कार्य किया जाता है। यह कार्य इतनी निपुणता से किया जाता है कि दुशाले की उल्टी व सीधी सतह को पहचानना मुश्किल होता है। यह सम्पूर्ण कार्य एकमात्र रफूगरी के टांके से किया जाता है।[2] इसके अलावा **दोरंगी व दोरूखी कढ़ाई** की भी अपनी अनोखी परम्परा है। इस विधि में कपड़े की दोनो सतहों पर अलग-अलग रंगों का प्रयोग होता है।[3] **जलकदोजी** में जंजीरे टांके का प्रयोग एक हुक की सहायता से किया जाता है। जिसका प्रयोग पहनने से लेकर ओढ़ने व बिछाने मे प्रयुक्त प्रत्येक वस्तु पर किया जाता है।[4] **वाटा-चिकन** में बटन होल व काज टांकों का प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग प्राकृतिक दृश्यों, शिकार के दृश्यों आदि में दिखायी देता है।[5] **नम्दा कसीदा** में मुख्यतः मोटे जंजीरे टांके का प्रयोग होता है तथा नमूने में फूल, पत्ती और पक्षियों की प्रमुखता रहती है।[6] कतरन और बचे-खुचे ऊनी टुकड़ों से किये जाने वाले काम को **'गब्बा'** कहा जाता है। अनंतनाग इसके निर्माण का प्रमुख केन्द्र है। इसके अलंकरणों में, फूलों और बड़े आकार के ज्यामितीय नमूने बनाये जाते है।[7]

इसके अतिरिक्त, काश्मीरी कसीदा में हमें **'अम्लीकार'** शाल का प्रचलन देखने को मिलता है, जिसे बुनकर व कसीदाकार दोनों मिलकर आकर्षक बनाते हैं।[8] शाल बनाने की इस विधि में, सर्वप्रथम शाल पर मोटे अलंकरणों को बुन लिया जाता है। तत्पश्चात् इन मोटे बुने अलंकरणों में अत्यन्त महीन फूल-पत्तियों वाली नक्काशियों को सुई की सहायता से काढ़ा जाता है, सत्य तो यह है कि डोगरा कालीन व काश्मीरी शाल, कनीकार और अम्लकार के संयोग से बनते थे।[9] जिसमें बुनाई और सुईकारी के काम में अन्तर कर पाना बहुत मुश्किल होता है।[10]

* एसोसिएट प्रोफेसर, (टेक्सटाइल डिजाइन सेक्शन) चित्रकला विभाग, दृश्य कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

काश्मीर के पश्चात्, **पंजाब** अपनी **फुलकारी कढ़ाई** के लिये जाना जाता है। 'फुलकारी' पंजाब की प्राचीन तथा पारम्परिक लोक कला है। 'फुलकारी' का शाब्दिक अर्थ है, फूलदार या बेल-बूटों का काम, [11] अर्थात् जिस कपड़े पर रंगीन रेशमी धागों से फूलों की कढ़ाई की जाती हो, उसे फुलकारी कहते हैं। इसका प्रयोग विशेष रूप से चादरों तथा ओढ़नियों को सुसज्जित करने के लिये किया जाता है। पंजाब की घरेलू महिलाओं द्वारा की जाने वाली इस कढ़ाई के अलंकरणों पर हमें उनकी कल्पनाशीलता व विचारों की पूर्ण छाप दिखायी पडती है। इसमें फूलों, पेड़-पौधों, वनस्पति, मोर, चिड़िया, ऊँट, आदि के नमूनों को ज्यामितीय आकार में कपड़े पर काढ़ा जाता है। फुलकारी का पंजाब के पारम्परिक व सांस्कृतिक उत्सवों में विशेष महत्व है, जो माँ, दादी, ताई व चाची द्वारा बेटी को शादी में उपहारस्वरूप दी जाती है।[12] यह कसीदा हाथ से बुने कुसुम्भी लाल या नीले रंग के मोटे खद्दर के कपड़े पर, सुनहरे पीले, सफेद, हरे, लाल, नारंगी तथा धानी आदि बिना ऐंठे रेशमी 'पट' धागे से की जाती है। यह कढ़ाई, कपड़े की उल्टी तरफ से तहरीर टांको में की जाती है। जिसका सही अलंकरण कपड़े के सीधी तरफ से उभर कर सामने आता है। तहरीर के अतिरिक्त इसमें कच्ची टांका, रफूगरी, काज टांका तथा मुर्री टांकों का प्रयोग देखने को मिलता है।[13] फुलकारी अपने नमूनों की विविधता के कारण **फुलकारी, बाग** (चाँद-बाग, ककड़ी-बाग, मिर्ची-बाग, धनिया-बाग) तथा **चोप** के नाम से जानी जाती है। लुधियाना, जालन्धर, अमृतसर, भटिण्डा के अतिरिक्त, फुलकारी के बढ़िया काम, गुड़गांव, करनाल, रोहतक, हिसार तथा दिल्ली के आस-पास के क्षेत्रों से भी प्राप्त होते हैं।[13]

हिमांचल प्रदेश का **चम्बा** नामक स्थान, अपने **कसीदाकृत रूमालों** के लिये विश्वभर मे प्रसिद्ध है। यह अपने अलंकरणों के विषयों, आकार तथा टांकों के कलात्मक प्रयोग के कारण विलक्षण हैं। इन रूमालों पर कढ़ाई की जानी वाली विषयस्तु पहाड़ी चित्रकला शैली (भित्ति एवं लघु चित्रकला) से प्रभावित होकर बनायी गयी, जिनमें फूल-पत्तियों के अलंकरणों, गुलदस्ते, रासलीला, नायिकाभेद, रागमाला, रूक्मिणी-मंगल, रामायण, शिकारगाह या अन्य पौराणिक एवं लोक गाथाओं के चित्र आदि को अंकित किया गया।[14] चम्बा रूमाल भगवान श्री कृष्ण से सम्बन्धित कथाओं, विशेषकर गोलाकार संयोजन में निबद्ध रासलीला की प्रस्तुति के लिये प्रसिद्ध है। कदाचित्, इन रूमालों पर नमूनों को कुशल पहाड़ी चित्रकार अपनी कलम से अंकित कर देता था तथा रंगों का मेल बना देता था। इन अलंकरणों को राजमहलों से सम्बन्धित स्त्रियां बड़ी ही निपुणता से काढ़ देती थीं।[15] प्रायः यह रूमाल वर्गाकार रूप में बनाये जाते थे, जिनकी एक ओर की लम्बाई दो फीट से तीन व चार फीट (61 सेमी0×91 सेमी0) तक होती थी।[16] चम्बा रूमाल अपने दोरूखे टांके के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है, जिसके प्रयोग से कढ़ाई का प्रभाव कपड़े के दोनों तरफ एक सा आता है।[17] परन्तु कुछ रूमाल ऐसे भी बनाये जाते हैं, जिसमे कढ़ाई का प्रभाव केवल एक ही तरफ दिखता है।[18] यह कढ़ाई सफेद मलमल के ऊपर सरसों पीला, बसंती पीला, गुलाबी या कुसुम्भी लाल, ज़हरमोहरा हरा, गुलबासी, कासिनी (जामुनी रंग), सफेद, नीले और काले रंग के (वनस्पति रंग से रंगे) रेशमी धागों का प्रयोग से की जाती है। विशेषतः इन कसीदाकृत रूमालों का प्रयोग शादी-विवाह में प्रयुक्त सामग्रियों को ढंकने तथा मंदिरों में टांगने के लिये किया जाता है।[19]

उत्तर प्रदेश के गंगा-जमुना दोआबा क्षेत्र की ओर हमें पुरूष कारीगरों द्वारा की जाने वाली एक अन्य कढ़ाई का परिचय मिलता है, जो **लखनऊ** (अवध) क्षेत्र की **'चिकनकारी'** कढ़ाई है। चिकनकारी की यह कला अवध के नवाबों द्वारा प्रचलन में लायी गयी और यह अधिकतर सफेद मलमल के कपड़े पर सफेद सूती धागों से की जाती है।[20] चिकनकारी में प्रकृति से लिये गये अलंकरणों जैसे-चावल, ज्वार, फूल-पत्तियों की बूटियों और पत्र-वनलताओं को तेपची, बखिया, मुर्री, मरोड़ी या फन्दा आदि टांकों में काढ़ा जाता हैं। मद्रासी, कलकतिया एवं सिद्धौर आदि जालियों का प्रयोग अलंकरणों को आकर्षक बनाने के लिये किया जाता है।[21] चिकनकारी के अतिरिक्त लखनऊ में एक अन्य प्रकार की कसीदाकारी, जिसे **'बादला'** (कामदानी) कहते हैं, भी प्रचलन में है। 'बादला', एक चपटा (सोने एवं चांदी का तार) धातु का तार होता है, जिसका प्रयोग कपड़े पर अंकित नमूने पर सुई की तरह कपड़े में से निकाल कर दबा दिया जाता है। इस तकनीक का प्रयोग महीन जालीदार कपड़े की खूबसूरती बढ़ाने के लिये किया जाता है। इसके अलावा एक अन्य प्रकार की सोने एवं चांदी के तारों की कढ़ाई का प्रचलन लखनऊ में देखने को मिलता है, जिसे **''तिल्ला''** का काम कहते है।[22] इस कसीदा को महिलाओं द्वारा किया जाता है।[23] जिसका प्रयोग मुख्यतः विवाह आदि शुभ अवसरों पर पहनने वाले कपड़ों को चित्ताकर्षक बनाने के लिये किया जाता है।

भारतीय कसीदा सुनहरे एवं रूपहले धागों की कढ़ाई, **कामदानी** व **जरदोज़ी** के लिये भी प्रसिद्ध है। **दिल्ली, बनारस, आगरा, भोपाल, लखनऊ, हैदराबाद, मुम्बई, औरंगाबाद, जयपुर, मुर्शिदाबाद, राजकोट, सूरत, आगरा** इत्यादि शहर इस प्रकार की जरी कढ़ाई के मुख्य केन्द्र हैं।[24] जरी का काम लकड़ी के चौकोर चौखटे (अड्डे) पर कपड़े को कस के किया जाता है। इसमें कारीगर व कढ़ाई करने वाला जमीन पर बैठकर कढ़ाई करता है। इसके दो रूप जरदोज़ी और कामदानी है। कढ़ाई के आधार वस्त्र हेतु प्रायः रेशमी, ऊनी, साटन, मखमल, चमड़ा, या जालीदार कपड़े का प्रयोग किया जाता है। यह काम साधारणतया पुरुषों द्वारा किया जाता है।[24] कारचोबी में वे ही वस्तुयें बनायी जाती हैं जो सामन्ती शान-शौकत और विलासिता की सूचक होती है। अतः इस काम में हाथी-घोड़े की झूल, हौदा, मनसद, तकिये, शामियाने,

छत्र, आसन, कालीन, अचकन, पहनावे के वस्त्रों, टोपियों और जूते-जूतियां बनायी जाती है।[25] इस कढ़ाई में प्रयुक्त अलंकरणों मे फूल-पत्तियों, पशु-पक्षियों का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। जरदोज़ी में प्रयुक्त सुन्दर धागों, जिन्हें **कलाबत्तू** व **ज़री** के नाम से जाना जाता है। क्रमशः कसब या कलाबत्तू (पीले धागे पर सोने व चांदी के लिपटे तार), बादला (सोने व चांदी की पतली तार), सलमा (लपेटवा तारों का बना), सितारा (छोटा गोल धातु का टुकड़ा), गिज्जी अथवा गिजई आदि नाम से जाना जाता है। इसके अतरिक्त मुकेश, तिल्ला, मरोरी आदि का भी प्रयोग, वस्त्रों को और अधिक आकर्षक बनाने के लिये किया जाता है।[26] कारचोबी में मुरमुरे टांके, जंजीरा टांका, तेपची से मिलते जुलते टांको, मुंह-चुप्पी टांको के साथ-साथ कच्ची टांको का प्रयोग कढ़ाई को आकर्षक बनाने के लिये किया जाता है।[26]

बिहार क्षेत्र में प्रचलित कसीदा पर धार्मिक भावनाओं व विश्वासों एवं जीवन शैली का गहरा प्रभाव देखने को मिलता है। बिहार मे प्रचलित **''सिक्की''** कसीदाकारी काफी प्राचीन होने के साथ-साथ काफी प्रसिद्ध भी है।[27] इस कसीदाकारी की विषयवस्तु मिथिला क्षेत्र की विश्वप्रसिद्ध लोक भित्ति चित्रकारी से प्रभावित हो कर बनायी जाती है। बिहार के आदिवासी इलाकों में कढ़ाई में दक्ष महिलायें, काफी नजदीक रखे जंजीरा व कच्चे टांके के द्वारा इस तरह से कढ़ाई करती है, कि कपड़े पर कसीदा का प्रभाव उभरा या बुना हुआ दिखायी देता है,[28] जिसके कारण इस कढ़ाई को **'झीकंना'** के नाम से जाना जाता है।[29] इस कसीदा का प्रयोग स्त्रियां अपनी साड़ी के किनारों, चोली, तकिया के खोल इत्यादि पर करती हैं, जिन पर चित्ताकर्षक अमूर्त अलंकरणों, ज्यामितीय आकारों एवं फूलों से अलंकृत अलंकरणों को काढ़ा जाता है। कढ़ाई का एक अन्य रूप **'भरत'** है, जो पंजाब की फुलकारी (बाग) से काफी मिलती जुलती है, मूरमूरे व कच्ची टांकों के प्रयोग से की जाती है।[30] इस कढ़ाई में फूलों व ज्यामितीय आकारों को, लाल व सफेद रंग की पृष्ठभूमि पर भड़कीले विरोधाभासी रंगों के अद्भुत संयोजन से, बिना ऐंठे रेशमी धागों से काढ़ा जाता है।[31] उत्तरी बिहार अंचल 'कांथा' व **'सुजनी'** कढ़ाई के लिये भी लोकप्रिय है। यह बंगाल प्रान्त में प्रचलित काथा कढ़ाई से काफी समानता रखती है।[32] यह कढ़ाई पुरानी साड़ियों के सही हिस्सों को काट छांट कर उनकी तहों को बैठा कर, कच्चे टांकों के प्रयोग से आकर्षक बनाती है। प्रायः लोक अलंकरणों में कपड़े के मध्य तैरती मछलियों, चिड़ियों, फूलों व प्राकृतिक दृश्यों के मनोहारी चित्र काढ़े जाते हैं। इस कढ़ाई से अलंकृत वस्तुएं सामान्यतः तोशक, दुशालों व ओढ़न के रूप मे प्रयोग की जाती है। बिहार क्षेत्र का पैबन्द काम, जिसे 'खत्वा' के नाम से भी पुकारा जाता है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[32] इस कढ़ाई का प्रयोग मुख्यतः शादी जैसे उत्सवों में प्रयुक्त होने वाले तम्बुओं और चंदवा को अलंकृत करने के लिये किया जाता है।[33] **'खत्वा'** काम स्त्रियों की चोलियों, बच्चों की टोपियों और दैनिक प्रयोग के अन्य पहनावों पर भी देखने को मिलता है। इसके अलंकरणों में पर्शियन ढंग के फूल-पत्तियों, फलों, पशु-पक्षियों (मोर, हाथी) का प्रयोग किया गया। कसीदाकारी की इस तकनीक में विरोधाभासी रंगों के कपड़ों के टुकड़ों को अलग-अलग आकार मे काट कर, उन्हें कपड़े की सतह पर काज टांकों से जड़ व सिल दिया जाता है। कपड़े पर अलंकरणों को काटने का कार्य पुरूषों द्वारा तथा टांकने का कार्य स्त्रियों द्वारा किया जाता है।[34]

पश्चिम बंगाल अपनी **'कांथा'** कढ़ाई के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध है, हालांकि बंगाल के अतिरिक्त भारत के अन्य प्रान्तों, जैसे-बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, गुजरात एवं राजस्थान में इसी तर्ज पर कढ़ाई की जाती है। जिन्हें क्रमशः सुजनी, कथरी, गुदड़ी आदि के नाम से जाना जाता है। इसके बावजूद बंगाल की कांथा अपने नमूनों के आकार-प्रकार व माप तथा टांकों के विलक्षण एवं सघन प्रयोग के कारण सर्वथा भिन्न एवं आकर्षक है। कांथा कढ़ाई पुरानी साड़ियों के सही हिस्सों को कांट छांट कर, उनकी तह बनाकर, एकमात्र कच्चे टांके द्वारा टांक कर की जाती है। इसके अतिरिक्त इसमें कहीं-कहीं उल्टे बखिया टांके का भी प्रयोग देखने को मिलता है। कांथा कढ़ाई मुख्यतः मखनिया सफेद रंग की जमीन पर, लाल, हरे, नीले, पीले, काले सूती धागों से की जाती है। यह रंगीन धागे पुरानी साड़ियों के किनारों से निकाले जाते हैं।[35] कांथा कढ़ाई में दैनिक जीवन से संबंधित अलंकरणों, प्राकृतिक दृश्यों तथा धार्मिक विश्वास एवं परम्पराओं पर आधारित अंलकरणों को बनाया जाता है। कांथा अपने नाप, आकार एवं उपयोग के अनुसार **सुजनी कांथा, बेतोन कांथा, लेप कांथा, आर्शिलता कांथा, उआर कांथा, दुर्जानी कांथा** तथा **रूमाल कांथा** आदि नामों से पुकारी जाती है।[36]

भारत के पूर्वी छोर पर स्थित **आसाम** एवं **मणिपुर** अपने पारम्परिक वस्त्र **फणिक** व **फाने** के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं, जिसपर बुनाई व कढ़ाई दोनों का सम्मिश्रण रहता है। यह महिलाओं तथा पुरूषों का लुंगीनुमा वस्त्र होता है, जिसे **'सैरंग'** कहते हैं। इस वस्त्र में प्रायः तीन रंगों की बुनी गई पट्टियों पर उसी रंग की कसीदा की जाती है। यह इतनी सफाई व खूबसूरती से की जाती है कि कपड़े पर उभरा हुआ बुनाई सा प्रभाव प्रतीत होता है। प्रायः काले सूती और रेशमी कपड़ों पर गहरे लाल, बैंगनी लाल व गहरे भूरे लाल रंगों से जानवरों के नमूने, पत्र लताओं, वृत (अक्योबी), कमल, वृक्ष, मछली, तोते आदि अलंकरणों को प्रतीकात्मक ढंग से अंकित किया जाता है। इसमें विशेषकर कुर्सीदार व कच्ची टांकों का प्रयोग किया जाता है।[37]

आसाम का मणिपुर क्षेत्र पैबन्द के काम के लिये भी प्रसिद्ध है, जिसे **'आबला'** (शीशा) **कढ़ाई** के नाम से पुकारते हैं। यह कढ़ाई मणिपुरी स्त्रियों द्वारा रास नृत्य हेतु प्रयोग मे लाये जाने वाले घाघरे के किनारों पर की जाती है। जिसमें अत्यन्त सावधानी व

नफासत से काटे गये लाल व पीले रंग के कपड़े के टुकडों को, घाघरे के किनारों पर मूरमूरे टांके से जड़ दिया जाता है। तत्पश्चात् इनको आकर्षक बनाने के लिये इसमें लाल धागे से शीशे के टुकड़ों को जड़ा जाता है।[38] मणिपुर की काली शाल, जिसपर मोटे, खुले और बड़े नमूनों की कसीदाकारी होती है, **'अंगमय नागा'** (अंगामी) शाल के नाम से पुकारी जाती है, इन शालों पर पशुओं के नमूनों की कढ़ाई की जाती है।[38] प्राचीन समय में यह शाल अतिविशिष्ट मानी जाती थी तथा इसे राजा द्वारा सैनिकों को शौर्य दिखाने के लिए इनाम स्वरूप प्रदान किया जाता था।[39] इस शाल पर बुनी काली समानान्तर पट्टियों पर लाल, हरे, पीले व सफेद रंगीन धागों से हाथी, ऊँट व अन्य पशु आकृतियां क्रमबद्ध रूप से बनायी जाती हैं।

भारत के पूर्वी भाग मे स्थित **उड़ीसा** का पुरी क्षेत्र (पीपली) अपने **पैबन्द कढ़ाई** के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध है। जिसका प्रयोग पुरी के मन्दिर को सजाने वाले वस्त्रों व त्योहारों में प्रयुक्त होने वाले छतरियों, तम्बू आदि वस्त्रों को अलंकृत करने के लिए किया जाता है। आजकल यह कढ़ाई समुद्र तट व बगीचों मे इस्तेमाल की जाने वाली छोटी-बड़ी छतरियों, लैम्प शैड आदि पर भी इस्तेमाल की जाने लगी है। कपड़े पर विभिन्न प्रकार की आकृतियों जैसे हाथी, मछली, मोर व बड़े फूलों के आकार के नमूनों को को काट कर, उल्टा बखिया व जंजीरा टांके के द्वारा मूल कपड़े (साधारण कपड़े) पर जड़ दिया जाता है।[40]

भारत का पश्चिमी क्षेत्र भी अपनी विभिन्न प्रकार की कसीदाकारी शैलियों के लिये जाना जाता है। जिसमें राजस्थान क्षेत्र की अपनी कुछ विशिष्ट कसीदा शैलियाँ हैं। **राजस्थान** में हर एक लोक समुदाय व जाति की कढ़ाई की अपनी पृथक शैली है। सीकर और झुन्झुनु की जाट औरतें अपने सूती घाघरों के किनारों पर विभिन्न प्रकार की फूल-पत्तियों, पशु-पक्षियों के नमूनों को पास-पास रखकर निश्चित अलंकरणों को काढ़ती हैं। कभी-कभी खेल जैसे चौपड़ आदि को भी घाघरे के एक ओर काढ़ा जाता है।[41] बीकानेर की जाट औरतें अपने मोटे ऊनी लाल चादर को कच्चे टांके से सजाती हैं। इसमें कढ़ाई धागों को गिनकर की जाती है, जिससे अलंकरण कपड़े के दोनों ओर एक समान ढंग से उभर कर सामने आते है। अलवर क्षेत्र की मोइस जाति, जंजीरा टांकों द्वारा बढ़िया अलंकरणों को काढ़ते हैं। इसकी जमीन फुलकारी कढ़ाई के बाग टांकों के समान ढकी होती है। जैसलमेर की कढ़ाई भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जिसमें लगभग हर प्रकार के टांकों का प्रयोग कपड़ों को आकर्षक बनाने के लिये किया जाता है। यहां एप्लीक व पैबन्द कढ़ाई भी की जाती है, जिसका प्रयोग ज्यादातर तोशक व गद्दे आदि को सुसज्जित करने के लिये किया जाता है।

नाथद्वारा मंदिर में विग्रह के पीछे टांगने वाली पिछवई और मन्दिर के रथ को सजाने में प्रयुक्त होने वाले वस्त्रों को भी जंजीरा टांकों की कढ़ाई से सजाया जाता है। पिछवई को 'एप्लीक' मे भी बनाया जाता है। इसमें लाल सूती कपड़े पर पीलापन लिये सफेद, हरे, पीले और काले रंग के कपड़ों को टांक कर कढ़ाई की जाती है। सफेद डोरी का प्रयोग वाह्य रेखांकन के लिये किया जाता है। इस **एप्लीक पिछवई** की सबसे बड़ी खासियत गोटा का काम है। जिसका प्रयोग वेलवेट के कपड़े पर किया जाता है, जो इसे अन्य एप्लीक शैलियों व अन्य वस्त्रों से अलग करती है।[42] राजस्थान सोने व चांदी की कढ़ाई के लिये भी विशेष रूप से प्रसिद्ध है, जिसे **'गोटा किनारी'** नाम से पुकारा जाता है।[43] इसमें सोने व चांदी की बनी हुई पट्टियों को फूल, पत्ती, कली व पक्षी के आकार में मोड़कर, उसके बाहरी किनारों पर सुनहरे व रूपहले धागों से कढ़ाई कर मूल कपड़े पर जड़ दिया जाता है। जयपुर में सितारों की लड़ी, जिसको 'कटाक्षी बेल' के नाम से पुकारा जाता है, सुनहरे व रूपहले कार्य के मध्य रेशमी धागों से कसीदाकारी की जाती है, जिससे कपड़े पर इसका स्वरूप मीनाकारी जैसा दिखाई देता है।[44]

गुजरात राज्य के **कच्छ, काठियावाड़** तथा **सिंध क्षेत्र** अपनी कसीदाकारी की विविधता के लिये प्रसिद्ध हैं। गुजरात के कच्छ क्षेत्र में प्रचलित कसीदा को **'कच्छी भरत'** के नाम से जाना जाता है। यह कढ़ाई एक विशेष प्रकार के क्रोशिया की भांति बने औजार से जंजीरा कढ़ाई में साटन के कपड़े पर की जाती है, जिसे स्थानीय लोग अरी के नाम से पुकारते हैं। इस कढ़ाई का प्रयोग परिधानों, पट्चित्रों व अन्य उपयोग के वस्त्रों को आकर्षक बनाने के लिये किया जाता है। कच्छ क्षेत्र की खेतिहर स्त्रियों, जिन्हें ''कंनवी'' कहा जाता है, के द्वारा की जाने वाली कढ़ाई को **''कंनवी भरत''** के नाम से पुकारा जाता है। यह कढ़ाई घाघरा, चोली व बच्चों के वस्त्रों पर की जाती है।[45] कच्छ और सौराष्ट्र में विकसित कढ़ाई की एक अन्य शैली **'कत्थी'** है, जिसे बंजारों द्वारा विकसित किया गया। इसमें प्रेम कहानियों के अलावा धार्मिक विषयवस्तु आदि को बनाया गया।[46] गुजरात के काठियावाड़ जिले में की जाने वाली कढ़ाई **'हीर भरत'** में रंगीन रेशमी धागों से मूरमूरे और जंजीरे टांके का प्रयोग कर कपड़े पर ब्रोकेड सा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। मूल वस्त्र पर कसीदा को और प्रभावशाली बनाने हेतु, इसमें 'आमला' (शीशे) को काज टांकों द्वारा टांक दिया जाता है। गुजरात के एप्लीक काम की अपनी एक विशिष्ट शैली है। इसमें रंगीन व नमूनों से युक्त वस्त्र के टुकड़ों को निर्धारित आकार में काट कर, उन्हें मूल कपड़े पर इस प्रकार से सिला जाता है कि विभिन्न आकृतियां उभर कर सामने आ जाती है। मुख्यतः इसका प्रयोग घरेलू कार्य में प्रयुक्त वस्त्रों पर किया जाता है। अधिकांशतः इनमें चमकदार व गहरे रंगों के प्रयोग से पंख फैलाये मोर, चिड़िया, घुडसवार, हाथी आदि अलंकरणों को बनाया जाता है।[47]

गुजरात में कसीदाकारी दैनिक जीवन के सभी पहलुओं पर अपनी छाप छोड़ती है। प्रवेश द्वार पर लगे तोरण, चकला, पट्चित्र, चंदवा आदि वस्त्रों को कढ़ाई से सुसज्जित किया जाता है। इसमे विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों, फूल-पत्तियों के अलावा आसपास

की विषयवस्तु इत्यादि को अंकित किया जाता है। गुजरात में **'सिन्धी तरोपा'** नामक कढ़ाई भी प्रचलित रही, जिसमें आपस में गुंथे हुये टांकों का प्रयोग कर अलंकारिक अभिप्रायों में गति व अन्य विशेषताओं को उभारने का प्रयास किया जाता है। गुजरात के सौराष्ट्र एवं कच्छ क्षेत्र अपने **''मोती भरत''** अथवा मोती के द्वारा किये गये कसीदा के लिये भी विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इसमें मात्र सुई एवं धागे की सहायता से एक समान आकार के सफेद और रंगीन मोतियों को आपस में इस प्रकार से गूंथा जाता है कि कपड़े के समान बुना हुआ मोतियों का चौकोर टुकड़ा तैयार हो जाता है। इसके अलंकरण कढ़ाई के अलंकरणों के समान ही बनाये गये। इन मोतियों से बने अलंकरण को कपड़े पर टांक दिया जाता है। इन मोतियों के प्रयोग से अलंकृत चादरों, थैला, बटुआ, पंखे, टांगने के लिये पिछवई, दरवाजे आदि पर टांगने हेतु तोरण आदि बनाये जाते हैं।

दक्षिण भारत में स्थित **कनार्टक प्रदेश** अपनी **'कसूती' कढ़ाई** के लिये विशेष रूप से जाना जाता है। यह कढ़ाई महाराष्ट्र की महिलाओं द्वारा व्यक्तिगत उपयोग में आने वाली वस्तुओं जैसे - कुढसा (चोली), शरागू (आंचल या पल्ला) और बच्चियों के घाघरों पर की जाती है। इसके अलंकरणों में दैनिक जीवन की वस्तुओं, मन्दिरों के चित्र, उत्सवों के दृश्य तथा प्रकृति से प्रभावित अलंकरणों को बनाया जाता है। ये सभी नमूने ज्यामितीय रूप में अंकित किये जाते हैं।[48] यह कढ़ाई मुख्यतः लाल, गुलाबी, हरे, बैगनी और नारंगी रंगों से की जाती है। जिनमें मुख्यतः गवन्ती व दोहरा कच्चा टाँका, मुर्गी, नेगी, मेथी टाँकों का प्रयोग नमूनों को आकर्षक बनाने के लिये किया जाता है।[49]

दक्षिण भारत के **तंजौर क्षेत्र** में **एप्लीक कढ़ाई** का अदभूत रूप देखने को मिलता है। जिसे मन्दिर में सजावट के लिये टाँगने के साथ-साथ विशेषरूप से जुलूस में प्रयुक्त होने वाले रथ के श्रृंगार में प्रयुक्त कपड़े को अलंकृत करने के लिये किया जाता है। इसके अलंकरणों में अनेक प्रकार के पारम्परिक चिन्हों और नमूनों के साथ-साथ पवित्र आकृतियों जैसे दुर्गा, गणेश, कार्तिकेय, शिव तथा पार्वती तथा पौराणिक पशु-पक्षियों आदि को बनाया जाता है।[50]

दक्षिण भारत के ही **'तोडा'** जाति के आदिवासी, जो तमिलनाडु के ओटकमंड के पर्वतीय इलाकों में रहते हैं, एक विशेष प्रकार की लम्बी सूती चादर पर ज्यामितीय अलंकरणों की कढ़ाई के लिये जाना जाते हैं। यह हल्के मटमैले रंग का बुना हुआ उत्तरीय **'पटकूली'** के नाम से जाना जाता है। जिसका प्रयोग स्त्रियाँ और पुरूष दोनों करते हैं।[51] इस शाल में काले और लाल या गहरे नीले और लाल रंग की पट्टियां बुनी होती हैं। इन पट्टियों के मध्य 'तोडा' महिलायें लाल, काले, नीले धागों से ज्यामितीय अलंकरणों का निर्माण करती हैं। यह कढ़ाई शाल पर बुनाई सा प्रभाव उत्पन्न करती है।[52]

आन्ध्र प्रदेश के **'मथूरिया'** एवं **'लम्बाडी'** (खानाबदोश आदिवासी) **जनजातियों** में विशेष प्रकार की कसीदाकार देखने को मिलती है। 'मथूरिया' जाति की महिलायें अपनी चोली, दुपट्टे व अन्य वस्त्रों पर दो तीन रंगों के संयोजन से युक्त ज्यामितीय अलंकरणों को मेथी टाँके के प्रयोग से बनाती हैं। इसके विपरित 'लम्बाडी' जाति की महिलायें मूममूरे टाँके का प्रयोग करते हुये चित्ताकर्षक अलंकरणों का निर्माण करती हैं। इन अलंकरणों को और अधिक आकर्षक बनाने के लिये वह इन पर मोतियों, शीशे के टुकडों व सिक्कों को टाँकती हैं। इसके अतिरिक्त कपड़े के किनारों को रंगीन सूती कपड़े से बने फुँदे व सीपियों से भी सजाया जाता है।[53]

इस प्रकार भारत के विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित कसीदाकारी के इस संक्षिप्त अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि प्रत्येक कलात्मक वस्तु के पीछे कलाकार की रंगों व अलंकरणों के प्रति सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति होती है। जिसके चलते वह एक विशेष उद्देश्य के तहत कपड़े पर अलंकरण करता है। कपड़े पर की गई कढ़ाई न सिर्फ कपड़े की आभा, सौन्दर्य एवं महत्व को बढ़ाती है, वरन् इसके टाँके, धागों के रंग, कसीदे हेतु प्रयुक्त कपड़े की बुनावट का चयन एक उन्नत एवं प्रभावशील, प्रतीकात्मक एवं अटूट सांस्कृतिक परंपरा को दर्शाती है।

संदर्भ :

1. आनन्द के0 कुमारस्वामी, 'द आर्ट्स एण्ड क्राफ्टस् ऑफ इण्डिया एण्ड सिलोन', लंदन, 1913, पृ0सं0- 250; जमीला बृजभूषण, इण्डियन इम्ब्राइडरी, दिल्ली, 1990, पृ0सं0 26.
2. एनाक्षी भवनानी, 'डेकोरेटिव डिजाइन एण्ड क्राफ्टमैनशिप ऑफ इण्डिया', मुंबई, 1969, पृ0सं0-23.
3. कमलादेवी चट्टोपाध्याय, 'इण्डियन हैण्डीक्राफ्ट्स', नई दिल्ली, 1963, पृ0सं0-55.
4. वही
5. वही, 1975, पृ0सं0- 54.
6. जमीला बृजभूषण, उपरोक्त, 1990, पृ0सं0- 28.
7. वही; पृ0सं0 29; कमलादेवी चट्टोपाध्याय, उपरोक्त, 1975, पृ0सं0- 54, चट्टोपाध्याय, उपरोक्त, 1963, पृ0सं0- 55-56.
8. कमलादेवी चट्टोपाध्याय, उपरोक्त, 1975, पृ0सं0- 54; शुक्ला दास, 'फैब्रिक आर्ट हैरिटेज ऑफ इण्डिया', दिल्ली, उपरोक्त, 1992, पृ0सं0 38-39.
9. सर जार्ज वाट, 'इंडियन आर्ट एट देहली', (आफिशियल कैटलॉग ऑफ क्राफ्ट्स एक्जीबिशन), दिल्ली, 1904, पृ0सं0- 344.
10. वही; पृ0सं0 344-345.
11. रुस्तम जे0 मेहता, 'माटर्स पिसेज ऑफ इण्डियन टेक्सटाइल', 1970, पृ0सं0- 25; जमीला बृजभूषण, उपरोक्त, 1990, पृ0सं0- 29.

12. वही; 1990, पृ0सं0- 29.
13. एनाक्षी भवनानी, उपरोक्त, 1969, पृ0सं0- 24.
14. कमलादेवी चट्टोपाध्याय, उपरोक्त, 1975, पृ0सं0- 55.
15. आर0जे0 मेहता, उपरोक्त, 1970, पृ0सं0- 26-27.
16. किशोरी लाल वैद्य/ओमचन्द हाण्डा, 'पहाड़ी रुमाल', दिल्ली, 1979, पृ0सं0- 152.
17. कल्याण कुमार गांगुली, 'चम्बा रुमाल', जर्नल ऑफ द इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरिएन्टल आर्ट, वॉल्यूम 11, कलकत्ता, 1943, पृ0सं0- 6.
18. कोक्यो हतनका, 'टेक्सटाइल आर्ट्स ऑफ इण्डिया', जापान, 1993, पृ0सं0- 370.
19. किशोरी लाल वैद्य/ओमचन्द हाण्डा, उपरोक्त, 1979, पृ0सं0- 153.
20. जमीला बृजभूषण, उपरोक्त, 1990, पृ0सं0- 33-34; ए0के0 भट्टाचार्या, 'चम्बा रुमाल', इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, 1968, पृ0सं0- 5.
21. रुस्तम जे0 मेहता, उपरोक्त, 1970, पृ0सं0- 22.
22. जमीला बृजभूषण, उपरोक्त, 1990, पृ0सं0- 43.
23. एनाक्षी भवनानी, उपरोक्त, 1969, पृ0सं0- 25.
24. वही
25. जमीला बृजभूषण, उपरोक्त, 1990, पृ0सं0- 56.
26. वही, पृ0सं0- 56.
27. वही, पृ0सं0- 53.
28. कमलादेवी चट्टोपाध्याय, उपरोक्त, 1975, पृ0सं0- 62-63.
29. जमीला बृजभूषण, उपरोक्त, 1990, पृ0सं0- 55.
30. एनाक्षी भवनानी, उपरोक्त, 1969, पृ0सं0- 25.
31. वही
32. कमलादेवी चट्टोपाध्याय, उपरोक्त, 1975, पृ0सं0- 58.
33. जमीला बृजभूषण, उपरोक्त, 1990, पृ0सं0- 40.
34. कमलादेवी चट्टोपाध्याय, उपरोक्त, 1975, पृ0सं0- 58; एनाक्षी भवनानी, उपरोक्त, 1969, पृ0सं0- 25.
35. जमीला बृजभूषण, उपरोक्त, 1990, पृ0सं0- 41.
36. जमीला बृजभूषण, उपरोक्त, 1975, पृ0सं0- 58; जमीला बृजभूषण, उपरोक्त, 1990, पृ0सं0- 41.
37. वही
38. एनाक्षी भवनानी, उपरोक्त, 1969, पृ0सं0- 26.
39. कमला एस0 डोंगरकरे, 'रोमांस ऑफ इण्डियन इम्ब्राइडरी', बंबई, 1951, पृ0सं0- 50; रुस्तम जे0 मेहता, उपरोक्त, 1970, पृ0सं0- 31.
40. शुक्ला दास, उपरोक्त, 1992, पृ0सं0- 114.
41. एनाक्षी भवनानी, उपरोक्त, 1969, पृ0सं0- 26.
42. कमलादेवी चट्टोपाध्याय, उपरोक्त, 1975, पृ0सं0- 61.
43. जमीला बृजभूषण, उपरोक्त, 1990, पृ0सं0- 47.
44. वही; पृ0सं0- 50-51.
45. वही; पृ0सं0- 49; चट्टोपाध्याय, उपरोक्त, 1975, पृ0सं0- 54.
46. वही
47. एनाक्षी भवनानी, उपरोक्त, 1969, पृ0सं0- 27.
48. वही
49. चट्टोपाध्याय, उपरोक्त, 1975, पृ0सं0- 56.
50. वही; पृ0सं0- 58
51. वही; पृ0सं0- 59; रुस्तम जे0 मेहता, उपरोक्त, 1970, पृ0सं0- 30; जमीला बृजभूषण, उपरोक्त, 1990, पृ0सं0- 44-45.
52. वही;
53. वही; पृ0सं0- 62

●

शिक्षा के संदर्भ में भारतीय मनीषियों के विचार

*डॉ. उषा त्रिपाठी**

शिक्षा, किसी भी देश के विकास का एक महत्वपूर्ण आधारस्तंभ है, इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं।

आधुनिक भारत में शिक्षा का उद्‌भव एवं प्रसार एक विशेष परिस्थिति में हुआ। यद्यपि प्राचीन भारत में ज्ञान, विद्या, कला, शिक्षा आदि का पर्याप्त विकास हुआ था एवं उस काल में विद्या के माध्यम भी विशेष प्रकार के थे। गुरूकुल, आश्रम, विहार, मठ, मंदिर और शालायें संस्थागत माध्यम थे। चरक, परिव्राजक, व्यास, कथा-वाचक आदि जंगम माध्यम थे। भारत के ऊपर इस्लाम के आक्रमण के पूर्व समय तक ये माध्यम न्यूनाधिक मात्रा में अपने कार्य करते रहे। इस्लामी आक्रमण से भारतीय विद्या और कला को बड़ा आघात पहुँचा। उनका अपना विकास रूक गया। विध्वंस के बाद जितना उनका अंश बचा रहा, केवल उसके संरक्षण का ही प्रयत्न होता रहा। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारत के कुछ भागों में पुनरूत्थान की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ीं। अभी भारतीय जीवन स्वतंत्र होता कि भारत के ऊपर यूरोपीय आक्रमण प्रारम्भ हो गये और उन्नीसवीं शती के पूर्वाद्ध में प्रायः सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजी सत्ता स्थापित हो गयी।[1]

अंग्रेज भारत की राजनीतिक विजय से ही संतुष्ट नहीं थे। व्यापार और आर्थिक लोभ तो उनको यहाँ खींच ही लाया था। वे भारत पर सम्पूर्ण रूप से शासन करना चाहते थे और यह कहीं न कहीं कुछ मामलों में सत्य भी साबित हुआ। उनके शासन के साथ उनकी भाषा, धर्म, संस्कृति, आचार-विचार, वेश-भूषा, खान-पान और सम्पूर्ण जीवन-पद्धति भी आयी। अंग्रेजों में राजनीतिक अभियान के साथ उनमें सांस्कृतिक अभिमान भी था। भारत के ऊपर पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिए सांस्कृतिक विजय भी आवश्यक थी। और इस नीति के कार्यान्वयन का सबसे सफल साधन शिक्षा थी।[2]

भारत में शिक्षा के संबंध में अंग्रेजों की तात्कालिक और प्राथमिक आवश्यकता प्रशासकीय और दूसरी तथा स्थायी सांस्कृतिक थी। लॉर्ड विलियम बेन्टिक के शासनकाल में भारत में शिक्षा-प्रसार के सम्बन्ध में जो सोच सामने आई है उनमें कहा गया कि इस शिक्षा का उद्‌देश्य ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना था जो रूप-रंग में तो भारतीय हों, किन्तु आचार-विचार, वेश-भूषा, आस्था-विश्वास में अंग्रेज हों। इस शिक्षा की विशेषताएं थीं इसका माध्यम और इसका पाठ्यक्रम।[3]

भारत की यह विशेषता रही है कि उसने कभी विदेशी आक्रमण और प्रभाव के सामने पूर्णतः आत्म-समर्पण नहीं किया। भारत में अंग्रेजी सत्ता के फैलने के साथ ही उसके विरूद्ध प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गई। 1857 में तो सशस्त्र विद्रोह भी हुआ। पर विद्रोह-दमन के पश्चात् भी राष्ट्रवादी आन्दोलन जारी रहे। इस राष्ट्रवादी आन्दोलन की एक विशेषता थी। यह भारत को केवल राजनीतिक दासता से ही मुक्त नहीं करना चाहता था, बल्कि भारत को बौद्धिक और सांस्कृतिक गुलामी से भी मुक्त देखना चाहता था। राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) में भाग लेने वालों में ऐसे लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या थी। महामना मालवीय जी उनमें अग्रणी थे। ब्रह्म समाज, आर्य-समाज, देवसमाज, रामकृष्ण मिशन आदि सभी इसी दिशा में प्रयत्न कर रहे थे। भारत की कई प्रबुद्ध आत्माओं ने भारतीय जीवन-दर्शन का प्रचार करना आरम्भ किया। विवेकानन्द, रवीन्द्र नाथ टैगोर, श्री अरविन्द, लोकमान्य तिलक आदि ने भारतीय आत्मा के जागरण में महत्वपूर्ण भाग लिया। लोकमान्य तिलक ने तो लोक-संग्रह का जीवन-दर्शन ही गीता-रहस्य के रूप में प्रस्तुत किया। गुरूकुल, ऋषिकुल, विद्यापीठ आदि इसी दिशा में किए गए कुछ प्रयोग और प्रयत्न थे।[4]

महामना मालवीय जी पाश्चात्य जीवन-पद्धति पर आधारित और सरकार द्वारा नियंत्रित शिक्षण-पद्धति के दोषों से पूर्णतः परिचित थे, उसके कुप्रभावों को तीव्रता से अनुभव करते थे। वे समझते थे कि भारतीय नवयुवकों को केवल जीविकोपार्जन के लोभ और राष्ट्र-व्यापी नैतिक पतन से बचाने के लिए स्वतंत्र रूप से संचालित राष्ट्रीय शिक्षा की आवश्यकता है। वे गुरूकुलों, ऋषिकुलों, शान्ति-निकेतनों आदि का आदर करते थे। परन्तु वे यह भी समझते थे कि इससे देश की वर्तमान समस्या का समाधान नहीं हो सकता। जीवन्त अतीत और स्वस्थ वर्तमान, प्राच्य और पाश्चात्य और आध्यात्म तथा उसके अविरूद्ध भौतिक तत्वों में समन्वय लाना संभव और वांछनीय है। इसी प्रकार राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन के संदर्भ में महामना की कल्पना में एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की उद्‌भावना हुई।[5]

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना केवल एक नयी विद्या-संस्था की स्थापना-मात्र नहीं थी; यह बौद्धिक और सांस्कृतिक मुक्ति का एक राष्ट्रव्यापी आन्दोलन था। जब 4 फरवरी 1916 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई तो इसका अखिल भारतीय और सर्वदलीय स्वरूप स्पष्ट दिखायी पड़ा।[6] मालवीय जी जहाँ धर्म,

* सहायक आचार्य, मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

दर्शन तथा चरित्र-विकास को मानवता की सत्प्रवृत्ति के विकास के लिये आवश्यक मानते थे, वहीं वे ज्ञान-विज्ञान तथा प्रौद्योगिक शिक्षा को भौतिक विकास और समृद्धि का सूचक मानते थे। उनका विश्वविद्यालय प्राचीन धर्म-दर्शन तथा ज्ञान-विज्ञान का अद्भुत समुच्चय है।[7]

मालवीय जी प्राचीन आयुर्वेद के साथ अर्वाचीन शल्य-विज्ञान की शिक्षा का मेल, आयुर्वेदिक औषधियों का वैज्ञानिक परीक्षण तथा उन पर अनुसंधान, विभिन्न विषयों पर प्राच्य और अर्वाचीन ज्ञान का तुलनात्मक और समन्वयात्मक अध्ययन, प्राचीन भारतीय संस्कृति, दर्शन, साहित्य तथा इतिहास के गहन अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ आधुनिक मनोविज्ञान, नीतिविज्ञान, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन, वेद-वेदांत, संस्कृत साहित्य और वाङ्मय की शिक्षा के अतिरिक्त आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, धातु-विज्ञान, खनन-विज्ञान, विद्युत इंजीनियरिंग, यांत्रिक इंजीनियरिंग, कृषि विज्ञान आदि का अध्ययन-अध्यापन कराना चाहते थे।[8] एवं ऐसी ही शिक्षा व्यवस्था उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्थापित करने का प्रयास किया है।

मालवीय जी की शिक्षा संबंधी यह विचारधारा व्यावहारिक तथा कार्योन्मुखी थी। उनके अनुसार - 'व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा भी सभी प्रकार से पूर्ण तथा प्रयोग में लाने योग्य होनी चाहिए। मेरी समझ में यदि हमारे नवयुवकों को व्यावसायिक तथा व्यावहारिक विज्ञान की शिक्षा अनेक रूपों में दी जाय तो यह समस्या बहुत अंशों में हल हो जायेगी, जिससे वेतन वाली सरकारी नौकरियों की 'मृगतृष्णा' अथवा पहले से ही ठसाठस भरे हुए पेशों की ओर झुकाव कम हो सकेगा। इस प्रकार से हम क्रमशः विदेशी वस्तुओं के आयात को भी कम कर सकेंगे और देश से बाहर जाने वाले कच्चे माल की खपत यहीं कर सकेंगे, जिससे कच्चे माल का निर्यात कम होगा।'[9] इस प्रकार आवश्यकता की सामग्री देश में ही बनने लगेंगे, जिससे स्वदेशी का प्रसार होने के साथ ही बेकार लोगों को काम भी मिल सकेगा।

विश्वविद्यालय के एक दीक्षान्त भाषण में बेकारी का कारण बताते हुए उन्होंने कहा था - 'आज बेकारी का प्रमुख कारण यह है कि हमारे विश्वविद्यालय विभिन्न विषयों की शिक्षा नहीं देते। उनकी शिक्षा अर्थपरक नहीं है। कला अथवा विज्ञान में उपाधि प्राप्त करने वाले विद्यार्थी केवल एक शिक्षक या राज्य कर्मचारी के पद के योग्य ही बन पाते हैं, परन्तु स्कूल तथा कॉलेज से प्रतिवर्ष निकले हुए स्नातकों की अल्प संख्या में ही नियुक्ति हो सकती है। इस सभी का एकमात्र उपाय यही है कि व्यापार, कृषि, शिल्पादि कला, अभियांत्रिकी तथा प्रयोगात्मक रसायनों में शुद्ध ढंग पर भरपूर शिक्षा का विकास किया जाय। शिक्षा को ऐसा क्रियात्मक रूप देने की आवश्यकता है, जिसकी मांग सदैव बनी रहे।[10]

स्त्री शिक्षा के संबंध मे उनका विचार था कि महिलाएं केवल रसोईघर की शोभा की वस्तु नहीं हैं। देश की जनसंख्या के आधे भाग का पूर्ण अशिक्षित होना अहितकर है। उनके अनुसार- ''सभी प्रकार के मनुष्यों की जन्मदात्री माँ होती है। अतः बालक की प्रारम्भिक शिक्षा माँ से आरम्भ होती है। माँ के समान कोई दूसरा शिक्षक नहीं है। देश को जिस दिशा मे ले जाना हो स्त्रियों को उसी प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए। स्त्री शिक्षा के व्यापक विकास से ही देश के भावी चरित्रवान कर्णधारों का सम्यक् निर्माण संभव है। व्यक्ति सामुदायिक प्राणी है। उसका विकास समूह में होता है। राष्ट्र एक समष्टिवादी आवश्यकता है। व्यष्टि का समष्टि से समायोजन राष्ट्र के माध्यम से ही संभव है। यही एक ऐसा तथ्य है, जिसके आधार पर किसी देश का निर्माण और विकास होता है।[11]

महामना मालवीय जी की ही भांति शिक्षा के संबंध में डॉ. एस. राधाकृष्णन् ने अपने उद्गार व्यक्त किए हैं, जिसे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण के कुछ अंश 1938 के माध्यम से समझा जा सकता है, जैसा कि उन्होंने अपने इस दीक्षान्त भाषण में कहा,

''किसी भी विश्वविद्यालय के लिए सर्वाधिक मूल्यवान चीज होती है उसका वातावरण, उसके जीवन की ऐसी चीज जो उसके चरित्र में प्रवेश कर जाती है एवं आगामी वर्षों में सभी चीजों को प्रभावित करता रहता है। यह विश्वविद्यालय एक तरफ जहाँ शिक्षा के धार्मिक आधार पर बल देता है, वहीं यह उसके व्यावहारिक पक्ष को भी उतना ही महत्वपूर्ण समझता है। इसके अभियांत्रिकी एवं प्रौद्योगिकी विभाग हमारे देश के लिए गर्व करने के विषय हैं.....।''

धार्मिक आधार के विषय में:

''विश्वविद्यालयीय ज्ञान ही मानव जीवन का सबकुछ नहीं होता। ऐसी एक चीज भी है जो उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है एवं वह है स्वयं जीवन ही। इस विश्वविद्यालय में किया हुआ आपका काम पूर्णतः व्यर्थ रह जाएगा यदि आने वाले वर्षों में यहाँ से प्राप्त शिक्षा को आप वास्तविक जीवन के अप्रिय एवं निरंतर प्रवाहमान कार्यों के लिए इन्हें मूल्यवान नहीं बना पाते। आप की शिक्षा यदि आप को भली प्रकार जीवन व्यतीत करना नहीं सिखा पाती, यदि दूसरों के साथ सहयोग के साथ आगे बढ़ते रहना नहीं सिखाती, तो यह अपने उद्देश्य में असफल हो चुकी है। यह सामाजिक सद्गुण आपकी विद्या पर निर्भरशील नहीं होता, और न ही उन असंख्य पुस्तकों पर जिन्हें आप पढ़ा करते हैं या उन तथ्यों पर जिनकी जानकारी आप ने प्राप्त की है। यह तो मानव स्वभाव को समुचित रूप से समझने पर निर्भर करता है। जैसा कि नारद, शांतनुकुमार से निवेदन करते हैं कि ज्ञान की सभी विद्याओं के ज्ञाता होने के बावजूद भी वे दुखी हैं। ''मैं केवल एक 'गंगविद' हूँ, ''आत्मविद' नहीं।'' मुझे लगता है कि हमारे सभी विद्यालय या विश्वविद्यालय, हमारे

ग्रंथालय एवं प्रयोगशालाएं, हमारी संस्थाएं एवं हमारे प्रयास इससे बढ़ा निःस्वार्थ या इससे बड़ी मानवता नहीं सिखा पाए हैं।

लगभग तीस साल पहले जब मैं एक विद्यार्थी था तब हमें विज्ञान एवं शिक्षा, लोकतंत्र एवं शान्ति के आदर्शों में गंभीर विश्वास हुआ करता था। हम सोचते थे कि विज्ञान में प्रगति होने पर हम क्लेश से मुक्ति पा जायेंगे; हम कल्पना करते थे कि शिक्षा एवं ज्ञान में विस्तार होने पर हमारे अंधविश्वास एवं अज्ञान दूर हो जाएंगे; हम आशा करते थे कि लोकतांत्रिक संस्थाओं में प्रसार के साथ ही हम सभी प्रकार के अन्याय को दूर कर पृथ्वी के स्वर्ग की ओर बढ़ते जाएंगे; हम सोचते थे कि हमारी मानवीय भावनाओं में विस्तार होने के साथ हम युद्ध को उखाड़ फेंकेंगे; हम विश्वास करते थे कि भौतिक वातावारण, अपनी सामाजिक संस्थाओं एवं अपने अभ्यंतरीन स्वभाव के साथ अपने संबंधों में बुद्धिमानी से पेश आएंगे; हम यह मान लेते थे कि बाढ़ पर नियंत्रण लाने या संचार-साधनों में विस्तार लाने जैसी चीज केवल प्रौद्योगिकी या अभियांत्रिकी का ही प्रश्न है, विज्ञान की सीमा एवं प्रकार में विस्तार हुआ है, शिक्षा चारों ओर फैल चुकी है, पर हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि मानवजीवन पहले से अधिक समृद्ध हुआ है या हमारा भविष्य पहले से अधिक उज्जवल हुआ है। हमारे सामाजिक संबंधों को बेहतर बनाने में हमारे बौद्धिक साधनों की असफलता से मानवीय आत्मा निराश हो गई है ..... जीने की समस्या अधिक जटिल हो गई है एवं इसका सामना करने के लिए जिस प्रकार की मनोदशा की आवश्यकता है वह एक आत्म-तुष्ट, बुद्धिजीवी वाला नहीं हो सकता। आज यदि मानवजाति एक गंभीर उलझन से घिरी हुई है , जीवन को समृद्ध बनाने वाली चीजों के विषय में यदि हम निरंतर असफल होते जा रहे हैं तो इसका कारण यह है कि मानवजीवन के विषय में हमारी अवधारणा छिछला हैं। मानव स्वभाव केवल सतहों की बात नहीं है, अपितु विभिन्न परतों की, अनुभव की, परिवर्तनशील अवचेतना की, नैतिक एवं सौंदर्यविषयक विवेचना की, धार्मिक गहन ज्ञान की है। प्रत्येक सतह का अपना एक निज का जीवन है..... प्राकृतिक शक्तियों पर विजय पाने, एवं सामाजिक संस्थाओं को नियंत्रित करने में हम कितनी भी सफलता पा लें, अपनी भटकती हुई कामनाओं को अनुशासित करने तथा नश्वर जीवन की अवश्यंभावी सीमाओं के प्रति शांत एवं स्थिर मनोदशा को प्राप्त करने जैसी समस्याएं बनी ही रहेंगी।''

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने 21 जनवरी, 1942 को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रजत जयन्ती के अवसर पर मुख्य अतिथि के रूप में शिक्षा पर अपने उद्‌गारों को अभिव्यक्त करते हुए कहा, ऐसी किसी भी प्रकार की शिक्षा पद्धति को विचारणीय नहीं समझा जाएगा जो मानवीय मूल्यों की शिक्षा न देती हो। ''ऐसी कोई शिक्षा जो हमें अच्छे एवं बुरे का अंतर नहीं सिखलाती, एवं एक को एकात्म करने तथा दूसरे का त्याग करना नहीं बतलाती उसे हम शिक्षा नहीं कह सकते।''

''आज हमारे स्कूल जाने वाले बच्चों में नैतिक पतन ..... व्यापक रूप से फैल चुका हैं एवं एक गुप्त महामारी की तरह उनका विनाश करते जा रहा है। आप की सभी विद्वत्ता, शास्त्रों का अध्ययन किसी काम का नहीं रहेगा यदि आप उनके उपदेशों को अपने दैनिक जीवन में पालन करने में असमर्थ रहते है।''

''विद्यार्थियों को, सबसे पहले, विनम्र एवं आचरणयुक्त होना चाहिए - किसी महान व्यक्ति को महान बने रहने के लिए स्वेच्छया सर्वाधिक विनम्र होना पड़ेगा।''

धार्मिक शिक्षा एवं आध्यात्मिक शिक्षा का अंतर समझना आवश्यक है। जहाँ गांधी जी का यह मानना था कि धार्मिक शिक्षा का काम ''केवल धार्मिक संगठनों'' पर ही छोड़ देना चाहिए, उनकी यह भी सोच थी कि धर्मेतर ''आध्यात्मिक प्रशिक्षण'' को ''हृदय की शिक्षा'' समझना चाहिए।

गांधीवादी शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान संग्रह करना न होकर मनुष्य में आमूल परिवर्तन लाना था। आज नैतिकता, सदाचार, दया एवं ऐसे ही अन्य मूल्यों को हम सैद्धांतिक रूप से तो स्वीकार कर लेते हैं, पर अपने दैनिक जीवन में उनका पालन नहीं करते। व्यावहारिक जीवन में उनका अनुपालन ही शिक्षा का मूल है।

''नई तालीम का काम किसी पेशे के लिए प्रशिक्षण देना नहीं है, अपितु इसके माध्यम से, मानव का संपूर्ण विकास करना है।'' इससे उनका तात्पर्य था मनुष्य के भीतर की सभी नैसर्गिक क्षमता एवं गुणों का विकास करना। ''शिक्षा से मेरा तात्पर्य है एक बालक एवं व्यस्क के भीतर के सभी प्रकार की योग्यता - शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक योग्यता का सर्वाधिक विकास करना।''

आज हमें उस प्रकार की शिक्षा की सर्वाधिक आवश्यकता है जो प्यार को बढ़ावा देती हो, शुद्धाचरण विकसित करती हो एवं शान्ति की स्थापना के लिए एक बौद्धिक आधार का सृजन करती हो एवं विद्यार्थियों को समाज में सुधार लाने के योग्य बनाती हो।

आगे हम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विद्यार्थी के रूप में ज्ञान अर्जित कर, यहीं इसी संस्था के कुलपति के रूप मे अपनी सेवा देने का सौभाग्य प्राप्त करने वाले डॉ. के. एल. श्रीमाली के 1963 के दीक्षांत भाषण के माध्यम से शिक्षा संबंधी उनके विचार जानने का प्रयास करेंगे, जैसा कि आपने इस दीक्षांत भाषण मे कहा,

''अपने विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह को संबोधित करने के लिए मुझे बुलाने के लिए मैं आप लोगों का अत्यन्त आभारी हूँ। इस विश्वविद्यालय का एक पुरा छात्र होने के नाते अपने निमंत्रित होने को मैं एक विशेष प्रकार का सम्मान समझता हूँ एवं मुझे प्रदान की गई डिग्री को एक विशेष गर्व का विषय। बत्तीस वर्षों बाद अपनी मातृ-संस्था में वापस लौटकर वहाँ की एक डिग्री प्राप्त करने

पर मेरे अंदर जो भावनाएं उत्पन्न हो रही हैं उनका वर्णन करना मेरे लिए कठिन है। मेरा मन उन दिनों की बातें सोचने लगता है जब भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण के उद्देश्य से महामना मालवीय जी विद्या के इस मंदिर को मूर्त रूप देने में लगे थे। उनका स्वप्न कितना निराला था एवं अपनी योजनाओं को क्रियान्वित करने में उनकी क्षमता एवं उनकी लगन भी निराली थी। इस हिन्दू-विश्वविद्यालय का उद्देश्य हिन्दू धर्म एवं हिन्दू संस्कृति में जो कुछ भी गरिमामय है, उन सबका प्रतीक बनना है। इसके संस्थापक इस विश्वविद्यालय को एक साधन बनाना चाहते थे जिन्होंने हमारी जीवन-शैली को एक विशेष स्वरूप प्रदान किया है।''

''भारत ने अतीत में कला, ... साहित्य, धर्म, तथा दर्शन के क्षेत्र में बहुत बड़ा योगदान किया है अपनी उपलब्धियों पर गर्व करने का हमें पूरा हक है। जिस समय अन्य मानव समुदाय आदिम या अर्ध-आदिम स्थिति में थे, भारतीय संस्कृति उस समय प्रस्फुटित होकर चारों ओर अपनी सुगंध बिखेर रही थी। अपनी प्रारंभिक स्थितियों में इसने अत्यन्त ऊर्जासंपन्न होने का परिचय दिया था। जब कभी भी यह दूसरी सभ्यताओं के संपर्क में आई, एवं ऐसे अवसर अनेक बार आए, तब उसने उन सभी चीजों को अपने में समाहित कर लिया जो समाहित करने योग्य थीं, एवं उन सभी चीजों का बहिष्कार कर दिया जो इसकी संस्कृति एवं स्वभाव के अनुरूप नहीं थीं। भारत को यूनानी, पर्शियन, हूँण...., एवं सीथियंस के आक्रमणों का सामना करना पड़ा, पर सराहनीय बात यह है कि उन आक्रमणों के बावजूद भी भारतीय सभ्यता की इमारत स्थिर एवं सुरक्षित बनी रही। ऐसा तो बाद में हुआ, जब दो हजार वर्षों की अपनी रचनात्मक कृतियों द्वारा यह क्षीण हो चुकी थी, इसने बाहर के प्रभावों को रोकना प्रारंभ किया एवं इस प्रकार अपने आप में सिमट कर रह गई। मुस्लिम आक्रमणों के समय भारतीय सभ्यता में खालीपन एवं पतन के लक्षण दिखाई देने लगे थे। इसकी नई परिस्थितियों से सामंजस्य बैठाने का पुराना लचीलापन समाप्त हो चुका था। जब ब्रिटिश यहाँ आए उस समय भारतीय सभ्यता पूर्णरूप से सीधे मुंह जमीन पर लेट चुकी थी तथा दीन एवं असहाय हालत में पश्चिमी सभ्यता के आदर्शों का अंधानुकरण करने के लिए तैयार बैठी थी। जिस महान सभ्यता ने समय के थपेड़ों का डट कर सामना किया था वह आज अंधकार से घिरी हुई थी। पर यह अंधकार अंततः समाप्त हुआ एवं भारत पुनः सचेत हो गया। राजा राम मोहन राय से प्रारंभ होने वाले नवजागरण के काल ने भारत की आत्मा की जागृति देखी जिसकी पराकाष्ठ महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में देखी गई जिन्होंने न केवल राजनैतिक, अपितु आध्यात्मिक स्वतंत्रता की बात भी सोची।''

''स्वाधीनता के पश्चात् भारत ने विकास के एक नए चरण में प्रवेश किया है। उसने एक लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था को अपनाया है एवं अपनी पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से औद्योगिक एवं अर्थनैतिक विकास के एक कार्यक्रम की शुरूआत की है। अपने लोगों को सुअवसर की समानता एवं सामाजिक न्याय प्रदान करने के उद्देश्य से उसने लोकतांत्रिक प्रकार के समाज की स्थापना करने को अपना लक्ष्य बनाया है। अपनी (भौगोलिक) सीमाओं की रक्षा के लिए उसने अपने सैन्य-शक्ति में भी बढ़ोत्तरी करना शुरू किया है। इस प्रकार की परिस्थितियों के संदर्भ में ऐसा प्रश्न करना समुचित है कि भारत की आध्यात्मिक धरोहर का क्या होगा? क्या भारत उन्हें सुरक्षित रखेगा या उससे मुँह मोड़ लेगा? क्या वह पश्चिमी जगत की तरह सफलता तथा असफलता, संघर्ष एवं युद्ध की क्रमागत प्रक्रिया का ही अनुगमन करेगा? ऐसे प्रश्नों का दृढ़तापूर्वक सामना करना आवश्यक है जिससे हम अपने भविष्य का कृतसंकल्प के साथ निर्माण कर सकें।''

''वर्तमान दुनिया इतनी जटिल एवं एक दूसरे पर निर्भरशील बन गई है कि किसी भी समाज के लिए सबसे अलग-थलग रहकर जीना संभव नहीं है। विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्रों में युगान्तकारी आविष्कारों के चलते लोगों की सोच, उनकी आदतों, उनके विश्वास एवं मनोदशा तथा उनकी सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन होते जा रहे हैं। ऐसे परिवर्तनों से अछूते रह पाना किसी भी समुदाय के लिए संभव नहीं हैं। विश्व के विभिन्न भागों में दूरी की बाधा अब समाप्त हो गई है एवं समाचार पत्रों, रेडियो, तथा फिल्मों के माध्यम से विचारों का प्रेषण त्वरित गति से किया जा रहा है। विश्व के किसी सुदूर कोने में भी घटित होने वाली घटनाओं का प्रभाव हमारी तरफ की दुनिया को भी प्रभावित करता ही है।''

किसी शक्तिशाली एवं गतिशील सभ्यता से सम्मुखीन होने पर किसी प्राचीन सभ्यता की प्रतिक्रिया विभिन्न प्रकार की हो सकती है। अपनी उत्कृष्टता से सचेत रहने के कारण वह किसी बाहरी प्रभाव का पूर्णरूप से प्रत्याख्यान कर सकती है। ऐसा समुदाय तब कठोर एवं आत्म-केन्द्रित बन जाता है एवं बाहरी प्रभावों को रोकने के लिए संस्थागत व्यवस्था बना लेता है। हमारे समाज में ऐसी प्रवृत्ति मध्ययुग में देखी जाने लगी जब बाहरी प्रभावों को रोकने का काम प्रारंभ हुआ। इसकी वर्ण-व्यवस्था बाहरी प्रभाव को रोकने का साधन बन गई, भले ही उसने कभी कोई कारगर काम न किया हो। किसी समाज में उस प्रकार की नकारात्मक मनोदशा विकसित होने पर उसकी ऊर्जा समाप्त हो जाती है एवं उसका पतन प्रारंभ हो जाता है। कोई प्राचीन सभ्यता पूर्णरूप से एक भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति को विकसित कर सकती है एवं किसी विदेशी सभ्यता के स्वरूप एवं आदर्शों का अंधानुकरण भी कर सकती है। यूरोपीय सभ्यता के संपर्क में आने पर भारतीय समाज ने न केवल उसके बाहरी स्वरूप, उनके पहनावे, उनका खान-पान, उनकी रीति-नीतियों एवं सामाजिक प्रथाओं को अपनाना शुरू किया वरन् उनके विचारों को भी ग्रहण कर लिया एवं लोग अपनी संस्कृति को हेय दृष्टि से देखने लगे। जब इस तरह का अंधानुकरण होता है तो लोग अपनी उद्यमिता एवं सृजनात्मक शक्ति खो बैठते हैं एवं पूर्ण रूप से एक विदेशी संस्कृति

से परिचालित होने लगते हैं। पर संपूर्ण प्रत्याख्यान एवं अंधानुकरण के बीच एक तीसरा मार्ग भी है जिसे कोई प्राचीन सभ्यता अपना सकती है। वह अवांछित एवं अनुपयुक्त तत्वों एवं विचारों का प्रत्याख्यान कर उनकी अंतरात्मा से मेल खाने वाले तत्वों को ग्रहण कर अपने भीतर समाहित कर सकती है। अपनी सभ्यता की ऊर्जा-शक्ति को बनाए रखने के लिए इसी राह पर चलना हमारे लिए सर्वाधिक समीचीन होगा। बाहरी दुनिया के लिए हमें अपने दरवाजे एवं खिड़कियां बन्द नहीं करनी चाहिए। बाहर से आनेवाले नए विचारों को हमें ग्रहण करते रहना चाहिए, पर उन्हें आंख मूंदकर आत्मसात करने के लिए स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए अपितु उन्हें रचनात्मक रूप में व्यक्त करना चाहिए जिससे वे अनजाने विदेशी तत्व न बने रह कर हमारे अतंर्निहित भावों की सच्ची अभिव्यक्ति बन जाएं। इसी प्रकार हमें ऐसे उन सभी विचारों का परित्याग करना चाहिए जो हमारे विकास में बाधा उत्पन्न करने योग्य हों। प्रत्येक नई परिस्थिति एवं नए विचार के लिए हमारी प्रतिक्रिया सृजनात्मक होनी चाहिए। केवल इसी प्रकार हमारी सभ्यता विकसित होती रहेगी एवं मानव जीवन से संबधित विभिन्न कार्यों, कला, साहित्य, सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं में हमारी जीवन शैली की विशेषताओं को वह उजागर करती रहेगी जिसमें बाहर से प्राप्त ज्ञान एवं विचारों का समुचित उपयोग किया गया हो। पश्चिमी जगत के प्रमुख विचारों एवं समस्याओं तथा उनकी वैचारिक पद्धतियों एवं संघर्षों से तो हम प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। उनसे दूर न भागकर हमें उनका सामना करना चाहिए एवं ऐसे समाधान खोज निकालने चाहिए जो हमारे अपने विचारों एवं मूल्यों के अनुरूप हों। स्वाधीनता, सामाजिक न्याय, तथा अर्थनैतिक समानता कुछ ऐसे विचार हैं जिन्होंने इस शताब्दी के अर्ध-भाग में विश्व को झकझोर दिया है एवं लोगों की सोच, तथा उनकी सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं को प्रभावित करते आ रहे हैं। ऐसे विचारों से हम भी प्रभावित हुए हैं पर गांधी जी के नेतृत्व में हमने उनमें एक विशेष प्रकार का मोड़ ला दिया एवं हमारा स्वाधीनता संग्राम जो एक उच्च नैतिक स्तर पर चलाया गया था, विदेशी शासकों के प्रति किसी प्रकार की घृणा या विद्वेष से रहित बना रहा। अहिंसा की पद्धति इसीलिए कारगर हो सकी क्योंकि इसमें प्राचीन भारत की भावनाएं प्रतिध्वनित होती थीं एवं उससे वह ऊर्जावान बनती जा रही थी। यदि हम नई चुनौतियों का इसी प्रकार सामना करते रहे तो हम अपनी आत्मा को खोज निकालेंगे एवं आज की दुनिया की समस्याओं का समाधान खोजने में अपना योगदान कर सकेंगे। इस प्रकार हमारे लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात अपनी आत्मा एवं अपने आदर्शों को पुनः खोज निकालना है जिन्होंने सदियों से हमारी सभ्यता को संयोजित किया है।''

''भारतीय संस्कृति की इमारत का निर्माण कुछ मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है। इसने अंतर्निहित भाव को सर्वोच्च सिद्धान्त स्वीकार किया है जो विश्व-ब्रह्माण्ड को परिचालित करता है। मानव-जीवन का उद्देश्य सीमित चेतना का असीमित चिरंतन एवं सर्वव्यापी सत्ता की ओर क्रमशः विकसित होते जाना है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने का पूर्वनिर्धारित मार्ग नहीं है। इस उद्देश्य को सत्ता का प्रकाश सैकड़ों, हजारों प्रकार से होता है एवं प्रत्येक आत्मा उस सर्वोच्च सत्ता के साथ एकात्म रहती है एवं इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक पहचान को अज्ञानता रूपी अंधकार को दूर करके ही समझ सकता है जो हमारे प्राकृत स्वभाव को हमसे दूर कर रहे हैं।''

''आज के आधुनिक प्राकृत एवं परिमार्जित सोच वाले लोगों को ऐसे विचार कोरे काल्पनिक लग सकते हैं। पर हम यदि इन सिद्धान्तों का त्यागकर दें तो मानवजीवन का लक्ष्य हम किस प्रकार निर्धारित करेंगे? जब मनुष्य यह सोचने लगे कि कुछ महान या कल्याणकारी वस्तु है ही नहीं जिसकी आकांक्षा की जाए एवं केवल भौतिक अस्तित्व ही मानव जीवन का सबकुछ है। जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को छोड़ देने पर किसी उच्च आदर्श की प्राप्ति के लिए किया गया सभी मानव प्रयास का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। इस प्रकार मनुष्य अपने भौतिक जीवन की आवश्यकताओं एवं कामनाओं में लिप्त रह जाएगा एवं उसे उसके दंभ, विभत्सिता एवं अज्ञान से मुक्त करने का कोई साधन नहीं रह जाएगा। भारतीय संस्कृति मनुष्य को संपूर्णता की ओर बढ़ते जाने के प्रयास का एक प्रयोजन प्रस्तुत करती है। मानव जीवन के लिए इससे बड़ा अन्य लक्ष्य क्या हो सकता है कि वह निरंतर अपने वाह्य एवं आंतरिक अनुभवों के सहारे तब तक विकसित होता रहे जब तक वह अपनी आत्मा को पहचान नहीं लेता, परमात्मा में लीन नहीं हो जाता। अपने ज्ञान, अपनी इच्छाशक्ति तथा अपने आनंद को भौतिक स्वरूप प्रदान न कर ले।''

''हमारी संस्कृति का यह आध्यात्मिक आदर्श केवल दर्शन के क्षेत्र में ही लागू नहीं होता पर आज के समाज में व्याप्त व्याधियों के उपचार में भी सहायक हो सकता है। हमारे राष्ट्रीय जीवन की जिस एक समस्या जिसके विषय में हम सभी चिन्तित दीखते हैं वह है इसका विखंडन। आज का समाज जाति, धर्म, भाषा एवं क्षेत्र संबंधी निष्ठा के कारण विखंडित है। इस दुर्बलता से मुक्त होने का उपाय केवल एक ऐसे आध्यात्मिक आदर्श को अपनाना हो सकता है जो हमारी संकुचित निष्ठाओं से परे हो। अतीत में भी भारतीय संस्कृति के विभिन्न तत्वों में सामंजस्य लाने के लिए ऐसे ही आदर्श ने जोड़ने का काम किया था।

कुछ लोग सोचते हैं कि भारतीय संस्कृति का आध्यात्मिक आदर्श उसके भौतिक विकास में बाधा उत्पन्न करता है। यह एक नितांत भ्रान्त अवधारणा है। हमारी संस्कृति का आध्यात्मिक आदर्श मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की अनदेखी नहीं करता। किसी मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है जब उसने जीवन के अन्य तीन उद्देश्यों, उसके भौतिक जीवन की आवश्यकताओं, एवं उसके कर्त्तव्यों, - काम, अर्थ तथा धर्म - को पूरा कर लेता है एवं समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य को निभा लेता है। बौद्ध धर्म में जीवन

के अस्थायीपन एवं शाश्वत मूल्यों के स्थायी होने के बीच एक तीक्ष्ण विवाद की सृष्टि हुई थी एवं सुखों से विमुख रहने पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया था; पर भारतीय संस्कृति अपने भीतर विद्यमान समन्वय के भाव के कारण इससे पीछे हटी रही। वेदों, उपनिषदों एवं गीता में जीवन को नकारा नहीं गया है। मनुष्य को इस संसार में अपने-अपने कर्त्तव्य निभाने की हिदायत दी गई है एवं इस प्रकार भौतिक एवं मानसिक अज्ञानता से बाहर निकलकर आध्यात्मिक आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की राह दिखाई गई है। हमारी सभ्यता के लंबे इतिहास में असफलता के भी कई दृष्टांत रहे हैं पर उनका कारण हमारे आध्यात्मिक आदर्शों में किसी प्रकार की खोट नहीं वरन् जीवन की वास्तविकता में उनका गलत प्रयोग करना था।

समाज की वर्तमान एवं भविष्य की आवश्यकताओं के संदर्भ में हमारे आदर्शों में परिवर्तन लाने, सुधार लाने एवं उन्हें पुनर्गठित करने की आवश्यकता हो सकती है, पर अपनी पुरानी धरोहर से विमुख हो जाना हमारे लिए खतरनाक हो सकता है। ऐसे कई विचार एवं विशेष रूप मिल सकते हैं जिन्हें नया स्वरूप् देने की आवश्यता हो सकती है; कितनी ही प्रथाओं एवं संस्थाओं का जिनसे हमारी सभ्यता कलुषित हुई है, छोड़ने की आवश्यकता है, कितने ही अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों, जो हमारे धर्म के इर्द-गिर्द पनप गए हैं, उनका त्याग करना होगा। पर हमें उन मूल्यों के प्रत्याख्यान की आवश्यकता नहीं जिन्होंने हमारे समाज को स्थिरता प्रदान की है। ऐसे समय जब पश्चिमी दुनिया स्वयं-निर्मित विनाशकारी शक्तियों द्वारा पूर्णरूप् से ध्वस्त हो जाने के कगार पर कुछ उदात्त एवं महान आदर्शों की खोज में लगी हो, क्या भारत को ऐसे आदर्शों का परित्याग कर देना चाहिए जो कई सदियों की कसौटी पर खरे उतरे हैं एवं वर्तमान समय की चुनौतियों का मुकावला करने की क्षमता उनमें अभी भी विद्यमान है? कई शताब्दियों के लंबे प्रवाह में ज्ञान एवं समझदारी के जो अमूल्य रत्न संग्रह किए गए हैं आज भी हमारे पथ को आलोकित कर सकते हैं एवं कहीं और से प्रकाश खोजने की हमें आवश्यकता नहीं है।

इस विश्वविद्यालय की यह विशेष जिम्मेदारी है कि वह अपने विद्यार्थियों को अपनी संस्कृति का ज्ञान कराए एवं अपने मूल्यों एवं आदर्शों के प्रति उनमें गंभीर विश्वास पैदा करे। इसी प्रकार ये विद्यार्थी अमरत्व को प्राप्त कर सकते हें - विद्ययाऽमृतमश्नुते।''

इस प्रकार अपने इन मनीषियों के शिक्षा संबंधी विचारों से स्पष्ट है कि शिक्षा का अभिप्राय है, व्यक्ति का समग्र विकास। यदि इस पर हम चलें तो न केवल व्यक्ति का बल्कि सम्पूर्ण समाज व राष्ट्र का विकास संभव है।

संदर्भ

1. महामना त्रैमासिक भाग - 1, प्रवेशांक, मार्च 1993, महामना फाउण्डेशन, वाराणसी, पृष्ठ - 33-34।
2. वही, पृष्ठ - 34।
3. वही, पृष्ठ - 34।
4. वही, पृष्ठ - 35।
5. वही, पृष्ठ - 36।
6. वही, पृष्ठ - 36।
7. भारतीय पुनर्जागरण और मदनमोहन मालवीय (1981), कृष्णदत्त द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ - 23।
8. वही, पृष्ठ - 141।
9. वही, पृष्ठ - 145।
10. वही, पृष्ठ - 145-146।
11. प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, महामना स्मृति अंक, अंक 39-41 (भाग - 1-2), वर्ष 1993-96, पृष्ठ - 345-346।

●

जैन देवकुल में ब्राह्मण देवी-देवताओं का आत्मसातीकरण

राहुल कुमार भारती एवम् डॉ. प्रियंका सिंह***

भारतीय संस्कृति में एकीकरण और समन्वय की अपार शक्तियां युगों से चली आ रही है। भारतीय संस्कृति के मनीषियों की दृष्टि समन्वयात्मक रही है जिस सत्य को उन्होंने प्राप्त किया उसे अपनी हठधर्मिता से ऐसा नहीं माना कि इसके बाहर अब कुछ भी शेष नहीं है। इसके विपरीत उन्होंने अपने जीवन में तपोमय अनुसंधान एवं अन्वेषण किए तथा दूसरे देशों या संप्रदाय के अनुसंधानों और उनके सिद्धान्तों को समादर की दृष्टि से देखा। उसमें जो कुछ ग्राह्यशील प्रतीत हुआ उसे उन्होंने अपनाया, अपनी संस्कृति में समावेशित किया, चाहे इसका उद्गम कहीं भी क्यों न रहा हो। इस जिज्ञासु प्रवृत्ति और समन्वयात्मक भावना से भारत में मानवीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्य संस्कृतियों का सुंदर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। जैसे-यूनानी, ईरानी, शक, पार्थियन, हूण और इस्लाम आदि। प्राचीन भारत की विचारधाराओं और सामाजिक संस्थाओं में ही इसका दिग्दर्शन नहीं होता है, अपितु मध्य युग में भी विरोधी शक्तियों का समन्वय कर संस्कृति को सुसमृद्ध करने के निरंतर प्रयत्नों में भी इसकी अभिवृद्धि हुई है। आज भी जब पश्चिम से नवीन विलक्षण प्रवृत्तियों और विचारधाराएं हमारे देश में प्रविष्ट हो रही हैं, भारतीय संस्कृति की यह विशेषता विद्यमान है। इस संस्कृति की सम्मिश्रण और सहिष्णुता, एकीकरण और समन्वय की रचनात्मक प्रवृत्तियों के कारण ही भारतीय संस्कृति में विविध पुनीत धाराओं का अलौकिक समागम हुआ है

छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व में ब्राह्मण परंपरा के जटिल कर्मकांड, धार्मिक असंतोष तथा यज्ञों में हो रहे हिंसा के परिणामस्वरूप नवीन सुधारवादी धर्मों का उदय होता है। यह सभी धर्म श्रमण-परंपरा के अंतर्गत स्वीकार किए जाते है। जिसमें जैन एवं बौद्ध धर्म मुख्य हैं। यद्यपि जैन तथा बौद्ध दर्शन के मूल विचार को उपनिषदों में देखा जा सकता है तथापि कुछ विशेष पद्धति ने इनको मौलिकता प्रदान किया। बौद्ध धर्म के महायान शाखा तथा जैनियों के श्वेतांबर शाखा ने लोक जीवन में स्थान पाने के लिए लौकिक एवं ब्राह्मण सिद्धांतों को आत्मसात करना प्रारंभ किया। बौद्ध धर्म में भी अनेक बुद्धों की कल्पना के साथ अनेक ब्राह्मण देवी-देवताओं को भी नाम परिवर्तन के साथ स्थान एवं महत्व प्रदान किया गया। जिसमें ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र, यम, सरस्वती, काली आदि महत्वपूर्ण है।

जैन महापुराण में ब्राह्मण एवं लौकिक परंपरा के सर्वमान्य देवी-देवताओं का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है।[1]जैनधर्म में 24 तीर्थंकरों के अतिरिक्त कमोबेश श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ही शाखाओं में ब्राह्मण तत्वों का समावेशन दृष्टव्य है। यद्यपि इन देवी-देवताओं का स्थान एवं महत्व तीर्थंकरों के अपेक्षा हीन है।[2] महापुराण में इंद्र, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सरस्वती, लक्ष्मी, ज्वालामालिनी, महाकाली, चौसठ योगिनी, अंबिका, लक्ष्मी, गंगा, राम, कृष्ण, बलराम, बली, प्रह्लाद, राम, जरासंध, गंगा तथा गंधर्व, पितृ, नाग, लोकपाल, यक्ष-यक्षी जैसे अनेक देवी-देवताओं की चर्चा तथा अन्यत्र उनके कुछ शिल्पशास्त्रीय लक्षणों का भी निरूपण हुआ है।[3] जो नवीं सदी ईस्वी में ब्राह्मण और जैन धर्मों के सौहार्दपूर्ण अंर्तसंबंधों का साक्षी है। महापुराण के अतिरिक्त अन्य जैन ग्रंथ भी इस दृष्टि में उल्लेखनीय है। विशेषकर उत्तर की जैन शिल्पशास्त्रीय परंपरा में अष्टदिक्पाल, नवग्रह, क्षेत्रपाल तथा गणेश आदि का भी निरूपण किया गया है।[4]

आदिपुराण में 24वें और 25वें पर्व में भरत तथा सौधमेंद्र द्वारा ऋषभदेव के क्रमशः 108 और 1008 नामों से स्तवन एवं पूजन की चर्चा है। इन नामों में सर्वाधिक ब्राह्मण धर्म के त्रिपुरुषदेव अर्थात् (शिव, विष्णु एवं ब्रह्मा) तथा कुछ अन्य से संबंधित है। शिव के नामों में स्वयंभू, शंभू, शंकर, त्रिनेत्र, त्रिपुरारी, त्रिलोचन, शिव, भूतनाथ, विश्वमूर्ति, कामारी, महेश्वर, महादेव, मृत्युंजय, हर, अष्टमूर्ति, त्रयंबक, अर्धनारीश्वर, अधिकांतक, सद्योजात, वामदेव, अघोर और ईशान मुख्य है।[5] इस संदर्भ में पुष्पदंत कृत अपभ्रन्स महापुराण का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है जिसमें शिव से संबंधित कुछ आयुधादि का उल्लेख हुआ है जिसमें कंकाल, त्रिशूल, नरमुंड, सर्प आदि है।[6] यहां विष्णु के नामों में जगन्नाथ, वामनदेव, लक्ष्मीपति और ब्रह्मा के नामों में ब्रह्मा, पितामह, दाता, विधाता, चतुरानन उल्लेखनीय है।[7] आदिपुराण में वैदिक मान्यता के अनुरूप ऋषभदेव द्वारा भुजाओं में शस्त्र धारण कर क्षत्रियें की सृष्टि करने और उन्हें शस्त्र विद्या का उपदेश देने का संदर्भ वर्णित है। प्रजा के पालन तथा उनकी आजीविका की व्यवस्था के उद्देश्य से ही समाज में वैदिक धारणा के अनुरूप कार्य विभाजन और उस हेतु वर्णों की उत्पत्ति का भी संकेत किया गया है। क्षत्रिय के बाद ऋषभ के उरुओं से वैश्य तथा चरणों से शूद्रों की सृष्टि के संदर्भ मिलते हैं।[8] इस प्रकार जैनियों के सृष्टि संबंधी सिद्धान्त ब्राह्मण परंपरा के अनुरूप है। अन्य प्रसंगों में हिरण्यगर्भ, इंद्र, सूर्य, कुबेर, राम एवं कृष्ण जैसे देवों तथा इंद्राणी, लक्ष्मी, सरस्वती, गंगा, विंध्यवासिनी आदि देवियों के नाम व लक्षण महत्वपूर्ण है।[9]

24 जिनों की धारणा जैन धर्म का मूलाधार है। जैन देवकुल के अन्य देवों की कल्पना सामान्यतः इन्हीं जिनों के संबंध एवं

* शोध छात्र, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** असिस्टेंट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

उनके सहायक के रूप में हुई। जिनों को देवाधिदेव और इंद्रदेव के मध्य वंदनीय होने के कारण श्रेष्ठ कहा गया है।[10]24 जिनों की प्राचीनतम सूची संवायांगसूत्र में प्राप्त होता है। इस सूची में ऋषभ, अजीत, संभव, अभिनंदन, सुमति, सुपार्शव, चंद्रप्रभ, सुविधि, शीतल, श्रेयांश, वसुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म, शांति, कुंथु, अर, मल्लि, मुनीसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व एवं वर्धमान के नाम है।[11]

प्रारंभिक जैन ग्रंथो में 24 जिनों के अतिरिक्त अन्य शलाका पुरूषों का भी उल्लेख मिलता है। जिनों सहित इनकी संख्या कुल 63 हैं। संवायांगसूत्र में 24 जिन, 12 चक्रवर्ती (भरत, सागर, माधवा, सनतकुमार, शांति, कुन्थु, अर, सुभूम, हरिषेण, जयसेन, ब्रह्मदत्त और पद्म) 9 बलदेव (अचल, विजय, भद्रं, सुप्रभ, सुदर्शन, आनंद, नंदन, पद्म, राम या बलराम) 9 वासुदेव (त्रिपृष्ठ, द्वीपृष्ठ, स्वयंभू, पुरूषोतम, पुरूषसिंह, पुरूषपुंडरीक, दत, नारायण या लक्ष्मण कृष्ण) और 9 प्रतिवासुदेव (अश्वग्रीव, तारक, मेरक, निशम्भ, मधुकैटम, बलि, प्रहलाद रावण, जरासंध) के उल्लेख मिलते है।[12] इन 63 शलाका पुरूषों की पुरी सूची सर्वप्रथम पउमचरियम में प्राप्त होती है। कुषाणकालीन जैन शिल्प में केवल कृष्ण और बलिराम ही निरूपित हुए हैं। इन्हें नेमिनाथ के पार्श्व में। आमूर्तित किया गया है। पउमचरियम में राम-रावण और भरत चक्रवती की कथा का विस्तृत वर्णन है।[13]

कृष्ण-बलराम 22वें तीर्थकर नेमिनाथ के चचेरे भाई है। यहां हिंदू धर्म से भिन्न कृष्ण- बलराम को सर्वशक्तिमान देवता के रूप में न मानकर ज्ञान एवं बुध्दि में नेमिनाथ से हीन बताया गया है। नायाधम्माकहाओ में भी कृष्ण से संबंधित उल्लेख है जो मुख्यतः पांडवो की कथा से संबंधित है। अंतगडदसाओ में कृष्ण से संबंधित उल्लेख द्वारावती (द्वारिका) नगर के विवरण तथा कृष्ण द्वारा अरिष्टेमि के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने और अरिष्टनेमि की उपस्थिति में ही दीक्षा लेने का उल्लेख है। इन प्रारंभिक उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईस्वी सन् के पूर्व ही कृष्ण- बलराम को जैन धर्म में आत्मसात कर लिया गया था।[14]

जैनधर्म में इंद्र को तीर्थंकरो का प्रधान सेवक स्वीकार किया गया है।[15] जिनों के पंचकल्याणको एवं समवशवरण की रचना के संदर्भ में इंद्र की उपस्थिति का उल्लेख अनिर्वातः हुआ है। आदिपुराण तथा उत्तरपुराण में इंद्र को अनेकों मुखों तथा नेत्रों वाला बताया गया है।[16] पुष्पदंत के महापुराण में इंद्र के वाहन के रूप में एरावत के साथ ही वृषभ विमान का उल्लेख मिलता है।[17] ऋषभदेव के जन्म के अवसर पर इंद्र द्वारा विभिन्न प्रकार के नृत्य करने का संदर्भ भी महत्वपूर्ण है। आदिपुराण में ही इंद्र द्वारा तांडव नृत्य करने का उल्लेख भी है। कुछ श्वेताम्बर मंदिरो पर चतुर्भज इंद्र का रूपाकंन भी मिलता है।[18] विमल वसही (माउंट आबू) के उदाहरण में चतुर्भजी इन्द्र वर्णित है। ओसियां, कुम्भरिया, खजुराहो एवं अन्य स्थलों पर तीर्थकरों के पंचकल्याणक के अंकन में इंद्र का चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त जैन मंदिरों पर अष्ट-दिक्पाल समूह में भी गजवाहन इंद्र का अंकन हुआ है। जिनके करो में वज्र एवं अंकुश के अतिरिक्त फल प्रदर्शित है।[19]

ब्राह्मण परंपरा की भांति जैन धर्म में भी कुबेर को भोगोपयोगी वस्तुओं का स्वामी बताया गया है। कुबेर की नियुक्ति इंद्र द्वारा नगर की रचना करने व जिनेंद्र देव की विभिन्न प्रकार से सेवा करने के लिए की जाती है।[20] तीर्थकरों के जन्म के पूर्व कुबेर द्वारा जिन के माता-पिता के आंगन में रत्नों की वर्षा करने का उल्लेख मिलता है।[21]अधिकांश जैन मंदिरों के उत्तरी कोण पर ब्राहाण मंदिरों के समान दिक्पाल के रूप में कुबेर का निरूपण हुआ है। खजुराहो, देवगढ़, कुंभरिया, ओसियां, दिलवाड़ा जैसे स्थलों पर कुबेर को सामान्यतः गजवाहन या निधिपात्र के साथ फल या थैला लिए अंकुशधारी दिखाया गया है। नेमिनाथ एवं कुछ अन्य तीर्थकरों के साथ यक्ष के रूप में भी कुबेर का अंकन हुआ है।[22]

जैन देवकुल में देवियों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ही संप्रदाय की देवियों के नाम, लक्षण एवं पूजा विधि भिन्न है। छठवीं से सातवीं शताब्दी ईस्वी तक श्वेताम्बर शाखा में तांत्रिक देवियां प्रवेश पा गई थी। तांत्रिक देवियों के नाम काली, चामुडां, दुर्गा, ललिता, कुरूकुल्ला, कालरात्रि आदि है। मूर्ति लक्षणों के आधार पर देवियों को तीन वर्ग में विभाजित किया गया है।1-शासन देवियां[23] (चित्र संख्या 1)–यें देवियां जैन धर्म या संघ का पालन करती है। भक्तों का विध्न विनाश करती है। मंदिरों में तीर्थकरों के साथ इनकी मूर्तियां मिलती हैं। यह 24 होती हैं, चक्रेश्वरी, अंबिका आदि इनमें प्रमुख है। 2-विद्यादेवियां[24] यह देवियां विद्या की अधिष्ठात्री देवता है। इनकी संख्या 16 बताई गई है इन्हें श्रुतदेवियां भी कहा जाता है। इनमें सरस्वती, काली ज्वालामालिनी आदि प्रमुख है। 3-यक्षिणी देवियां[25] (चित्र संख्या 2)– जैनधर्म में यक्षों एवं यक्षिणियों का देवपद स्वीकार किया गया है। यह अधिकतर धन की देवियां है। इनमें भद्रकाली, भृकुटि, तारा आदि प्रमुख है।

इनमें से बहुत सी देवियां ब्राह्मण देवी- देवताओं के समान ही है और कुछ जैन धर्म की स्पष्ट छाप रखते हुए भी ब्राह्मण देवियों के नाम रूप और आयुध धारण की है।[31]संभवतः प्रत्येक तीर्थकरों के साथ संबद्ध किया गया है। देवी के मुकुट पर उसी तीर्थंकर की प्रतिमा होती है जिससे वह देवी संबद्ध होती है। देवी मूर्तियों का निर्माण प्रतिमा शास्त्रीय लक्षणों के अनुरूप किया गया है। चतुर्भुजी देवी एवं चार से अधिक भुजाओं से युक्त प्राप्त है। सरस्वती के हाथ में पुस्तक होती है एवं हंस वाहन माना गया है। आठवीं शताब्दी की एक सुंदर सरस्वती की प्रतिमा सिरोही के एक जैन मंदिर से प्राप्त हुई है।[27] इसमें पद्मासन पर स्थित सरस्वती के दोनों हाथों में कमल सुशोभित है। इसके अतिरिक्त बांसवाड़ा से प्राप्त सरस्वती की चर्तुभुजी प्रतिमा भी उल्लेखनीय है। (चित्र संख्या 3) जिसकी बायीं भुजाओं में पुस्तकें एवं वीणा है तथा दायीं भुजाओं में माला एवं

कमल सुशोभित है। मुकुट में एक छोटे आकार की शिवमूर्ति जड़ित है। मथुरा से प्राप्त जैन स्तूप में सरस्वती और अंबिका की कई प्रतिमाएं मिली है। सरस्वती मूर्ति सिर विहिन है। देवी बहुत ही कलात्मक वस्त्र पहनी है। दोनों तरफ परिचारिका विद्यमान हैं। इससे ज्ञात होता है कि जैन धर्म में सरस्वती पूजनीय है। विद्या देवियों की पूजा जैनधर्म की विशेषता है। 16 विद्या देवीया श्रुतदेवियां केवल जैन देव परिवार में ही प्राप्त होती है।

सरस्वती की भांति अंबिका देवी भी जैनियों की आराध्य देवी है। यह देवी जैन आम्नाय (आम्रफल) (चित्र संख्या 4) की देवी स्वीकार की गई है। यद्यपि 22वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ के साथ इन्हें सम्बध्द माना जाता है किंतु सभी तीर्थंकरों के साथ इनकी प्रतिमाएं उपलब्ध होती है। देवी अंबिका की सबसे प्राचीन प्रतिमा मथुरा से प्राप्त हुई है। जिनप्रभुसूरी अपने विविधतीर्थकल्प में इनको मथुरा तीर्थ की अधिष्ठात्री देवी मानते है। इनके हाथों में प्रायः आम्रफल एवं बालक विद्यमान रहते हैं। एलोरा की गुफा, नवमुनि की गुफा, खंडगिरि की गुफा एवं काठियावाड़ आदि स्थानों से अंबिका देवी की प्रतिमाएं प्राप्त होती है। एलोरा की गुफा में अंबिका की विशाल मूर्ति आम वृक्ष के नीचे आसनमुद्रा में प्रदर्शित है। देवी के मुकुट पर नेमिनाथ विद्यमान है। नरैना के जैन मंदिर में अम्बिका की तीन मूर्तियां सुरक्षित हैं। इनमें देवी सिंह पर बैठी हुई है तथा शिशु इनकी गोद में है। विमलवसही जैन मंदिर में अम्बिका देवी की 20 भुजाओं वाली प्रतिमा विद्यमान है। ललितासन में देवी सिंह पर आरूढ़ है। भुजाओं में खड्ग, शक्ति, सर्प, गदा, ढाल, परशु, कमंडलु, अभयमुद्रा एवं वरदमुद्रा में दिख रही है। ध्यातव्य है कि सरस्वती तथा अम्बिका दोनों ही देवियों की मूर्तियां स्वतंत्र देवता के रूप में प्राप्त होती है। शासन अथवा गौड़ देवता के रूप में नहीं।

यक्षिणी देवियों में सर्वाधिक लोकप्रिय जवालामालिनी देवी है। यह चंद्रप्रभ तीर्थंकर के साथ संलग्न है तथा दिगम्बर संप्रदाय में पूजित है। भैंस इनका वाहन तथा ये अष्टभुजी है। मान्यतानुसार यह ज्वालारूप है दोनों हाथों में सर्प तथा आयुध होते है। कर्नाटक के एक जैन मंदिर बेलगोला में चंद्रप्रभ के साथ ज्वालामालिनी की प्रतिमा है। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत से सिध्दाय तथा पद्मावती देवी की मूर्तिया भी प्राप्त होती है। (चित्र संख्या 5) तमिलनाडु से प्राप्त मूर्ति में सिद्धाय देवी को युध्द करते हुए दिखाया गया है। ये सिंह पर आसीन है। इनके प्रथम दो हाथों में धनुष-बाण तथा शेष में अन्य आयुध है। यह देवी महावीर के रक्षक के रूप में निरूपित है। पद्मावती देवी की प्रतिमाएं भी कर्नाटक से ही प्राप्त होती है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में महाकाली देवी प्रसिध्द है। यह देवी कमलों पर आसीन है। ये यक्षी भी है। इसी देवी का नाम दिगम्बर सम्प्रदाय में वज्रश्रृंखला भी है। इनका वाहन हंस, भुजाओं में सर्प, पाश एवं फल सुशोभित है।

चक्रेश्वरी जैनियों की सर्वमान्य आराध्य देवी है। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ही संप्रदायों में इनकों चक्रधारणी एवं गरूड़ वाहिनी बताया गया है। यह तीर्थंकर ऋषभदेव की शासन देवता है। श्वेताम्बर संप्रदाय के अनुसार चक्रेश्वरी अष्टभुजा है। गदा,धनुष, वज्र, शूल, चक्र एवं वरदमुद्रा इनके प्रतीक है। दिगंबर संप्रदाय में देवी कि चतुर्भुज एवं द्वादश भुजाओं वाली प्रतिमा प्राप्त होती है। चक्रेश्वरी ब्राहाण देवी वैष्णवी से पर्याप्त समानता रखती हैं। देवगढ़, उदयगिरि (उड़ीसा) तथा मथुरा से प्राप्त मूर्तियां द्वादश भुजी है। शत्रुंजय पर्वत पर बने जैन मन्दिर से प्राप्त संगमरमर की प्रतिमा अष्टभुजी तथा गिरनार पर्वत पर स्थित वस्तुपाल एवं तेजपाल के जैन मंदिर में देवी की चतुर्भुजी प्रतिमा स्थापित है।

इसके अतिरिक्त श्री लक्ष्मी, योगिनियां तथा शांतिदेवी आदि भी जैन देवकुल में महत्वपूर्ण है। श्री लक्ष्मी का वर्णन हिंदू लक्ष्मी देवी से बहुत भिन्न नहीं है। जैन लक्ष्मी गजवाहनी है जबकि ब्राहाण परंपरा में कमलासन होती है। धन की देवी के रूप में श्रीदेवी का वर्णन दिगंबर संप्रदाय में होता है। यह देवी चार भुजाओं वाली हैं तथा हाथों में कमल एवं पुष्प विद्यमान है। श्वेतांबर संप्रदाय में यही देवी लक्ष्मी के नाम से प्रसिध्द हैं। जैन आगम ग्रंथो में योगिनियों की संख्या चौसठ बतलाई गई है। इनके अनुसार यह रौद्र देवी है तथा जिनकी आज्ञा अनुसार कार्य करती है। मूलरूप से ये तंत्र-सम्बन्धित है। अग्निपुराण और मंत्रमहोदधि में इनका वर्णन प्राप्त होता है किंतु जैन अनुयायी भी क्षेत्र- रक्षक के रूप में इनकी पूजा करते है।

जैन देवकुल में ब्राहाण देवी-देवताओं के आत्मसातीकरण के परिणामस्वरूप अनेक नए बदलाव देखने को मिलते हैं। ब्राह्मण देवी-देवताओं को स्थान एवं महत्त्व देने के कारण जैन धर्म की लोकप्रियता में विकास तथा देवकुल में वृद्धि होता है साथ ही इसके सम्प्रदाय एवं सिध्दांतों में किवदंतियों तथा क्षेपक-प्रक्षेपक के माध्यम से उत्कर्ष परिलक्षित होता है। जिसके मूर्त उदाहरण जैन कला एवं साहित्य में देखे जा सकते हैं।

चित्र सं0 1- तीर्थंकर एवं शासन देवियां

चित्र सं0 3- सरस्वती एवं जिन

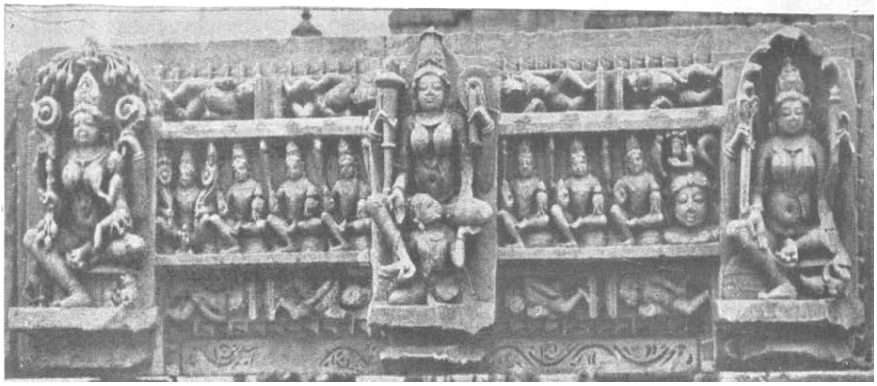

चित्र सं0 2- नवग्रह

चित्र सं0 4- अम्बिका देवी

चित्र सं0 5- पद्मावती देवी

स्रोत साभार-मारूतिनंदन प्रसाद तिवारी, जैन प्रतिमा विज्ञान

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची :-

1- गिरि, कमल, जैन महापुराण में ब्राह्मणीय परम्परा के देवी-देवता, वॉल्यूम 1,1995, पृष्ठ 46

2- तिवारी, मारूतिनंदन प्रसाद, जैन प्रतिमा विज्ञान, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी,1991,पृष्ठ32

3- जिनसेन, आदिपुराण, 32.166,संपा0 पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ 2004

4- तिवारी, मारूतिनंदनप्रसाद, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ37

5- जिनसेन, आदिपुराण, पूर्वनिर्दिष्ट,25.73-74

6- वैद्य, पी0एल0 महापुराण, 14.106-56, संपा0 देंवेंद्र कुमार जैन, माणिकचंद्र दिगंबर जैन

7- गिरि, कमल,पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ 46

8- गिरि, कमल,पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ 47

9- गिरि, कमल,पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ 48

10- तिवारी, मारूतिनंदनप्रसाद, पूर्वनिर्दिष्ट,पृष्ठ30

11- तिवारी, मारूतिनंदनप्रसाद, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ30

12- विमलसूरी कृत,पउमचरियं 5.145-75,संपा0 पुण्यविजय,प्राकृत ग्रंथ परिषद,2005

13- तिवारी, मारूतिनंदन प्रसाद, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ32

14- जैकोबी, हरमन, जैन सूत्राज, भाग 1,ऑक्सफोर्ड प्रेस, 1884, पृष्ठ 31

15- तिवारी, मारूतिनंदनप्रसाद, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ33

16- वैद्य, पी0एल0, महापुराण,46.1,पूर्वनिर्दिष्ट

17- जिनसेन कृत, आदिपुराण, 12.69-76,पूर्वनिर्दिष्ट

18- शाह,यू.पी.,जैन डिटिक्स, जर्नल ऑफ द ओरिएंटल इंस्टीटयूट,बड़ौदा,पृष्ठ46

19- गिरी, कमल, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ 48

20- गिरी, कमल, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ 48

21- गिरी, कमल, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ 48

22- गिरी, कमल, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ 48

23- शर्मा, पुष्पेन्द्र, जैनधर्म में देवियों का स्वरूप, देवभूषण जी महराज अभिनंदन ग्रंथ, 1987, पृष्ठ 153

24- शर्मा, पुष्पेन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ 153

25- शर्मा, पुष्पेन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ 153

26- प्रेस रिपोर्ट ऑफ आर्कियोलॉजिकल सर्वे, वेस्ट रिजन, 1905-6, पृष्ठ 48

27- जैन, के0सी0, जैनिज्म इन राजस्थान, डी0के0 प्रिंटवर्ल्ड, नई दिल्ली, पृष्ठ 133

●

'शक-क्षत्रपों का भारतीय संस्कृति में आत्मसातीकरण'

डॉली पटवा[*] एवम् डॉ. प्रियंका सिंह[**]

मध्य एशिया के जातियों के आपसी संघर्ष एवं संचार ने भारतीय राजनीतिक इतिहास को कई बार प्रभावित किया। लगभग 165 ईसा पूर्व में उत्तर-पश्चिम चीन में स्थित यू-ची जाति का संघर्ष हिंग-नू जाति से हुआ। हिंग-नू जाति से पराजित होने के उपरान्त यू-ची जाति को दक्षिण-पश्चिम की ओर प्रस्थान करना पड़ा जहाँ उनका संघर्ष शकों से हुआ। अपने निवास भूमि से निष्कासित होने के उपरान्त शकों ने दक्षिण-पश्चिम के बाख्त्री-यवन एवं पार्थियन राज्यों पर आक्रमण किया। शक-क्षत्रप मूलतः मध्य एशिया के निवासी थे। शकों ने सर्वप्रथम बाख्त्री यवनों का अंत किया तत्पश्चात् भारतीय भूभाग में प्रवेश किया तथा भारतीय रीति-रिवाज एवं परम्पराओं को ग्रहण कर भारतीय समाज में समाहित हो गये। साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों से शकों की भारत में चार शाखाओं का परिज्ञान होता है-

1. तक्षशिला के क्षत्रप
2. मथुरा के क्षत्रप
3. महाराष्ट्र के क्षहरात
4. उज्जयिनी और मालवा के क्षत्रप

शक जाति अपने संचरणशील प्रवृत्ति के कारण अपने प्रव्रजन के दौरान जहाँ प्रवास किया, वहाँ की संस्कृति से प्रभावित होकर उसे आत्मसात् किया। शक-क्षत्रपों के प्रारम्भिक मुद्राओं तथा अभिलेखों में प्राप्त नाम एजेज, एजिलाइजेज[1] इत्यादि नाम ईरानी प्रभाव की ओर संकेत करते है, जहाँ ये भारत आगमन से पूर्वप्रवासित थे। भारत आगमन के पश्चात् शक क्षत्रपों ने भारतीय संस्कृति को पूर्णतः आत्मसात् कर लिया। शक-क्षत्रपों का भारतीय संस्कृति में आत्मसातीकरण कई रूपों में दृष्टिगत् होता है जैसे- उनके नाम, उपाधि, अभिलेखों में प्रयुक्त भाषा एवं लिपि, धर्म एवं भारतीय राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध इत्यादि।

अभिलेखीय साक्ष्यों से स्पष्ट हैं कि प्रारम्भिक शक शासकों के नाम प्रारम्भ में विदेशी तत्पश्चात् उसका भारतीय भाषा में रूपान्तरण और क्रमशः विशुद्ध भारतीय नाम मिलते है। सम्भवतः जब तक शक क्षत्रपों ने भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्रों में शासन किया उन पर भारतीय प्रभाव बहुत कम पड़ा परन्तु जैसे-जैसे इनका विस्तार भारत के आन्तरिक क्षेत्रों में हुआ इनका क्रमशः भारतीयकरण होता गया। इनके मुद्राओं पर भारतीय भाषा में रूपान्तरित लगभग 22 शासकों के नाम मिलते है।[2] यद्यपि इनके अभिलेख ग्रीक, खरोष्ठी एवं ब्राह्मी लिपियों में उत्कीर्ण है। तक्षशिला से प्राप्त ताम्रपत्र में माउस का मोग, शहदौर से प्राप्त एक अन्य लेख में एजेज का अयस तथा कालवन ताम्रपत्र में अजस नाम मिलता है।[3]

शक-क्षत्रपों के कुछ ऐसी भी नाम दृष्टव्य है जिसमें विदेशी और भारतीय दोनों शब्द सम्मिलित है। जैसे- मुद्राओं पर प्राप्त अस्पवर्म और सतवस्त्रनाम।[4] अस्पवर्म में 'अस्प' विदेशी और 'वर्म' भारतीय प्रतीत होता है। इसी प्रकार सतवस्त्र में 'सत' की व्याख्या श्वेत से की जा सकती है, भारतीय तथा 'वस्त्र' प्रत्यय किसी विदेशी शब्द का रूपान्तरण हो सकता है। ये विदेशी मिश्रित भारतीय नाम शक-क्षत्रपों के नाम परिवर्तन के संक्रमण काल की ओर इंगित करते है।

मथुरा के शक-शासकों के नामों में भी भारतीयकरण की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इस शाखा के प्रारम्भिक-क्षत्रपों के नाम हगान और हगामश[5] विदेशी तथा रजुल तथा शुदास नाम भारतीय प्रतीत होता है। मुद्रालेखों में रजुल का नाम खरोष्ठी में राजुवुल तथा राजुल[6] उत्कीर्ण है। जबकि शुदस का नाम मुद्राओं पर सोडास तथा अभिलेखीय साक्ष्यों में सोडास अथवा शुडास संदर्भित है।[7]

शक क्षत्रप शासकों के नामों के सन्दर्भ में क्षहरात शाखा के शक शासक विशेष उल्लेखनीय है। क्षहरात शाखा के प्रारम्भिक शासकों के नाम भूमक, नहपान तथा अयम है,[8] जो विदेशी है किन्तु नहपान के जामाता का नाम ऋषभदत्त या उषवदत्त मिलता है जो मूल भारतीय नाम है। इसी प्रकार उज्जैनी और सौराष्ट्र के प्रारम्भिक शक-क्षत्रपों के नाम विदेशी प्रतीत होते है, जैसे चष्टन और यशोमोतिक।[9] किन्तु उसके बाद कार्दमक वंश के सभी शासकों के नाम भारतीय ही मिलते है। जैसे- रूद्रसेन, विजयसेन, विश्वसेन, ईश्वरमित्रा, उषवदत्त या ऋषभदत्त, रूद्रदामन, जयदामन, जीवदामन, संघदामन, रूद्रसिंह इत्यादि।

कुछ शक स्त्रियों के भी भारतीय नाम नासिक एवं नार्गाजुनी अभिलेखों में उत्कीर्णित है। नहपान के नासिक अभिलेख में उषवदत्त की पत्नी दक्षमित्रा[10] तथा नागार्जुनीकोण्ड लेख में[11] उज्जयिनी के महाक्षत्रप की पुत्री रूद्रभट्टारिका का विशुद्ध भारतीय नाम उल्लेखनीय है। राजकीय अभिलेखों के अतिरिक्त व्यक्तिगत दानात्मक लेखों में भी शक नागरिकों के लिए भी भारतीय नाम प्रयुक्त है जैसे- शकनिका विष्णुदत्ता जो शक अग्निवर्मन की दुहित्रा रेभिल की भार्या तथा विश्ववर्म की माता के रूप में उल्लेखनीय है।[12]

---

* शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** असिस्टेंट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भारतीय संस्कृति में आत्मसातीकरण की प्रक्रिया के दौरान शक-क्षत्रपों ने अपने उपाधियों में भी परिवर्तन किया। शक क्षत्रपों के द्विभाषी मुद्राओं के अग्रभाग पर ग्रीक तथा पृष्ठभाग पर भारतीय उपाधियाँ मिलती है। यह भारतीय उपाधियाँ ग्रीक लेख का चाहे अनुवाद हो या भावानुवाद, किन्तु प्राकृत अभिलेखों में इनकी पूर्ण भारतीय उपाधियाँ मिलती है। पश्चिमोत्तर भारत में शासन करने वाले शक शासकों ने सामान्यरूप से महरजस (मोग[13], अय[14], अयिलिशस[15]) और रजदिरजस (मोग[16], अय[17], अयिलिशस[18]), मथुरा के शक-क्षत्रपों में स्वामि (सोडास), क्षत्रप (हगान, हगामश)[19], महाक्षत्रप (राजुवुल, सोडास)[20] तथा पश्चिम के शक-क्षत्रपों की उपाधि 'राजा' (भूमक, नहपान, चष्टन, रूद्रदामन), 'स्वामि', 'क्षत्रप' और 'महाक्षत्रप' मिलती है। शक श्रीधरवर्मन के काल तक आते-आते उपाधियों के भारतीयकरण करने की प्रक्रिया लगभग पूर्ण हो चुकी थी। कनखेरा तथा एरण के अभिलेखों में उसकी उपाधि 'महासेन महाभक्त' और धर्मविजयी मिलती है, जो कि शुद्ध भारतीय है। शक नागरिकों ने भी व्यक्तिगत रूप से भारतीय उपाधियाँ धारण की थी, जैसे- उपासक (शक विष्णुदत्ता), धार्मिक और महादानपति (पतिक) इत्यादि।

विचारों एवं भावनाओं को अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम भाषा और लिपि है। भारत आगमन के पूर्व शक-क्षत्रपों ने ग्रीक भाषा और लिपि का प्रयोग किया किन्तु भारत आने के पश्चात् वैचारिक आदान-प्रदान तथा शासन सम्बन्धी सूचनाओं हेतु उन्होंने भारतीय भाषा एवं लिपियों का प्रयोग किया। इनके बहुसंख्यक लेख एवं मुद्रालेख भारतीय भाषा एवं लिपि में उत्कीर्णित है। इनके अभिलेखों की लिपि ब्राह्मी और खरोष्ठी है जबकि भाषा प्राकृत, प्राकृत मिश्रित संस्कृत और शुद्ध संस्कृत है। इसके साथ ही विदेशी शब्दों का भारतीय व्याकरण के नियमों के अनुसार प्रयोग भी भारतीय भाषाओं के प्रति इनके झुकाव की ओर संकेत करते है। शक-क्षत्रपों के प्रारम्भिक अभिलेखों एवं मुद्राओं पर ग्रीक भाषा का प्रयोग अधिक मिलता है जिसका कारण उनका भारतीय भाषाओं से अपरिचित होना माना जा सकता है। पश्चिमोत्तर भारत में शासन करने वाले शक शासकों ने लगभग प्राकृत भाषा एवं खरोष्ठी लिपि तथा ग्रीक भाषा व लिपि का प्रयोग किया लेकिन जैसे-जैसे इनका विस्तार भारत के भीतरी क्षेत्रों में होता गया, उनकी भाषा एवं लिपि में भी परिवर्तन होता गया। इस सन्दर्भ में ब्राह्मी लिपि में मथुरा सिंह शीर्षक अभिलेख एवं रूद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख महत्वपूर्ण है। लिपि के साथ-साथ उनके अभिलेखों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा संस्कृत मिश्रित होने लगी। यद्यपि मथुरा से प्राप्त कुछ लेख खरोष्ठी लिपि में भी प्राप्त है। महाराष्ट्र एवं उज्जयिनी के शक क्षत्रपों के अभिलेखों में भी परिवर्तन दिखाई देता है। उनके अभिलेखों की भाषा प्राकृत न होकर संस्कृत मिश्रित प्राकृत का रूप धारण करने लगी। यद्यपि शक शासक नहपान के प्रारम्भिक अभिलेख प्राकृत में है किन्तु बाद में वे संस्कृत मिश्रित प्राकृत हो जाती है। इनके अभिलेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत को संस्कृत गर्भित करने की इनमें प्रवृत्ति हो चली थी और इसी प्रवृत्ति को चष्टन वंश में राजाश्रय भी प्राप्त हुआ। संस्कृत के प्रति इनकी निष्ठा इतनी दृढ़ हो गई कि रूद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख[21] शुद्ध संस्कृत भाषा में लिखा गया उत्तम गद्यकाव्य है। इसमें लम्बे-लम्बे समास पद, शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का प्रयोग मिलता है। साहित्यिक गुणों से युक्त इस अभिलेख से स्पष्ट है कि उस युग में संस्कृत काव्य का इतना विकास हो चुका था कि विदेशी शक नरेश भी उसके प्रभाव से अछुते नहीं रहे। इस प्रकार पश्चिम भारत के शक-क्षत्रपों के काल में प्राकृत का स्थान संस्कृत भाषा ले रही थी। इसी काल में बौद्ध साहित्य ललित-विस्तर तथा महावस्तु आदि में प्राकृत को संस्कृत में बदलने का प्रयास भी दिखाई देता है।

शक-क्षत्रपों के भारतीय संस्कृति में आत्मसातीकरण की प्रक्रिया में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान दिखायी पड़ता है। शक क्षहरातों के अभिलेखों में प्रजा कल्याण हेतु अक्षयनीवी दान ब्राह्मणों के लिए धन की व्यवस्था, चतुर्दिक भिक्षु संघों के वर्षावास के लिए गुहा निर्माण, स्तूप एवं अन्य निर्माण कार्यो के संदर्भ में भारतीय धर्म की ओर उनकी निष्ठा को प्रदर्शित करता है। मुद्रालेखों से भी भारतीय धर्म के प्रति इनकी आस्था दिखायी देती है। इनके मुद्राओं पर शिव का प्रतीकात्मक तथा मानवीय रूप दोनों का अंकन मिलता है। नन्दी का अंकन माउस (मोग)[22], एजेज प्रथम[23], एजिलाइजेज[24], एजेज द्वितीय[25], पश्चिम के शक शासकों में जयदामन[26], जीवदामन[27], रूद्रसिंह[28] और रूद्रसेन तृतीय[29] के मुद्राओं पर मिलता है। जबकि शिव के मानवीय रूपों का अंकन माउस, एजेस और एजिलाइजेज की मुद्राओं पर दृष्टव्य है। गज-लक्ष्मी का अंकन कई रूपों में एजेज द्वितीय, एजिलाइजेज, हगामश, रजुवुल और सोडास की मुद्राओं पर दृश्याकिंत है।

शक क्षत्रप ब्राह्मण धर्म के प्रति भी आकृष्ट थे। मोरा अभिलेख में सोडास के शासन संवर्धन के लिए एक देवकुल में तोरण और वेदिका के निर्माण का उल्लेख है।[30] मोरा के ही एक अन्य अभिलेख में तोशा के द्वारा वृष्णि के पंचवीरों की प्रतिमा स्थापना का उल्लेख आया है।[31] शक श्रीधरवर्मन के राज्यवर्ष 13वें के कनखेरा अभिलेख तथा 27वीं वर्ष के एरण अभिलेख में उसकी उपाधि 'महासेन महाभक्त' तथा 'आदित्य के समान पराक्रमी मिलती' है। जो ब्राह्मण धर्म की ओर उनके झुकाव की ओर संकेत करती है।[32]

तत्कालीन सामाज में प्रचलित बौद्ध, जैन धर्म में भी शकों ने श्रद्धाप्रकट की। माउस तथा एजेज के सिक्कों पर 'ध्रमिक' उपाधि तथा 'धर्म चक्र' प्रतीक उनके बौद्धधर्मानुयायी का प्रमाण है। शकों के बौद्धधर्मानुयायी होने की जानकारी अभिलेखों से भी होती है। मथुरा सिंह शीर्ष स्तम्भ लेख में रजुवुल की प्रधान महिषी द्वारा एक गुहाविहार तथा स्तूप निर्माण का उल्लेख है तथा तक्षशिला ताम्रपत्र वर्ष 78वें में क्षत्रप लिअक कुसुलक के पुत्र पतिक द्वारा बुद्ध के अस्थि अवशेष की स्थापना का उल्लेख है।[33] नासिक अभिलेख[34]

में क्षत्रप नहपान के जामाता उषवदत्त का उल्लेख है जिसने बौद्ध एवं ब्राह्मण दोनों धर्मों को प्रश्रय दिया था। एक ओर उसने बौद्ध भिक्षुओं एवं श्रमणों के भोजन के लिए अक्षयनीवि का दान दिया, वहीं दूसरी ओर कई धार्मिक तीर्थस्थलों की यात्रा की। उषवदत्त की पत्नी दक्षमित्रा द्वारा गुफा निर्माण का भी उल्लेख मिलता है। शक-क्षत्रपों के शासन-काल में सामान्य जन भी बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट थे। शक बुधिक तथा उपासिका विष्णुदत्ता द्वारा बौद्धों को दान इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है।[35]

जैन धर्म से सम्बन्धित शकों के कोई भी ऐसे अभिलेख नहीं मिले है किन्तु मथुरा के कंकाली टीले नामक स्थान से जैनधर्म से सम्बन्धित बहुसंख्यक अभिलेख प्राप्त हुए है। शकों के समय में मथुरा जैनधर्म का बहुत बड़ा केन्द्र था। मथुरा से प्राप्त अभिलेखों में सामान्य शक नागरिकों के उल्लेख मिलते है। मथुरा के एक जैन लेख में ओझतिका, ओखरिका और ओखा द्वारा अर्हत के मंदिर में महावीर की प्रतिमा स्थापना तथा मंदिर निर्माण की सूचना उत्कीर्णित है। मथुरा से कुछ सोडासकालीन दानात्मक जैन अभिलेख प्राप्त हुए है। सोडास के राज्य के 72वें वर्ष के अभिलेख में[36] उपासिका अमोहिनी द्वारा अर्हतों की पूजा के लिए अर्यवती के दान का उल्लेख मिलता है। उक्त दान लेखों से स्पष्ट है कि कुछ शक जैन धर्म की ओर भी आकृष्ट थे।

शक-शासकों ने न केवल अपने नाम एवं उपाधियों का भारतीयकरण किया तथा भारतीय भाषा एवं लिपियों को अपनाया अपितु भारतीय राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किये। रूद्रदामन के जूनागढ़[37] तथा वाशिष्ठी पुत्र सातकर्णी के कन्हेरी गुफा अभिलेख में[38] रूद्र दामन और वशिष्ठ पुत्र सातकर्णी के बीच वैवाहिक सम्बन्धों का उल्लेख मिलता। जूनागढ़ अभिलेख में वर्णित है कि रूद्रदामन ने दक्षिणापथपति शातकर्णि को दो बार पराजित किया किन्तु सम्बन्ध की निकटता के कारण उसका समूल नाश नहीं किया। नागार्जुनी कोण्डा अभिलेख[39] से भी शक-भारतीय वैवाहिक सम्बन्ध का पता चलता है। इस अभिलेख में इक्ष्वाकु राजा वीरपुरूषदत्त की प्रधान रानी रूद्रभट्टरिका को 'उजेनिका महाराज बालिका' कहा गया है। उजेनिका की पहचान उज्जैनी से की गयी है, जो शक क्षत्रपों के शासन के अन्तर्गत था। रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में वर्णित 'नरेन्द्र कन्या-स्वयवरानेक माल्या प्रापतदामना' से प्रदर्शित होता है कि कन्याएँ स्वेच्छा से वर का चुनाव करती थी। जो उसके स्वयंवर विवाह की ओर संकेत करता है इस प्रकार की विवाह प्रणाली भारतीय समाज में भी प्रचलित थी। भारतीय राजवंशो के साथ शक-क्षत्रपों के वैवाहिक संबंधों से स्पष्ट होता है कि इन्हें तत्कालीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में मान्यता मिलने लगी थी। रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में रूद्रदामन को स्पष्ट रूप से क्षत्रिय कहा गया है।

वस्तुतः शक जाति भारत में शासन करने के उद्देश्य से आयी। परन्तु भारतीय संस्कृति को आत्मसात् कर भारतीय समाज में समाहित हो गयी। शक जाति भारतीय सामाजिक-धार्मिक परम्पराओं नाम, उपाधि, भाषा और लिपि तथा भारतीय राजाओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर यहाँ की रीति-रीवाजों को ग्रहणकर पृथकत्व में एकत्व का ऐसा अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया जो विश्व इतिहास में अद्वितीय है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1. थॉमस, एफ, डब्ल्यू, एटिमॉलॉजी ऑफ इण्डो-पार्थियन एण्ड इण्डोसीथियन नेम्स, जर्नल आफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आर्यलैण्ड, खण्ड-38, 1906, पृ. 204-07।
2. नारायण, ए.के., 'दि क्वायन्स-टाइप ऑफ शक-पहलव किंग्स ऑफ इण्डिया', न्यूमिस्मेटिक नोट्स एण्ड मोनोग्राफ्स,जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, खण्ड-18, 1956, पृ01-26।
3. कोनो. एस, कार्पस इन्सक्रिप्सनम इन्डीकेरम, खण्ड-2, 1991 पृ. 23, 16, 57।
4. नारायण, ए.के., पूर्वोद्धत, पृ. 23।
5. वही, पृ. 29।
6. वही, पृ. 29-30।
7. वही, पृ. 31।
8. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया, खण्ड 4, पृ. 303, सं. 10, पृ. 99, सं. 5।
9. एपिग्राफीया इण्डिका, खण्ड 16, पृ. 23-25, खण्ड 37, पृ. 142-144, 146।
10. एपिग्राफी इंडिका, खण्ड 8, पृ. 81, सं. 11।
11. वही, खण्ड-20, पृ. 4।
12. वही, खण्ड 20, पृ. 37।
13. नारायण, पूर्वोद्वत, पृ. 31-43।
14. ब्रिटिश म्यूजियम कैटलाग, फ. 16, 395, 396।
15. वही, फ. 13, 319, 335।
16. वही, फ. 10, 1, 3, 4।
17. वही, फ. 11, 28, 47, 141, 127, 187।
18. वही, फ. 13, 131, 335।
19. ब्रिटिश म्यूजियम कैटलाग, फ. 26.6।
20. वही, फ. 43, 21, 26, 12।
21. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड- 8, पृ. 42।
22. नारायण, ए.के., पूर्वोद्धत, पृ. 7।
23. वही।
24. वही, पृ. 10, सं. 29।
25. वही, पृ. 14, सं. 23, 26।
26. रैप्सन, ई, जे, क्वांयस ऑफ दि आन्ध्र डायनेस्टा दि वेस्टर्न क्षत्रपाज, दि त्रैकुटक डायनेस्टी एण्ड दि 'बोधि' डायनेस्टी, लंदन, 1908, फलक 10, 265।
27. वही, फलक 11, 293।
28. वही, फलक 11, 324।

29. वही, फलक 17, 889।
30. सरकार, दिनेशचन्द्र, सेलेक्ट इंसक्रिप्शस, खण्ड-1, 1942, पृ. 123।
31. वही, भाग-1, पृ. 122।
32. एपिग्राफीया इण्डिका, खण्ड 16, पृ. 232।
33. कोनो, एस, पूर्वोद्धत, भाग-2, पृ. 48।
34. एपिग्राफीया इण्डिका, खण्ड 8, पृ. 78।
35. ल्यूडर्स लिस्ट, सं. 1148-1149, 1137।
36. एपिग्राफीया इण्डिका, खण्ड-2, पृ. 199।
37. एपिग्राफीया इण्डिका, खण्ड-8, पृ. 45।
38. उत्गिकर, एन.बी., कलेक्टेड वर्क्स ऑफ भण्डारकर, खण्ड-2, पृ. 624।
39. एपिग्राफीया इण्डिका, भाग-20, पृ. 4।

●

गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में अंकित दैनिक उपादान की वस्तुएँ

डॉ0 आनन्द कुमार गौतम एवम् डॉ0 आभा मिश्रा पाठक***

वैदिक साहित्य में जीवनोपयोगी विविध प्रकार की वस्तुओं के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। उनमें से कुछ तो प्रायः लुप्त प्राय हो चुके हैं, और कुछ भारतीय संस्कृति में वर्तमान काल में भी दैनिक जीवनकाल में उपयोगी हैं। इनमें से कुछ उपादानों का गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में अंकित दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले विविध प्रकार के उपादानों का प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर निरीक्षण करने पर तत्कालीन समाज के जीवनयापन का परिचय प्राप्त होता है। दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले उपादानों के साधनों का गुप्तकालीन साहित्य एवं मृण्मूर्तिकला के आधार पर अध्ययन किया गया है जो जीवन को गति प्रदान करता है तथा सम्पर्क और अभिव्यक्ति का भौतिक आधार भी है। तत्कालीन समाज में प्रयुक्त होने वाले विविध उपादानों में प्रमुख रूप से आसन, शय्या, पादआसन, तकिया, गद्दियाँ, पीकदान, पादपीठ, दर्पण एवं विविध पात्रों में घट, कलश, कमण्डलु, कटोरा या तश्तरी आदि का अंकन गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में देखने को मिलता है।

दैनिक उपादान की वस्तुएँ-

आसनः आसन का उल्लेख **मत्स्यपुराण** में मिलता है।[1] बाणभट्ट अपने ग्रंथ में रत्नजड़ित एवं सिंह के पंजों के सदृश्य पावे वाले आसनों का उल्लेख करते हैं।[2] **वृहत्संहिता** में उल्लिखित है कि आसनों तथा शय्या का निर्माण विजयसार, स्पन्दन, हरिद्रा, सुरदाल, तिन्दुकी, शाल, कश्मरी, अंजन, पद्यमक और शिशप्पा इत्यादि लकड़ियों द्वारा होता था। यदा-कदा काष्ठ के साथ ही साथ गजदंत का भी प्रयोग किये जाने का सन्दर्भ प्राप्त होता है।[3] गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में एक व्यक्ति के बैठने योग्य आयताकार एवं वर्गाकार आसन प्राप्त हुआ है, जिनमें आसन का आधार ठोस है। भीतरगाँव के मंदिर (कानपुर) से प्राप्त हुये एक मृण्फलक पर गणेश राजा की भाँति आसन पर बैठे हुए दिखलाये गये हैं, इस आसन में अलंकृत गद्दी भी लगी हुई है, जो गणेश के भार से दबी हुई प्रतीत हो रही है।[4] पलासवाड़ी (बांग्लादेश) से मिले एक मृण्फलक पर संभवतः राम एवं लक्ष्मण को विश्वामित्र एवं ऋषि से शिक्षा प्राप्त करते हुए दर्शाया गया है यहाँ अंकित ऋषिगण आसन पर बैठे हुए हैं तथा इस आसन के आधार ठोस प्रतीत हो रहे हैं (चित्र सं. 1 एवं रेखा चित्र 1.)।[5]

पादपीठः गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में पादपीठ का अंकन हुआ है जिस पर मानवाकृति बैठी हुयी दिखलायी गयी है। भीतरगाँव के मंदिर (कानपुर) से प्राप्त हुये एक मृण्फलक पर एक तपस्वी पादपीठ पर बैठा हुआ दिखाया गया है।[6]

शय्याः गुप्तकालीन साहित्य में शय्या के विभिन्न प्रसंग प्राप्त होते हैं। **वायुपुराण**[7] में शय्या का वर्णन मिलता है। **मत्स्यपुराण**[8] में विविध प्रकार की दैनिक उपयोग की वस्तुओं के साथ ही शय्या का भी सन्दर्भ प्राप्त होता है। **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**[9] में पुष्प शय्या का प्रसंग मिलता है। **वृहत्संहिता**[10] में उल्लिखित है कि शय्या के चारों कोनों पर तराशे गये पावे लगाये जाते थे, जिन्हें शिर, कुम्भ, जंघा, आधार, खुर इत्यादि नामों से भी जाना जाता है। शय्या प्रायः चौड़ी एवं एक व्यक्ति के बराबर लम्बी होती थी। पलासवाड़ी (बांग्लादेश) से प्राप्त हुये रामायण कथा से जुड़े एक मृण्फलक पर शय्या का अंकन किया गया है। इसमें सुमित्रा, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के साथ शय्या पर लेटी हुयी दर्शायी गयी हैं यहाँ इस शय्या के पावे टेढ़े हैं (रेखा चित्र 2.)।[11] इसे उच्चवर्गीय शयनकक्षों में सुसज्जित शय्या का संकेत माना जा सकता है। महास्थानगढ़ (बांग्लादेश) से प्राप्त हुये एक मृण्फलक पर शय्या का एक विशेष प्रकार अंकित है, यहाँ इसके पावे टेढ़े हैं जो मुख्यतः साँचा द्वारा निर्मित प्रतीत होते हैं (चित्र सं. 2. एवं रेखा चित्र 3.)। प्रस्तुत मृण्फलकों में शय्या के साथ ही गद्दे एवं तकिया को भी दर्शाया गया है। उपरोक्त प्रसंग में मायादेवी बायें हाथ को सिर के नीचे रखकर लेटी हुयी दिखलायी गयी हैं।[12] शय्या के समीप ही पीकदान, दीपदान तथा अन्य दैनिक उपयोग की वस्तुएँ भी अकारित हैं।[13]

पाद आसनः पाद आसन सामान्यतः पैर के नीचे रखने के काम आता है। गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में पाद आसन का भी अंकन हुआ है। अहिच्छत्र से 3.5 इंच परिधि का 1.5 इंच मोटा एक उत्कृष्ट प्रकार का पाद आसन प्राप्त हुआ है। इस आसन के मुख्य भाग में दानेदार उभार भी है।[14]

तकियाः गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में तकिये का भी अंकन प्राप्त हुआ है। पलासवाड़ी एवं महास्थानगढ़ (बांग्लादेश) से प्राप्त हुए उपरोक्त मृण्फलक में गोलाकार एवं चपटी (आयताकार)[15] तकिया अंकित है ऐसे कुशन प्रायः आज भी प्रयोग किये जाते हैं।

गद्दियाँः गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में गद्दियों का भी अंकन मिला है जो इस तथ्य का द्योतक है कि तत्कालीन समाज में इनका प्रचलन व्यापक रूप से होता रहा होगा। सिंहासन एवं आसन में यह फलक

* पूर्व शोध छात्र, कला इतिहास विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** एसोसिएट प्रोफेसर, कला इतिहास विभाग,एम.एम.वी., काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

एवं पीठिकाओं में संयुक्त हैं। उपरोक्त सिंहासन के उदाहरण में इसका उल्लेख किया जा चुका है। तत्कालीन मृण्मूर्तिकला में सामान्यरूप से आकृतियाँ गद्दियों पर बैठी हुयी या गद्दियों को अपने कुहनी से टिकाये हुये दिखलायी गयी हैं।[16] आकार प्रकार की दृष्टि से यह गोलाकार, अण्डाकार[17] के साथ ही साथ सादी एवं अलंकृत स्वरूपों में भी दर्शायी गयी हैं।[18] गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में अंकित गद्दियों को देखने से प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में गोलाकार गद्दियों को विशेष रूप से पसन्द किया जाता रहा होगा। गोलाकार गद्दियों की पहचान 'मसूरक' से भी की गयी है।[19] तत्कालीन मृण्फलक में मानवाकृतियों के साथ अंकित गद्दियों के (1-1) उदाहरण भीतरगाँव के मंदिर (कानपुर)[20] एवं राजघाट[21] (वाराणसी) के अतिरिक्त एक अन्य आकर्षक मृण्फलक प्रितजयकर संग्रह, न्यूयार्क में भी संग्रहित है, इस मृण्फलक में संभवतः रावण-मन्दोदरी अंकित हैं। यहाँ रावण एक धारीदार अलंकृत गोलाकार गद्दी पर बैठा हुआ है साथ ही एक अन्य गद्दी को अपने दाहिने तरफ की कुहनी से भी टिकाये हुये प्रदर्शित है।[22] यद्यपि इस मृण्फलक का कला स्थल अज्ञात है (चित्र सं. 3.)।

चादरः चादर का उपयोग सामान्यतः शय्या के ऊपर बिछाने के काम में आता है। दिव्यावदान में ''स्वर्ण-प्रावार'' का उल्लेख ''रत्नसुवर्ण प्रावरकाः'' अर्थात् सुनहले कलावतत् से बिनी गयी और रत्नों से जटित बहुमूल्य चादरों का सन्दर्भ प्राप्त होता है।[23] मथुरा एवं गान्धार दोनों ही कला में इसका अंकन प्राप्त होता है।[24] पलासवाड़ी (बांग्लादेश) से प्राप्त हुये एक मृण्फलक पर शय्या के ऊपर एक चादर बिछी हुई दर्शायी गयी है जो शय्या को ढके हुए जमीन तक विस्तारित है (रेखा चित्र 2.)।[25]

पीकदानः गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में पीकदान का भी अंकन है, जिसे साधारणतया शय्या के नीचे रखा गया है। यह आकार-प्रकार में आधुनिक पीकदान के सदृश्य ही प्रदर्शित है। गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में अंकित पीकदान का साक्ष्य महास्थानगढ़ (बांग्लादेश) से प्राप्त हुआ है[26] (रेखा चित्र 4.) जबकि श्रावस्ती[27] एवं भीटा[28] से पुरातात्त्विक अवशेषों में स्वतंत्र पीकदान के भी उदाहरण प्राप्त हुये हैं। सामान्यतया पीकदान पान-चवर्ण के प्रयोग का संकेत करते हैं।

दर्पणः प्रसाधन सामग्री के रूप में दर्पण का महत्त्व सर्वविदित है। **मत्स्यपुराण**[29] में शय्या के पास दर्पण रखे जाने का उल्लेख मिलता है। गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में दर्पण सामान्यतः स्त्री एवं देवी आकृतियों के हाथ में अभिव्यक्त है। यह सामान्यतः चिपटे, गोल[30] एवं अण्डाकार स्वरूपों में देखने को मिलते हैं।[31] यदा-कदा इसे पकड़ने हेतु इसके पृष्ठ भाग में मुठिया भी लगी हुयी है (रेखा चित्र 6.)।[32] गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में अंकित दर्पण के उदाहरण राजघाट[33] (वाराणसी), रंगमहल[34], बादोपाल[35] (राजस्थान) से (1-1) उदाहरणस्वरूप प्राप्त हुये हैं।

1.1. विविध पात्र

गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में घट, कलश, कमण्डलु, कटोरा या तश्तरी, का अंकन आकृतियों के हाथ में दृष्टव्य होता है। जो मुख्य रूप से दैव वर्ग के साथ ही साथ सामान्य जीवन या ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित आकृतियों के हाथों में अभिव्यक्त है।

घटः साहित्यिक सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि इस प्रकार के पात्र में सोमरस[36], दधि[37], जल[38], एवं आभूषणों[39] को भरकर रखा जाता था। **मत्स्यपुराण**[40] में जल से भरे हुये घट का सन्दर्भ प्राप्त होता है। पूर्णघट जीवन की उत्पत्ति एवं समृद्धि का प्रतीक माना गया है, सार्वभौमिक रूप में इसका प्रयोग गृहों, मन्दिरों तथा भव्य इमारतों की सज्जा अथवा अलंकरण के लिए भी होता था।[41]

रंगमहल (राजस्थान) से प्राप्त हुये एक मृण्फलक पर कृष्ण दानलीला प्रसंग के अन्तर्गत एक गोपी अपने सिर पर घट लिये हुए दिखायी गयी है, वह अपने बायें हाथ से घट को पकड़े हुए है। तथा घट के मध्य वर्तुलाकार वृत्त के मध्य में कुछ ज्यामितिक अलंकरण भी बना है (रेखा चित्र 7.)। संभवतः गोपी घट में दूध अथवा दधि विक्रय हेतु ले जा रही है।[42] अहिच्छत्र (बरेली) से प्राप्त हुयी नदी देवी मकरवाहिनी गंगा एवं कच्छपवाहिनी यमुना की वृहदाकार मृण्मूर्तिकला में पपोटे (ढक्कनयुक्त) पूर्णघट का अंकन किया गया है (चित्र सं. 4,5 एवं रेखा चित्र 8.)। यहाँ गंगा[43] अपने बायें हाथ में तथा यमुना[44] अपने दाहिने हाथ में घट लिये स्थानक रूप में प्रदर्शित हैं। गुप्तकाल से ही मन्दिरों के द्वार के अगल-बगल गंगा-यमुना का अंकन गुप्तकालीन समस्त कला केन्द्रों में हुआ है साथ ही मन्दिरों के द्वार के अगल-बगल गंगा-यमुना के अंकन की परम्परा भी आरम्भ हुयी। गंगा का एक विशेष प्रकार का अंकन बर्लिन संग्रहालय में संगृहित है। इस मृण्फलक में गंगा मकर पर घुड़सवार की भाँति आरूढ़ है। यहाँ इनके हाथ में एक लम्बीग्रीवा वाला घट (रेखा चित्र 5.) अंकित है जिसमें से वह कमलदल अर्पित करती हुयी दिखलायी गयी हैं। साथ ही घट की ग्रीवा के निम्न भाग में सुन्दर कमलदल को भी अंकित किया गया है।[45] मथुरा संग्रहालय में संगृहित एक मृण्मूर्ति संभवतः नदी देवी गंगा है जो बायें हाथ में पुष्पघट लिये अंकित है।[46] इसके अतिरिक्त राजघाट से स्त्री की तीन मृण्मूर्तियाँ उर्धकाय रूप में प्राप्त हुई हैं जो अपने सिर पर घट लिये हुये आकारित है।[47] इसी प्रकार की एक अन्य मृण्मूर्ति मैसोन से भी प्राप्त हुई है।[48]

कलशः साहित्यिक सन्दर्भ के अन्तर्गत **मत्स्यपुराण** में कलश एवं मांगलिक कलश का सन्दर्भ प्राप्त होता है।[49] अहिच्छत्र (बरेली) से एक मृण्फलक प्राप्त हुआ है जिसमें शिव चतुर्भुज दक्षिणामूर्ति स्वरूप में रूपायित हैं। यहाँ वह बायें हाथ में कलश (रेखा चित्र 9.) लिए हुये हैं जिसमें से संभवतः पौधा निकलता हुआ दर्शाया गया है।[50]

डलियाः अहिच्छत्र (बरेली) से प्राप्त हुये एक मृण्फलक पर शिवगणों द्वारा मोदक को लूटने का दृश्य अंकित है। यहाँ मोदक डलिये में रखे गये हैं (रेखा चित्र 10.)।[51]

कमण्डलुः गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में कमण्डलु का भी आमूर्तन हुआ है जो प्रमुखतः देव आकृतियों के हाथ में अभिव्यक्त है। रंगमहल (राजस्थान) से मिले एक मृण्फलक पर उमा-महेश्वर अपने अनुचर संग रूपायित हैं। प्रस्तुत मृण्फलक में महेश्वर पंचमुखी एवं द्विभुजी स्वरूप में हैं। साथ ही इनका दाहिना हाथ वक्ष के पास अवस्थित है एवं बायें हाथ में कमण्डलु पात्र का अंकन है।[52] उत्तर-प्रदेश के एक स्थल से प्राप्त हुयी एक मृण्मूर्ति में सूर्य रथ पर सवार दर्शाये गये हैं तथा इनके दाहिने हाथ में कमण्डलु पात्र प्रदर्शित है।[53] यद्यपि इस मृण्फलक का कला स्थल अज्ञात है।

तश्तरी एवं कटोराः गुप्तकालीन मृण्मूर्तिकला में तश्तरी एवं कटोरा का रूपायन आकृतियों के हाथ में देखने को मिलता है। निःसन्देह इसका उपयोग गुप्तकाल में विविध प्रकार की वस्तुओं को रखने के लिए किया जाता रहा होगा। पलासवाड़ी (बांग्लादेश) से प्राप्त हुये एक मृण्फलक पर **रामायण** कथा के अन्तर्गत जनक अपने हाथों में फूलों से भरी तश्तरी लिये हुये हैं यहाँ वह विश्वामित्र, राम और लक्ष्मण का स्वागत करते हुये दर्शाये गये हैं।[54] भीतरगाँव के मंदिर (कानपुर) से प्राप्त हुये एक मृण्फलक पर चतुर्भुज गणेश अपने बायें ओर के निचले हाथ में मोदक से भरा हुआ कटोरा एवं तश्तरी लिए हुए रूपायित हैं, जिसे कार्तिकेय झपटते हुए दिखलाये गये हैं।[55] इसी कला स्थल से **रामायण** कथानक के अन्तर्गत सीताहरण का एक प्रसंग मिला है, जिसमें सीता त्रिभंग मुद्रा में अंकित है जो अपने हाथ में कटोरा (रेखा चित्र 11.) लेकर सम्मुख खड़े रावण को भिक्षा देने के लिए आगे बढ़ते हुए दिखलायी गयी हैं।[56] बादोपाल (राजस्थान) से प्राप्त हुये एक मृण्फलक में दो तपस्वी (स्त्री एवं पुरुष) साधुवेश में आमूर्तित हैं, इसमें पुरुष आकृति अपने दोनों हाथ में कटोरा लिए हुए अंकित है जिसमें सभवतः फूल व फल का अंकन किया गया है।[57] राजघाट (वाराणसी) से चतुर्भुज गणेश की एक मृण्मूर्ति मिली है जिसमें उनके बायीं तरफ के हाथ में मोदक से भरा हुआ कटोरा अंकित है।[58] मथुरा से प्राप्त हुयी एक मृण्मूर्ति में एक मानवाकृति अपने बायें हाथ में कटोरा लिये हुए अंकित है।[59] उत्तर प्रदेश के एक कला स्थल से कुबेर की एक मृण्मूर्ति प्राप्त हुयी है यहाँ वह अपने दाहिने हाथ में एक गोलाकार कटोरा (चषक) लिए हुये दिखलाये गये हैं, यद्यपि इसका कला स्थल अज्ञात है।[60]

निष्कर्ष

गुप्तकालीन मृण्मयकला में दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले विविध प्रकार के उपादानों का अंकन हुआ जिनसे तत्कालीन समाज में प्रचलित उपादानों का परिचय मिलता है उनमें से कुछ उपादानों का उपयोग आज भी भारतीय समाज में किसी न किसी रूप में होता रहा है जो कि भारतीय संस्कृति की निरन्तरता का प्रतिक है।

(चित्र सं01)

(चित्र सं02)

(चित्र सं03)

(चित्र सं04)

(चित्र सं05)

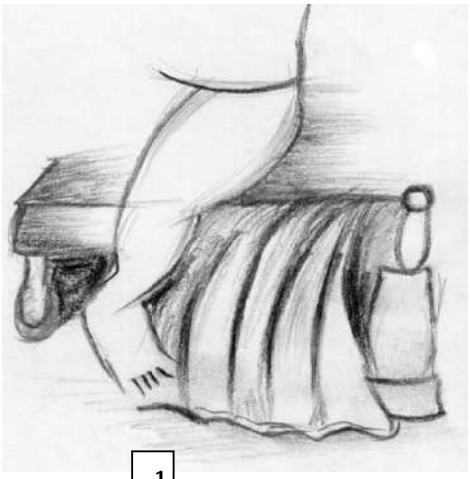

1

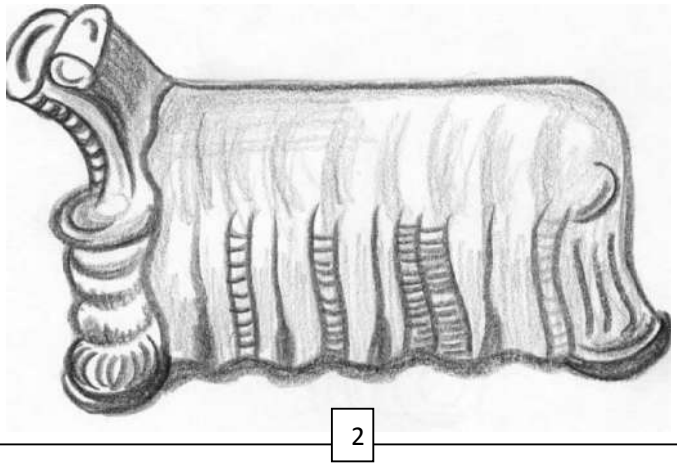

2

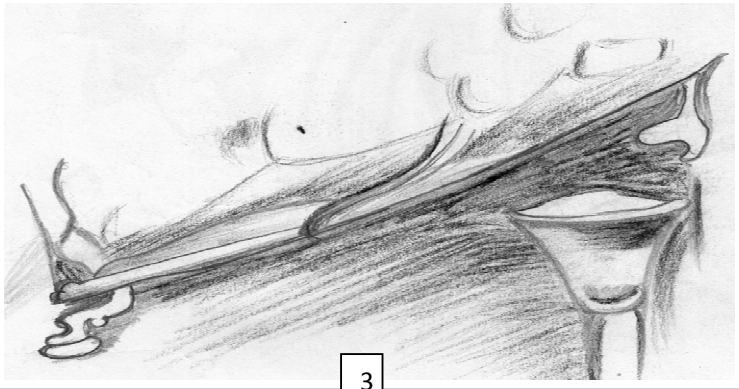

3

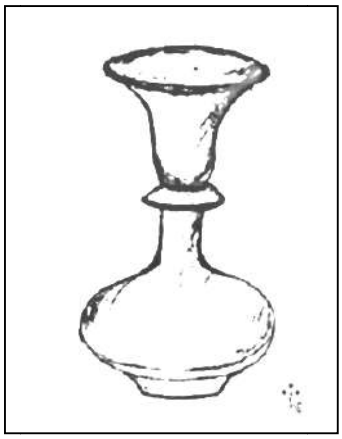

4

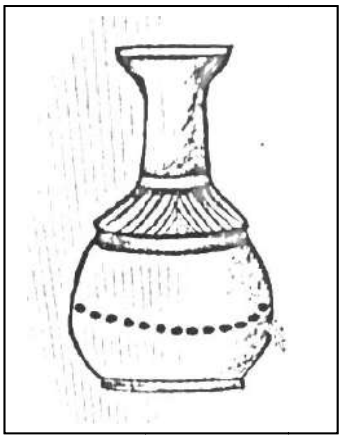

5

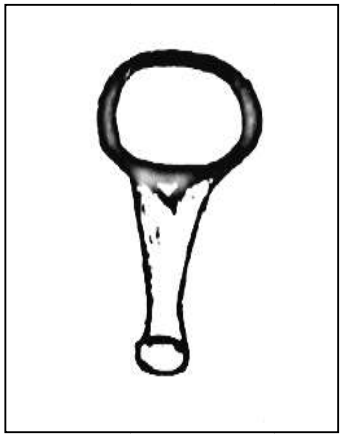

6

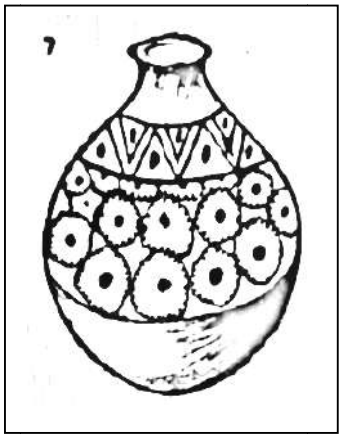

7

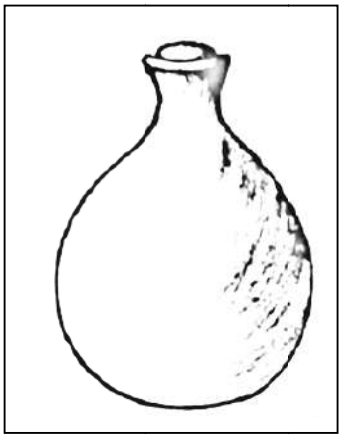

8

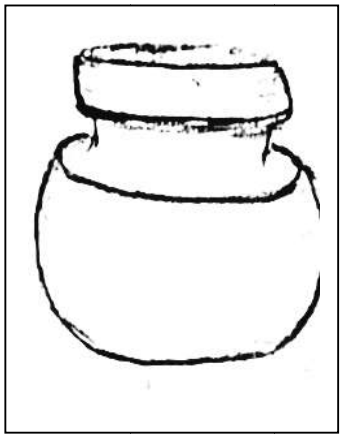

9

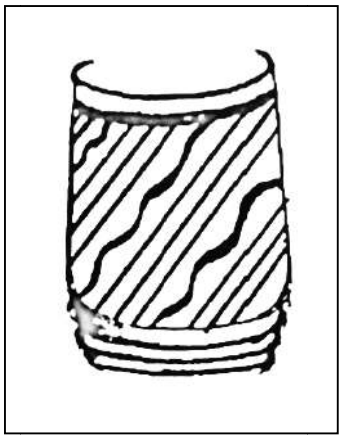

10

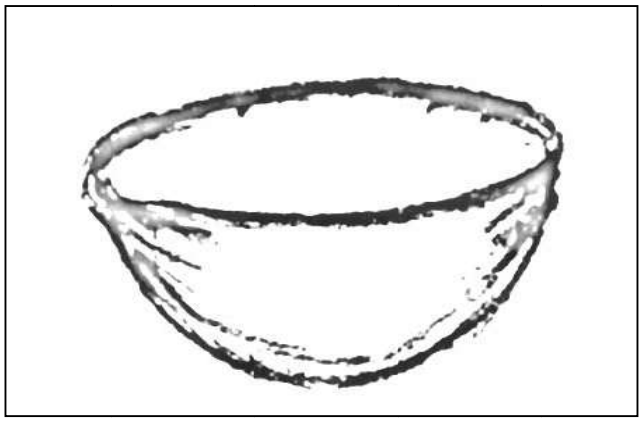

11

सन्दर्भ

1. रघुवंश- 6.11; 17.6; मत्स्यपुराण- 48.450. 26-31; 261.989. 64-70.
2. मोती चन्द्र- ''ए स्टडी इन द टेराकोटा फ्राम मीरपुरखास'', प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम बुलेटिन, अंक 7, पृ0 11-12, चित्र फलक सं0 2 अ, 4 ब,
3. मत्स्यपुराण-48.540. 26-31; 261.989.64-70.
4. रघुवंश- 6.6; 17.21.6.4.
5. कादम्बरी- (बाणभट्ट कृत), पृ0 22
6. मोती चन्द्र- पूर्व निर्दिष्ट
7. वहीं,
1. मत्स्यपुराण- 275.1042. 18-29; 280.1051.1-9.
2. वासुदेव शरण अग्रवाल- कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, बनारस, 1970, पृ0 218.
3 वृहत्संहिता- 79.2. 481; 17.19.482.
4 मुल्कराज आनंद- ''भीतरगाँव आर्ट ऐण्ड आर्किटेक्चर ऑफ ह्यूमनिज्म'', मार्ग अंक 22 भाग 2, पृ0 2-23, चित्र फलक सं0 15.
5. देवला मित्रा- एक्सप्लोरेशन आर्ट ऐण्ड आर्कियालॉजी ऑफ साउथ एशिया, कलकत्ता, 1996, पृ0 277-292, चित्र फलक सं0 20.32
6. मुहम्मद जहीर- द टेम्पल ऑफ भीतरगाँव, दिल्ली, 1981, पृ0 86 चित्र फलक सं0 62, यह मृण्फलक पाँचवीं शती ई0 का है।
7. वायुपराण- 107.970. 23-25.
8. मत्स्यपुराण- 55.215. 18-28; 59.227.2-15; 71.266; 95.319. 26-32. 280. 1051. 1-9.
9. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 3.23.
10. वृहत्संहिता- 79.29-31.
11. देवला मित्रा- पू0 नि0 पृ0 277-292, चित्र फलक 20.31
12. सचिन्द्र शेखर विश्वास- टेराकोटा आर्ट ऑफ बंगाल, नई दिल्ली, 1981, पृ0 193. चित्र फलक सं0 61, अ.
13. वहीं
14. वासुदेव शरण अग्रवाल- ''टेराकोटा फिगरिन्स् ऑफ अहिच्छत्र'', एशियेण्ट इण्डिया, अंक 4, पृ0 161, चित्र फलक सं0 57.261
15. देवला मित्रा- पू0 नि0; सचिन्द्र शेखर विश्वास- पू0 नि0
16. राम चन्द्र सिंह- ''भीतरगाँव ब्रिक टेम्पल'', बुलेटिन म्यूजियम ऐण्ड आर्कियालॉजी इन यू0पी0, अंक 8, पृ0 35, चित्र फलक सं0 13; ए0जी0 पोस्टर फ्राम इण्डियन अर्थ 4000 इयर्स ऑफ टेराकोटा आर्ट, न्यूयार्क, 1986, पृ0 159, चित्र फलक सं0 97.
17. वहीं
18. सतीश चन्द्र काला- भारतीय मृत्तिका कला, इलाहाबाद, 1972, चित्र फलक सं0 108
19. मोतीचन्द्र- प्राचीन भारतीय वेशभूषा, इलाहाबाद, वि0 सं0 2007, पृ0 169
20 मुल्कराज आनंद- पू0नि0, चित्र फलक सं0 15.
21. सतीश चन्द्र काला- पू0नि0
22. ए0जी0 पोस्टर- पू0नि0
23. दिव्यावदान- पृ0 316
24. रानी श्रीवास्तव- कुषाण प्रस्तर मूर्तियों में समाज एवं धर्म, पृ0 78
25. देवला मित्रा- पू0 नि0
26. सचीन्द्र शेखर विश्वास- पू0नि0
27. आर्कियालॉजीकल सर्वे ऑफ इण्डिया एनुएल रिपोर्ट- 1910-11, पृ0 21-22; वहीं, पृ0 92
28. वहीं, पृ0 92
29. मत्स्यपुराण- 1.55.215.18.28; 290.1067. 10-17
30. वासुदेव शरण अग्रवाल- ''द रिलिजियस सिग्निफिकेन्स ऑफ द गुप्त टेराकोटा फ्राम रंगमहल'', ललितकला अंक 8, 1960, चित्र फलक सं0 8.
31. सतीश चन्द्र काला- टेराकोटा फिगरिन्स फ्राम कौशाम्बी इन द इलाहाबाद म्यूजियम, इलाहाबाद, 1950, चित्र फलक सं0 91
32. एम0के0 धवलीकर- मास्टर पीसेज़ ऑफ इण्डियन टेराकोटा, बम्बई, 1977, पृ0 60. चित्र फलक सं0 71; उमाकान्त प्रेमानन्द शाह- ''टेराकोटा फ्राम फारमर बीकानेर स्टेट'', ललितकला अंक 8, चित्र फलक सं0 24.14
33. सतीश चन्द्र काला- टेराकोटा इन द इलाहाबाद म्यूजियम, नई दिल्ली, 1980, चित्र फलक सं0 91
34. एम0 के0 धवलीकर- पू0नि0
35. वासुवेद शरण अग्रवाल- पू0नि0
36. ऋग्वेद- 1.117.12; 9.8.6; 9.60.3; 9.75.3
37. अथर्ववेद- 3.12.7; वहीं 18.4.58
38. वहीं 18.4.58
39. ऋग्वेद- 4.32.19
40. मत्स्यपुराण- 52.200.5-16; 53.203-205
41. पृथ्वी कुमार अग्रवाल- पूर्ण कलश, वाराणसी, 1965, पृ0 31
42. जे0सी0 हर्ले- गुप्त स्कल्पचर, ऑक्सफोर्ड, 1974, पृ0 30, चित्र फलक सं0 127
43 सम्प्रति राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली- पंजीयन संख्या एल0 2
44. सम्प्रति राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली- पंजीयन संख्या, एल0 1
45. ए0 जी0 पोस्टर- पू0नि0

46. सम्प्रति राजकीय संग्रहालय, मथुरा- पंजीयन संख्या 00 टी 6

47. सम्प्रति भारत कला भवन संग्रहालय, वाराणसी- पंजीयन संख्या 1260; ए0के0 नारायण एवं पी0के0 अग्रवाल- एक्सकवेशंस ऐट राजघाट, भाग 4, वाराणसी, 1978, चित्र फलक सं0 57ए 25ए 4.5.

48. इण्डियन आर्कियालॉजीकल ए रिव्यू, 1964-65, पृ0 43, चित्र फलक सं0 36

49. मत्स्यपुराण- 56.217.1-11; 89.296.1-10; 93.314.140-148; 284.1058.1-10

50. सम्प्रति राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली- पंजीयन संख्या, 62.240.

51. सम्प्रति राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली- पंजीयन संख्या 62.238

52. जे0सी0 हर्ले- पू0नि0, चित्र फलक सं0 128.

53. सतीश चन्द्र काला- टेराकोटा ऑफ नार्थ इण्डिया, दिल्ली, 1992, पृ0 115, चित्र फलक सं0 210. ब.

54. देवला मित्रा- पू0 नि0, चित्र फलक सं0 20.34

55. सम्प्रति राज्य संग्रहालय, लखनऊ- पंजीयन संख्या 2026.

56. एस0 के0 श्रीवास्तव- टेराकोटा आर्ट इन नार्दर्न इण्डिया, वाराणसी, 1996, चित्र फलक सं0 101.

57. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह- ''टेराकोटा फ्राम फारमर बीकानेर स्टेट'', ललितकला, अंक 31, जर्नल ऑफ ओरियण्टल आर्ट, गोल्डेन जुबली, वाल्यूम, पृ0 114, चित्र फलक सं0 9.

58. सम्प्रति भारत कला भवन संग्रहालय, वाराणसी- पंजीयन संख्या 1606

59. ए0जी0 पोस्टर- पू0 नि0, पृ0 169 चित्र फलक 107

60. प्रतापादित्य पाल- एशियन टेराकोटा फ्राम द वाल्टर ग्राउन्ड कलेक्शन, लॉस एंजिल्स, 1987, पृ0 55, चित्र फलक सं0 18

●

गीता में ज्ञान एवं विज्ञान

डॉ. कंचन दूबे[*]

श्रीमद्भागवत् गीता के अठारह अध्यायों में यद्यपि 'कर्मयोग', 'भक्तियोग' और 'ज्ञानयोग' के क्रमशः छः छः अध्यायों को तीन भागों में बाटँ कर अध्ययन किया जाता है। क्रमशः इसमें ज्ञानयोग को केन्द्र करके इसका अध्ययन ज्ञान-विज्ञान का पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया गया है। परमात्मा के निर्गुण निराकार तत्व के प्रभाव आदि के रहस्य सहित पूर्णरूप से जान लेने का नाम ही 'ज्ञान' है और सगुण निराकार एवं साकार तत्व के लीला, रहस्य महत्व, गुण और प्रभाव आदि के पूर्ण ज्ञान का नाम 'विज्ञान' है। इस ज्ञान और विज्ञान के सहित भगवान् के स्वरूप को जानना ही समग्र भगवान् को जानना है। श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को ज्ञान और विज्ञान का समग्र रूप वर्णन प्रस्तुत किया जिसको सुनने के लिए आज्ञा दी तथा दूसरे रूप में विज्ञान सहित ज्ञान का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हुए उस विज्ञान की प्रशंसा की –

संस्कृत वाङ्मय में ज्ञान और विज्ञान ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थों में पृथक्-पृथक् रूप में देखने को मिलते है। आजकल प्रचलित भाषा में ज्ञान शब्द सामान्य रूप से जानने के अर्थ में और विज्ञान शब्द एक निश्चित सिद्धान्त के अर्थ में प्रयुक्त होता है। या यो कहिए कि अंग्रेजी के साइन्स शब्द का अनुवाद 'विज्ञान' शब्द से किया जाता है। साइन्स के विभिन्न-भिन्न भेदों का व्यवहार यहाँ भी विज्ञान में रासायनिक मनोविज्ञान आदि। अमरकोष ने इसका अर्थ स्पष्ट लिखा है कि –

''मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः।''

अर्थात् मोक्ष के सम्बन्ध में जो विचार किया, उस विचार और बुद्धि को 'ज्ञान' कहते है और इसके अतिरिक्त शिल्प और शास्त्र के विषय की बुद्धि को 'विज्ञान' कहते है। शिल्प कारीगरी और धर्म अर्थ तथा काम सम्बन्धी सब विचारों के विज्ञान कहना प्राप्त होता है। दार्शनिक भाषा में इनका अर्थ और ही प्रकार का किया जाता है। भागवत् गीता में दो-तीन-जगह साथ-साथ इन दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है-

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।।[1]

भगवान कहते है कि हे अर्जुन! अब मैं तुझे विज्ञान-सहित वह ज्ञान विशेष रूप से बता देता हूँ, जिसके जान लेने पर कुछ भी जानने की बात बाकी नहीं रह जाती। रहस्यसहित यथार्थज्ञान को 'ज्ञान' कहते है। इसी प्रकार उसके गुण निराकार और दिव्य साकार तत्त्व के लीला रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसहित ज्ञान का नाम 'विज्ञान' है।

इदं तु ते गुप्ततमं प्रवक्ष्याभ्यनसूयवे।

ज्ञानं विज्ञान सहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।[2]

अर्थात् अब मैं तुमकों अत्यन्त गुप्त विज्ञान-सहित ज्ञान का उपदेश कहूँगा क्योंकि तुम अच्छे पात्र हो, गुणों में दोष खोजने की तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं है। इन ज्ञान-विज्ञान को जानकर तुम शोक मोहादि अशुभ प्रसंग से विमुक्त हो जाओंगे। यहाँ पर ज्ञान और विज्ञान सहित ज्ञान का उपदेश का वर्णन किया गया है। आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध की चर्चा की गयी है। विज्ञान शब्द का भी उसके अनुकूल ही अर्थ करना है।[3] इस श्रीमद्भागवत् गीता में इसकी सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है –

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।[4]

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है जिसकी स्थिति विकार रहित हैं जिसकी इन्द्रियाँ भक्ती, भाँति जीती हुई है और जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान है, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत् प्राप्त है। ऐसे विज्ञान की चर्चा की गयी है। एक बार याज्ञवल्क्य की गर्वोक्ति से वैशम्पायन रूष्ट हो गये और उन्होंने क्रोधपूर्वक याज्ञवल्क्य से कहा कि तुम दुष्ट हो हमारी विद्या तुम छोड़ दो, यह सुनते ही याज्ञवल्क्य ने एक वमन किया और उसमें सभी विद्या जनित संस्कार को निकाल फेंका इससे यह सिद्ध है कि उपनयनादि संस्कार में गुरु लोग जैसे शिष्य में संस्कारों को संस्थापित करने की विधि जानते थे उसी प्रकार उनके निकाल देने का विज्ञान भी उन्हें विदित था। इस विषय पर यदि कोई विश्वास करे या न करें यह सिद्ध है कि याज्ञवल्क्य ने प्राचीन वेद को छोड़ दिया और सूर्य की उपस्थापना द्वारा नवीन वेद प्राप्त किया।[5] विज्ञान शब्द का भी उसके अनुकूल ही अर्थ करना चाहिए।

श्रीशंकराचार्य आदि व्याख्याकारों ने यहाँ इन शब्दों का यह अर्थ बताया है कि शब्द-ज्ञान के सुनने से जो बुद्धि प्राप्त होती है ज्ञान और मनन एवं एकाग्रता से चित्त लगाने पर जो विस्पष्ट अनुभव प्राप्त होता है उसे विज्ञान कहते है। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से 'वि' यहाँ उपसर्ग विशेष विधि और विरुद्ध अर्थों में भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रयुक्त हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर प्रचलित भाषा और

* अतिथि अध्यापिका, वैदिक दर्शन विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

दार्शनिक भाषा में विज्ञान, शब्द का 'वि' विविध या विशेष ज्ञान में प्रयुक्त होता है। विशेष प्रकार का स्थान सुनिश्चित सिद्धान्त प्रचलित भाषा में 'वि' का अर्थ माना गया है। ज्ञान और विज्ञान का विस्पष्ट ज्ञान दार्शनिक भाषा में भी किया गया है किन्तु साहित्यिक भाषा में विविध प्रकार ज्ञान भासित होता है। क्योंकि शिल्पादि में विविध प्रकार का ज्ञान ही विवक्षित होता है।[6]

श्रीमद्भागवतगीता के विज्ञान-भाष्य में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनन्त पदार्थों में एक तत्व को अनुगत देखना 'ज्ञान' कहा गया है। एक ही तत्त्व से अनन्त पदार्थों का विस्तार हुआ इसी प्रक्रिया से उसी बात को देखने का नाम 'विज्ञान' है। अनेकता में एकता का दर्शन का नाम 'ज्ञान' और एकता को अनेकता के रूप में विभक्त देखना ही विज्ञान है। यहाँ सब भाषाओं में किस प्रकार ज्ञान समन्वित हो इसका वर्णन प्रस्तुत है। ज्ञान शब्द का सामान्य रूप से जानने-मात्र का बोधक है और विज्ञान आदि उसी के विशेष है, यहाँ ज्ञान-विज्ञान, अज्ञान आदि की श्रेणी में ज्ञान शब्द आये है। इसको भी पृथकता दिखाने के लिए विशेष अर्थ ही मानना चाहिए। श्रीमद्भागवतगीता में वर्णित है-

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्।।[7]

अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के विभक्त सब भूतों में जिस प्रक्रियाँ में एक ही अविनाशी तत्त्व को देखा जाय वही सत्वगुण का कार्य है उसे ही 'ज्ञान' कहते है। बुद्धि मोक्ष के उपयोगी मानी गयी है इसलिए अमरकोष का **''मोक्षे धीर्ज्ञानाम्''** लिखना भी सुसंगत होगा। अन्यत्र पुराणों में भी विज्ञान शब्द का विवेचन मिलता है, जिसमें विज्ञान शब्द के उक्त अर्थ का ही आधार माना जाता है। श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में वर्णित है-

नवैकादश पञ्चत्रीन् भावान् भूतेषु येन वै

ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मुम निश्चितम्।[8]

एतदेव हि विज्ञान न तथैकेन येन यत्

स्थितत्युत्पात्तिलयान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम्।।[9]

इनका विवेचन करते हुए लिखा है कि- जगत के अनन्त पदार्थों का नौ, ग्यारह, पाँच और तीन के रूप में वर्गीकरण करना और अन्त में सबके एक ही मूल तत्व को अनुगत देखना यह प्रक्रिया ज्ञान कहलाती है। जैसे न्यायवैशेषिक में नौ-द्रव्य, गुण कर्म सामान्य विशेष, समवाय शक्ति अशक्ति, अभाव, आदि बौद्ध दर्शन में पञ्च स्कन्ध, सांख्य में तीन गुणद्रव्य, गुण, कर्म ये तीन गुण आते है। जैनदर्शन में पञ्चास्तिकाय, प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्रकृति-पुरुष के ऊपर के ग्यारह, मूल तत्त्व आदि के रूप में वर्गीकृत किया गया है। इसे 'विज्ञान' भी कहते है। उसमें प्रक्रिया का भेद हो और एक से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति हो, और उसी में स्थिति और अन्त में उसी में सबका लय देखा जाय इस प्रक्रिया की 'विज्ञान' समझना चाहिए। कूर्मपुराण में कहा गया है कि – 'जिस विद्या के द्वारा एक ही महेश्वर भगवान को सर्वव्यापक देखा जाय वह विद्या ज्ञान कहलाती है और उसके विस्तार द्वारा चौदह विद्याओं से भिन्न-भिन्न तत्त्व देखा जाये तो उसे 'विज्ञान' कहते है।[10]

श्रीमद्भागवत्गीता के चतुर्थ अध्याय में द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ बताया गया है तथा यावन्न मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते है। श्रीमद्भागवतगीता की ज्ञानेश्वरी जी द्वारा वर्णित सुन्दर समन्वय स्थापित किया है ज्ञान-विज्ञान का –

तीरलग्ना तरिणीव कुण्ठीभवति शेमुषी

परावृत्तपदो दूराद्विचरश्चोपसर्पति।।

तर्कोऽपि नैवोत्सहते यत्र तज्ज्ञानमर्जुन

प्रपञ्चोऽन्यन्तु विज्ञानमज्ञानं तत्र सत्यधीः।।[11]

अर्थात् तीर से बधी हुई नाव की तरह जहाँ बुद्धि आगे न बढ़कर कुण्ठित हो जाती है और अपने पैर भी पीछे हटाता हुआ जहाँ से दूर हट जाता है और तर्क भी जहाँ जान का उत्साह नहीं करता वह एकतत्वरूप ज्ञान है, और उससे भिन्न उसका बनाया हुआ प्रपञ्च विज्ञान है। विज्ञान और प्रपञ्चक को सत्य समझना ही अज्ञान है।

एक को अनेक रूप देना ही विज्ञान है। जैसे एक सुवर्ण के बहुत से आभूषण बना देना या एक ही मृतिका को घट कुण्डी आदि का अनेक रूप देना या एक ही लकड़ी के कुर्सी ब्रेन्च तख्त आदि बहुत से पदार्थ बना देना यही तो विज्ञान है। अन्यान्य शास्त्रों में भी एक को अनेकता की शिक्षा दी जाती है जैसे- व्याकरण में एक शब्द और धातु के अनेक रूप, काव्य में एक ही वस्तु का अनेक रूपों में वर्णित है। आयुर्वेद में एक ही औषधि के कई रोगों की दवा तैयार करना ही 'विज्ञान' हैं। इसलिए मोक्षशास्त्र के अतिरिक्त अन्यान्य शास्त्रों को भी विज्ञान ही कहा जाने लगा है। पदार्थ-विज्ञान या 'साइन्स' को भी प्रवृत्ति अनेकता की ओर ही है। रसायन-विज्ञान तो स्पष्ट ही है कि एक को अनेक रूप देता है। मनोविज्ञान में भी विज्ञान को अनेक रूप का विश्लेषण किया जाता है। इसी कारण 'साइन्स' को भी विज्ञान नाम दिया गया है।[12]

अनेक में एकता देखना कठिन बात हैं। एक तत्व-दर्शन तो शब्द प्रमाणों पर श्रद्धा रखने वाले या योग-समाधि तक पहुँचने वाले विशेष व्यक्तियों को ही हो सकता है 'ज्ञान'। किन्तु एक से अनेक पदार्थ बनाना प्रत्यक्ष भी देखा जा सकता है। अतः एक से ही अनेकता का सुस्पष्ट ज्ञान होना कोई कठिन बात नहीं है। एक से अनेक पदार्थ बनते हुए देखने वाले विज्ञान को ही आधार मानकर भिन्न-भिन्न तत्त्वों में एकता का दर्शन कराने वाला ज्ञान ही दृढ़ता प्राप्त करता है। विज्ञान की सहायता से ही 'ज्ञान' की विस्पष्टता आती है। अपितु गीता में 'विज्ञान' शब्द से विस्पष्ट ज्ञान अर्थ लेना

भी हमारे विरुद्ध नहीं बल्कि अनुकूल ही जान पड़ता है।[13] गीता में भी विज्ञान का स्पष्टता किया गया है कि –

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित हैं, जिसकी इन्द्रियाँ भली-भाँति जीती हुई है, और जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण सभी समान है, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसा ज्ञान और विज्ञान को परिभाषित किया गया है। ज्ञान और विज्ञान को अर्जुन से बताने की प्रतिज्ञा करके भगवान् उस प्रकरण में उपदेश क्या किया है? यदि हम इसकी आलोचना करने पर भी एक की अनेक रूपता और अनेक में एक तत्त्व-दर्शन ये दोनों ही बातें यहाँ मिलती है। गीता में वर्णित हैं–

''भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।[15]

मेरी प्रकृति आठ रूपों में जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार में विभक्त है। इस प्रकार विज्ञान पहले बताकर मुझसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, सब मेरे ही स्वरूप के अन्तर्गत आते है। इस प्रकार अनेक की एकता-रूप ज्ञान कहा गया है। नवें अध्याय में ज्ञान-विज्ञान की प्रतिज्ञा के अनन्तर दोनों प्रक्रियाएँ मिलती हैं –

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रभिदमुत्तमम्।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्य सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।[16]

यह विज्ञान सहित जो ज्ञान सब विद्याओं का राजा सब गोपनीयों का राजा अति पवित्र, अति उत्तम प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त साधन करने में बड़ा सुगम और अविनाशी है। ज्ञान की विस्पष्टता तो मनन और समाधि के अनन्तर ही होती है उस विस्पष्टता को शब्दों से नहीं कहा जा सकता है। वेदान्त दर्शन में जगदीश्वर को ज्ञान-रूप और जीवों को विज्ञान नाम से कहा गया है।[17] इससे यह ज्ञात होता है कि अर्थ ही दृढ़ होता है जीव तो परमात्मा के ही अंश माना गया है। पर्यायलोचना ज्ञात करने से यह ज्ञात होता है कि विज्ञान शब्द को अनेकार्थक नहीं मानना पड़ता किन्तु मूल में एक ही अर्थ में प्रयुक्त होकर वह क्रम विकसित होता है कि अंग्रेजी के साइन्स और 'फिलासफी' शब्दों का अनुवाद संस्कृत में विज्ञान और 'दर्शन' जैसे शब्दों से किया जाता है। पाश्चात्य विज्ञान इसकी परिभाषा यह बताते है कि क्रियारूपता (प्रैक्टिस) में जो सिद्धान्त लिखे जाते है वे साइन्स की श्रेणी में आते है और जब तक वे किसी उच्चविद्वान की बुद्धि में प्रसूत होते है। तब तक वह 'फिलासफी' ही कहे जाते हैं। जैसा कि विचार रूप में रहना 'फिलासफी' और क्रियारूप में परिणत हो जाना 'साइन्स' है। ऐसा विवरण कुछ विद्वानों के द्वारा सुना जाता है किन्तु हमारे संस्कृत-शास्त्रों में विज्ञान और दर्शन शब्दों के वाच्य अर्थों में इस प्रकार का भेद शिष्ट-सम्मत नहीं है।

श्रीशंकराचार्य आचार्यों ने अवगम या प्रत्यक्षागमय ज्ञान का वर्णन जैसे- 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतियों में दर्शन शब्द का अर्थ भी वही अवगम या निश्चयात्म ज्ञान ही है। आध्यात्मिक तत्वों को भी क्रिया रूप में उपनिषदों में समझाया गया है। जैसे कि मन की अन्नमयता का ज्ञान श्वेतकेतु को सोलवें दिन उपवास कराकर उद्दालक ऋषि ने दृढ़ कराया।[18] प्रजापति ने इन्द्र और विरेचन को जलपात्र में प्रतिबिम्ब दिखाकर आत्मज्ञान का उपदेश प्रारम्भ किया।[19] दीप्त बालार्कि गार्ग्य को अजातशत्रु ने सूक्ष्म पुरुषके पास ले जाकर आत्मतत्त्व समझाने का आरम्भ किया। इस प्रकार विज्ञान और दर्शन शब्द हमारे यहाँ एकरूप व्यवहार में आते हैं। हाँ दर्शन शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं 'मते' के अर्थ में मिलता है और कही 'इति हि तेषां दर्शनम्' इत्यादि के रूप में जो दर्शनों का सिद्धान्त हमारे यहाँ माने जाते है वे ही दृढ़ है।

विज्ञान और दर्शन का भेद 'कैसे' और क्यों इन दो शब्दों में कर सकते है। वाष्प (भाप) से ट्रेन कैसे चलती है? इसकी प्रक्रिया जान लेना साइन्स था विज्ञान हुआ और क्यों चलती है? वाष्प में ऐसी शक्ति कहाँ ले आयी थी? सब विचार फिलासफी या दर्शन की श्रेणी में आते है क्रिया के उपर्युक्त सामग्री मात्र जानकर उसमें काम कर दिखाना साइन्स या विज्ञान हुआ और इस कार्य के होने का मूलतत्व खोजना फिलासफी या दर्शन हुआ। इस दृष्टि से देखने पर तो जो कुछ हम कहेंगे या कही भी कहते है, वह दर्शन की परिभाषा में आ सकता है। विज्ञान उसे नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जो कुछ कहते है उसे करके दिखाने की शक्ति आज हममें नहीं हैं। उस प्रक्रिया को हम कुछ काल से भूल चुके है। इन परिषदों का लक्ष्य भी करके दिखाना नहीं आज तक सब कुछ वाचक आडम्बर है। इसलिए यहाँ तो विज्ञान शब्द का एक से अनेक की कल्पना रूप पूर्वोक्त अर्थमानक ही हमें वाचक रूप में चलना चाहिए।[20]

हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को भष्म कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भष्ममय कर देता है। इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं हैं। उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्मयोग के द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मा में पा लेता है –

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्यनि विन्दति।।[21]

जितेन्द्रिय साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब के तत्काल ही भगवत्प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। विवेकहीन और श्रद्धारहित, संशयुक्त मनुष्य परमार्थ से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है ऐसे

संशययुक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसी के पाप कर्म को और न किसी के शुभकर्म को ही ग्रहण करता है, किन्तु अज्ञान के द्वारा ढका हुआ है, उस से सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहें है। परन्तु जिनका वह अज्ञान परमात्मा के तत्व ज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया है उनका वह 'ज्ञान' सूर्य के सदृश उस सच्चिदानन्दधन परमात्मा को प्रकाशित कर देता हैं-

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषा नाशितमात्मनः।

तेषाभात्यिवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।[22]

जिनका मन व तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दधन परमात्मा ही जिनकी निरन्तर एकीभाव से स्थिति है ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पाप रहित होकर अनुरावृत्ति को अर्थात् परमगति को प्राप्त होते हैं। वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समदर्शी ज्ञानी होते हैं।

श्रीकृष्णभगवान अर्जुन से कहते है कि ज्ञानी किसे कहते है– जो अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्म को ही देखना यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरित है वह अज्ञान है। जिसमें ज्ञान के साधनों के विपरीत तो मान, दम्भ, हिंसा आदि है, वे अज्ञान की वृद्धि में हेतु होने से 'अज्ञान' नाम से कहे गये है-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।[23]

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है उसी प्रकार एक ही आत्म रूपी ज्ञान सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है और जो इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को (जड़, विकार, क्षणिक, नारावान, नित्य चेतना, अविकारी, अविनाशी उनके भेद को जानना) भेद को तथा कार्य सहित प्रकृति से युक्त होने के जो पुरुष ज्ञान नेत्रों द्वारा तत्त्व से जानते हैं वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते है।[24]

इस प्रकार श्रीमद्भागवतगीता में ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन हमने प्रस्तुत किया। जो 'ज्ञान' आत्मा अनुभव से प्राप्त कर संसारिक जगत में फैलता है उसे 'विज्ञान' कहते है। आत्म अनुभव के अनुसार इस भौतिक जगत में ज्ञान और विज्ञान दोनों ही बहुत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण सा प्रतीत होता है इसलिए ज्ञान और विज्ञान इस भौतिक जगत के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

सन्दर्भ सूची-

1. श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय- 7/2.
2. श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय, 9/1.
3. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति प्रो0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ0सं0 74.
4. श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय, 6/8.
5. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति- प्रो0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ0 सं0 72.
6. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति- प्रो0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ0 सं0 74.
7. श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय, 18/20.
8. श्रीमद्भागवत्, एकादशस्कन्ध, 11/19/14.
9. कर्मपुराण उत्तरखण्ड 15वें अध्याय में।
10. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति- प्रो0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ0 सं0 76.
11. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति- प्रो0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ0 सं0 76.
12. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति- प्रो0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ0 सं0 77.
13. श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय, 7/4.
14. श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय, 9/2.
15. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति- प्रो0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ0 सं0 77.
16. छान्दोग्य उपनिषद्, प्र0 6 ख0 6.
17. छान्दोग्य उपनिषद्, प्र0 6 ख0 6.
18. वृहदारण्यक अध्याय 7/1.
19. श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय, 4/38.
20. श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय, 5/15.
21. श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय, 4/38.
22. श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय, 13/33-34. 5/16.
23. श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय, 13/11.
24. श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय, 13/33-34.

●

महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी का आदर्श व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

डॉ. विचित्रसेन गुप्त *

जगत् प्रसिद्ध है कि भगवान श्रीराम को दीन-दुखी बहुत प्रिय हैं — ***बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न*** (रा. दो. 18); और महामना को भी दीन–हीन प्राणियों का कष्ट निवारण करना न केवल प्रिय था बल्कि उनका परमलक्ष्य भी था। ऐसा प्रतीत होता है कि मालवीय जी ने अपने जीवनादर्श का संधान श्रीरामचरितमानस की उक्त पंक्तियों से प्रेरित होकर ही किया था। महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय जी का आदर्श था — ***न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्। कामये दुखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।*** उन्होंने अपने उपरोक्त आदर्श का आजीवन निष्ठापूर्वक पालन किया और अपना समस्त जीवन दीन-दुखियों का कष्ट दूर करने में ही लगा दिया। उनका समग्र कर्तृत्व उनके उपरोक्त आदर्श से ही प्रेरित रहा है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व को इस तरह से साधा मानो ईश्वर ने ही धरती पर अवतार लिया हो। इस संसार में समय-समय पर देशकाल की आवश्यकता के अनुसार उस कारुणिक परमात्मा के आंशिक अवतार हुआ करते हैं। हमारे चरित-नायक महामना मालवीय जी भी हमारे ख्याल से इसी प्रकार के आदर्श महापुरुषों में से एक हैं[1]। मालवीय जी के लिए विश्वविद्यालय की स्थापना भारत के दुखों से मुक्ति का उपाय था। महामना अच्छी तरह जानते थे कि भारत की गरीबी और बदहाली के मूल में अशिक्षा है। वे यह भी जानते थे कि साल-दर-साल आने वाली महामारी और अकाल से निबटने का स्थायी हल शिक्षा से ही निकल सकता है[2]। गोस्वामी तुलसीदास प्रणीत श्रीरामचरितमानस के अरण्यकाण्ड की निम्नलिखित पंक्तियों की सार्वकालिक सत्यता का प्रत्यक्ष प्रभाव हमें मालवीय जी के दिव्य जीवन में सर्वत्र दिखायी पड़ता है –

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।।

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं।

तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाएँ। धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ।

बीसवीं शताब्दी में महामना के उज्ज्वल चरित्र से जो उत्साह, आदर्श और शिक्षा भारतवर्ष के पुरुष, स्त्री, बालक और वृद्ध को मिली है उससे देश, धर्म और हिन्दू जाति का सदा कल्याण होता रहेगा[3]।

वस्तुतः प्रातःस्मरणीय भारत रत्न पूज्य महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी का व्यक्तित्व आदर्श होने के साथ-साथ अत्यन्त विराट भी था। अपने दृढ़ चारित्रिक गुणों, अदम्य साहस और कल्पनातीत विनम्रता, विद्वता एवं त्याग के कारण वे न केवल भारतीयों के लिए अपितु पूरी दुनिया के लिए प्रेरणास्त्रोत हैं।

आसाधारण भविष्यद्रष्टा

सर्वविदित है कि मालवीय जी महाराज वर्तमान समय की नब्ज पहचानने के साथ ही भविष्य के भी अद्भुत पारखी थे। अतीत के गौरव की संरक्षा के साथ-साथ भविष्य की समृद्धि हेतु समर्पित कर्तृत्व उनके आदर्श व्यक्तित्व का अभिन्न अंग रहा है। वर्ष 1905 आधुनिक भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस वर्ष देश में महान सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। गोखले ने पश्चिमी भारत में पूना में सर्वेन्ट ऑफ इण्डिया सोसाइटी की स्थापना की। पूर्व में, बंगाल वन्दे मातरम् के नारों से गुंजायमान था और अरविन्द घोष ने यहाँ स्वदेशी अंदोलन का शुभारम्भ किया। स्वदेशी की सोच के साथ ही स्वराज का भी सपना आया। देश में भयंकर उथल-पुथल मचा हुआ था। तरानों एवं गीतों से और नारों एवं भाषणों से राष्ट्रीयता की सुषुप्त भावना जागृत हो गई। लाखों भारतवासी उच्च आकांक्षाओं द्वारा प्रेरित होकर बदलाव के लिए व्याकुल हो उठे। परिणामस्वरूप, वर्ष 1905 में हमारे देशवासियों की सोच में बदलाव आया। इसी वर्ष के अंत में, वाक्पटु गोखले अपना आकर्षक विचार व्यक्त कर रहे थे और उन्होंने देशवासियों से अपने भारत को सर्वोपरि प्रेम करने तथा देश की राजनीति को धर्म-आधारित बनाने की अपील की। यह वही क्षण था जब प्रयाग के धार्मिक नेता पंडित मदन मोहन मालवीय ने पवित्र गंगा तट पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने की अपनी अत्युत्तम योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की। उन्होंने बनारस के टाउन हॉल में राष्ट्रीय नेताओं की एक बैठक बुलायी और अपनी महत्वाकांक्षी परियोजना से लोगों को अवगत कराया। बाबू सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, बाबू अरविन्द घोष, लाला लाजपत राय, गंगा प्रसाद वर्मा और वी. कृष्णस्वामी अय्यर ने मालवीय जी के सुविचारों को श्रद्धापूर्वक सुना लेकिन कोई खास प्रोत्साहन नहीं दिया। उस समय भारत में नव-हिन्दू आन्दोलन का सर्वप्रमुख नायक — देदीप्यमान सितारा ऊभरता हुआ दिखायी पड़ा। वह नायक साहसी, दिलेर और ऊर्जावान था। वरिष्ठ राजनेता मालवीय जी की गंगा सदृश महोर्मियों को आगे बढ़ने से रोक न सके। कुछ लोग तो पंडित मालवीय जी के दृढ़ निश्चय और साहस पर सचमुच हक्का-बक्का थे।

किन्तु, मालवीय जी का अपना तरीका था और उन्होंने मान-सम्मान एवं देश-भक्ति की राह पर अकेले चलने का अपना मन बना लिया। वास्तव में वह आदमी धन्य है जिसने महान एवं कल्याणकारी कार्य करने का संकल्प किया और तल में मौजूद कीमती मोती पाने

* हिन्दी अधिकारी,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

के लिए बड़ी तेजी से गहरी डुबकी लगायी। देवता और देवदूत उसके पास आते हैं और वह ब्रह्मा अर्थात् विधाता से एकाकार होने तक एक सफलता से दूसरी सफलता की ओर अग्रसर होता चला जाता है। मालवीय जी को 1905 में बनारस में युवकोचित अदम्य साहस की अनुभूति हुई। वे अपने 45वें वर्ष में थे — ओजस्वी और प्रसन्नवदन। उस समय वे राष्ट्र की आशा और विजय के प्रतीक मालूम पड़ते थे। कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त हो चुका था और जिन लोगों ने हिन्दू विश्वविद्यालय के सपने के बारे में सुना था वे यह सब भूल गए। लेकिन, निश्चित तौर पर वह व्यक्ति नहीं भूला जो अपनी मातृभूमि की प्रशंसा और चुनार के पत्थरों में चिरस्थायी इसकी अक्षय कीर्ति के गीत गाया करता था। पंडित मालवीय जी जिस किसी से भी मिलते थे, अपना गहन विचार — अपने जीवन का सर्वोपरि जुनून उससे अवश्य साझा करते थे। संयोगवश उन्हें विद्वानों और सन्तों का साथ मिला और उनका आशीर्वाद प्राप्त हुआ। उनके अपने गुरु और उनकी पूजनीया माता ने उन्हें अपना आशीर्वाद दिया था। किसी महान कार्य की शुरूआत करने के लिए किसी व्यक्ति को माँ के प्यार और गुरु के आशीर्वाद से बढ़कर भला किस अमृत-तत्त्व की आवश्यकता है? बालक मदन मोहन को उसकी किशोरावस्था में इलाहाबाद में कॉलेज में हिन्दू संगठन और हिन्दू धर्म संबंधी विचारों की प्रेरणा देने वाले पंडित आदित्यराम भट्टाचार्य बनारस में हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए अपने शिष्य की ओजस्वी अपील को लेकर अत्यन्त उत्सुक थे। भारतीय राष्ट्रवाद के महान कवि-सिद्ध स्वामी रामतीर्थ मालवीय जी के विचारों से अभिभूत थे और लोकमान्य बाल गंगाधार तिलक ने अपने अनोखे अंदाज में मालवीय जी से कहा ***'आप नींव की ईंट बनिए और अन्य लोग आपके महान कार्य में जुड़ते जाएंगे'[4]।***

और इसी तरह से कृपा बरसती रही। जो बीज पहले ही बोया जा चुका था उस पर पर्याप्त सुनहरी धूप पड़ रही थी और इसे अंकुरित होने में थोड़ा ही समय लगा। सन् 1911 में पंडित मदन मोहन मालवीय ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के लक्ष्यों और उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए इसका पहला प्रॉस्पेक्टस प्रकाशित किया। एक करोड़ रुपये के लिए पंडित मदन मोहन मालवीय जी द्वारा की गई अपील का आश्चर्यजनक असर हुआ। परिणामस्वरूप जब वे और दरभंगा महाराज तथा उनके अन्य विशिष्ट मित्रगण देश का दौरा प्रारम्भ करने ही वाले थे तो महान राष्ट्रीय शैक्षणिक संस्थान के लिए योगदान देने के लिए लोगों में परस्पर होड़ मच गई। नेताओं ने भी इस महान कार्य का स्वागत किया और कुछ समय के लिए देश '*हिन्दू धर्म की जय*', '*काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की जय*' के नारों से गूंज उठा। एक वर्ष से भी कम की अवधि में हिन्दुओं से 30 लाख रुपये प्राप्त हो गए। योजना के प्रवर्तकों ने राष्ट्रीय शिक्षा के उत्थान के लिए कार्य करने हेतु स्वयं को वास्तव में सामर्थ्यवान और सौभाग्यशाली समझा। उन्होंने ईश्वर के समक्ष शान्तभाव से नतमस्तक होकर उनकी असीम कृपा के लिए उन्हें धन्यवाद दिया। पंडित मालवीय जी ने और अधिक रुचिर स्वप्न देखना शुरू कर दिया और साथ ही दिनानुदिन इन स्वप्नों को अत्यन्त आश्चर्यजनक ढंग से साकार भी करने लग गए। उन्होंने सत्तारूढ़ शासकों और अधिकारियों से मुलाकात की। वे गर्वोन्नत होकर राजपूताना, मेवाड़ और मारवाड़ के राजमहलों में गए। उन्होंने मध्य भारत का भी दौरा किया। कौन सा ऐसा राज-दरबार था जहाँ इस श्रेष्ठ देशभक्त का स्वागत नहीं हुआ? उन्होंने मांगा और वह सब कुछ पाया जो वे चाहते थे। उन्होंने वायसराय लार्ड हार्डिंग को अपनी योजना समझायी। इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल के सदस्यों से चर्चा की। सर्वत्र उन्हें सहयोग और समर्थन मिला। उन्होंने पूरे भारत का दौरा किया और प्रसिद्ध महानगरों में गए। वे जहाँ भी जाते थे हिन्दू समुदाय उमड़ पड़ता था। पंडित मालवीय जी ने अपने देशवासियों पर जादू सा कर दिया था। उनमें कुछ विलक्षण जादू था जो किसी में नहीं था। उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी और समझाने-बुझाने के तरीके से अनेक मुसीबतों पर विजय पायी। वे सुभाषित संस्कृत, सरस हिन्दी, प्रवाहमयी उर्दू तथा शानदार अंग्रेजी बोलते थे। मालवीय जी ने विशाल जनसभाओं को संबोधित किया और अपने प्रिय देशवासियों को हिन्दू धर्म की रक्षा करने, सनातन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु बाहर प्रतिनिधिमंडल भेजने और आजादी की लड़ाई लड़ने के लिए देशभक्तों के दल को प्रशिक्षित करने हेतु प्रेरित किया। मालवीय जी की बातों को लोगों ने माना। परिणामस्वरूप, राजे-रजवाड़ों और जनता ने खुशी से अपना आर्थिक योगदान दिया। हिन्दू विश्वविद्यालय शुरू करने के लिए जिस विशाल धनराशि की आवश्यकता थी वह वर्ष 1916 की शुरूआत से पहले ही प्रतिश्रुत हो गई और इसका एक बड़ा हिस्सा प्राप्त भी हो गया था। अपने प्रयासों की आश्चर्यजनक सफलता से उत्साहित होकर मालवीय जी ने 4 फरवरी, 1916 को हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास करने के लिए वायसराय से निवेदन किया। सचमुच उस वर्ष की बसंत पंचमी भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक उल्लेखनीय दिन है। वैदिक अनुष्ठान का साक्षी बनने के लिए पवित्र गंगा तट पर वायसराय, गवर्नर, राजा-महाराजा तथा देश के अनेक गणमान्य व्यक्ति जुटे हुए थे। हिन्दू विश्वविद्यालय का बीज अंकुरित होना प्रारम्भ हो गया। सद्यः आरोपित इस कोमल नवांकुर पर ईश्वर की कृपा बनी हुई थी। इसे देश के चारों ओर से अभिजात वर्ग का संरक्षण, स्नेहारितेरक और अटूट प्रेम मिलना प्रारम्भ हो गया और हिन्दू विश्वविद्यालय मनोरम ढंग से विकसित होना शुरू हो गया।

1300 एकड़ क्षेत्रफल में फैला हुआ यह शैक्षणिक संस्थान संभवतः पूर्व एवं पश्चिम जगत् में अद्वितीय है। मालवीय जी के अद्भुत व्यक्तित्व का ही परिणाम था कि महामहिम वेल्स के महाराजा सन् 1921 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भवनों का उद्घाटन करने के लिए तैयार हो गए थे। ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत निर्मित इस नवीनतम विश्वविद्यालय को देखकर वेल्स के महाराजा अत्यन्त गौरवान्वित महसूस कर रहे थे। वे मनोहारी खेल के मैदानों और थोड़ी ही दूरी पर प्रवाहित हो रही गंगा की रजत धारा को विस्मित भाव से निहारते रहे।

वर्ष 1924 की समाप्ति से पूर्व काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पाँच कॉलेज थे। इन नवीन महाविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए देश के विभिन्न हिस्सों से लगभग 1000 युवा आए थे। साल-दर-साल विद्यार्थियों की संख्या बढ़नी शुरू हो गई और ज्ञान पिपासा भी बढ़ती ही गई। नवयुवकगण विधि, चिकित्सा, कृषि, खनन, वाणिज्य, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और वैद्युत अभियांत्रिकी का अध्ययन करना चाहते थे। एक-एक करके छात्राओं ने भी आना शुरू कर दिया और तब भला भावी मातृशक्ति को प्रवेश देने से कौन मना कर सकता था? उनके लिए भी एक अलग से महाविद्यालय स्थापित किया जाना था। इसलिए, नगवां में एक के बाद एक शानदार भवन बनने शुरू हो गए।

एक महिला महाविद्यालय, एक चिकित्सा महाविद्यालय, अन्तःरोगियों के लिए एक चिकित्सालय, एक ऑपरेशन (शल्य चिकित्सा) कक्ष, एक प्राच्यविद्या एवं धर्मविज्ञान महाविद्यालय, विद्यार्थियों के लिए छात्रावास, प्रोफेसरों और प्राचार्यों के लिए आवास, अभियंताओं के लिए एक वर्कशॉप, एक ग्रंथालय, एक कृषि शोध संस्थान, एक विज्ञान महाविद्यालय, एक कला महाविद्यालय, एक वानस्पतिक उद्यान तथा खेलकूद देखने के लिए जनता एवं विद्यार्थियों के बैठने हेतु एक एम्फीथिएटर का निर्माण हुआ। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है मानो एक नवीन सभ्यता, एक नवीन संस्कृति और नई आशा पुष्पित और पल्लवित हो रही हो। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का सफर शुरूआती दौर से लेकर अब तक शानदार रहा है। यह ज्ञानवृक्ष विशाल और शानदार बन गया है और प्रत्येक देशभक्त युवा को उसका जीवन बेहतर बनाने और हमारी इस प्रिय मातृ-भूमि की आजादी के लिए प्रेरणा प्रदान करने हेतु अपनी छत्रछाया में शरण देने के लिए पुकार रहा है।

सपना साकार होना

अपने अतीत के गौरव को पुनः प्राप्त करने की भारत की उत्कट अभिलाषा, राष्ट्रीय भावना विकसित करने के उद्देश्य से धर्म एवं शिक्षा का समन्वय करने का अनुरोध जो कि देश की सर्वोपरि एवं अत्यावश्यक जरूरत थी, सर्वथा विखण्डित हो चले हिन्दू समाज को पुनर्गठित करने की आवश्यकता इत्यादि जैसे तमाम कार्य महामना पं. मदन मोहन मालवीय जी के महान मस्तिष्क में एक साथ उमड़-घुमड़ रहे थे। तपोवनों में स्थित प्राचीन ऋषियों के आश्रम अर्थात् गुरुकुल, तक्षशिला एवं नालंदा विश्वविद्यालय – ये सब सहसा उनकी आंखों से होकर गुजरे और तुरन्त उन्होंने भारत के प्राचीन गुरुकुलों की श्रेष्ठ परम्पराओं को पुनर्जीवित करने वाले एक ऐसे विश्वविद्यालय की कल्पना की जिसमें पाश्चात्य जगत् के आधुनिक विश्वविद्यालयों में कला, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी विषयों की दी जा रही सर्वोत्तम शिक्षा की श्रेष्ठ परम्पराएं भी समाहित हों[5]। उनका यह परोपकारी स्वप्न काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में साकार हुआ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पंडित मदन मोहन मालवीय जी की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। अपने जीवनकाल में हम सभी लोग सपने बुनते हैं; अंत में बहुत से लोगों को निराशा हाथ लगती है; लेकिन प्राचीन विद्या और हिन्दू संस्कृति के अनन्य पुजारी मालवीय जी के साथ ऐसी बात नहीं थी। उन्होंने भी अपने शुरूआती जीवनकाल में एक सपना देखा और निष्ठापूर्वक स्वयं से कहा ***'मेरा सपना अवश्य सच होगा'*** उन्हें अपने आप में ऐसी दृढ़ आस्था थी और अपने देशवासियों की उन्नति और कल्याण के लिए ही उन्होंने अद्भुत ऊर्जा और अनवरत उमंग के साथ असाधारण परिश्रम किया— अमीर-गरीब और राजा-प्रजा से याचना की और एक करोड़ रुपया जुटाया तथा एक जादूगर की भाँति कहा कि शानदार भवन तैयार हो जाय, और देखिए! बंजर भूमि से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय निकल आया। श्यामला धरा पर लगभग दो वर्गमील से अधिक क्षेत्र में व्यवस्थित ढंग से आलीशान कॉलेज और छात्रावास निर्मित कराये गए हैं जहां अब कोई भी व्यक्ति विद्वानों की चहल-पहल तथा अपने हाथों में उत्कृष्ट ग्रंथ लिए हुए और हरे-भरे मैदानों में विचरण करते हुए छात्रमंडली की ठाठ देख सकता है[6]। इस विश्वविद्यालय के माध्यम से मालवीय जी ने अपने देशवासियों की निष्क्रिय काया में नई जान फूँक दी है और इस विद्या मंदिर की स्थापना करके उन्होंने दुनिया को दिखा दिया है कि हिन्दू जाति के लोग अभी भी बहुत कुछ कर सकते हैं। निस्संदेह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय इस सदी में हिन्दुओं की प्रतिभा का उत्कृष्ट स्मारक है।

शुरूआती दौर में अनेक वैज्ञानिकों और विद्वानों ने इस विश्वविद्यालय में आकर इसका मान बढ़ाया है। इन आगंतुकों में जर्मनी के **समरफील्ड**, फ्रांस के **श्रीमान सिल्वेन लेवी**, मैनचेस्टर के **प्रोफेसर रामसे म्योर**, इटली के **मार्क्विस ।। मिस्साटेली** और अमेरिका के **डॉक्टर ह्यूम** जैसे प्रख्यात व्यक्ति सम्मिलित हैं। कर्नल वेजवुड ने ही कहा था कि 'हिन्दू विश्वविद्यालय भारतीयों द्वारा किया गया इस सदी का महानतम कार्य है'[7]।

हिन्दू विश्वविद्यालय हिन्दुओं के हृदय के समान ही अत्यन्त विशाल है और भारत के सनातन धर्म का प्रतीक है जो अखिल जगत् के प्राणिमात्र के प्रति करुणा और प्रेम की भावना से परिपूर्ण है। इसका स्थल-विस्तार, दिन में अत्युत्तम सूर्य का प्रकाश और रात में सितारों की चमक तथा माँ गंगा का सामीप्य काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को ज्ञान का अनूठा केन्द्र बनाते हैं। प्राचीन काल में भारत के ऋषि-महर्षि विशाल जंगलों में खुले आकाश तले नदियों के किनारे शिक्षा दिया करते थे। वे परम सत्य का प्रतिपादन करते थे। बनारस उनका सबसे पहला पड़ाव हुआ करता था और अति प्राचीनकाल से ही काशी भारत में ज्ञान का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र रही है। यह काशी ज्ञानवापी (ज्ञान का कूप) थी और मानवता के महान शिक्षक इसके नदी किनारे और आस-पास स्थित उपवनों में उपदेश दिया करते थे। ढाई हजार वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध ने बनारस

स्थित सारनाथ में अपने सिद्धान्त करुणा और प्रेम का उपदेश दिया था। इसके एक हजार वर्ष बाद शंकराचार्य बनारस आए थे और उन्होंने वेदान्त-दर्शन का प्रतिपादन किया था; और उनके बाद अनेक ऋषि-महर्षि आए और परम सत्य की सीख दी। अविस्मरणीय संत तुलसीदास ने यहीं पर गंगाजी के किनारे कालजयी श्रीरामचरितमानस की रचना की। यह स्थान हिन्दू विश्वविद्यालय के निकट ही है। इस प्रकार, यह स्थान दैवी पुरुषों और मानवता का पाठ पढ़ाने वाले गुरुओं की पावन स्मृति से प्रतिष्ठित है।

चमत्कारिक व्यक्तित्व

मालवीय जी का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक और चमत्कारिक था। उनकी बातें लोगों को मंत्रमुग्ध कर देती थीं। अक्टूबर 1935 में कलकत्ता में घटित प्रकरण से मालवीय जी के चमत्कारिक व्यक्तिव्य का सहज ही प्रमाण मिलता है। उस प्रकरण से इस मायावी संसार में मालवीय जी का यश बढ़ा। यह घटना निरीह पशुओं की बलि से संबंधित थी। मालवीय जी का मानना था कि भगवान जानवरों का खून नहीं चाहता है। जो परमात्मा प्राणियों को जीवन देता है, सभी प्रकार के नुकसान और खतरों से बचाता और रक्षा करता है वह विकसित होते हुए जीवन को नष्ट नहीं करना चाहता है।

यह कितना दुखद है — और सचमुच बहुत ही दुखद है कि भारत में, जहाँ मनुष्य की सोच पूर्णता और उदात्तता की सीमा (perfection & extent to the sublimation) तक पहुँच चुकी हो; और मनुष्य की आत्मा परमसौन्दर्य का साक्षात् कर चुकी हो वहाँ जीवन को किसी भी प्रकार से नुकसान पहुँचाया जा सकता है — उसके प्रति क्रूरता की जा सकती है। यह कल्पना करना भी असंभव है कि निरीह प्राणियों की बलि से ईश्वर प्रसन्न होंगे। पल भर के लिए कौन विश्वास करेगा कि जगदम्बा — काली, जिनके गर्भ से प्रतिदिन असंख्य जीव जन्म लेते हैं, वे ऐसे जीवों की अपने ही मंदिर में हत्या होते देखना चाहेंगी?

लेकिन यह मूर्खतापूर्ण कृत्य कलकत्ता के काली घाट स्थित काली मंदिर में सदियों से होता चला आ रहा था और मालवीय जी के सत्प्रयासों से यह क्रूर प्रथा समाप्त हुई। सचमुच, ईश्वर की महिमा बड़ी अपरमपार है। वह शुभ कार्यों के लिए — सत्य की रक्षा और धर्म की स्थापना के लिए निमित्तकारण का निर्णय स्वयं करता है। जैसा पवित्र कार्य पंडित मदन मोहन मालवीय द्वारा किया गया है, वैसा कार्य ईश्वर हर किसी को नहीं सौंपता है। भारत को अपने राष्ट्रीय इतिहास में इस उल्लेखनीय घटना को अत्यधिक महत्व देना चाहिए और भारत की युवा पीढ़ी को चाहिए कि वह ईश्वर निर्मित निरीह पशुओं के प्रति मालवीय जी के प्रेम और दया के अभियान को आगे बढ़ायें[8]।

दैवीय व्यक्तित्व

मालवीय जी जितने धर्मनिष्ठ थे उतने ही प्रकृति प्रेमी भी। वे प्रकृति के कण-कण में ईश्वर का वास मानते थे। चाहे वे देश में हों या विदेश में सदैव परमात्मा को याद करना और परमात्मा के प्रसादस्वरूप प्रकृति के मनोहारी सौन्दर्य का साक्षात् करना कभी नहीं भूलते थे। गोलमेज सम्मेलन के सिलसिले में जब वे इंग्लैण्ड में थे तो वहाँ के विशाल उपवनों में फूलों से अलंकृत रमणीय और संगीतमय परिवेश के बीच आनन्दातिरेक से अभिभूत हो जाते थे। गोलमेज सम्मेलन के राजनीतिक चक्रव्यूह को भूल जाते थे। साथ ही, उस समय भारत में घटित दुखद साम्प्रदायिक समस्याओं को भी विस्मृत कर देते थे। वास्तव में ब्रह्म मुहूर्त ईश्वर के साथ सायुज्य होने का समय होता है। प्रातः काल वे अलौकिक चीजों की बातें किया करते थे। ईश्वर की सर्वव्यापकता की भी चर्चा करते थे। लगभग घंटा भर तक मनोहारी उपदेश देते थे। परमात्मा के विषय में अपना अद्भुत प्रवचन देते समय वे ***वेद व्यास, उपनिषद, रामायण, भागवत, तुलसीदास, गीता*** आदि से बहुतायत में उद्धरण देते थे। आत्मा के स्वरूप – यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म और कल्पनातीत बृहत् है – पर उनका प्रवचन अद्भुत होता था।

पंडित गोविन्द वल्लभ पंत ने मालवीय जी के दिव्य व्यक्तित्व के बारे में उचित ही कहा है : *He was one of the greatest of men ever born and his name will always be enshrined in letters of gold in the history of India. He was a devoted patriot, an eminent statesman and one of the illustrious architects of modern India. His activities were varied and he was a friend of every good cause. He was a perfect gentleman of very high ideals and character and inspired respect and affection in all those who had privilege of coming in contact with him*[9]. (वे धरती पर जन्मे अबतक के महानतम व्यक्तियों में से एक थे और उनका नाम भारतीय इतिहास में सदा के लिए स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। वे एक समर्पित देशभक्त, एक प्रख्यात राजनेता और आधुनिक भारत के महान वास्तुकारों में से एक थे। उनकी गतिविधियाँ बहुआयामी थीं और वे हर अच्छे कार्य में सहभागी थे। उनके पास जो कोई भी जाता था स्नेह और प्रेरणा प्राप्त करता था)।

वे हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्भव की रोमांचक कहानी सुनाते हुए कहते थे कि शुरूआत में इस महान संस्था के लिए एक सन्त ने उन्हें एक सौ एक रुपये दिए थे और उनके आशीर्वाद से यह अल्पराशि शीघ्र ही एक करोड़ एक रुपये हो गई। धनराशि में यह वृद्धि दस वर्ष की अवधि में हुई और एक विश्वविद्यालय स्थापित करने का मालवीय जी का सपना सच हो गया। जिस समय पंडित जवाहरलाल नेहरू और उनके सहकर्मी अंतरिम भारत सरकार में प्रभार ग्रहण कर रहे थे उस समय सुबह उनके (मालवीय जी के) मुख से निकले कुछ शब्दों को सुनना वास्तव में आनन्ददायी है। परमात्मा के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए मालवीय जी ने कहा '***अपने देश में अपना राज***'[10]। अपने देश में अपनी सरकार स्थापित करने के लिए उन्होंने जीवन पर्यन्त कड़ी मेहनत की। उन्होंने कई कांग्रेस अध्यक्षों के साथ कार्य किया। उम्र में पंडित

जवाहरलाल नेहरू से तीस वर्ष और महात्मा गांधी से नौ वर्ष बड़े मालवीय जी आनन्द भवन में पंडित जवाहरलाल नेहरू के अन्नप्राशन अनुष्ठान में सम्मिलित हुए थे। उसके बाद संयोगवश एक समय ऐसा आया जब युवा पंडित जवाहरलाल और वृद्ध पंडित मालवीय जी नैनी जेल में एक साथ बंद थे और दोनों ने एक ही सपना — भारत की आजादी का सपना देखा। मालवीय जी एक शिक्षक, संपादक, वकील, सत्याग्रही, अनेक बार जेल जा चुके स्वतंत्रता सेनानी, सांसद, कांग्रेस अध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रेक्टर तथा धार्मिक नेता थे।

मालवीय जी चार बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष रहे। पहली बार सन 1909 के लाहौर अधिवेशन में, दूसरी बार सन् 1918 के दिल्ली अधिवेशन में, पुनः तीसरी बार 1930 के दिल्ली अधिवेशन में तथा चौथी बार 1933 के कलकत्ता अधिवेशन में; जिस समय कांग्रेस के सभी नेताओं को बंदी बना लिया गया था और द्वितीय गोलमेज सम्मेलन से महात्मा गांधी के वापस लौटने पर अंग्रेजों द्वारा आंदोलनकारियों का दमन चरम पर था। सन् 1886 में जिस दिन मालवीय जी ने कलकत्ता अधिवेशन में अपना पहला भाषण दिया उसी दिन से वे अग्रणी राष्ट्रीय नेताओं की पंक्ति में सम्मिलित हो गए थे। कलकत्ता में दिए गए उनके पहले भाषण से ही उन्हें ख्याति प्राप्त हो गई। उन्हें भारत का सुभाषित वक्ता कहा जाता है। इस देशभक्त-राजनीतिज्ञ ने एक श्रेष्ठ नेता के रूप में देश भर में सौ से अधिक सम्मेलनों की अध्यक्षता की। जनमानस को उनके मुखारविन्द से लाखों शब्द सुनने को मिले। उनके भाषणों में विनम्रता और पाण्डित्य कूट-कूट कर भरा होता था। सार्वजनिक रूप से आखिरी बार उनकी मधुर वाणी उस समय सुनने को मिली जब सन् 1939 की सर्दियों में उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के स्वर्ण जयन्ती दीक्षांत समारोह के अवसर पर अपना प्रसिद्ध और प्रेरक भाषण हिन्दी में दिया था।

जीवन के सांध्यकाल में उनका समय उनके छोटे से कमरे के बाहर लगे अनार की टहनियों पर चहचहाते नीलवर्णी पक्षियों को देखने; काशी हिन्दू विश्वविद्यालय रूपी संस्कृति- केन्द्र में आने वाले विद्वानों की चहल-पहल सुनने; और सौम्य नीलगगन को एकटक निहारने में व्यतीत होता था। वे कहते थे कि '***यही रंग मेरे प्रभु कृष्ण का भी है***'। वे सभी से मंद मुस्कराते हुए मिलते थे। सूर्यास्त होने से पूर्व प्रत्येक शाम वे विश्वविद्यालय के चारो ओर भ्रमण करते थे और जब उनकी गाड़ी दुग्धशाला के पास रुकती थी तो श्वेतवर्णी बछड़े स्वर्णिम आभायुक्त मालवीय जी का स्वागत करने के लिए अपनी पूँछे हिलाते और कूदते हुए उनके पास आ जाते थे। वे हौले-हौले उन्हें सहलाते थे और मन ही मन उनकी भाषा में उनसे बाते करते थे मानो निरीह पशु उनकी बातों को समझ रहे हों। इसे केवल प्रेम की भाषा ही कहा जा सकता है। महात्मा गांधी ने उचित ही मालवीय जी को देव-पुरुष कहा है[11]।

संदर्भ

1. चतुर्वेदी, सीताराम, महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय जी का जीवन चरित, संवत् 1993 वि. (ठाकुर शिवकुमार सिंह द्वारा 'ग्रंथकार के प्रति' शीर्षक से उद्धृत।
2. प्रज्ञा (का. हि. वि.वि. पत्रिका), अंक 63, भाग -1, में प्रकाशित प्रो. सदानन्द शाही का आलेख, पृ. 91
3. श्रीवास्तव, यमुना प्रसाद, महामना मालवीय जी, अशोक पुस्तक मंदिर, 1961, पृ. 1
4. Sunderam, V. A. : Mahamana Malviyaji form the Torchbearers, 1948, P. 33
5. दर एस. एल. एवं सोमस्कंदन एस., काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का इतिहास (हिंदी संस्करण) 2019, पृ. 46
6. Sunderam, V. A. : Mahamana Malviyaji form the Torchbearers, 1948, P. 25
7. –do- P. 26
8. –do- P. 39
9. Sunderam, V. A. : Homage to Malviyaji, 1949 P. 24
10. Dar S. L. & Somskandan S. : History of the Banaras Hindu University 1966 (Reprinted Ed. 2007), p. 746
11. Sunderam, V. A. : Mahamana Malviyaji form the Torchbearers, 1948, P. 42

●

''विविध विज्ञानों का केन्द्र बिन्दु आम्नाय समग्र''

डॉ0 (श्रीमती) निधि गोस्वामी*

''सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'' अर्थात् वेदरुपी ज्ञान से सभी उत्पन्न एवं सिंचित् है। आदिकाल से ही वैदिक संहिताओं को समस्त ज्ञान एवं विज्ञान का मूल माना जाता है। आध्यात्मिक सम्पदा से परिपूर्ण वेदों में भौतिक विज्ञान के असंख्य सूत्र विद्यमान है। आयुर्वेद की उत्पत्ति वेदों से मानी जाती है। ईश्वरीय ज्ञान रूपी वेद को मानव मात्र के कल्याण के लिए मंत्रदृष्टा ऋषियों के अन्तः करण में प्रकाशित किया गया था। वेद भारतीय संस्कृति और मनीषा के सबसे पहले एवं संहिताबद्ध ग्रंथ है। इनका अध्ययन न केवल मार्गदर्शी एवं प्रमाणिक सिद्ध हुए है वरन् आज भी अनेकों देशों में इनके उल्लिखित तथ्यों पर गहन शोध हो रहा है। प्राचीन काल से ही वेद सभी धर्मों, सम्प्रदायों और समाज में विभिन्न वर्गों को जोड़ने की प्रेरणा व मार्गदर्शन, सर्वधर्म समभाव व धार्मिक विश्वास के आदर की शिक्षा देने का कार्य करते आ रहे हैं। यह वस्तुतः विश्वमानव की सम्पत्ति है। भारतीय संस्कृति एवं वैदिक धर्म के विशुद्ध रूप को समझने के लिए आज वेदों के अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता है। यह अमर विद्या ऋषियों की उत्कट साधना से सम्पन्न आज भी अपने मौलिक रूप में विद्यमान है जो धरोहर के रूप में हमें प्राप्त है जिसके प्रचार-प्रसार एवं रक्षण का दायित्व हमें प्राप्त है। जिसके लिए यह श्रुति वाक्य प्रसिद्ध है- **'गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि।'**

वेद भारतीय संस्कृति की आत्मा है। वेदों में विज्ञान, धर्म, अध्यात्मादि से सम्बन्धित अनन्त ज्ञान सुरक्षित हैं। वेद विभिन्न प्रकारों के ज्ञानों का ही नहीं अपितु मानव जीवन की आधारशिला का भी निर्माण करते हैं। 'सत्यमेव जयते नानृतं, सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः' उचित रीति से ही धर्नाजन करना चाहिए, क्योंकि 'रयिं नोऽद्रोघ्रेण वचसा सत्यग्ने'[1] ऊँ0 पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पुर्णमुदच्यते[2] ब्रह्म की व्यापकता तथा अव्यय परब्रह्म को व्यक्त करता है तो 'नित्य परिमण्डलम्' 'आकाश शब्दमात्रम्' इयं वेदिः परोअन्तः पृथिव्या[3] के रूप में खगोल विज्ञान, सोमेन आदित्याः बलिनः तथा दिविसोमो अधिश्रितः[4] के रूप में हाइड्रोजन ऊर्जा, 'सदैव सोम्येदमग्र आसीदकमेवाद्वितीयम्'[5] के रूप में परमाणु विज्ञान, 'रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः' के रूप में वैमानिक विद्या, 'गुरुत्वात्पनम्' द्वारा गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त, 'यो अनिध्यो दीदयदप्स्वन्तर्य' तथा 'अपां नपान्मधुतीरपो'[6] द्वारा जल-विद्युत ऊर्जा शक्ति का उल्लेख प्राप्त होता है। उसी प्रकार पर्यावरण, कृषि, जल विज्ञान, भूधात्विक विज्ञान के साथ-साथ शल्य चिकित्सा – 'सद्यो जङ्घामायसी विश्पलायै धने हिते सर्वदे प्रत्यधन्तम्' यथा 'तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भ्रिषजावनर्दन'[7] तथा पुनर्नवजीवन प्रदान करने वाली औषधियों का उल्लेख प्राप्त होता है। अनेक रोगों का उल्लेख तथा निदान वेदों में प्राप्त होता है। आज इस वैश्वीकरण के युग में जितनी भी समस्याएँ सामने है उनका मूल कारण ही अज्ञानता है जिसका एक मात्र समाधान वेद ही है क्योंकि वेद ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान से ही अज्ञानता का नाश होता है, इसलिए वेद को **'सर्वज्ञानमयो हि सः'**[8] कहा गया है इसकी उपेक्षा से अपने कल्याण की उपेक्षा सिद्ध होगी जो मानव मात्र की स्वस्तिवाचिका है। वेद संग्रह में विश्व के सभी वैज्ञानिक तथ्यों की विवेचना पूर्व में ही हो चुकी है जैसे सूक्ष्मजीव-विज्ञान, भौतिक विज्ञान, अभियान्त्रिकी विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, वस्त्रविज्ञान, वृष्टि-विज्ञान, वैमानिकी-विज्ञान, मशक-विज्ञान, शिल्प-विज्ञान, ब्रह्माण्ड संरचना, सूर्य सिद्धान्त, पर्यावरण एवं जल संरक्षण की अवधारणा से युक्त विवेचना नीतिशास्त्र, विश्वबन्धुत्व, जीवनमूल्य, सामाजिक-विज्ञान, कृषि-विज्ञान, अर्थव्यवस्था, प्रबन्धतन्त्र, व्यवसायप्रबन्धन, नृत्य संगीत शिक्षा, भौगोलिक विन्यास से उपमण्डित सभी शास्त्रों एवं विद्याओं का उल्लेख मिलता है।

जीव-जगत् : वृक्ष-लता आदि को पूर्व में विज्ञान जड़ ही मानता था। वैज्ञानिक परिक्षणों से जगदीश चन्द बसु जी ने उनमें जान डाल दी और उनमें प्राण सत्ता सिद्ध की। वेदशास्त्र हमेशा से उन्हें चेतन मानकर जीव की भोग योनि मानते रहे है। अथर्ववेद में **वीरूधः प्रणान्ति** कहकर वनस्पति आदि में चेतना के अस्तित्व को स्वीकार किया है। वैदिक संहिताओं में विश्व रचना विज्ञान की भी पुष्टी की गई है। इसमें ईश्वर की रचना का मूल परमेश्वर को परम सत्ता बताया गया है उसने विराट के रूप में अपने को प्रकट किया और इस संसार में स्थावर-जंगम स्वरूप का निर्माण किया। सृष्टि के अणु-परमाणु में वह पुरुष रूपी आत्मा ही व्याप्त हो रही है उसी पुरुष का चौथाई भाग यह दृष्टिगोचर संसार है और उसका तीन चौथाई द्युलोक में अमृत रूप होकर स्थित है- **'पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।'** वेद वह स्त्रोत है जिसमें सारा विज्ञान ही समाहित है। विज्ञान के अनुसार जगत यौगिको का समुच्चय है जिनके मुख्य घटक इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन व न्यूट्रॉन है। ऋग्वेद के अनुसार परमाणु सप्तवर्गी है जिन्हें सप्त अर्धगर्भा भी कहा गया है जिसका अर्थ अन्तरिम अवस्था है जो परमाणु अवस्था का द्योतक है।

वनस्पतिक विज्ञान : इसी प्रकार से वनस्पति विज्ञान भी इसी का एक अङ्गीभूत तथ्य है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में वृक्ष, वनस्पतियों की उपयोगिता एवं महत्व के विषय में विस्तृत विवरण प्राप्त होते है इन्हीं वनस्पतियों से औषधि प्राप्त होती है जिसकी

* शोधोत्तर अध्येत्री, वेदविभाग स0वि0ध0वि0, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

सामान्य व्याख्या है- **'ओषधयः फलपाकान्ताः'** जिनके फल पकते हैं। आचार्य सायण के अनुसार **'ओषः पाकः फलपाकः यासु धीयते इति ओषधयः।'** वनस्पति अर्थात् वनस् पति चन्द्रमा भी वन का एक अर्थ होता है। **'एको वासः पत्तने वा वने वा'** भर्तृहरि ने भी छोटे-बड़े वृक्षो एवं झाड़ियों से युक्त स्थान को वन की संज्ञा दी है। इन्हीं वनस्पतियों के अपने गुण धर्म होते है जिनमें किसी भी रूग्णता को समाप्त करने के सार्थक गुण विद्यमान है। ऐसी-ऐसी जड़ी बूटियों और फल-फूलों को प्राप्त करना, अमृतमय प्रकृति का वरदान है। जिन्हें आज वैज्ञानिक एलोपैथ, होमियोपैथ, आयुर्वेद की आधुनिक विद्या, फिजियोपैथ इत्यादि से प्रकाशित करते हैं जिनका उल्लेख पूर्व में ही हमारे शास्त्रों में प्राप्त है। ऋग्वेद में श्री के स्तवन में विल्ववृक्ष को वनस्पति कहा गया है **'वनस्पति वृक्षोऽस्ति विल्वः'।** विल्वपत्र मधुमेह नाशक, पका बेल पित्तनाशक और उदर कृमि नाशक होता है।' वेदान्तसार की कारिका में एक उल्लेख आता है कि ब्रह्मा ने चार प्रकार की सृष्टि जरायुज, अण्डज्, उद्भिज एवं स्वदेज की रचना की।- **'चतुर्विधानि शरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्भिस्वेदजाख्यानि।'**[9] वनस्पति जगत् इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अर्थात् प्रकृति की रहस्यमयता और विराट्ता का एक अनमोल खजाना है। वैज्ञानिकों की दृष्टि में वनस्पतियों का उद्भव लगभग दो अरब वर्ष पूर्व माना गया है। अथर्ववेद का वनस्पति जगत् आज भी वैज्ञानिकों के समक्ष शोधपरक चुनौति प्रस्तुत कर रहा है। इस वेद में ऋषियों ने अनेक ऐसी विधाओं जैसे- काश्यप विवर्ण, मृतसञ्जीवनी, मृत्युञ्जय, सर्पविषनाशनम् आदि का उल्लेख किया है जिनपर अनुसंधान करने की आवश्यकता है। वैदिक साहित्य में वृक्ष-वनस्पतियों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि वनस्पतियों में सभी देवों की शक्तियाँ विद्यमान हैं। जिससे मनुष्य को जीवनशक्ति मिलती है और उनकी रक्षा होती है। **वीरुधो वैश्वदेवीः उग्राः पुरुषजीवनीः।**[10] अन्य मन्त्र में औषधियाँ प्रदूषणोपकारिका हैं अतः इन्हें 'विषदूषणी' कहा गया है। **उग्रा या विषदूषणीः..... ओषधीः।**[11] अथर्ववेद में इसी देवत्व की सिद्धि को बताने के लिए कहा गया है- **वनस्पतिः सह देवैर्न आगन्, रक्षः पिशाचन् अपबाधमानः।**[12] शतपथब्राह्मण में वनस्पतियों में शिवत्त्व की स्थापना की गयी है- **'ओषधयो वै पशुपतिः।'**[13] यजुर्वेद के रुद्राध्याय में वर्णित है कि वृक्ष, वन, ओषधियों के स्वामी रुद्र (शिव) हैं। शिव विषपान करके अमृत प्रदान करते हैं वैसे ही वृक्षादि विषरूप कार्बनडाई-ऑक्साइड का पान कर अमृत प्रदान करते हैं। **नमो वृक्षोभ्यो हरिकेशेभ्यः। वनानां नमः। वृक्षाणां पतये नमः। आख्यानां पतये नमः।**[14] यजुर्वेद में अन्यत्र औषधियाँ (वृक्षादि) माता रूप में वर्णित हैं- **ओषधिरिति मातरः।**[15]

खगोल शास्त्र : इसी प्रकार वेदों में सूर्य और सौर्य ऊर्जा के बारे में विस्तृत रूप से जानकारी मिलती है। जिसमें बताया गया है 'सूर्य' ऊर्जा का एक मात्र प्रमुख स्रोत है और सूर्य ही ऊर्जा का जगत् उत्पादक है। विज्ञान इन्हीं सब तथ्यों को आज सिद्ध करता है और इन्हीं पर ऊर्जा के संरक्षण का नियम आधारित है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने सूर्यमण्डल में व्याप्त कालेपन को अभी जाना है परन्तु वैदिक विद्वान वेद के माध्यम से इस रहस्य को आदि काल से जानते हैं। आदित्यमण्डल के मध्य भाग में कालापन होने से ही आदित्य को बहुधा कृष्ण नाम से पुकारा जाता है। जैसे- **'कृष्णे नोनाव वृषभो ददीयम्',** यहाँ कृष्ण पद से आदित्य रूप अग्नि का निर्देश है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि आकाशीय पदार्थों की गणना ज्योतिर्मय पदार्थों में है। इनसे सम्बद्ध विज्ञान को ज्योतिर्विज्ञान अथवा खगोल विज्ञान कहते हैं। यजुर्वेद के अनुसार भी ज्योतिष खगोल विज्ञान ही है। इसमें ग्रहों, नक्षत्रों का अध्ययन होता है। **प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शनम् ।** खगोल विज्ञान के अन्तर्गत अंतरिक्ष की संरचना व इसकी उत्पत्ति का अध्ययन किया जाता है। पृथ्वी के चारों ओर स्थित अनन्त अंतरिक्ष को विश्व कहा जाता है। वेदों में इसका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। सूर्य ही संसार की ऊर्जा का स्रोत है तथा वायुमण्डल एवं पृथ्वी पर मिलने वाली उष्मा को सौर विकरण कहा जाता है। यही वात ऋग्वेद में कही गयी है- **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।** यहाँ 'आत्मा' शब्द ही ऊर्जा का बोधक है। क्योंकि वर्तमान वैज्ञानिकी भाषा में ऊर्जा वह है 'जो किसी वस्तु में कार्य की क्षमता है उसे ऊर्जा कहते हैं' और क्षमता आत्मा में होती है। किसी कार्य को सम्पादित करने के लिए आत्मिक ऊर्जा की महती आवश्यकता होती है अतएव सूर्य सम्पूर्ण विश्व की मौलिक ऊर्जा का नाभिकेन्द्र है।

सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने वाले विभिन्न ग्रहों, उपग्रहों, धूमकेतुओं, क्षुद्र ग्रहों तथा अनेक आकाशीय पिण्डों के समूह या परिवार को सौरमण्डल कहते हैं, परन्तु वैज्ञानिकों ने इस बात की पुष्टि की है कि दृश्यमान सूर्य के सदृश अंतरिक्ष में अनेक सूर्य हैं, तथा उनकी परिक्रमा अन्य आकाशीय पिण्ड कर रहे हैं। ऋग्वेद में यह बात हजारों साल पहले ही कह दी गयी है- **सप्त दिशो नानासूर्याः। देवा आदित्य ये सप्त।**[16] अथर्ववेद में भी यही बात कही गयी है- **यस्मिन् सूर्या अपिताः सप्त साकम्।**[17]

सूर्य पृथ्वी के सबसे निकटतम का तारा है। यह तप्त गैस का गोला है जिसका निर्माण 74 प्रतिशत हाइड्रोजन, 25 प्रतिशत हीलियम तथा 1 प्रतिशत अन्य तत्त्वों के संयोग से बना हुआ है। इसकी मूल संरचना अन्य चारों के सदृश ही है इसका द्रव्यमान 2×10^{30} किग्रा0 है। सूर्य का दर्शनीय भाग प्रकाश मण्डल कहलाता है जिसकी सतह का ताप 580^0 होता है। इस मण्डल की ऊपर की परत वर्णमण्डल होती है जो किरीट में विलीन हो जाती है। यह सक्रिय गैसों का विशाल समूह है। इस वर्णमण्डल का तापमान 430^0 से 40000^0 से भी अधिक होता है। सूर्य तथा ब्रह्माण्ड के अन्य तारों की ऊर्जा का स्रोत वहाँ होने वाला नाभिकीय संलयन है। संलयन के सिद्धान्त को वर्तमान में जर्मनी के दो वैज्ञानिकों हान एवं स्ट्रासमैन ने अन्वेषित किया है। उसके अनुसार यदि यूरेनियम पर न्यूट्रानों की बमबारी हो जाये तो नाभिक दो खण्डों में विभाजित हो

जाता है। ये दोनों खण्ड समान आकार के होते हैं तथा इनकी द्रव्यमान संख्या 74 से 162 के मध्य होती है। नाभिकीय संलयन से प्राप्त नाभिकों का द्रव्यमान संलयन से पूर्व नाभिक के द्रव्यमान से कम होता है। द्रव्यमान में हुई यह कमी। द्रव्यमान ऊर्जा समीकरण के अनुसार ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है। सूर्य का अधिकांश भाग हाइड्रोजन एवं हीलियम का बना हुआ है तथा इसके भीतर के भाग का ताप करीब 170 डिग्री केल्विन होता है। इतने अधिक ताप पर हाइड्रोजन नाभिकों का संलयन होता है तथा अपार ऊर्जा मुक्त होती है । 1938 में अमेरिकी वैज्ञानिक बैथे ने बताया है कि सूर्य पर दो तरह की संलयन प्रक्रिया- प्रोटान व कार्बन नाइट्रोजन चक्र होती है। सूर्य जिस दर से ऊर्जा उत्सर्जित कर रहा है उससे अनुमान लगाया जाता है कि वह अभी अगले 1000 करोड़ वर्ष तक इसी दर से ऊर्जा उत्सर्जित करता रहेगा। ऋग्वेद में सौर ऊर्जा के अविष्कार और सफल प्रयोग का श्रेय 'त्रिय' को दिया गया है। त्रिय में तीन देवता हैं इन्द्र, गन्धर्व और वसु है। **त्रिय एनम् आयुनक, इन्द्र एवं प्रथमो अध्यतिष्ठत् । गन्धर्वो अस्य रश्नाम् अगृभ्यात् सूरादश्वं वसवो निरतिष्ठ।**[18]

ओजोन आक्सीजन के तीन परमाणुओं से मिलकर बनने वाली गैस है, जो कि वातावरण में बहुत कम मात्रा में (0.02प्रतिशत) में पायी जाती है। जहाँ निचले वातवरण में पृथ्वी के निकट इसकी उपस्थिति प्रदूषण बढ़ाने वाली है और मानव ऊतक के लिए नुकसानदेह है वहीं ऊपरी वायुमण्डल में इसकी उपस्थिति परमावश्यक है। इसकी सघनता 10 लाख में 10 वाँ हिस्सा है। यह गैस प्राकृतिक रूप से बनती है- जब सूर्य की किरणें वायुमण्डल के ऊपरी सतह पर ऑक्सीजन से टकराती है तो उच्च ऊर्जा विकरण से इनका कुछ हिस्सा ओजान में परिवर्तित हो जाता है। पृथ्वी के धरातल के 20-30 किमी0 की ऊँचाई पर वायुमण्डल के समताप मण्डल क्षेत्र में ओजोन गैस का एक झीना आवरण है जिसे ओजोन परत कहते हैं। यह परत पर्यावरण के रक्षक है तथा सूर्य की पराबैंगनी किरणों को आने से रोकती है। ऋग्वेद में पृथ्वी के चारों ओर विद्यमान ओजोन परत का उल्लेख है। इसके लिए '**महत् उल्व**' शब्द आया है। **महत् तदुल्बं स्थविरं तदासीत् । येनाविष्टतः प्रविवेशिथापः॥**[19] वेदों के अनुसार ब्रह्माण्ड का प्रत्येक परमाणु गतिशील है यथा पृथ्वी सूर्य के चक्कर लगाती है- इसका वर्णन ऋग्वेद के दसवें मण्डल में मिलता है- **क्षाः शुष्णं परि प्रदक्षिणित।**[20] यही बात विज्ञान भी कहता कि इस विश्व का समस्त परमाणु गतिशील है यदि उसकी गति रूक गयी तो वह किसी अन्य में जाकर विलीन हो जायेगा।

रसायन विज्ञान : वेदों में रसायन विज्ञान से सम्बद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र मिलते है जैसे जल की उत्पत्ति, जल का महत्त्व, गुण-भेद, सृष्टि, विविध धातुएँ, उनका मिश्रण उनके विविध प्रयोग, लवण-जल और रत्नों के औषधि के रूप में होने वाले उपयोगों के सूत्रों का उल्लेख भी किया गया है। अथर्ववेद का कथन है कि जल में अग्नि (ऑक्सीजन) और सोम (हाइड्रोजन) दोनो है। ऋग्वेद के अनुसार जल में वैश्वानर अग्नि विद्यमान है- **अप्सु- आसीन मातरिश्वा प्रविष्टः।**[21] **अग्निषोमौ विभ्रति आप इत् ताः।**[22] **वैश्वानराः यासु अग्निः प्रविष्टः ता आपः।**[23] ऋग्वेद के एक सूत्र में जल का सूत्र किया गया है कि मित्र और वरूण के संयोग से जल प्राप्त होता है। **मित्रं हुवे पूतदक्षं वरूणं च रिशादशम् । धियं धृताचीं साधन्ता॥**[24]

ऋग्वेद के ही एक मंत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मित्र और वरूण से जल (वशिष्ट) की उत्पत्ति हुई। साथ ही यह स्पष्ट किया है कि जब तक विद्युत प्रवाह (Electric current) द्वारा उनमें चंचलता उत्पन्न नहीं की जाती है तब तक जल नहीं बनेगा। कुंभ और पुष्कर शब्द परखनली यानि Testtube का संकेत करते हैं अतएव अगस्त्य को कुंभज या घड़े से उत्पन्न कहा जाता है। उर्वशी शब्द का अर्थ विद्युत electricity है क्योंकि यह उरू (विशाल क्षेत्र) में अशी व्याप्त हैं विद्युत उत्पत्ति का अविष्कार का उल्लेख भी वेदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में वर्णन है कि घर्षण या मंथन से विधि द्वारा अग्नि को उत्पन्न करने की विधि का अविष्कार हुआ था। **'त्वामग्ने पुस्करादधि – अथर्वा निरमन्थत'** भौतिक रसायन के सापेक्ष संसारोत्पत्ति की चर्चा वेदों में प्राप्त होती है। वेदों में नासदीयसूक्त, पुरुषसूक्त और दाक्षायणीसूक्त आदि में सृष्टि की उत्पत्ति की विवेचना है। ऋग्वेद में अदिति अर्थात् प्रकृति से दक्ष ऊर्जा की उत्पत्ति और उससे सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। वैशेषिक दर्शन में इस विषय की विवेचना है। इसमें सृष्टि की रचना पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के सूक्ष्मतम कण परमाणुओं से मानी गई है। अतिसूक्ष्म, इन्द्रियातीत, निरऽवयव और नित्य द्रव्य को परमाणु कहा गया है। यह परमाणु चार प्रकार के होते है- पार्थिव, जलीय, तेजस और वायवीय अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि वायु के सूक्ष्मतमकण। इन परमाणुओं से सृष्टि का क्रम इस प्रकार माना गया है कि दो परमाणुओं के संयोग से द्रव्यणुक, तीन द्रव्यणुको के संयोग से द्रव्यणुक त्रसरेणु या त्रुटि, चार त्रसरेणुओ के संयोग से चतुरणुक। इसी क्रम में सृष्टि की उत्पत्ति होती है द्रव्यणुक नहीं दिखते है जबकि त्रसरेणु दिखाई देते हैं। परमाणु स्वभावतः शान्त और निष्पन्द होते है इनमें जब स्पन्द होता है तब सृष्टि की प्रक्रिया आरम्भ होती है इसी सिद्धान्त को परमाणुवाद कहते हैं। यह सिद्धान्त ग्रीक दार्शनिक डेमोक्रिटस (Democritus 460-370 B.C.) और एपिक्यूरस (Epecurus, 342-270 B.C.) के परमाणुवाद से थोड़ा भिन्न है। यह परमाणु को स्वतः गमनशील उत्पन्न करने वाला बताते हैं। यह आकाश में विचरण करते हुए पारस्परिक संघर्ष से स्वतः सृष्टि करते हैं। वैशेषिक दर्शन परमाणु को निस्पन्द मानता है। ईश्वरेच्छा (अदृष्ट से) उनमें स्पन्दन और सृष्टि होती है। वेदों में अकार्बनिक या धातुज रसायन से सम्बद्ध सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है। सोने चाँदी और लोहे के आभूषण, शस्त्र और अन्य वस्तुओं का उल्लेख मिलता है।

यजुर्वेद के तीसरे अध्याय में सुवर्ण लोहे आदि का काम करने वाले इन शिल्पियों का उल्लेख है- मणिकार (30.7) हिरण्यकार (सुनार 30.17) अञ्जनिकारी (अंजन बनाने वाले 30.114), अयस्ताप (लोहार 30.14), इषुकार (बाण बनाने वाला 30.7) इत्यादि।

शस्त्र विज्ञान : कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में 16 प्रकार के चलयन्त्र शतहनी आदि 11 प्रकार के हलमुख अस्त्र 10 प्रकार के स्थित यन्त्र, 5 प्रकार के बाण 6 प्रकार के कवच आदि का वर्णन किया है।[25] धातुओं को शुद्ध करने की प्रक्रिया का पारिभाषिक नाम है- दक्ष। अतएव शुद्ध किये हुए सोने को दाक्षायण हिरण्य कहा जाता है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में दाक्षायण हिरण्य का अत्यधिक महत्त्व पूर्ण वर्णन किया गया है। शुद्ध सोने की जंजीर या ताबीज बाँधने से दीर्घायु, वर्चस्विता और बल वृद्धि का वर्णन किया गया है। **यो विभर्ति दाक्षाण्यणं हिरण्य सजीववेषु कृणुते दीर्घमायुः।**[26]

वैमानिकी विज्ञान : अब बात करते हैं वैमानिकी विज्ञान की। आज वैज्ञानिक विमानन, हवाई जहाज, रॉकेट इत्यादि के सफल निर्माण पर बड़े ही प्रसन्न एवं सहज प्रतीत होते हैं। आज के समय में विमान तकनीकि जानना जितना सरल है उसी के विषय में यह चर्चाएँ उतनी ही प्राक्तन है। वैदिक काल में ऋग्वेद या यजुर्वेद आदि में आकाशी रथ, अन्तरिक्ष नौका, अन्तरिक्ष यात्रा का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। उदाहरण इस मन्त्र के माध्यम से भी सिद्ध हो रहा है- **त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेमामनुं..... विश्व ईद्वियुः। त्रयः स्कम्भासः स्कामितास आरंभे त्रिर्न यथास्त्रिवं श्विना दिवाः॥**[27]

शिल्प-निर्माण एवं वास्तु : न केवल विज्ञान की विवेचना इसमें की गई है बल्कि शिल्प कौशल का भी इसमें उतनी ही सूक्ष्मता से वर्णन प्राप्त होता है। भारतीय सभ्यता जितनी प्राचीन है भारतीय शिल्प भी उतना ही प्राचीन है। आज जिसे हम तकनीकि विज्ञान कहते हैं वैदिक काल में उसी को शिल्प कौशल, कला ज्ञान या शिल्पशास्त्र की यथाविधि शिक्षा भी दी जाती थी जिसके ज्ञाता शिल्पी या विश्वकर्मा कहलाते हैं। मुण्डकोपनिषद् में इन्हें 'ब्रह्मवेत्ताओं' से भी श्रेष्ठ कहा गया है। 'ऋभु' शब्द का प्रयोग भी वेदों में प्राप्त होता है जो हस्त कुशल शिल्पी का द्योतक है। ये कुशल व्यक्ति वेदिकाओं का भव्य निर्माण करते थे। यज्ञों में अनेक पक्षियों के कुण्ड बनाते थे। उनके पंख-पुच्छ, चोंच आदि रूप उसी रंग के बनाए जाते थे जैसे कि उन पक्षियों के होते थे। इसके अतिरिक्त ध्वजा, पताका, तोरण एवं वंदनवारो से यज्ञवेदी, मण्डप और यज्ञप्रदेश को इतना दिव्य, चित्ताकर्षक और मोहक बनाया जाता था कि चक्षुओं को पूर्ण तृप्ति हो जाती थी।'' वेद ग्रंथों में कला के विपुल साक्ष्य प्रमाणिक है। ऋग्वेद में चमड़े पर अग्निदेव का चित्र तथा यज्ञवेदियों के द्वार पर स्वर्णाङ्कित नारी आकृति का उल्लेख विश्रुत व्याप्त है। वैदिक ऋषियों द्वारा ऊषा और रात्रि के प्रतिमा स्वरूप का प्रतीकात्मक अंकन यज्ञशालाओं के द्वारो पर उकेरने का सन्दर्भ प्राप्त है। इसके अतिरिक्त बुनाई-कढ़ाई, रथ निर्माण कला, गृह निर्माण कला आदि अनेकानेक कलाओं में दक्ष होने के प्रमाण उपस्थित है। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि इस युग में गृहनिर्माण कला का अच्छा विकास हुआ था। वैदिक संहिताओं में आवासीय व्यवस्था के अन्तर्गत ग्राम, पुर, गृह और अनेक गृहवाची पद् प्राप्त होते हैं। निघण्टु में 22 गृहपर्याय का उल्लेख है, परन्तु वेदों में उससे कहीं अधिक शब्द गृह या आवास के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। यह वैदिक ऋषियों की आवास संरचना पर उनके सूक्ष्म चिंतन का द्योतक है। 'वास्तु' शब्द निवासार्थक वस् से तुण् प्रत्यय द्वारा उत्पन्न होता है और ऋग्वेद में क्षे के क्रियापद के साथ इसका प्रयोग हुआ है।[28] इसी का 'पति' के साथ समस्त पद 'वास्तोष्पति'[29] ऋग्वेद और अथर्ववेद में वास्तु के अधिपति देवता का नाम है।[30]

वैदिक साहित्य के अनुसार अच्छा निवास स्थान वह है जो उत्तम प्रकार से सुरक्षित (सुप्रावीःक्षयः) तथा लम्बी अवधि तक टिकने (दीर्घश्रुत शर्म) वाला हो। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में ऋषि वशिष्ठ के एक विशाल, सुन्दर तथा स्थायी निवास का उल्लेख है। उन्होंने आकांक्षा की कि ''मैं बड़े परिमाण और सहस्त्र द्वारों वाले घर में जाना चाहता हूँ, मैं मिट्टी के घर में नहीं रहना चाहता हूँ।''[31*] वास्तव में 'मृण्मयं गृहम्' तथ सहस्त्रद्वारं' का भेद वैदिक वास्तु विज्ञान का प्रेरक तत्त्व है।[32] वैदिक वाङ्मय में घर निर्माण के लिए स्तम्भ, छप्पर, छत, द्वार, बाँस आदि का उल्लेख हुआ है। वास्तुकला सम्बन्धी अनेक शब्द उल्लेखनीय हैं- जैसे घरों की छत आदि टेकने के खम्भे को स्कम्भ कहते थे। ऋग्वेद में इन्द्र को स्कभीयान् अर्थात् सर्वोत्तम खम्भे का स्वामी कहा गया है।[33] वैदिक युग में वास्तुकला की दृष्टि से गृहनिर्माण में मनुष्यों के पास पशु और अग्नि को भी महत्त्व दिया गया है। अथर्ववेद में कहा गया है कि मनुष्यों के साथ पशु और अग्नि भी रहेंगे- **'अग्निनयन्तछादयसि पुरुषान् पशुभिः सह।'**[34] वेदों में नगरी का उल्लेख भी प्राप्त होता है। **''अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरोध्या।''** अथर्ववेद के कुछ प्रमुख मंत्रों में यह उपरोक्त मन्त्र देवो की नगरी 'अयोध्या' का उल्लेख प्राप्त हुआ है जो कि प्रकाशमान, मनोहर और अपराजित है। वस्तुतः इस प्रकार के वर्णनों का आध्यात्मिक अर्थ लगाया जाता है किन्तु इनमें आध्यात्मिकता के साथ भौतिक अस्तित्ववादिता का पुट प्रदर्शित होता है। काशी नगरी का उल्लेख वेदों एवं पुराणों में स्पष्ट रुप से प्राप्त है। निम्नलिखित श्लोक में तो साक्षात् शिवजी ने अपनी अर्धांगिनी माता पार्वती से काशी नगरी को धन्या कहा है- **''वाराणसीति भुवनत्रय सारभूता धन्या सहा ममपुरी गिरीराज पुत्रिः''**[35] वेद और सम्बद्ध वाङ्मय में व्यावहारिक और पारमार्थिक सभी विद्याओं का समावेश हो जाता है व्यक्ति, परिवार, समाज, पशु-पक्षी पालन, कृषि सिंचाई, कृत्रिम वर्षा, उद्योग धंधे, यातायात, भौतिक रसायन शास्त्र, जीवशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, अन्तरिक्ष विज्ञान, राजनीतिशास्त्र, सैन्य संचालन, ऋतुविज्ञान, भूगर्भशास्त्र, शिक्षा, भाषा-विज्ञान आदि एक भी ऐसा

विषय नहीं जिसका ज्ञान मनुष्य के वैयक्तिक और सामूहिक तथा ऐहिक अथवा पारलौकिक जीवन के लिए आवश्यक हो और वह वेदों में उपलब्ध न हो।

ध्वनि विज्ञान : वैदिक विज्ञान शब्द को आकाश का गुण मानता है किन्तु पाश्चात्य विज्ञान अब तक उसे वायु का गुण सिद्ध करने में लगा रहा परन्तु रेडियो के आविष्कार के पश्चात् शब्द को इयर या स्पेस (ear or space) का गुण माना जाने लगा है। जो कि दोनों ही आकाश तल के अन्तर्गत है। वस्तुतः ध्वनि एक मात्र ऐसा तत्त्व है जसके द्वारा प्राणिमात्र अपने विचार व भावनाएँ व्यक्त करता है। ध्वनि को परिभाषित करते हुए कहा गया है- तारत्वादिधीहेतुः शब्दविशेषः। यथा- **उन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे (माघ.स.)।** शारीरकमीमांसा में इसे इस प्रकार परिभाषित किया गया है- **ध्वनिर्नाम, यो दूरादाकर्णयतो वर्णविशेषमनधिगच्छतः। कर्णपथमवतरति प्रत्यासीदतश्च तारत्वादिविशेषमवगमयति,** इति। यद्यपि ध्वनि तत्त्व का उल्लेख वैदिक साहित्य के समय से प्राप्त होता है। तथापि यह उतना ही प्राचीन है जितनी कि मानव सभ्यता। ध्वनि के बहुविध भेद हो सकते हैं, यथा वर्णात्मक, ध्वन्यात्मक, प्राकृत, वैकृत आदि।

गणितशास्त्र : गणितशास्त्र के आधार या उत्स वेद ही है संख्याओं को प्रकट करने के लिए शून्य का अत्यन्त महत्त्व है इसका उद्भव वेदशास्त्रों में ही प्राप्त होता है। अथर्ववेद में बताया गया है कि किस प्रकार शून्य आगे लगाने से संख्या दस गुना आगे बढ़ती है- **एका चमे दश च मे ऽपवक्त्कार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधुते मधुला करः॥ द्वे चमे विंशति चमे.....** इत्यादि। यद्यपि इस मंत्रों में शून्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ तथापि जिस क्रम में संख्याओं का उल्लेख किया गया है उसमें शून्य का ज्ञान स्वतः अनुमेय है। इस मंत्र में दी गई दो-दो संख्याओं के योग से ग्यारह (11) का पहाड़ा बनता चला जाता है। बड़ी से बड़ी संख्या बनाने के लिए केवल अंक नौ (9) को बार-बार लिखना होगा, इस सिद्धान्त का संकेत निम्नलिखित मंत्रांश में देखा जा सकता है। **''नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भी तो अतरो रजांसि।''** अनन्त संख्या की परिकल्पना भी उपनिषदों के सुप्रसिद्ध निम्नलिखित शान्तिपाठ में बहुत स्पष्टरूप में पूर्ण शब्द के द्वारा व्यक्त हुई है। **पूर्णमदः पूणमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णामादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥** इस शान्तिपाठ का मूल सूत्र अथर्ववेद में उल्लिखित है- **'पूर्णात् पूर्णमुदयति पूर्ण पूर्णेन सिंच्यते।'** एक ही नियम के अनुसार संख्या 1 की कितनी ही राशियाँ हो अर्थात् संख्या 1 अपने आप में कितनी ही बार गुणा किया जाए फल 1 ही रहेगा। अथर्ववेद का यह मन्त्र इसी नियम को बताता है- **तमिदं निगतं सहः स एष एक एक वदेक एव। सर्वे अस्मिन्न देशच एकवृतो भवन्ति।**

मानव जीवन में गणित का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। गणित ही वह शास्त्र है जिसके द्वारा समाज में चिन्तक, तर्क, निर्णय आदि मानसिक क्षमताओं से युक्त व्यक्ति का विकास होता है। इसी कारण आधुनिक वैज्ञानिक कहते हैं- ''Mathmatics is the Queen of all Sciences'' अर्थात् गणित सभी विज्ञानों का मूल है। गणित शास्त्र की महत्ता को महावीराचार्य ने निम्न प्रकार से बताया है- **''बहुभिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरे। यत्किंचिद्वस्तु सत्सर्वं गणितेन विना न हि॥''**[36] वस्तुतः संसार की प्रत्येक वस्तु किसी न किसी नियम से बद्ध है तथा उसमें कोई क्रम है। उस नियम और क्रम का ज्ञान गणित का विषय है। वेदों में अनेक स्थानों पर गणितीय संक्रियायें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिलक्षित होती हैं। यथा- **''एका च, दशं च, शतं च, सहस्त्रं च.....।..... समुद्रश्च, मध्यं च, अन्तश्च परार्धश्च।''**[37] यजुर्वेद के इस मंत्र में एक से परार्ध तक की संख्याओं के नाम बताये गये हैं। यहाँ प्रत्येक अगली संख्या दसगुनी है। यह मंत्र दाशमिक मान पद्धति का संकेत भी करता हैं। वस्तुत वेदों में स्पष्टतः गणित शब्द का उल्लेख नहीं दिखाई देता है, परन्तु ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वेद गणित से युक्त है। अनेक स्थानों पर गणना सूचक गण, गणपति, गणश्रि, गणिन् आदि शब्द ऋग्वेद और यजुर्वेद के अनेक मंत्रों में आये हैं। ऋग्वेद में **''व्रातंव्रातम् गणनाम्''** शब्द गणना के आधार पर किये गये समूहों या वर्णों के लिये हैं। यथा- **''गणनां त्वा गणपतिं ऽहवमहे निधीनां त्वां निधिपति ऽहवामहे॥''**[38]

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी : प्राचीन मानव द्वारा ''चक्का'' का अविष्कार, आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा ''बिजली का उत्पादन'' तथा ''चिप्स'' की खोज ने मानव को महामानव तथा वैज्ञानिक को भगवान की श्रेणी में ला दिया है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से हमारा तात्पर्य उत्पादन की उन विधियों से है, जिनमें वस्तुओं का निर्माण होता है और जब हम अपने परिवेश की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हम देखते हैं कि वो सब सामान जो हमारे आसपास दिखाई देता है, उसका निर्माण प्रौद्योगिकी के द्वारा हुआ है या एक निश्चित विधियाँ हैं उन सामानों को बनाने की। इसलिए आधुनिक युग को विज्ञान व प्रौद्योगिकी का युग भी कहते हैं क्योंकि नई-नई प्रौद्योगिकी द्वारा रोज नए-नए अविष्कार हो रहे हैं। नए-नए मोबाईल मॉडल, गाड़ियों के मॉडल या अन्य वस्तुएँ, टी0वी0 के मॉडल, फ्रिज के माडल लगातार बाजार में आ रहे हैं। आज हमारा मार्केट इन्हीं वस्तुओं से भरा पड़ा है, हमारे घर भी इन्हीं समानों से भरे पड़े हैं। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्राचीन भारतीयों का महत्त्वपूर्ण योगदान है, किन्तु इस योगदान की अपनी सीमाएँ हैं। यह सीमाएँ दो कारकों से निर्धारित हुई हैं। प्रथम-देश के भौतिक विकास का स्तर व दूसरे समाज में धर्म की प्रधानता। जिसके कारण ज्ञान विज्ञान व दर्शन भी धर्म से जुड़े हुए थे। भारतीय इतिहास में पत्थर से बने हथियार से लेकर डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम का मिसाईल कार्यक्रम

भारतीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की प्रगति का एक अद्‌भुत उदाहरण है। महाभारत का प्रक्षेपास्त्र एवं ब्रह्मास्त्र, संजय का दिव्य-दृष्टि ज्ञान (आधुनिक रडार), श्री कृष्ण भगवान् का सुदर्शन चक्र, रामायण काल के श्रीराम का अग्निबाण, मेघनाद का नागपाश, रावण का पुष्पक विमान तथा भारत के पौराणिक अस्त्र-शस्त्र, आज के आधुनिक महाशक्ति अमेरिका, रूस, चीन, जापान, ब्रिटेन तथा फ्रांस के अस्त्र-शस्त्र एवं परमाणु विध्वंसक प्रौद्योगिकी से ज्यादा विकसित थे।[39]

संगणक विज्ञान : वेदों का वास्तविक स्वरूप ही संस्कृत एवं संस्कृति है और संस्कृति के प्रमाणिक शास्त्र ही इससे ओतप्रोत है। सर्वप्रथम हम बात करते हैं सङ्गणक यानी Computer की। आज के वैज्ञानिक और वैश्वीकृत विश्व में कौन है जो Computer के विषय में नहीं जानता है। लेकिन क्या यह पता है कि पुराकाल में सङ्गणना के लिए आधुनिक कम्प्यूटर प्रणाली की संरचना हो चुकी थी। इस कम्प्यूटर संचालन के लिए सबसे उपयुक्त भाषा का माध्यम संस्कृत ही था और आज भी सभी भाषाओं में संस्कृत भाषा ही सर्व उपयुक्त भाषा के रूप में जानी जाती है। जहाँ संस्कृत विश्व की सबसे प्राचीन और परिष्कृत भाषा है वहीं सङ्गणक विज्ञान (Computer Science) बीसवी शताब्दी में आविष्कृत आज के विश्व की एक अत्याधुनिक प्रद्यौगिकी है। सङ्गणक (Computer) द्वारा कार्य में Translation work अर्थात् भाषानुवाद कार्य के लिए (Control System) नियन्त्रक क्षमता की आवश्यकता है और आज के भारतीय कम्प्यूटर को यह पूर्णतया विश्वास हो गया है कि भाषान्तर या अनुवाद का Control System पाणिनीय व्याकरण में विद्यमान है जो कि वैदिक संस्कृति द्वारा ही सम्भव है। इसको पुष्ट रूप से बताते हुए इस तरह से समझा जा सकता है। सङ्गणक (Computer) का कोई स्वयं का विवेक या मस्तिष्क नहीं होता है वह तो Programming Basis पर कार्य करता है। यदि हम अंग्रेजी भाषा का प्रयोग कर इसे कुछ निर्देश देते है तो इसके सही-सही उत्तर देने के प्रमाण में कुछ त्रुटियाँ पायी जा सकती है। जैसे हमने यदि Computer को I know अर्थात् (मैं जानता हूँ) इसके निर्देश दिये तो वह भाषा के आधार पर know को No रूप में प्राप्त कर उसका प्रत्युत्तर निषेधात्मक रूप में देगा किन्तु हम संस्कृत भाषा का प्रयोग करें तो यह अपने एक निष्ट भाव को ही प्रदर्शित कर सही उत्तर देता है। संस्कृत भाषा की सर्वप्रमुख विशेषता है कि इसमें वाक्य सदैव पूर्णरूप में प्रदर्शित होते हैं एवं इसका अर्थ भी सम्यक् होता है जबकि अन्य भाषाओं में ऐसा नहीं है।

वृष्टि विज्ञान : इसी प्रकार वृष्टि विज्ञान का भी उल्लेख वैदिक संग्रहों में प्राप्त होता है। सृष्टि के आरम्भ में महासमुद्र के रूप में व्याप्त समुद्रीय जल वर्षा का जन्म प्रदाता माना गया है। यजुर्वेद में भी वृष्टि विज्ञान का संकेत मात्र उपलब्ध होता है 'पर्जन्यो अभिवर्षतु' तथा 'मित्रावरूणा त्वा वृष्ट्यतामर' कहकर यज्ञों के द्वारा मंगलकारी जलवृष्टि हेतु मेघों की स्तुति की गई है। मित्रावरूण युग्मदेव को वृष्टि का देव कहा गया है। सायण भाष्य में इसका अर्थ प्राण और उदान वायु प्रतिपादित किया गया है। ये दोनों गैसें जल के मूल या परमाणु कहे जा सकते हैं। आधुनिक काल में जल हाइड्रोजन और ऑक्सीजन दो गैसों का मिश्रण स्वीकार किया जाता है। अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड के 15वें सूक्त में वृष्टि में स्थित मेघों द्वारा जल वृष्टि का स्पष्ट उल्लेख है। पृथ्वी को जल वृष्टि द्वारा अभिषिक्त करने हेतु मरुतो से प्रार्थना भी की गई है। आधुनिक विज्ञान धारा में भी समुद्र से उठी पूर्व हवाओं के द्वारा मानसूनी वर्षा होती है ऐसा माना जाता है। गोपथ ब्राह्मण में भी मानसूनी वर्षा का वैज्ञानिक विवरण उपलब्ध होता है इसी प्रकार समुद्र जल को ऊपर की ओर प्रेरित कर गर्जना द्वारा जलवृष्टि और सूर्य की किरणों द्वारा सूक्ष्मीकृत करने का विधान भी अथर्ववेद में वर्णित है। चन्द्र, पर्वत, आकाश व नक्षत्र के स्वरूप प्रकटित होने पर अर्थात् दिखाई देने पर सद्योवृष्टि के अनुमान का विवेचन है। उदाहरणार्थ गोधूलि के समय रक्तवर्ण-आकाश, इन्द्रधनुष, सूर्य चन्द्र के परितः मण्डल के आधार पर वृष्टि का अनुमान होता है। इसके विपरीत लक्षणों के उपस्थित होने पर अनावृष्टि का संकेत मिलता है। **नीलरश्मि प्ररोहन्तः शाखावन्त इव द्रुमाः। यत्र-तत्र प्रदिश्यन्ते ध्रुवं तत्र प्रवर्षति।।**[40] समुद्र से प्राप्त जल को पृथ्वी अग्नि के द्वारा धूम रूप में ऊपर भेजती है। यज्ञादि के द्वारा ऊपर भोजन ही वृष्टि का कारक होते हैं। यज्ञादि के द्वारा ऊपर उठा हुआ धूम सूर्य-किरणों के प्रभाव से परे जाकर विद्युतकण के रूप में परिवर्तित होता है और यहीं घनीभूत होकर मेघ बनता है। विज्ञान के अनुसार किसी भी द्रव्य का कण या Particle यदि थोड़ी सी भी तडित् शक्ति या Positive/Negative electricity वहन करते हुए घूमे तो वही Charged partical (Ion) आयन होता है। किसी भी तरल या वायवीय पदार्थ के कण यदि इसी प्रकार के वाहन बन जाए तो उस तरल का वायवीय पदार्थ को तडित् – शक्तियुक्त अर्थात् Ionised कहा जायेगा। यज्ञीय अग्निशिखाओं द्वारा दग्ध द्रव्य गैस बनकर ऊपर की ओर जब जाता है तो, उसके सूक्ष्मकण तडित् शक्ति युक्त हो जाते हैं। इन कणों में से धन अर्थात् Positive और कुछ ऋण तडित् यानि के Negative Ion को वहन करते हुए बाहर निकलते हैं। ये दोनों धनात्मक और ऋणात्मक गैस ही क्रमशः ऑक्सीजन और हाइड्रोजन है जिनके मिश्रण से जल बनता है।

मनोविज्ञान : मनोविज्ञान जैसा कि नाम से ही द्योतित होता है कि 'आत्मा का विज्ञान' जो कि अंग्रेजी भाषा के Psychology शब्द का हिन्दी रूपान्तर है तथा ग्रीक शब्द Psyche-logas से उत्पन्न हुआ है। सर्वप्रथम ग्रीक मनोवैज्ञानिकों ने इसे आत्मा का विज्ञान अर्थात् अनुभावात्मकज्ञान कहकर परिभाषित किया किन्तु समय के साथ-साथ मनोविज्ञान की परिभाषा बदलती गई। कालान्तर में मनोविज्ञान 'मन का विज्ञान' को अस्वीकार करके चेतना के विज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया है। चेतना का विज्ञान कहने का तात्पर्य है कि चेतना प्राणी की वह अनिवार्य विशेषता है जिसके कारण वह लोक

में व्यवहार करता है किन्तु बाद में विद्वानों के बीच मनोविज्ञान की परिभाषाएँ ऐसे ही बदलती रही कारण यह था कि आत्मा या चेतना का ज्ञान मनोवैज्ञानिकों के पास प्रत्यक्षात्मक प्रमाण नहीं था क्योंकि आत्मा या मन कोई स्थूल पदार्थ नहीं जो इन्द्रिय का विषय हो या तो अत्यन्त सूक्ष्मतथ्य है इन पर अध्ययन करना असम्भव था क्योंकि इनके अपरोक्षानुभव की अनुभूति केवल दार्शनिक चिन्तन में ही की जा सकती है। यद्यपि योगवशिष्ठ एक प्राचीन ग्रंथ होने के कारण इसमें वर्तमानकालीन मनोविज्ञान शब्द दृष्टिगोचर नहीं होता है तथापि मनोविज्ञान का तात्पर्य आत्मा का विज्ञान के रूप में ग्रीक विचारकों ने जैसा स्पष्ट किया उस तात्पर्य को योगवशिष्ठ के अनुसार स्पष्ट किया जा सकता है। अतएव उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि जो परिभाषा मनोविज्ञान की प्रायः प्राप्त हो रही है वो हमारे वैदिक दार्शनिक ग्रंथों से ही प्रभावित रही है जिसका समर्थन योगवशिष्ट गीता आदि ग्रंथों में पूर्व से ही कर दिया जा चुका है किन्तु समयान्तर में जो मनोविज्ञान का स्वरूप बदला उसका एक प्रधान कारण यह भी हो सकता है कि जिसकी जहाँ तक प्रज्ञा पहुँची वही स्वीकार कर लिया क्योंकि सृष्टि के अनन्तर बल-बुद्धि-शक्ति सभी के सभी शनैः शनैः क्षीण होते है जिसका प्रमाण उदयानार्थ कृत न्यायकुसुमाञ्जलि के हरिदासी टीका में प्राप्त होता है- **जन्म संस्कार विद्यादेः शक्तेः स्वध्याय कर्मणोः। ह्रास दर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम् ॥** आचार्य यास्क के ग्रंथ निरूक्त में वर्णन प्राप्त होता है कि जब सूर्य ऊपर की ओर जाता है तब यदि उसकी रोशनी में सूर्यकान्त मणि या ताँबा को साफ करके उसके सामने रखे तो उससे निकलने वाले ताप से पास में रखा हुआ सूखा गोबर भी जल जाता है। इसी प्रकार कपास के सम्पर्क में आने पर वह जल उठेगी। **अथादित्यात् उदीचि प्रथमसमावृत आदित्ये कंसं वा मणि वा। परिमृज्यप्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयमअस्पर्शयन् धारयति तत् प्रदीप्यते निरूकत॥**[41] इस प्रकार से यह स्पष्ट हो रहा है कि ब्रह्माण्ड की समस्त गतिविधियाँ, क्रिया-प्रतिक्रिया, निर्जीव-सजीव वस्तुओं से सम्बन्धित तथ्य-कथ्य एवं अनेकशः बिन्दु विन्यास हमारे वेदशास्त्रों में निहित है जिसका कि पार्थक्य भिन्न-भिन्न अंगीभूत शास्त्रों में उल्लिखित है। आवश्यकता इनको पढ़कर, समझकर एवं विश्लेषित करके समाज में तार्किक शास्त्रों सदृश इन्हें प्रस्तुत किया जाए जिससे शास्त्रज्ञों के अतिरिक्त जनसामान्य को भी इनकी महत्ता तथा अपनी संस्कृति का एवं इनकी गुणवत्ता का ज्ञान हो सकें। अतएव वैदिक संहिता मानव जीवन के इस सृष्टि के विभिन्न पक्षों को यथार्त् रूपेण समझने के लिए शाश्वत् सत्यों व मूल्यों का सत्यापन करने वाला एक पथ प्रदर्शक तथ्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. ऋग्वेद- 3.144.6
2. वृहदारण्यकोपनिषद् – 5.1.1
3. यजुर्वेद – 23.6 2
4. ऋग्वेद – 10.85.1
5. छान्दोग्योपनिषद् – 6.2.1
6. ऋग्वेद – 1.1/6-15-16
7. ऋग्वेद- 1.1/6-15-16
8. मनुस्मृति 2-7
9. सदानंदकृतवेदान्तसार
10. अथर्ववेद 8.7.4
11. अथर्ववेद 8.7.10
12. अथर्ववेद 12.3.15
13. शतपथ ब्राह्मण 6.1.3.12
14. यजुर्वेद 16-19
15. यजुर्वेद 12/78
16. ऋग्वेद 9.114.3
17. अथर्ववेद 3.13.90
18. ऋग्वेद 1.63.2
19. ऋग्वेद 1.115.1
20. ऋग्वेद 10.511
21. अथर्ववेद- 10.8.40
22. अथर्ववेद – 3.13.5
23. ऋग्वेद- 7.49.4
24. ऋग्वेद 1.2.7
25. कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ0सं0 209 से 212
26. अथर्ववेद 1.35.2
27. ऋग्वेद 1.3.4.2
28. वास्त्वधि क्षितः। ऋग्वेद 8.25.5 शशि तिवारी द्वारा उद्धृत, वैदिकअध्ययन, पृ0 206 पादटिप्पणी 1
29. ऋग्वेद, 7.54.1.3, 7.54.1
30. शशि तिवारी, वैदिक अध्ययन, पृ0 200
31. ऋग्वेद, 7.74.5- **अथर्ववेद, 3.12.1-**
32. शशि तिवारी, वैदिक अध्ययन, पृ0 201
33. उपर्युक्त, ऋग्वेद 10.11.5
34. अथर्ववेद 9.3.14
35. मत्स्यपुराण
36. गणितसारसंग्रह संज्ञाधिकार श्लोक संख्या 16
37. यजुर्वेद 17.2 तैतिरीय संहिता 4.4.11
38. यजुर्वेद 23.19 ऋग्वेद 2.23.1
39. विज्ञान प्रगति - मई 2002
40. अथर्ववेद 65/1/11
41. निरुक्तम्

प्रेमचंद की साम्प्रदायिकता विरोधी चेतना

डॉ0 राजीव कुमार वर्मा*

प्रेमचंद के समय में भारत में हिन्दू-मुस्लिम संबंधों की समस्या आज की तुलना में ज्यादा संवेदनशील थी। उस समय भारत एक विदेशी साम्राज्यवादी सत्ता के कब्जे में था। उसका हित भारत को गुलाम बनाये रखने में था। ब्रिटिश शासक यह बात तो अच्छी तरह समझ चुके थे कि हिन्दू-मुसलमानों को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करके ही स्वाधीनता-संग्राम को कमजोर किया जा सकता है। इसका सबसे आसान तरीका था, उनकी साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारना। उन्होंने 1857 के महान विद्रोह में हिन्दू-मुस्लिम समुदायों की एकता के असर को महसूस किया तथा इन दोनों समुदायों की एकता को तोड़ने के लिए 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाई। भारत की धरती पर अपने शासन को स्थायी बनाने का इससे अधिक कारगर हथियार अंग्रेज शासकों को दूसरा नहीं दिखाई दिया।

प्रेमचंद तत्कालीन सामाजिक जीवन की इस सच्चाई को अच्छी तरह समझ रहे थे तथा अपनी रचनाओं में उन्होंने उसका तटस्थ विश्लेषण भी किया। यद्यपि प्रेमचंद ने अपने रचनात्मक लेखन (उपन्यास, कहानी, नाटक) में हिन्दू-मुस्लिम संबंध की समस्या को मुख्य विषय नहीं बनाया है तथापि प्रसंगवश इस समस्या को उन्होंने बार-बार उठाने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से उनका उपन्यास '*कायाकल्प*' और *'कर्मभूमि'* महत्वपूर्ण है। *'कायाकल्प'* के दो परिच्छेदों में साम्प्रदायिक दंगों की घटना का वर्णन मिलता है। एक में मुसलमानों द्वारा गाय की कुर्बानी को लेकर दंगा होता है और दूसरे में एक मौलवी साहब के कपड़ों पर होली के दिन किसी हिन्दू द्वारा रंग के कुछ छींटें पड़ जाने को लेकर। इन दोनों प्रसंगों में प्रेमचंद मुल्लाओं और पंडितों को दंगा कराने के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं। साथ ही इस समस्या के समाधान के लिए चक्रधर और ख्वाजा महमूद जैसे आदर्श पात्रों का निर्माण करते हैं। 'कायाकल्प' उपन्यास के चक्रधर और ख्वाजा महमूद के अतिरिक्त प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों के हिन्दू-मुस्लिम पात्र भी साम्प्रदायिक भेदभाव से मुक्त हैं। जैसे *'कर्मभूमि'* के सलीम, मि. गजनवी और अमरकान्त, *'रंगभूमि'* के ताहिर अली, *'प्रेमाश्रम'* का कादिर, *'गोदान'* के मिर्जा साहब, *'गबन'* की जोहरा आदि। प्रेमचंद ने इस विषय को लेकर अनेक कहानियाँ भी लिखी हैं। जैसे *'मंदिर और मस्जिद', 'गुप्तधन', 'क्षमा', 'बौड़म', 'मुक्तिधन', 'डिग्री के रूपये', 'मैकू', 'पंच परमेश्वर', 'हिंसा परमोधर्मः'* आदि। इन कहानियों के मुसलमान और हिन्दू पात्र साम्प्रदायिक भेदभाव से सर्वथा मुक्त हैं। प्रेमचंद इन उपन्यासों एवं कहानियों में यह दिखाते हैं कि साधारण हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने धर्मों का पालन करने पर भी एक-दूसरे के साथ व्यापक मानवीय संबंध से जुड़ा रहता है। इन दोनों के बीच साम्प्रदायिक द्वेष एक ओर तो ब्रिटिश शासक किसी न किसी रूप में भड़काना चाहते थे, वहीं दूसरी ओर मुल्लाओं, पुरोहितों तथा पूँजीपति वर्ग के लोग अपने स्वार्थ के लिए ऐसी निन्दनीय घटना को अंजाम देते थे। प्रेमचंद ने 1924 में *'कर्बला'* नामक नाटक भी लिखा। इसकी रचना उन्होंने तत्कालिक हिन्दू-मुस्लिम समस्या को लेकर ही की थी। इस नाटक में कट्टरपंथी इस्लाम पर प्रहार किया गया है तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता को स्थापित करते हुए मुसलमानों के साथ एक हिन्दू की कुरबानी भी दिखायी गयी है। साथ ही ऐतिहासिक साक्ष्य भी दिए गए हैं। *'कर्बला'* की भूमिका में प्रेमचंद ने यह भी स्वीकार किया है कि हिन्दू-मुस्लिम एकता तभी स्थापित हो सकती है, जब हम हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के महापुरुषों और उनके कार्य-कलापों से परिचित हों।

प्रेमचंद की साम्प्रदायिकता विरोधी चिन्तन का सबसे सशक्त अभिव्यक्ति उनके वैचारिक लेखन में देखने को मिलता है। उनके विचार में धार्मिक वैमनस्य को दूर करने के लिए सबसे जरूरी यह है कि दोनों सम्प्रदाय एक-दूसरे के धर्म एवं उसके आचार-विचार को अच्छी तरह से समझने की कोशिश करें। इसके बिना धार्मिक एकता स्थापित नहीं हो सकती। प्रेमचंद ने साप्ताहिक *'प्रताप'* के दिसम्बर, 1925 के अंक में एक निबंध लिखा था- *'इस्लामी सभ्यता'*। इसमें उन्होंने दुःख व्यक्त करते हुए लिखा, ''हिन्दू और मुसलमान दोनों 1,000 वर्षों से हिन्दुस्तान में रहते चले आते हैं, लेकिन अभी तक एक दूसरे को समझ नहीं सके। हिन्दू के लिए मुसलमान एक रहस्य है, मुसलमान के लिए एक मुअम्मा। न हिन्दू को इतनी फुरसत है कि इसलाम के तत्वों की छानबीन करे, न मुसलमान को इतना अवकाश है कि हिन्दू-धर्म-तत्वों के सागर में गोते लगाए। दोनों एक दूसरे में बेसिर पैर की बातों की कल्पना करके माथा फुटौवल करने पर अमादा रहते हैं। हिन्दू समझता है दुनिया भर की बुराईयाँ मुसलमानों में भरी हुई हैं, इनमें न दया है, न धर्म, न सदाचार, न संयम। मुसलमान समझता है हिन्दू पत्थरों को पूजने वाला, गरदन में धागे डालने वाला, माथा रंगने वाला और दाल-भात खाने वाला पशु है। दोनों एक-दूसरे के साये से बचते हैं और दोनों दलों में जो बड़े से बड़े धर्माचार्य हैं, वह इस भेदभाव में सबसे आगे हैं। मानों द्वेष और विरोध ही धर्म का प्रधान लक्षण है।'' यहाँ एक बात स्पष्ट है कि प्रेमचंद की दृष्टि में साम्प्रदायिकता के मूल में जहाँ एक ओर दो धर्मों की आंतरिक खूबी की एक-दूसरे को जानकारी का अभाव है, वहीं धर्माचार्यों का स्वार्थ भी एक महत्वपूर्ण कारण है।

---

* शोध सहायक, मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रेमचंद भारतीय स्वतंत्रता-आन्दोलन की सफलता के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता को एक अनिवार्य शर्त मानते थे। *'जमाना'* के दिसम्बर, 1921 के अंक में *'वर्तमान आन्दोलन के रास्ते में रूकावट'* शीर्षक लेख में प्रेमचंद ने इसके महत्व को रेखांकित करते हुए लिखा, ''हिन्दू-मुस्लिम एकता का मसला निहायत नाजुक है और अगर पूरी एहतियात और धीरज और जब्त और रवादारी से काम न लिया गया तो यह स्वराज्य के आंदोलन के रास्ते में सबसे बड़ी रूकावट साबित होगा।''[1] तीस के दशक में जितने दंगे हुए उनके दो ही मुख्य कारण थे- मुसलमानों की मांग थी कि 'नमाज के वक्त मस्जिदों के सामने बाजे न बजाये जायँ' एवं हिन्दुओं की माँग थी कि 'गो हत्या बंद हो'। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों धर्मों के नेताओं को फटकारते हुए कहा कि साम्प्रदायिकता के मूल में धर्म की सच्ची प्रेरणा नहीं है, बल्कि राजनीतिक स्वार्थ के चलते ऐसा हो रहा है। उन्होंने लिखा- ''दुर्भाग्य से वर्तमान समय में धर्म विश्वासों के संस्कार का साधन नहीं, राजनीतिक सिद्धि का साधन बना लिया गया है।''[2]

प्रेमचंद प्रारम्भ में केवल उर्दू में लिखते थे। उन्होंने उर्दू एवं फारसी की विधिवत शिक्षा ली थी। उनकी प्रारम्भिक सभी रचनाएँ उर्दू में हैं। कुछ तो पहले उर्दू में लिखकर उसका स्वयं हिन्दी में अनुवाद किया। अतः भाषा को लेकर संकुचित दृष्टि रखने वालों की उन्होंने जमकर खबर ली है। प्रेमचंद इस बात से भी वाकिफ थे कि धार्मिक सौहार्द्र एवं राष्ट्रीय एकता के लिए भाषा की एकता अनिवार्य है। भाषा पर किसी जाति या धर्म का एकाधिकार हो, ऐसा उन्हें कतई बर्दाश्त नहीं था। तत्कालीन समय में हिन्दी-उर्दू विवाद अपने चरम पर था। इस पर उन्होंने जोर देकर कहा, ''उर्दू न मुसलमानों की बपौती है न हिन्दू की। उसके लिखने और पढ़ने का हक दोनों को हासिल है। हिन्दुओं का उस पर हक पहला है क्योंकि वह हिन्दी की एक शाखा है, हिन्दी पानी और मिट्टी से उसकी रचना हुई है और सिर्फ कुछ थोड़े से अरबी और फारसी शब्दों के दाखिल कर देने से उसकी असलियत नहीं बदल सकती, उसी तरह जैसे पहनावा बदलने से राष्ट्रीयता या जाति नहीं बदल सकती।''[3] स्पष्टतः भाषा को मुद्दा बनाकर जो साम्प्रदायिक भावना फैलायी जा रही थी, उसका प्रेमचंद ने डटकर विरोध किया।

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन जैसे-जैसे अपनी स्वाधीनता की ओर बढ़ता गया, वैसे-वैसे हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष भी बढ़ता गया। यह सर्वविदित है कि अंग्रेजों ने अपने राजनीतिक स्वार्थपूर्ति एवं शासन करने के लिए 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाई थी, परन्तु अंग्रेजों की इस नीति का उपयोग यहाँ की राजनीतिक पार्टियाँ भी अपनाने लगी थीं। वे धर्म की राजनीति के साथ जोड़कर इसका राजनैतिक फायदा उठाना चाहते थे। प्रेमचंद को धर्म का राजनीति के साथ गठजोड़ कतई बर्दाश्त नहीं था, इसीलिए उन्होंने अप्रैल, 1931 के *'हंस'* में *'मिर्जापुर कांफ्रेंस में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव'* शीर्षक टिप्पणी में कांग्रेस वालों को आगाह करते हुए लिखा, ''साम्प्रदायिकता के रूप में जो राजनीतिक पाखंड फैलाया जाता है, उससे कांग्रेस वाले कोई सरोकार न रक्खें। ....जहाँ तक शुद्धधर्म का संबंध है, कांग्रेस वाले भी अन्य प्राणियों की भाँति स्वाधीन हैं, लेकिन ज्यों ही धर्म राजनीति के क्षेत्र में कदम रक्खें, कांग्रेस वालों को उससे नाता तोड़ लेना चाहिए।''[4] प्रेमचंद यह जानते थे कि जो जनता सदियों से भगवान पर विश्वास करती आ रही है, वह एकाएक अपने विचार नहीं बदल सकती। एकाएक जनता को कोई भगवान से अलग करना चाहे, तो संभव भी नहीं था। साथ ही वे धर्म को राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक मानते हुए भी उसे राजनीति से दूर रखना चाहते थे। प्रेमचंद ने नवम्बर, 1931 के *'हंस'* में एक लेख लिखा- *'हिन्दू-मुस्लिम एकता'*। इसमें उन्होंने दोनों धर्मों की संस्कृतियों में समानता दिखाकर धार्मिक एकता को मजबूत करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि मुसलमान पाज़ामा पहनता है, तो पंजाब और सीमा प्रांत के सारे हिन्दू स्त्री-पुरुष पाज़ामा पहनते हैं। हमारे देवता शिव, राम, कृष्ण और विष्णु हैं वैसे ही मुहम्मद, अली और हुसैन आदि मुसलमानों के देवता या पुण्य पुरुष हैं। हमारे देवता जैसे त्याग, आत्मज्ञान, वीरता और संयम के लिए आदरणीय हैं, उसी भाँति मुस्लिम देवता भी हैं। स्पष्टतः प्रेमचंद दोनों धर्मों में समानता दिखाकर यह संदेश देना चाहते थे कि हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का कोई यथार्थ कारण नहीं है। बस कुछ लोग अपने राजनीतिक स्वार्थ के चलते धार्मिक वैमनस्य पैदा कर रहे थे।

जब कंजरवेटिव गवर्नमेंट ने साम्प्रदायिक मताधिकार की घोषणा की तो प्रेमचंद ने इस नीति का विरोध करते हुए 22 अगस्त, 1932 के *'जागरण'* में *'साम्प्रदायिक मताधिकार की घोषणा'* शीर्षक टिप्पणी में लिखा, ''साम्प्रदायिक भेद की नीति ही आपत्तिजनक है। गवर्नमेंट भारत को राष्ट्र नहीं समझती। हम अपने व्यवहार से उसे ऐसा समझने का अवसर भी नहीं देते। वह भारत को सम्प्रदायों की दृष्टि से देखती है। अतएव साम्प्रदायिक मताधिकार के लिए हम इतने इच्छुक हों, यह तो गवर्नमेंट की ही दृष्टि का समर्थन है। हमें यह दिखाना है कि तुम चाहे हमें कितने ही टुकड़ों में बाँटो, हम परवाह नहीं करते। हम एक राष्ट्र हैं। इस भेद-नीति से आगाह करते हुए 23 जनवरी, 1933 के *'जागरण'* में *'गोलमेज़ का मर्सिया'* शीर्षक टिप्पणी में लिखा, ''साम्प्रदायिकता सरकार का सबसे बड़ा अस्त्र है और वह आखिर दम तक इसे हाथ से न छोड़ेगी।''[6] इसी लेख में उन्होंने गोलमेज सम्मेलन की असफलता एवं ब्रिटिश शासन की भेद नीति की सफलता पर निराशा व्यक्त करते हुए लिखा, ''पंथवाद जो संसार के लिए अभिशाप सिद्ध हो चुका है और जिसे सदियों के संघर्ष के बाद संसार ने दफना पाया है, उसे खोदकर हिन्दुस्तान में ला खड़ा किया गया। देश राष्ट्र बनना चाहता था। उसे पंथवाद में ढकेल दिया गया। नयी-नयी समस्याएँ उठ खड़ी हुई। जहाँ हिन्दू-मुसलमान थे, वहाँ हिन्दू, मुसलमान, अछूत, सिक्ख, ईसाई, अधगोरे, गोरे इतने जंतु निकाल खड़े किये गये और इन सबों ने अपने तेज दाँतों पर पैने नखों से शिशु राष्ट्र को धर दबोचा।'' इस तरह प्रेमचंद ने गोलमेज सम्मेलन के औचित्य

पर ही प्रश्न खड़ा किया। यह सम्मेलन केवल भारतीय जनता को भुलावा देने के लिए किए गए। इसके पहले साम्प्रदायिक शक्तियों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को खत्म करने के लिए यह अफवाह फैलाई की आजादी मिलने पर मुसलमानों को कोई अधिकार नहीं मिलेगा। अतः मुसलमानों को यह समझौता कर लेना चाहिए कि उनको क्या अधिकार हासिल होंगे और इसके बाद ही स्वतंत्रता संग्राम में शामिल होना चाहिए। इस पर दोनों सम्प्रदायों को विवेक से काम लेने की सलाह देते हुए प्रेमचंद ने लिखा, ''भारतीय एकता के विरोधी यह कहते कभी नहीं थकते कि जब तक हिन्दुओं और मुसलमानों के हिस्से का समझौता न हो जाय, मुसलमान इस संग्राम में शामिल नहीं हो सकते। इस कथन में कितनी सच्चाई है, इसे मुसलिम जनता अब समझने लगी है। वह यह है, कि जब तक एक तीसरी शक्ति इन दोनों जातियों के वैमनस्य से फायदा उठाने वाली रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय न होगा।''[7] स्पष्टतः प्रेमचंद ने भारत के सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों के लोगों को अंग्रेजों की भेद नीति को समझने की सलाह दी तथा समझ-बूझ से काम लेने पर जोर दिया ताकि कोई तीसरी शक्ति धार्मिक एकता को नष्ट न कर सके।

1932 में जब लखनऊ में *'मुसलिम सर्व-दल-सम्मेलन'* ने एक मत से संयुक्त निर्वाचन स्वीकार कर लिया तो प्रेमचंद ने इसका स्वागत करते हुए 26 अक्टूबर, 1932 के *'जागरण'* में *'राष्ट्रीयता की विजय'* शीर्षक टिप्पणी में लिखा, ''ऐसी दशा में वही मेम्बर प्रतिनिधि चुना जा सकेगा, जिस पर मुसलमानों को भी विश्वास हो। इसी तरह वही मुसलमान उम्मेदवार चुना जाएगा, जो हिन्दुओं का विश्वासपात्र होगा। हिन्दू-द्रोही मुसलमान या मुसलिम-द्रोही हिन्दुओं के लिए तब व्यवस्थापक सभाओं में एक दूसरे के विरुद्ध जहर उगलने का कोई प्रलोभन न रह जाएगा और सच्चे राष्ट्रवादी हिन्दू और मुसलमान मेम्बर ही राष्ट्र के प्रतिनिधि हो सकेंगे।''[8] उन्होंने इसी टिप्पणी के अंत में लिखा, ''ईश्वर से हमारी यही कामना है कि हिन्दू मुसलिम समझौता सफल हो और भारत एक राष्ट्र और एकात्मा होकर अपने अभ्युदय के पथ पर अग्रसर हो।'' परन्तु प्रेमचंद की यह कामना पूरी नहीं हो सकी और अन्त में साम्प्रदायिक शक्तियाँ देश को दो राष्ट्रों में विभाजित कराने में सफल रहीं। तत्कालीन समय में स्वतंत्रता सेनानियों को धर्म के आधार पर विकसित राष्ट्रीयता किसी शर्त पर स्वीकार नहीं थी। उनकी मान्यता थी कि राष्ट्र भक्ति की भावना धर्म एवं सम्प्रदाय से ऊपर उठी हुई होनी चाहिए। उस समय कुछ साम्प्रदायिक शक्तियाँ यह अफवाह फैला रही थी कि राष्ट्रीयता की भावना साम्प्रदायिकता को जन्म देती है। इस अफवाह को नकारते हुए प्रेमचंद ने 30 अक्टूबर, 1933 के *'जागरण'* में लिखा, ''राष्ट्रवाद चाहे कोई उपकार न कर सके, देश में खून-खच्चर तो नहीं कराता, कुछ ऐसे लोगों को एकत्र तो करता है, जो राष्ट्र को सम्प्रदाय के ऊपर समझते हैं। वही बुनियाद है जिस पर राष्ट्र का भवन खड़ा होगा।''[9] इस तरह धार्मिक एकता के आधार पर ही राष्ट्रीय एकता कायम की जा सकती है। प्रेमचंद ने उन लोगों की भी कड़ी आलोचना की है, जो यह प्रचार करते थे कि मुसलमानों में देश भक्ति एवं राष्ट्रीयता की भावना का अभाव है। प्रेमचंद के दृष्टिकोण में स्वराज्य प्राप्ति एवं राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए धार्मिक सौहार्द्र बहुत ही आवश्यक था। उन्होंने अपने लेखन में हिन्दू-मुस्लिम एकता को इसलिए भी विशेष महत्व दिया कि कहीं ऐसा न हो कि जनता राष्ट्रीय एकता की भावना एवं स्वराज्य प्राप्ति से अधिक महत्व धार्मिक भावना को देने लगे।

जिस समय हिन्दू-मुस्लिम दंगा, धार्मिक विद्वेष एवं साम्प्रदायिकता अपने चरम पर था, ठीक उसी समय हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक चतुरसेन शास्त्री द्वारा लिखित पुस्तक *'इस्लाम का विष-वृक्ष'* साहित्य मण्डल दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इस पर प्रेमचंद ने स्वयं *'जागरण'* में एवं दूसरे लोगों द्वारा अन्य पत्रिकाओं में इसकी कड़ी आलोचना करवाई। 24 जुलाई, 1933 के *'जागरण'* में *'इस्लाम का विष-वृक्ष'* शीर्षक से ही इसकी आलोचना करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा, ''हम नहीं समझते कि इस तरह की लचर, बेबुनियाद, धोखे में डालने वाली बातों के प्रचार का इसके सिवा और क्या उद्देश्य है कि हिन्दुओं में इसलाम और मुसलमानों के प्रति घृणा और द्वेष किया जाय। ऐसी मनोवृत्ति वालों से ईश्वर इस देश की रक्षा करे। ...इस पुस्तक का नाम ही बतला रहा है कि इसकी रचना किस भाव की प्रेरणा से हुई है, और पुस्तक के कवर पर जो रंगीन चित्र दिया है, वह तो लेखक के विषैले मनोभाव की नंगी तस्वीर है। यह इस्लाम का विष-वृक्ष रूपी मन है।''[10] प्रेमचंद ने चतुरसेन शास्त्री की विद्वता, उदारता और मित्रता की प्रशंसा करते हुए ऐसी द्रोहभरी रचनाएँ लिखकर हिन्दी भाषा को कलंकित न करने का आग्रह किया। स्पष्टतः प्रेमचंद इस तरह की रचनाओं के प्रबल विरोधी थे जिनसे साम्प्रदायिक सद्भाव को खतरा हो।

प्रेमचंद ने 8 जनवरी 1934 के *'जागरण'* में एक बहुत ही महत्वपूर्ण लेख लिखा- *'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं?'* इसमें उन्होंने लिखा, ''....हमारा आदर्श सदैव से यह रहा है कि जहाँ धूर्तता और पाखण्ड और सबलों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार देखो, उसको समाज के सामने रखो, चाहे हिन्दू हो, पंडित हो, बाबू हो, मुसलमान हो या कोई हो। ...हमारा स्वराज्य केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करना नहीं है, बल्कि हम सामाजिक जुए से भी, इस पाखण्डी जुए से भी, जो विदेशी शासन से कहीं घातक है।''[11] इस लेख में उन्होंने उन सभी असामाजिक तत्वों की खबर ली है, जो समाज में विद्वेष की भावना फैलाकर अपनी स्वार्थ की पूर्ति करते हैं। भारत सरकार के गृह विभाग ने जब सरकारी नौकरियों में मुसलमानों के लिए पच्चीस प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिया तो इसका विरोध करते हुए जुलाई, 1934 के *'हंस'* में *'सरकारी नौकरियाँ और साम्प्रदायिकता'* शीर्षक लेखक में प्रेमचंद ने लिखा, ''प्रत्येक समझदार व्यक्ति इस दृष्टिकोण का विरोध करेगा और चाहेगा कि नौकरियाँ समुदाय के नाम पर नहीं, योग्यता के नाम पर दी जायँ। ...साम्प्रदायिक आधार पर नौकरियों का विभाजन किया जाना

खतरनाक है। इस प्रकार की नियुक्तियों से न तो हिन्दुओं ही को लाभ हो सकता है, न मुसलमानों को, बल्कि इससे दोनों के बीच स्थायी मतभेद और विरोध की नींव पड़ेगी।''[12] प्रेमचंद का स्पष्ट मानना था कि चाहे वह भेदभाव पुरोहितों या मुल्लाओं के द्वारा हो या सरकार के द्वारा हो, किसी प्रकार की जातिगत एवं साम्प्रदायिक असमानता हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच खाई ही पैदा करेगी। इसीलिए इस तरह के किसी भी प्रस्ताव का उन्होंने जमकर विरोध किया।

प्रेमचंद का मानना था कि साम्प्रदायिकता का संबंध न धर्म से है और न संस्कृति से। वह केवल कुछ स्वार्थी लोगों के सत्ता एवं अधिकार द्वन्द्व से जुड़ी है, जिसका मकसद है अपने सुख के लिए ज्यादा से ज्यादा राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक प्रतिष्ठा पाना। इसीलिए 15 जनवरी, 1934 के *'जागरण'* में *'साम्प्रदायिकता और संस्कृति'* शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने लिखा, ''साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिये वह गधे की भाँति जो सिंह की खाल ओढ़ कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति का खाल ओढ़कर आती है। हिन्दू अपनी संस्कृति को कयामत तक स्वरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं, यह भूल गए हैं कि अब न कहीं मुसलिम-संस्कृति है, न कहीं हिन्दू-संस्कृति, न कोई अन्य संस्कृति, अब संसार में केवल एक संस्कृति है और वह है आर्थिक संस्कृति...।''[13] उनका यह भी कहना था कि ज्यों-ज्यों हमारा राजनैतिक विकास होगा, साम्प्रदायिकता मिटती जायेगी और आर्थिक समस्याएँ उसका स्थान लेती जायेंगी। प्रेमचन्द निराशावादी नहीं थे। उन्होंने 7 नवम्बर, 1932 के *'जागरण'* में *'आशा का केन्द्र'* शीर्षक टिप्पणी में विश्वास व्यक्त किया, ''साम्प्रदायिकता बहुत थोड़े दिनों की मेहमान है। ...आने वाला युग आर्थिक संग्राम का युग होगा। हिन्दू कौन है, मुसलमान कौन है, इसे कोई पूछेगा भी नहीं।''[14] अंग्रेजी का एक समाज सुधारक पत्र *'इंडियन सोशल रिफार्मर'* में किसी डॉक्टर आलम ने ऐंटी कम्यूनल लीग की आलोचना करते हुए लिखा था कि साम्प्रदायिकता अच्छी भी है और बुरी भी। बुरी साम्प्रदायिकता को उखाड़ना चाहिए। मगर अच्छी साम्प्रदायिकता वह है, जो अपने क्षेत्र में बड़ा उपयोगी काम कर सकती है। इस पर प्रेमचंद ने जनवरी, 1934 के *'हंस'* में *'अच्छी और बुरी साम्प्रदायिकता'* शीर्षक एक टिप्पणी में उनकी कड़ी भर्त्सना करते हुए लिखा, ''अगर साम्प्रदायिकता अच्छी हो सकती है, तो पराधीनता भी अच्छी हो सकती है, मक्कारी भी अच्छी हो सकती है, झूठ भी अच्छा हो सकता है, क्योंकि पराधीनता में जिम्मेदारी से बचत होती है, मक्कारी से अपना उल्लू सीधा किया जाता है और झूठ से दुनियां को ठगा जाता है। हम तो साम्प्रदायिकता को समाज का कोढ़ समझते हैं, जो हर एक संस्था में दलबन्दी कराती है और अपना छोटा-सा दायरा बना सभी को उससे बाहर निकाल देती है।''[15] प्रेमचंद का मानना था कि धर्म का व्यापक उद्देश्य लोकमंगल है, बाकी सब ढकोसला और अंधविश्वास है। धर्म, विचारों को संकीर्ण बनाने में जितना सहायक हुआ तथा मनुष्य की स्वतंत्र चेतना पर जितना प्रतिबंध लगाया, उतना किसी और तत्व ने नहीं किया।

प्रेमचंद ने अपने सम्पूर्ण लेखन में स्त्री, दलित एवं आर्थिक-राजनैतिक समस्याओं की तरह साम्प्रदायिकता की समस्या पर गंभीरता से विचार किया है। साम्प्रदायिकता की समस्या के मूल कारणों जैसे धार्मिक आचार-विचार में विभिन्नता, हिन्दी-उर्दू विवाद, गौ हत्या आदि को अपने धर्मनिरपेक्ष दृष्टि के आधार पर सुलझाने का प्रयास किया है। साथ ही उन्होंने ऐसे भारत का स्वप्न देखा था, जिसमें धर्म बिल्कुल व्यक्तिगत मामला हो। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के एक जागरूक पत्रकार योद्धा की भाँति ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसकी समर्थक साम्प्रदायिक शक्तियों के विरूद्ध जो आजीवन वैचारिक संघर्ष किया, वह अद्वितीय है।

सन्दर्भ-

1. सं. अमृतराय, प्रेमचन्द : विविध प्रसंग, भाग 2, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1980, पृ. 33
2. वही, पृ. 52
3. वही, पृ. 361
4. वही, पृ. 365
5. वही, पृ. 380
6. वही, पृ. 118
7. वही, पृ. 51
8. वही, पृ. 388
9. वही, पृ. 420-21
10. वही, पृ. 415
11. वही, पृ. 475
12. वही, पृ. 433
13. विविध प्रसंग, भाग 3, पृ. 232
14. विविध प्रसंग, भाग 2, पृ. 394
15. विविध प्रसंग, भाग 3, पृ. 152-53

''नरेश मेहता की काव्य-भाषा''

डॉ0 *प्रेम निवास सिन्हा* *

नयी कविता के प्रतिनिधि कवियों में नरेश मेहता का नाम विशेषोल्लेख्य है। वे प्रयोगशील वृत्ति के ऐसे नये कवि हैं जिन्होंने शब्दों में भी नया रुप और संस्कार दिया है। उनमें नई शक्ति और अर्थोदभावन क्षमता भरी है। उनकी भाषा में एक अभिनवता है, एक सजीव प्राणवत्ता है और एक जीवन्त अर्थबोध है। उनके समस्त काव्य कृतियों (यथा- वनपाखी!, सुनो!!, बोलने दो चीड़ को, मेरा समर्पित एकान्त, उत्सवा, तुम मेरा मौन हो, अरण्या, आखिर समुद्र से तात्पर्य, पिछले दिनों नंगे पैरों, देखना एक दिन, (सभी मुक्त काव्य) तथा संशय की एक रात, महाप्रस्थान, प्रवाद पर्व, शबरी एवं प्रार्थना पुरुष (सभी खण्ड काव्य), में एक आभिजात्य, एक सांस्कृतिक बोध और मानवतावादी दृष्टि का प्रसार दिखाई देता है। इन कृतियों के अतिरिक्त उन्होंने काव्य-विवेचन विषयक दो पुस्तक (1) 'काव्यात्मकता का दिक्काल' तथा (2) 'काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व' लिखी। इस पुस्तक में अपनी काव्य संबंधी सांस्कृतिक धारणा को स्पष्ट करते हुए वैष्णवता, औपनिवेशिकता जैसे अभिद्यानों की व्याख्या की है, साथ ही इसमें वे पदार्थ और तत्व, मंत्र, प्रार्थना, बिम्ब, प्रतीक, साधना, काव्य, आत्ममुक्ति आदि अनेक अभिद्यानों और संबंधों की विवेचना की है।[1]

उन्होंने काव्य-भाषा को 'द्विजभाषा' नाम दिया। भाषा के स्तर पर उदात्तता के सम्बन्ध में कहा हैः 'उदात्तता की अंतिम स्थिति है- निपट सहजता (पृ. 18)।' मिथक की भी बहुत अच्छी, बल्कि अत्यंत प्रामाणिक विवेचन उन्होंने इस ग्रंथ में की है। दरअसल, ''नयी कविता में प्रयोगशीलता के जो आयाम विकसित हुए वे कथ्य और शिल्प दोनों ही रुपों में नरेश मेहता में मिलते हैं। वे भाषिक संरचना में शब्दों का जो संसार बनाते हैं, शैली के धरातल पर जो पट बुनते हैं और अप्रस्तुतों के तट पर जो तरंगोर्मिया छोड़ते हैं वह न केवल समकालीन कवियों के लिए अनुकरणीय है वरन् आगे की पीढ़ी के लिए प्रेरक भी है।''[2]

वास्तव में, ''नरेश मेहता नयी कविता के उन प्रमुख कवियों में से हैं जिन्होंने प्राकृतिक सौन्दर्य और मानवतावाद की भूमिका पर अपनी कविता को प्रस्तुत किया है। प्रकृति की दृष्टि से छायावादी चिन्तन के संदर्भ से मानवतावादी और शिल्प की दृष्टि से अभिनव भाषा के प्रयोक्ता और प्रगत्युन्मुखी चेतना से वलयित उनका काव्य कतिपय विशिष्ट प्रवृतियों से युक्त है। उनके काव्य में प्रकृति, प्रेम, धर्म, संस्कृति, मानवतावाद, मानव-मूल्यों और जीवन की यथार्थ स्थितियों के विविधवर्णी बिम्ब मिलते हैं।''[3]

नरेश मेहता की काव्य-भाषा का विवेचन के पूर्व काव्य-भाषा के संबंध में सम्यक् विमर्श आवश्यक है। भाषावैज्ञानिकों ने भाषा के अनेक रुपों, यथा साहित्य भाषा, मानक भाषा, बोलचाल की भाषा, तर्क भाषा, शास्त्र भाषा, व्यवहार भाषा, कथा भाषा, सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा आदि रुपों की पर्याप्त चर्चा की है। डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'भाषा के मुख्यतः तीन रुप होते हैं- सामान्य भाषा, शास्त्रीय भाषा, एवं काव्य-भाषा।

'सामान्य भाषा तो वह है जो सामान्य बोलचाल में या दैनिक जीवन में प्रयुक्त होती है, शास्त्रीय भाषा वह है जिसका प्रयोग विभिन्न शास्त्रों एवं विज्ञानों (गणित, रसायन, भौतिक आदि) में होता है, तथा काव्य-भाषा वह है, जिसका प्रयोग सर्जनात्मक साहित्य में होता है। काव्य भाषा में 'काव्य' का अर्थ 'पद्य' या कविता नहीं हैं। काव्य-भाषा गद्य की भी हो सकती है (जैसे महादेवी वर्मा की 'स्मृति की रेखाएँ या प्रसाद के नाटकों की भाषा) और पद्य की भी।'[4] वस्तुतः काव्य सृजन प्रक्रिया एवं शैली-विश्लेषण के संदर्भ में सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा की चर्चा उपयुक्त प्रतीत होती है। अतः यहाँ सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा से संबंधित भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण तथा नरेश मेहता की काव्य-भाषा विषयक मान्यताओं को स्पष्ट किया गया है।

1. <u>काव्य-भाषा विषयक भारतीय दृष्टिकोण-</u>

''भारतीय काव्यशास्त्र (साहित्य शास्त्र) की समग्र परम्परा सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा से परिचित रही हैं तथा भरत, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, राजशेखर, आनन्दवर्धन, कुन्तक, भोज आदि आचार्यों ने पर्याप्त रुप से चर्चा की है। कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त में 'वक्रता' सामान्य और काव्य-भाषा का विभाजक तत्त्व है। 'वक्रता' एक ऐसे भाषा-प्रयोग के रुप में निखर कर आती है जिसकी विद्यमानता से भाषा काव्य-भाषा बन जाती है और जिसके अभाव में वह सामान्य भाषा ही बनी रहती है। कुन्तक ने लिखा है-

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापारशालिनि।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लदकारिणि।। 1,7।।[5]

भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' की टीकाकार रत्नेश्वर ने कहा है कि-

---

* अतिथि प्राध्यापक : आधुनिक भाषा एवं भाषाविज्ञान विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

'वक्रत्वं च अलंकार इति अवक्रयोः शब्दार्थयोः वचनमात्रत्वात्' (वक्रता ही अलंकार हैं अवक्र शब्दार्थ वचन मात्र है)

राजशेखर ने उक्ति विशेष में काव्य-भाषा के ही कारण काव्यत्व माना है। उनका कथन है-

'अत्थविसेसा ते चिअ सदा ते चेअ परिणामन्ता व उति विसेसो कव्वं भासां'।

'कर्पूर मंजरी' के इस अपभ्रंश उद्धरण से लगता है कि राजशेखर ने ही सबसे पहले 'काव्य-भाषा' शब्द का प्रयोग किया है।'[6]

हिन्दी में काव्य-भाषा सम्बन्धी सैद्धान्तिक चिन्तन और व्यावहारिक आलोचना में पहल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की, उन्होंने हिन्दी काव्य-भाषा के विकास का 'बुद्धचरित की भूमिका' और जायसी 'ग्रन्थावली की भूमिका' में व्यवस्थित अध्ययन किया है। 'बुद्धचरित की भूमिका' में वे 'कवि सामान्य सिद्धभाषा' को काव्य-भाषा मानते हैं, जो एक प्रकार से काव्य-भाषा का काल क्रमिक अध्ययन है। उन्होंने 'कविता क्या है?[7] (चिन्तामणि, भाग-1) में 'कविता की भाषा' शीर्षक के अन्तर्गत काव्य-भाषा की चार विशेषताएँ मानी हैं-

i. मूर्ति-विद्यान के लिए भाषा की लक्षण-शक्ति से काम लेना।

ii. जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रुप-व्यवहार सूचक शब्दों की अधिकता।

iii. वर्ण-विन्यास।

iv. यह विशेषता जो संस्कृत से आई है। वह यह है कि कहीं-कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रुप-गुण या कार्यबोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। नामों को वे कृत्रिम संकेत मानते हैं। गुण या व्यापार सूचक शब्द जैसे- गिरिधर, मुरारि, दीनबंधु, सव्यसाची इत्यादि; जो गुणों और कर्मों की ओर संकेत करके भावनाओं को तीव्र कर देते हैं।

2. <u>काव्य-भाषा विषयक् पाश्चात्य दृष्टिकोण-</u>

पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा के संबंध में पर्याप्त विवरण मिलता है। ई0पू0 पाँचवी शताब्दी में पिण्डार तथा गार्जियस से लेकर अरस्तु, प्लेटो, सिसरो, होरेस, लौंजाइनस, क्विंतिलियन, सिडनी, ड्राइडन, स्विफ्ट तथा स्वच्छन्दतावादियों में विलियम वर्डस्वर्थ, एस. टी. कॉलरिज, हबर्टरीड, टी. एस. इलियट, रेने वेलेक तथा ऑस्टिन वारेन, पॉल वैलेरी, क्लिन्थ ब्रुक्स, आई. ए. रिचर्डस, एस. आर. लेविन, रोमन याकोब्सन, जान मुकारोवस्की आदि ने सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा से संबंधित अपना मत प्रतिपादित किया है। प्रमुख मत निम्नलिखित हैं-

i. टी. एस. इलियट की दृष्टि में सामान्य भाषा में ही काव्य-भाषा के तत्व निहित है। उनके अनुसार- "Emotion and feeling, then, are the best expressed in the common language of the people, that is, in the language common to all classes, the structure, the rhythm, the sound, the idiom of a language, express the personality of the people which speaks it."[8]

''भाव और संवेदना की सर्वोतम अभिव्यक्ति जनसाधारण की भाषा में हो सकती है। अर्थात उस भाषा में जो पूरे वर्ग की सामान्य भाषा है, कारण कि भाषा की संरचना, लय, ध्वनि, मुहावरा- ये सभी उस भाषा के बोलने वालों की प्रजातिगत विशेषता को व्यक्त करते हैं।

ii. सामान्य भाषा और काव्य-भाषा के संबंध में प्राग संम्प्रदाय के विद्वान जॉन मुकारोवस्की (Jan Mukarovsky) की अवधारणा महत्वपूर्ण है-

"Poetic language is thus not a brand of the standard. This is not to deny the close connection between the two, which consists in the fact that, for poetry, the standard language is the background against which is reflected the aesthetically intentional distortion of the linguistic components of the work, in other words, the intentional violation of the norm of the standard."[9]

अर्थात ''काव्य-भाषा मानक भाषा का एक परिवर्तित रुप है। मुकारोवस्की की मान्यता है की ऐसे अतिक्रमण के बिना काव्य ही संभव नहीं है। मानक भाषा के सामान्य नियमों के उल्लंघन से काव्यात्मकता का निर्माण होता है।'' इन्होंने काव्य-भाषा का महत्वपूर्ण प्रकार्य अधिकाधिक अग्रप्रस्तुति (Foregrounding) में माना है, पुनः इनके अनुसार- "One main thesis is that the characteristic Poetic Function consists in FOREGROUNDING and ESTRANGING language and meaning consciosisly and creatively against the BACKGROUND of non-literary language, by devices of deviation and also REPETITION or PARALLELISM."[10]

iii. Rene Wellek एवं Austin Warren के अनुसार- "Poetic language organizes, tightens, the resources of everyday language, and sometimes does even violence to them, in an effort to force us into awareness and attention." [11]

अर्थात् 'काव्य-भाषा रोजमर्रा की भाषा की शक्तियों को संगठित करती है, उन्हें कसती है, और कभी-कभी हमें सचेत करने और हमारा ध्यान आकर्षित करने को इसे तोड़ती-मरोड़ती भी है।''

iv. वास्तव में, "Poetic language is popularly regarded as the most CREATIVE of discourse, original in its ideas and inventive in its FORMS.[12]

v. डॉ. रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव के अनुसार- ''कविता में प्रयुक्त भाषा की व्यवस्था एवं कार्यफलन सामान्य बोलचाल की भाषा की व्यवस्था एवं कार्यफलन से भिन्न होता है। ××××काव्य-भाषा की भी अपनी व्यवस्था होती है, उसके अपने कार्यफलन होते हैं और वे भाषा के विशेष रुप की विशेष व्यवस्था एवं कार्यफलन हैं। पुनः कहते हैं- सामान्य भाषा जहाँ संहिता (Code) सापेक्ष, अभिद्यामूलक, एक स्तरीय अर्थवाली, समानाधिकरणिक, वर्णन, विधि तथा निर्वचनात्मक (Operational) अभिव्यक्ति पद्धति को अपनाने वाली होती है, वहाँ काव्य-भाषा संदेश (Message) सापेक्ष, लाक्षणिक और व्यंजक, बहुस्तरीय अर्थवाली, लचीले प्रतीक वाली तथा सममूल्य तुल्यार्थक वर्णन विधि को एवं प्रस्तुतीकरण परक (Presentational) अभिव्यक्ति पद्धति को अपनाने वाली होती है।''[13]

vi. डा. भोला नाथ तिवारी के अनुसार- ''काव्य-भाषा, भाषा का वह रुप है, जो मूलतः सामान्य भाषा पर आधारित होता है, किन्तु जिसमें सटीक चयन, कल्पना के सहारे विचलन, अप्रस्तुत-विद्यान तथा समानान्तरता आदि के आधार पर, इस प्रकार का संयोजन किया जाता है कि भाषा एक ओर तो सामान्य भाषा की तुलना में सर्जनात्मक, आकर्षक और जीवंत हो उठती है, दूसरी ओर, सामान्य भाषा की अभिद्या-सीमा का अतिक्रमण कर लक्षणा और व्यंजना के स्तर पर अत्यन्त प्रभावी ढंग से भाव-बोध जाग्रत करने में और साहित्यकार की अनुभूति को उसका अधिकाधिक निजता के साथ सम्प्रेषित करने में समर्थ हो जाति है।''[14]

इसके अतिरिक्त Geoffrey, N. Leech; J.P. Thorne; G.W. Turner; Ronald Barthes; Marjorie Boulton तथा Roman Jakobson एवं A. R. Kelkar तथा डॉ. रामस्वरुप चतुर्वेदी, डॉ. सियाराम तिवारी, डॉ. नगेन्द्र आदि ने भी काव्य-भाषा विषयक अपना मत दिया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा के संबंध में सम्यक रुप से विवेचन हुआ है। सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा के संबंध में डॉ. भोला नाथ तिवारी ने अपना निम्नलिखित मत व्यक्त किया है।

i. ''सामान्य भाषा, भाषा के केवल उन उपादानों से काम चलाती है जो उस भाषा में उपलब्ध हैं, प्रचलित हैं, किन्तु काव्य-भाषा इनसे अधिक-से-अधिक बचना चाहती है और कल्पना के सहारे वह भाषा के हर संभावित स्तर पर नये-नये उपादानों का संधान करती है जो विचलन, सादृश्यमूलक, विरोधमूलक, गूढ़ार्थ प्रतितिमूलक अलंकारों एवं प्रतीक, बिम्ब, समानान्तरता आदि अन्य अभिव्यक्ति विद्यानों के रुप में दिखाई पड़ते हैं। काव्य-भाषा की यह सर्जनात्मकता उसे सामान्य भाषा से स्पष्टतः अलगा देती है।''

ii. जहाँ तक अर्थ- संप्रेषण की बात है, सामान्य भाषा और काव्य-भाषा में स्पष्टतः बहुत अधिक अन्तर होता है। सामान्य भाषा केवल बाहरी सूचना देती है। उसके शब्द केवल कोशार्थ अथवा अभिद्यार्थ देकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, अर्थात् उनका मात्र सतही अर्थ होता है, उनमें शब्द और अर्थ का वह सम्बन्ध होता है जो सामान्य तर्क द्वारा अनुमोदित होता है, किन्तु काव्य-भाषा आंतरिक होती है, उसके शब्द लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ और बिम्बार्थ के द्वारा अर्थ का सम्बन्ध सामान्य तर्क द्वारा अनुमोदित अर्थ से बहुत दूर निकल जाता है। कभी-कभी तो अर्थ की कई परतें एक के भीतर एक होती है और यह पाठक या श्रोता की समृद्ध कल्पना और क्षमता पर निर्भर करता है कि वह कितनी गहराई तक पैठकर कितने अर्थों को पकड़ पाता है। उदाहरण के लिए सामान्य भाषा में 'काँटा' पेड़-पौधों पर होने वाला कंटक मात्र है किन्तु काव्य-भाषा में यह कठोर, नीरस, बिघ्न, बाधा, दुःख, आपत्ति आदि का भी बोधक है। वस्तुतः होता यह है कि काव्य-भाषा में उन शब्दों का प्रयोगकर्त्ता अपने विशिष्ट अनुभव से सम्पृक्त करके शब्द को विशिष्ट अर्थ से युक्त कर देता है।

iii. सामान्य भाषा की शब्दावली उसके अपने भाषिक समाज की सामान्य सम्पत्ति होती है। उसे प्रायः सभी समझ तथा यथावसर प्रयुक्त कर लेते हैं। काव्य-भाषा में सामान्य भाषा की शब्दावली का प्रयोग तो होता है किन्तु ऐसी साहित्यिक शब्दावली का भी प्रयोग होता है जो सामान्य भाषा में नहीं मिलती। उदाहरण के लिए नदी; समुद्र' 'हवा', फूल, पानी सामान्य भाषा की सम्पत्ति है, काव्य-भाषा इनके अतिरिक्त इन्हीं अर्थों में कल्लोलिनी, पयस्विनी, सरित; उदधि, अर्णव, रत्नाकर, पयोधि; पवन, वात्, समीर, मरुत; प्रसून, कुसुम; अंबु, सलिल, नीर, वारि आदि का भी प्रयोग करती है।

iv. अर्थ के स्तर पर सामान्य भाषा का अपना व्यक्तित्व नहीं होता, अतः वह केवल सूचना देती है, केवल सूचना ही दे सकती है, किन्तु काव्य-भाषा का अपना व्यक्तित्व होता है, इसीलिए कुछ पंक्तियों को सुनकर हम सहसा कह उठते हैं कि ये पंक्तियाँ तो निराला की लगती हैं और ये पंत की तथा

ये प्रसाद की। ×××× काव्य-भाषा विशिष्ट अनुभव-गर्भित होती है और इसीलिए सामान्य भाषा की तरह केवल शब्दार्थ की सूचना नहीं देती, अपितु कवि की अनुभूति को पाठक तक पहुँचाने में समर्थ होती है। इसी के आधार पर कहा जाता है कि सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा का उद्देश्य अलग-अलग होता है। एक का उद्देश्य है सामान्य सूचना पहुँचाना, दूसरे का उद्देश्य है कवि के विशिष्ट अनुभव का अधिकाधिक मूल रुप में अनुभव करा देना।

v. सामान्य भाषा का प्रयोक्ता विभिन्न स्तरों पर चयन-ध्वनियों का चयन, रुप का चयन, शब्द का चयन, वाक्य का चयन-करके भाषा का संयोजन नहीं करता, किन्तु काव्य-भाषा में चयन का भरपूर लाभ उठाया जाता है।

vi. सामान्य भाषा और काव्य-भाषा का एक सबसे बड़ा अन्तर विचलन का है। सामान्य भाषा ध्वनि, शब्द-प्रयोग, रुप-रचना, वाक्य-रचना तथा अर्थाभिव्यक्ति में भाषा के सामान्य मानक रुप का अनुसरण करती है, किन्तु काव्य-भाषा का काम इससे नहीं चलता, वह परम्परा और रुढ़ि की कारा को तोड़कर अपना नया रास्ता बनाती है। किन्तु यह नया रास्ता बनाना, अतिक्रमण, विपधन या विचलन सौद्देश्य और सर्जनात्मक होता है। भारतीय आचार्य कुन्तक ने काव्य-भाषा की मूल आत्मा को 'वक्रोक्ति' अथवा 'वक्रता' उसी अर्थ में कहा है।[15]

काव्य-भाषा एवं शैली

काव्य-भाषा से तात्पर्य है ऐसी भाषा जो सामान्य भाषा और अतिरिक्त शैली तत्त्व के संयोग से बनी है। ×××× काव्य-भाषा में समाविष्ट शैली तत्त्व ही इसमें निहित मूल भाव को सामान्य धरातल से उँचा उठाकर काव्यत्व के आकाश में उँचा उड़ने में समर्थ बनाता है। अतः काव्य-भाषा को लाक्षणिक रुप से शैली कह दिया जाता है। वैसे भी शैली संबंधी जो विचार/परिभाषाएँ एंक्विस्ट (Enkvist), रिफात्रे माइकेल, (Riffaterre Michael), एर्कबाल्ड ए. हिल (Archibald A. Hill) ने दिया है वे काव्य-भाषा के काफी निकट प्रतीत होते हैं। माइकेल रिफात्रे ने कहा है- "style is understood as an emphasis (expressive, effective or aesthetic) added to the information conveyed by the linguistic strueture, without attention of meaning."[16]

बहरहाल, शैली भाषा का वह वैशिष्टय है जो उसे 'काव्य-भाषा' बना देता है, अतः शैली उपचार से काव्यत्व का ही पयार्य ठहरती है। परतन्तु न्याय से काव्य-भाषा और शैली को अलग नहीं किया जा सकता। अतः काव्यत्व ही शैली है और शैली ही काव्यात्मा है। शैली कहें या काव्य-भाषा, साहित्य का आराध्य और साहित्यशास्त्र का प्रधान विवेच्य केन्द्र है।[17]

शैलीविज्ञान के अन्तर्गत शैली के जो तत्त्व/आयाम मौजुद है वे काव्य-भाषा से भी संबंधित दृष्टिगोचर होते हैं, ये तत्त्व निम्नलिखित हैं- 1.चयन (Choice), 2.विचलन (Deviation), 3.समानान्तरता (Parallelism), 4.अप्रस्तुत विद्यान (Non-Contextuality), 5.बिम्ब (Image), एवं 6.प्रतीक (Symbol)

उपर्युक्त सभी काव्य-भाषा (शैली) के तत्त्व किसी एक स्थल में अकेले-अकेले भी होते हैं और उनमें से कुछ मिलकर एकत्र तथा संश्लिष्ट रुप में होते हैं।[18]

नरेश मेहता की काव्य-भाषा विषयक मान्यताएँ:-

''नरेश मेहता ने अपने भाषायी प्रयोगों के माध्यम से नई कविता की भाषा को एक शक्ति प्रदान की है। उन्होंने काव्य में भाषा विषयक मान्यताओं का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं किया है फिर भी उनके वाक्यों से कतिपय सूत्र अवश्य प्राप्त होते हैं। नरेश मेहता के शब्दों में- ''जब भाषा शताधिक मानवीय उपयोगिताओं को वहन करती चलती है तो भाषा का प्रत्येक शब्द एक ओर जहाँ सामान्य अर्थ का वहन करता होता है वहाँ वह दूसरी ओर विशिष्ट या संस्कारी अर्थ को भी द्योतित करता चलता है।''×××× ''प्रायः तो भाषा के स्तर पर ही अधिकांश कवि, काव्य श्रोता एवं पाठक काव्यात्मकता की तलाश में रहते हैं। कितने जानते हैं कि काव्य-भाषा के शब्द और अर्थ से मुक्ति दिलाने की प्रक्रिया है। भाषा के बंधन का नहीं मुक्ति दिलाने की प्रक्रिया है। भाषा के बंधन का नहीं मुक्ति का नाम काव्य है।''×××× ''भाषा का प्रयोग हम अपने अर्थ के सम्प्रेषण के लिए ही तो करते हैं परन्तु जब हमारा अर्थ, भाषा के स्वरुप और शब्दता का अतिक्रमण कर रहा होता है तब हमें भाषागत प्रयोगों की आवश्यकता होने लगती है।[19] ×××× शब्द के संबंध में वे कहते हैं, ''शब्द को यदि अपने तात्त्विक रुप में ही रहने दिया जाए और तब उसका रचना में प्रयोग हो तो निश्चित ही वह अपनी शब्दता का वल्कल उतारकर अर्थमय हो जाएगा। सही भाषा का तात्पर्य ही यह है, शब्द से अर्थ की ओर जाने की यह शब्द यात्रा किसी पर्याय के द्वारा संभव नहीं। पर्यायवाची शब्द के द्वारा काव्य संभव नहीं, शब्द का पर्याय स्वयं वही शब्द हुआ करता है।''[20]

अपनी पुस्तक 'काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व' में उन्होंने लिखा है- ''भाषा को संस्कार मानने का निष्कर्ष यह हुआ कि तब आप भाषा को अनुशासित नहीं करते, बल्कि भाषा आपको अनुशासित करेगी।''××× ''भाषा का सांस्कारिक होना अनिवार्य प्रक्रिया है। उन्नत मनःस्थिति को अनुन्नता भाषा अभिव्यक्त नहीं कर सकती।''[21]××× ''प्रत्येक व्यक्ति भाषा के माध्यम से ही भावात्मक यात्रा करता है। भाषा सामाजिकता का भाव-सेतु है।''[22]

नरेश मेहता की काव्य-भाषा का मूल्यांकन करने पर पता चलता है कि ''लोक-भाषा जैसी सहज छवि और आत्मीय मिठास उनके काव्य में है वैसी नयी कविता में दुर्लभ है। 'बनपाखी! सुनो!!' में लोक-वृत्ति और लोक-भाषा बहुत मुखर है, भाषा और

संरचना पर मालवी ही नहीं, बाग्ंला का भी खूब असर है। नरेश मेहता ने उपनिषद्, मंत्र, अरण्य, वैष्णवता, प्रार्थना, यज्ञ, आदि अनेकानेक सांस्कृतिक शब्दों को अपने सर्जनात्मक शब्द बनाने का जोखिम उठाया और अपनी प्रतिभा का एक भाग सांस्कृतिक भाषा को आधुनिक सर्जना की भाषा बनाने में लगाया और हिन्दी को एक नयी काव्य-भाषा दी।''[23]

'बनपाखी! सुनो!!' से लगाकर 'देखना एक दिन' तक भाषा की यह अंतर्यात्रा नरेश मेहता के कवित्व का दूसरों से अलग करती है। सांस्कृतिक भाषा लोक भाषा एवं बोलचाल की भाषा के अतिरिक्त नरेश मेहता ने मध्यकालीन शाही परिवेश के लिए उर्दू बहुल भाषा का भी बहुत ही समर्थ प्रयोग 'पिछले दिनों नंगे पैरों' में किया है।''[24]

नरेश मेहता सांस्कृतिक गरिमा और अभिजात्य के कवि हैं। उनकी भाषा में अभिजात्य सांस्कृतिक भाषा, सामान्य बोलचाल की भाषा एवं विविद्य भाषाओं से ग्रहीत शब्द का संगम दृष्टिगोचर होता है। अपने काव्य में तत्सम, तदभव, एवं अन्य भाषाओं- यथा- अंग्रेजी, अरबी, उर्दू/फारसी, तुर्की, बांग्ला एवं मराठी आदि शब्दों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया है। निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है-

1) तत्सम शब्द- सृष्टि, धरित्री, प्रज्ञा, स्नात, नैवेद्य, आम्रकुंज, सूर्यास्त, अमर्त्य, धेनु, स्तवन, प्रत्याशित, इत्यादि

2) तद्भव शब्द- छाह, पाखी, छतर, बाँस, बाँसुरी, दूब, पोखर, पाहुन, चौमासे, दीया, देह, इत्यादि

उन्होने तत्सम- तद्भव शब्दों के विद्यान से भाषा में एक प्रवाह और निरन्तरता की सृष्टि की है साथ ही प्रेषणीयता की अतिरिक्त शक्ति भर दी है।

3) अन्य भाषाओं के शब्द- उनके काव्य में अंग्रेजी, उर्दू, फारसी, अरबी, तुर्की, देशजः बांग्ला, भोजपुरी, ब्रजभाषा, एवं मराठी आदि शब्दों का चयन एवं प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि वे शब्द पारखी और भाषा के जौहरी हैं। उन्होंने अपने शब्द के प्रत्येक पहलू से परिचित होकर ही इनका प्रयोग किया है।[25] यथा-

1) अंग्रेजी शब्दः- आयरन, रेनडियर, मैकबेथ, गाउन, माउथ आरगन, इत्यादि 'दूसरा सप्तक' की उनकी लंबी कविता 'समय देवता' में सबसे अधिक अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग हुआ है।

2) उर्दू-फारसी-शब्दः- मस्जिद, ताबीज, सराय, फरमान, आमीन, खामोश, फरियाद, तरकारी, आवाज़, पेशानी, ख्वाब, बुर्ज इत्यादि।

3) अरबी-शब्दः- कब्र, वर्दी, मशाल, हम्माम, तस्लीम, निज़ाम, इबादत, फ़कीर, मेहराब, खौफ़, मुस्तैद, इत्यादि।

4) तुर्की-शब्दः- लाश, जाजम, कनात, आयाल, बारुद, इत्यादि।

5) भोजपुरी शब्दः - फागुन, खोसना, माथ, खेत, घर, झुरमुट, गाछ, चिन्हना, इत्यादि।

6) बांग्ला शब्दः- आछे, दानदेवो, सत्कारो, अस्ताये, आबार ऐशो, जात्रा, इत्यादि।

7) ब्रजभाषा शब्दः- हिया, छाछ, पाहुन, बदरिया, संग, इत्यादि।

8) मराठी शब्दः- भाजी, बारंबार, जग, इत्यादि।

इस प्रकार नरेश मेहता ने विभिन्न स्त्रोतों से शब्दों का चयन एवं प्रसंगानुकूल प्रयोग किया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ लोकभाषा के शब्दों का भी सधा हुआ प्रयोग तथा अपनी कृति को आकर्षक बनाने हेतु असामान्य एवं अप्रचलित एवं अव्यवहृत शब्दों का भी प्रयोग किया है। यथा- पाधर, रक्खे, बैठाला, अँगोरना, अनहुआ, धूपनैना, बाँशी, इनने, गात्रित इत्यादि। ''उनकी परवर्ती रचनाओं में संस्कृत, अंग्रेजी और उर्दू शब्दों के साथ लोकभाषा का सामंजस्य हो गया है। काव्य-भाषा का हिस्सा हो जाने के कारण आधुनिक और सांस्कृतिक शब्दावली के साथ लोकभाषा में लोकसत्ता ही नहीं, काव्यसत्ता भी उत्तर आई है। निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है-

शाप का यह कूबड़ ढ़ोता/चिरंजीवी अश्वत्थामा/महारानी द्रोपदी से/कपड़े की एक चिन्दी माँगता है/नहीं दोगी सम्राज्ञी! – महाप्रस्थान,[26] -पृ. 79

साम्राज्ञी और महारानी के विलोम में 'चिन्दी' (कपड़े का टुकड़ा) के अलावा कोई शब्द भले कामचलाऊ हो सकता था, काव्यात्मक नहीं। बोली में यह शब्द दयनीयता, अपमान और क्षुद्रता का व्यंजक है। यह पूरे प्रसंग का सुमेरु है। दूसरी ओर 'शाप का कूबड़ ढ़ोना' भाषा के सांस्कृतिक और लोक-रुपों को संयोजित करता है। सांस्कृतिक भाषा का लोक-स्तर पर अवतरण और जन-भाषा का सांस्कृतिक स्तर पर आरोहण, एक ऐसा आदान-प्रदान है, जिससे काव्य और काव्य-भाषा के आयाम विस्तृत होते हैं

4) निर्मित-शब्दः- सम्यक् अर्थाभिव्यक्ति एवं कथ्य को मूर्त रुप प्रदान करने के लिए उन्होंने नये शब्दों की भी रचना की है। यथा- पागुली, संक्षाता, अनुत्सवी, विश्वासे, मंत्रित, पाशित, उदयाये, छंदित इत्यादि। सूर्य के लिए-गगनश्रेष्ठि, दिवस देवता, हलद सरसों; जलाशयों के लिए-द्रोणियों, पानीबाबा, मेघराजा, नदी देहा इत्यादि। प्रति (अव्यय) से उन्होने अनेक

नये शब्द का निमार्ण किया है। यथाः- प्रतिनेत्र, प्रतिआँख, प्रतिसूर्य, इत्यादि।

5) सामासिक शब्दः- निशिचर, मेघहीना, क्षमा प्रार्थना, प्रतिशक्ति, पेड़-जड़, नदी-घाट, पंचपात्री, लग्न-यज्ञ, प्रार्थना-धेनुएँ, इत्यादि। उनके सभी काव्य-संग्रहों में सामासिक शब्दों का यथोचित चयन एवं सार्थक प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। उनके काव्य में प्रयुक्त छोटे-छोटे सामासिक शब्द भाषा को लावण्यमय बना दिया है। उन्होने लगभग सभी प्रकार के समासों का प्रयोग किया है।

6) पयार्यवाची शब्दः- उनके काव्य में पयार्यवाची शब्दों का चयन संदर्भानुकूल हुआ है। पृथ्वी के लिए- धरती, भूमा, पृथिवी, धरा, वसुधा इत्यादि। सुर्य के लिए- आदित्य, मिहिर, गगनश्रेष्ठि, दिवस देवता इत्यादि। सागर के लिए- सिंधु, समुद्र, इत्यादि। आकाश के लिए- गगन, नभ, व्योम, इत्यादि।

7) लाक्षणिक पदावली (मुहावरों एवं लोकोक्तियों/सूक्तियों) का प्रयोगः- (i) मुहावराः यथा- आँख गड़ाना, ऊँचे महल बनाना, दिन फिरना, सपने में डूबना, फौलाद बनना, इत्यादि।

(ii) सूक्तियाँः यथा- ''व्यक्ति से बड़ा होता है उसका दुःख'' (मेरा समर्पित एकान्त.[27] पृ. 74), 'जितने जल उतने ही संशय' (बोलने दो चीड़ को,[28] पृ. 28), 'मनुष्य चल सके इसीलिए तो अंधकार में सूर्य चल रहा', (दूसरा सप्तक,[29] पृ. 134)

8) पुनरुक्ति (द्वित्व) प्रयोग- पुनरुक्ति, प्रयोग से उन्होने एक ओर तो ध्वन्यात्मक सौन्दर्य की सृष्टि की है तो दूसरी ओर अर्थ गौरव में वृद्धि हुई है। इसका प्रयोग विशिष्ट भावाभिव्यक्ति के लिए होता है। ये विविध रुपों में विविध अर्थों का प्रकाशन करती हैं। यथा- संज्ञागत पूर्ण पुनरुक्ति - संग-संग, कण-कण, कोटि-कोटि, इत्यादि। निपात युक्त संज्ञा पुनरुक्ति- धूप-ही-धूप, इत्यादि। सर्वनाम पूर्ण पुनरुक्ति - अपनी-अपनी, किन-किन, इत्यादि। विशेषणगत पूर्ण पुनरुक्ति - लाल-लाल, नयी-नयी, इत्यादि। क्रियागत पूर्ण पुनरुक्ति - सुना-सुना, खड़े-खड़े, इत्यादि। अनुकरणवाचक संज्ञा पुनरुक्ति - खिलखिलाते, थरथराती, इत्यादि। परसर्ग युक्त संज्ञा पुनरुक्ति - द्वार-पर-द्वार, इत्यादि।

नरेश मेहता के काव्य (संशय की एक रात, पिछले दिनों नंगे पैरों, देखना एक दिन, बोलने दो चीड़ को, महाप्रस्थान, उत्सवा, इत्यादि) में पुनरुक्ति प्रयोग का सफल संयोजन दृष्टिगोचर होता है।

9) उन्होंने ध्वन्यात्मक शब्दों (द्वित्व वर्णों) का प्रयोग नाद सौन्दर्य हेतु किया है। यथा-

1. झोर-झोर झकझोर सिखायी -'वनपाखी! सुनो!!'[30], पृ. 41
2. थरथराती गुलाबी पत्तियाँ फुसफुसाने लगती हैं। इसके अतिरिक्त सुना-सुना, वन-वन, संग-संग, रह-रह, धू-धू, कण-कण इत्यादि। -पिछले दिनों नंगे पैरों,[31] पृ. 159

10) संक्षिप्तिकृत शब्दों में आकांक्षा का 'कांक्षा', उपरान्त का 'परान्त', तद्नंतर का 'तदनंत', पदाक्रान्त का 'क्रान्त', तथा 'और' का औ' ('र' का लोप कर (') का प्रयोग इत्यादि शब्द रुप उनके काव्य में विद्यमान हैं।

11) लेखीय उपादानों (विराम चिन्ह) का प्रयोग उनके काव्य में मानवीय सौन्दर्यानुभूति एवं संबोधन उच्छवास तथा अनुभव की तीव्रता और अभिव्यक्ति की बेचैनी को प्रकट करने हेतु लेखीय उपादानों यथा- हलन्त (), अवग्रह चिन्ह (ऽ), विस्म्यादि बोधक (!;!!), प्रश्नवाचक (?), निर्देशक (-), अल्प विराम (,), पूर्ण विराम (।), अवतरण (''''), अर्द्ध विराम (;) आदि चिन्हों के विशिष्ट प्रयोग के अतिरिक्त पद्यांश, एवं पंक्तियों के मध्य रिक्त स्थान, शब्दों और पंक्तियों का विशेष क्रम, दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण द्रष्टव्य है- (1) हलन्त्- मैने उसे सन्यासयत् ही/स्वीकारा प्रभु.– मेरा समर्पित एकान्त, [32] पृ. 75, (2) अवग्रह (ऽ) –(i) पवित्र वाणी के सोऽहं।। केवलोऽहं।। - पिछले दिनों नंगे पैरों,[33] पृ. 179, (ii) ऽइतर, पृ. 17, ऽऽदेवता, पृ. 49; 'दूऽऽर', पृ. 49, पीताम्बराऽऽ, पृ. 64 बोलने दो चीड़ को,[34]

नरेश मेहता ने अपनी भावाभिव्यक्ति को अनुभूतिमय एवं चिन्तनपरक बनाने के लिए प्रश्न चिन्ह (?), सम्बोधन/आश्चर्य चिन्ह (!), निर्देशक/डैश (-), कोष्ठक (), बिन्दू चिन्ह (.....), (:), आदि का चयन एवं प्रयोग किया है। इसके प्रयोग से उनकी भाषा प्रभावशाली एवं आकर्षक दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने प्रश्न चिन्ह (?) अवग्रह चिन्ह एवं आश्चर्य चिन्ह का प्रयोग एक से लेकर तीन-तीन तक एक साथ किया है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है-

प्रश्नवाचक चिन्हः- वे शंखनाद/अब कहाँ?/कहाँ??/अब कहाँ??? – महाप्रस्थान,[35] पृ. 54

विस्मय बोधक सूचक/आश्चर्य चिन्ह- बढ़ता हुआ मनोविकार की दीर्घता को सूचित करने के लिए दो या तीन आश्चर्य चिन्हों का प्रयोग किया जाता है। नरेश मेहता ने भावाभिव्यक्ति हेतु इनका प्रयोग अपने काव्य में पूर्ण रुपेण किया है। यथा- चली गोलियाँ, बापू बोले,/राम! राम! हे राम!! राम!!! – प्रार्थना पुरुष,[36] पृ. 68

12) नरेश मेहता ने अपने काव्य में भाषिक सौन्दर्य एवं भावाभिव्यक्ति हेतु सरल, संयुक्त एवं मिश्र वाक्यों का भी प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त प्रश्न बोधक वाक्य, विस्मय बोधक, सकारात्मक एवं नकारात्मक वाक्यों का चयन एवं प्रयोग किया है। अपने काव्य संग्रह 'देखना एक दिन' में 'एक स्थिति' कविता में एक अंग्रेजी वाक्य का प्रयोग किया है। यथा-

और आपका यह चौंकना/हठात् एक वाक्य बन ओठों पर आ जाय कि/ ''यू फेसनेट मी'' – देखना एक दिन,[37] पृ. 28

इस प्रकार के प्रयोग को Code switching (कूट परिवर्तन) कहा जाता है। इस प्रयोग में वक्ता वार्तालाप के क्रम में भावावेश होकर अचानक अन्य भाषा के शब्द/वाक्य का प्रयोग करता है जिससे उसकी अभिव्यक्ति में एक भाषिक सौन्दर्य आ जाता है। साथ ही दो एक कविताओं के शीर्षक भी संस्कृत वाक्य के हैं। यथा- 1.ते यन्ति, ते यन्ति– बोलने दो चीड़ को,[38] पृ. 21 2.यज्ञ यज्ञेन कल्पताम् – उत्सवा,[39] पृ. 104

13) सम्यक् भावाभिव्यक्ति एवं संप्रेषण हेतु विशेषण विपयर्य तथा मानवीकरण का भी प्रयोग पर्याप्त दृष्टिगोचर होता है। (i) विशेषण-विपयर्यः यथा- शीतनभ, श्वेत आँचल, अन्धी महानता, मुलायम आवाज इत्यादि। (ii) मानवीकरण (Personification); यथा- अमराई में दमयन्ती-सी/ पीली पूनम काँप रही हैं, - दूसरा सप्तक,[40] पृ. 132

यहाँ 'पीली पूनम का दमयन्ती-सी काँपना' में मानवीकरण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अन्य उदाहरण – कंघी करती-----हवाएँ; शब्द मुझतक आया/और बोला, इत्यादि।

14) नये विशेषण शब्दों में पागुली, सोनपर्वी (दिन), सांझिल, आदि को लिया जा सकता है। संज्ञा से बने विशेषण शब्दों में तंबियाये (तांबे से), इतिहासी (इतिहास से), इत्यादि। नये क्रिया शब्दों का प्रयोग पर्याप्त दृष्टिगोचर होता है। यथा- विलोके, स्वीकारें, विश्वासें, सत्कारें, अस्ताये, इत्यादि।

15) नरेश मेहता ने अपनी काव्य-भाषा को कलात्मक रुप देने तथा भाषिक सौन्दर्य उद्घाटित करने हेतु ध्वनि, रुप, शब्द एवं अर्थ के स्तर पर विचलित प्रयोग किया है। उन्होंने व्याकरण सिद्ध मानकों को तोड़कर काव्य-भाषा में गुणात्मक स्तर पर गहरे उतरने के लिए रुपात्मक स्तर पर भाषा का नया आयाम उद्घाटित किया है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है-

1. उदयाचल से किरन धेनुएँ, दूसरा सप्तक,[41] पृ. 125, यहाँ 'किरण' के स्थान पर 'किरन' का प्रयोग में ध्वनि विचलन है।

2. स्वागत करो, विश्रामेंगे रात यहाँ ये, 'बनपाखी! सुनो!!,[42] पृ. 56, यहाँ कवि देव कृपाओं को स्वागत करने को कहता है, तथा उन्हें 'रात्रि-विश्राम हेतु विश्राम करेंगे' के स्थान पर आदर सूचक 'विश्रामेंगे' शब्द का विचलित प्रयोग कर भाषिक सौन्दर्य का निर्माण किया है।

3. 'गिर पड़ी गुरु (के) पद पदमों पर' 'शबरी'[43]- पृ. 21, यहाँ 'के' परसर्ग /कारक विभक्ति के लोप होने से भाव विह्वल शबरी का गुरु के कमल रुपी चरण (पद) पर गिरने में विह्वलता की प्रगाढ़ता दृष्टिगोचर होती है।

4. 'देव कन्याओं सी हिम फिसल रही है', महाप्रस्थान,[44] पृ. 38, यहाँ 'हिम' संज्ञा पुल्लिंग के रुप में प्रयोग न होकर स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होने से लिंग विचलन है।

5. 'मनुज घाव पर चैत शरद की चाँदनियों की रेशम पलकें हवा कर सकें। -चैत्या (दूसरा सप्तक)[44] -पृ. 221, यहाँ 'चाँदनी' एक वचन के स्थान पर चाँदनियों (बहुवचन) के प्रयोग में वचन विचलन स्पष्ट है।

6. वस्तुतः वाक्य में पद विशेष क्रम में रखे जाते हैं। किन्तु काव्य-भाषा में यह क्रम सर्वदा वही नहीं होता जो सामान्य बोलचाल या गद्य में होता है। वाक्य विचलन के अन्तर्गत कवि किसी विशेष प्रसंग के सम्प्रेषण के लिए सामान्य क्रम को बदल देता है। नरेश मेहता के काव्य में इससे संबंधित उदाहरण पर्याप्त दृष्टिगोचर होते हैं। यथा-

'निष्ठुर अँगुलियों से दुहो इनको।' –संशय की एक रात,[46] पृ. 46

यहाँ 'इनको निष्ठुर अँगुलियों से दुहो', होना चाहिए। लेकिन सर्वनाम (इनको) का क्रम परक विचलन स्पष्ट है। निष्ठुरता के प्रति ध्यान आकृष्ट करने हेतु साभिप्राय विचलन है।

7. नरेश मेहता ने अपने काव्य में शब्दों का प्रयोग परम्परागत प्रयोग से हटकर एक नए अर्थ में किया है। यथा-

किरन-धेनुओं का समूह यह/आया अन्धकार चरता, -चैत्या (दूसरा सप्तक)[47]- पृ. 19,

यहाँ 'किरन धेनुओं का अन्धकार चरना' में प्रथम तो 'किरन धेनुओं' से तात्पर्य 'किरणरुपी गायें' अर्थात यहाँ 'किरन' अमूर्त का मूर्त, सजीव रुप में दिखाकर अर्थ स्तरीय विचलन हुआ है। तथा दूसरे 'अंधकार चरना' से तात्पर्य अंधकार कोई मूर्त घास नहीं जिसे गायें चरें। यहाँ 'चरना' का अर्थ घास चरना नहीं हैं बल्कि धीरे-धीरे समाप्त करना है। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर अंधेरा धीरे-धीरे समाप्त होता जाता है। अतः यहाँ अर्थ स्तरीय विचलन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

16) नरेश मेहता ने अपनी काव्य-भाषा में भाषिक सौन्दर्य उद्घाटित करने एवं उसे लावण्यमय बनाने तथा सम्यक् भावाभिव्यक्ति हेतु ध्वनि, शब्द, रुप, वाक्य एवं अर्थ के स्तर पर विविध समानान्तर प्रयोग किया है।

i. उनके काव्य में ध्वनि की आवृति (समानान्तर प्रयोग) साभिप्राय एवं व्यवस्थित पैटर्न में हुई है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टय है। यथा- मेरी अहं की मीनार की ही नीव में। -दूसरा सप्तक,[48] पृ. 33

यहाँ दीर्घ 'ई' संवृत, अवृतमुखी, अग्रस्वर की छः बार आवृति हुई है जिससे ध्वन्यात्मक चित्र दृष्टिगोचर होता है।

ii. उन्होंने अपने काव्य में परसर्गों एवं निपातों आदि रुपों का समानान्तर प्रयोग कर कथ्य को भावपूर्ण, बनाया है।

यथा- नदियों ने चलकर ही/सागर का रुप लिया/मेघों ने चलकर ही/धरती को गर्भ दिया। -दूसरा सप्तक,[49] पृ. 130

यहाँ 'ने' परसर्ग (कर्त्ता) रुपीय समानान्तर शब्द का प्रयोग कर 'नदी' और 'मेघ' की क्रियाशीलता को मुखरित किया है।

iii. शब्दों के समानान्तर प्रयोग से संबंधित निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है-

1. और उसके लिए-/हर पानी, सिर्फ पानी/इबादत करता, प्रार्थना करता पानी। -चैत्या (पिछले दिनों नंगे पैरों)[50] पृ. 178

2. कभी तो उन कविताओं से बाहर निकलकर

मेरे सामने/एक प्रिया/एक सुगन्ध/एक नाम बनकर बैठो।- चैत्या (तुम मेरा मौन हो)[51] पृ. 125

उनके काव्य में शब्दों का समानान्तर प्रयोग काव्य-पंक्ति में कभी अग्र, कभी मध्य, तो कभी पश्च स्थान पर दृष्टिगोचर होता है। शब्दों के ऐसे प्रयोग से भावाभिव्यक्ति में प्रखरता आ गई है।

iv. उन्होंने अपने काव्य में वाक्यों का समानान्तर प्रयोग कर अपनी काव्य-भाषा को अधिकाधिक प्रांजल एवं प्रभावोत्पादक बना डाला है। यथा- ते यन्ति, ते यन्ति/वे आ रहे हैं, वे आ रहे हैं। - बोलने दो चीड़ को,[52] पृ. 21-22

इस वाक्य की आवृत्ति 'ते यन्ति, ते यन्ति' शीर्षक कविता में एक अंतराल पर तीन बार हुई है। इसे स्थायित्व पूर्ण जिज्ञासा का भाव दृष्टिगोचर होता है।

v. उन्होंने अर्थ के दृष्टिकोण से भाषिक सौन्दर्य उद्घाटित करने हेतु अपने काव्य में समानार्थी एवं समवर्गीय शब्दों का प्रयोग प्रर्याप्त किया है। यथा- ''वह जन-रव से दूर हँस रही दूब बिछाये धरती माता,/विश्वम्भरा रुपमयी वह'' – दूसरा सप्तक,[53] पृ. 139

यहाँ 'धरती' और 'विश्वम्भरा' दोनों का अर्थ पृथ्वी है अतः इन पयार्यवाची शब्दों के प्रयोग से समानार्थी अर्थीय समानान्तरता स्पष्ट है।

17) नरेश मेहता ने अपनी काव्य-भाषा को प्राजंल एवं गहन सौन्दर्यात्मक रुप प्रदान करने हेतु प्रभाव साम्य एवं स्त्रोत के आधार पर अप्रस्तुतों/उपमानों का प्रयोग किया है।

1. प्रभाव साम्य के आधार पर- (i). मूर्त के लिए अमूर्त, (ii). अमूर्त के लिए मूर्त, (iii). अमूर्त के लिए अमूर्त, (iv). मूर्त के लिए मूर्त, तथा

2. स्त्रोत के आधार पर- (i). प्राकृतिक, (ii). सांस्कृतिक/ धार्मिक, (iii). वैज्ञानिक इत्यादि। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है-

(i) मूर्त के लिए मूर्तः यथा- उड़ता रहे चिड़ियों सरीखा/वह तुम्हारा धवल आँचल। -चैत्या (वनपाखी! सुनो!!)[54] पृ. 45

(ii) अमूर्त के लिए मूर्तः यथा- मैंने प्रार्थनाओं से कहा,

लेकिन यह-/मोमबत्तियों की तरह/उदास भिक्षुणी बन गई। - उत्सवा,[55] पृ. 80

उनके काव्य में दैनिक जीवन के विविध-क्षेत्रों, घटना-प्रसंगों, कार्य-व्यापार आदि से संबंधित अप्रस्तुतों का प्रयोग मिलता है। उन्होंने प्रस्तुत का यथातथ्य, प्रभावशाली एवं बिंबात्मक चित्रण के लिए प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक अप्रस्तुतों का चयन एवं प्रयोग लालित्यपूर्ण भावाभिव्यक्ति हेतु किया है। अप्रस्तुतों के साभिप्राय चयन एवं सार्थक प्रयोग से उनकी काव्य-भाषा में लालित्य आ गया है।

18) उनके काव्य में अलंकारों का भी प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने अपने काव्य को अनुप्रास, रुपक, सांगरुपक और उपमा आदि अलंकारों के प्रयोग से लालित्यपूर्ण बना दिया है। 'रुपक' से संबंधित उदाहरण द्रष्टव्य है।

उदयाचल से किरन-धेनुएँ/हाँक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला।/पूँछ उठाये चली आ रही

क्षितिज जंगलों से टोली – चैत्या (दूसरा सप्तक)[56] पृ. 19

उनकी 'उषस्' शीर्षक से लिखी गई कविताओं में सफल रुपकों के प्रयोग देखने को मिलते हैं। उन्होंने घटना एवं चरित्र की भावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए उन अलंकारों का सम्यक् प्रयोग किया है।

19) वस्तुतः नरेश मेहता का काव्य बिम्बों का जीवित प्रतिरुप है। उनके लिए बिम्ब कविता के पयार्यवाची हैं। उनमें ऐसी

कविताएँ बहुत कम मिलेंगी, जिनमें कोई बिम्ब न हो, और बिम्बों में ताजगी और ऐन्द्रियता का अनूठा सौन्दर्य न हो। उनके काव्य में बिम्बों के अनेक प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं जिनके माध्यम से उन्होंने नाना प्रकार की स्वानुभूतियों को अत्यधिक कलात्मकता से व्यंजित किया है। यथा-

1. विषयात्मक बिम्बः (i). वस्तु बिम्ब, (ii). भावात्मक बिम्ब, (iii). प्राकृतिक बिम्ब, (iv). सांस्कृतिक/पौराणिक बिम्ब, (v). संश्लिष्ट बिम्ब, (vi). अलंकृत बिम्ब, (vii). मानस बिम्ब, (viii). विविध व्यापार विषयक बिम्ब।

2. गुणात्मक बिम्ब/इन्द्रिय बोध परकः (i). चाक्षुष/दृश्य बिम्ब, (ii). स्पृश्य बिम्ब, (iii). घ्राण बिम्ब, (iv). आस्वाध बिम्ब, (v). श्रावणिक बिम्ब, (vi). वर्ण बिम्ब, (vii). स्मृति एवं अनुभूति बिम्ब, (viii). यौन बिम्ब।

निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैः

(i) वस्तु बिम्बः उनके काव्य में वस्तु बिम्ब अत्यधिक दृष्टिगोचर होता है जिसका स्त्रोत प्रकृति का मुक्त प्रांगण है। यथा-

नारिकेलों पर थमें हैं/भाद्रपद के मेघ कजरारे,/नील आकाशे खीचे हैं/जलधूले नवक्षितिज उजियारे। -वनपाखी! सुनो!!,[57] पृ. 20

यहाँ नारिकेलों पर थमे भाद्रपदी कजरारे मेघ 'का' बिम्ब अपनी स्थिरता में भी आकर्षक बन गया है।

(ii) चाक्षुष/दृश्य बिम्बः रुप और वर्ण के अनगिन अछूते और आकर्षक बिम्बों की सर्जना करके नरेश मेहता ने अपने काव्य का अद्भुत शृंगार किया है। यथा—

आसमान की छाती में इँजन का सारा शोर भर रहा।/जाने किस राक्षस की आँखों जैसी लाल हरी लाइटें चमक रहीं/सिगनल खंभों की। -दूसरा सप्तक,[58] पृ. 139

(iii) घ्राण बिम्बः तो भाषा ××× /इलायची की सुगन्ध सी/रविशंकर की झनझनाती सितार-सी समुपस्थित हो जाती है। - चैत्या - (अरण्या)[59] पृ. 140

नरेश मेहता के अलंकृत बिम्ब, इन्द्रियबोध परक और सांस्कृतिक बिम्ब नयी कविता के इतिहास में एकदम नये हैं। 'बोलने दो चीड़ को' में 'एक तितली', 'एक प्रयोग', 'दिनान्त की राजभेंट' जैसी कविताएँ उत्कृष्ट बिम्बों से आद्यंत सजी हैं।

वास्तव में, उन्होंने बिम्बों के माध्यम से अन्तर्मन की विविध सुमधुर अनुभूतियों और सुकुमार भावनाओं की सशक्त अभिव्यजंना प्रस्तुत कर अपनी काव्य-भाषा को अनूठे सौन्दर्य से सजा डाला है।

20) नरेश मेहता के काव्य में प्रतीकों का भी प्रयोग पर्याप्त हुआ है। वस्तुतः प्रतीक काव्य-सौन्दर्य का विशिष्ट उपादान, भावोत्कर्ष में साधक, अर्थाभिव्यंजक और विस्तार को संक्षेप में कहने का माध्यम है। काव्य की रमणीयता बहुत कुछ प्रतीकों पर निर्भर करती है। उनके काव्य में प्रयुक्त प्रतीक इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य और जन-जीवन से आए हैं। उन्होंने अपने काव्य में 'सांस्कृतिकः पौराणिक एवं धार्मिक, ऐतिहासिक, प्राकृतिक, वैज्ञानिक, यौन, कलात्मक एवं सामान्य (दैनिक) जीवन से संबंधित प्रतीकों का प्रयोग कर काव्य-भाषा को मार्मिक एवं अनुपम कलात्मकता से मंडित कर डाला है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है।

(i) सांस्कृतिक प्रतीक- उनके समस्त खण्ड काव्य रामायण तथा महाभारत के प्रसंगों को लेकर लिखे गए हैं। इन काव्यों में उन्होंने प्रतीक पद्धति अपनाई है। उनके काव्य 'उत्सवा', 'अरण्या', 'महाप्रस्थान', 'संशय की एक रात', 'प्रवाद पर्व', एवं 'बोलने दो चीड़ को' में सांस्कृतिक प्रतीकों का प्रयोग पर्याप्त दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार प्रतीकों में राम, रावण, सीता, लक्ष्मण, विभीषण, हनुमान, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और शबरी आदि पात्रों को प्रतीकवत् स्वीकारा गया है। संशय की एक रात में, राम प्रश्नाकुल और अपूर्ण व्यक्तित्व के, रावण असत प्रवृतियों का, सीता अपहृत स्वतंत्रता का, लक्ष्मण संकल्प, निष्ठा एवं अदम्य जिजिविषा का, विभीषण खंडित व्यक्तित्व का, हनुमान सहज मानवत्व का, तथा महाप्रस्थान में युधिष्ठिर धर्मपालक का, द्रौपदी सांसारिकता का प्रतीकत्व लिए हुए तथा शबरी में 'शबरी' उर्ध्वगामी प्रज्ञा की प्रतीक के रुप में प्रयोग किया गया है। निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है-

i. अपमानित विभीषण चाहते हैं न्याय/उस सम्राट से/जो दस दिशा की नियति है –'संशय की एक रात'[60] पृ. 68

यहाँ 'दस दिशा की नियति' का प्रयोग रावण के लिए प्रतीकवत् हुआ है। इसका तात्पर्य है- रावण के हाथ में दसों दिशा का भाग्य है।

ii. प्राकृतिक प्रतीक-/नदियों ने चलकर ही/सागर का रुप लिया/मेघों ने चलकर ही/धरती को गर्भ दिया। --दूसरा सप्तक,[61] पृ. 130

यहाँ 'नदी' गतिशीलता की तथा 'सागर' कर्मठता का, 'मेघ' पुरुषत्व का तथा 'धरती' नारीत्व के रुप में प्रयुक्त है। इसी प्रकार उनके काव्य में वैज्ञानिक, यौन, कलात्मक एवं सामान्य जीवन से संबंधित प्रतीकों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता

है। उनके काव्य में प्रयुक्त प्रतीक उनकी मौलिकता एवं सूक्ष्म कौशल को उद्घाटित करते हैं। उनके प्रतीक काव्य की प्रेषणीयता बढ़ाते हैं और सौन्दर्य बोध में गुणात्मक वृद्धि करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि शब्द शिल्पी एवं प्रयोगधर्मी होने के नाते कवि नरेश मेहता ने अपने काव्य में शब्दों को नया रुप प्रदान किया है। उन्होंने अपनी काव्य-भाषा को निखारने हेतु प्रसंगानुकूल उपयुक्त शब्दावली एवं भाषिक उपदानों का प्रयोग बड़े ही कलात्मक ढ़ंग से किया है। साथ ही उन्होंने अपने काव्य में लाक्षणिक पदावली, अप्रस्तुतों/उपमानों, अलंकारों, बिम्बों एवं प्रतीकों इत्यादि का अभिनव प्रयोग कर अपनी काव्य-भाषा को नयी अर्थवत्ता एवं सौन्दर्य से अभिमंडित कर दिया है। वे भाषा के व्यवहारिक, अर्थगर्भित और विशिष्ट प्रयोग के पक्षधर हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त काव्य-भाषा नवीनता, मौलिकता, प्रेषणीयता, सरसता, चित्रोपमता और प्रवाहशीलता आदि गणों से युक्त है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. श्रोत्रिय, प्रभाकरः नरेश मेहता- प्रथम संस्करण-2003, पुनर्मुद्रण-2013, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली. पृ. 52
2. शर्मा, प्रभाकर : नरेश मेहता का काव्य विमर्श और मूल्यांकन, प्रथम संस्करण-1979, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, पृ. 9
3. शर्मा, प्रभाकर : नरेश मेहता का काव्य विमर्श और मूल्यांकन,प्रथम संस्करण-1979,पंचशील प्रकाशन,जयपुर, पृ. 26-27
4. तिवारी, डॉ. भोला नाथ : शैलीविज्ञान, प्रथम संस्करण-1977, शब्दकार प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 28
5. कुन्तक : वक्रोक्ति जीवितम्; उद्दत, मिश्र, डॉ. भगीरथ, काव्यशास्त्र, 28वाँ संस्करण, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उ0प्र0, पृ. 204
6. चतुर्वेदी, राम स्वरुप : काव्य-भाषा पर तीन निबन्ध, प्रथम संस्करण-1989, तृतीय संवर्द्धित संस्करण-2002, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 34
7. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र : चिन्तामणि, भाग-1, संस्करण-2012, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली-02, पृ. 130-134
8. Eliot, T.S.: On Poetry and Poets. (Literary Essays), First Published-1957. Faber & Faber Ltd, London. Page.19
9. Jan Mukarovsky: Standard Language and Poetic Language. Garvin, Paul L. (1964) Translated, in Freeman, Donald C. (Edited)-1970: Linguistics and Literary Style. Holt, Rinehart & Winston, New York.
10. Wales, Katie: A Dictionary of Stylistics. First Published-1989. Longman Group UK. Ltd. London. Page.360
11. Wellek, Rene and Warren, Austin: Theory of literature. First Published in the USA. 1949. Penguine Books Ltd. Reissued in Peregrine Books. 1985, Page. 24
12. Wales, Katie: A Dictionary of Stylistics. First Published-1989. Longman Group UK. Ltd. London. Page. 359
13. श्रीवास्तव, डॉ. रवीन्द्र नाथ : शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका, प्रथम संस्करण-1972, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, उ0प्र0, पृ. 46-53
14. तिवारी, डॉ. भोला नाथ : शैलीविज्ञान, प्रथम संस्करण-1977, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 38
15. तिवारी, डॉ. भोला नाथ : शैलीविज्ञान, प्रथम संस्करण-1977, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 30-38
16. Michael, R. Riffaterre: Criteria for Analysis of Style. In chatman, S. and Levin, S. R. (Edited): Essay on the language of literature. First Published-1967. The Houghton Miffin Company, Boston.
17. गुप्त, गणपति चन्द्र : भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त, प्रथम संस्करण-2009, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 196
18. चतुर्वेदी, राम स्वरुप : काव्य-भाषा पर तीन निबन्ध, प्रथम संस्करण-1989, तृतीय संवर्द्धित संस्करण-2002, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 39
19. मेहता, नरेश : प्रवाद पर्व, प्रथम संस्करण-1977, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 9-13
20. मेहता, नरेश : प्रवाद पर्व, प्रथम संस्करण-1977, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 13
21. मेहता, नरेश : काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, प्रथम संस्करण-1972, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 10-11
22. मेहता, नरेश : काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, प्रथम संस्करण-1972 लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 17
23. श्रोत्रिय, प्रभाकर : नरेश मेहता, प्रथम संस्करण-2003, पुनर्मुद्रण-2013, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, पृ. 79-80
24. श्रोत्रिय, प्रभाकर : नरेश मेहता, प्रथम संस्करण-2003, पुनर्मुद्रण-2013, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, पृ. 83-85
25. सिन्हा, डॉ. प्रेम निवास : नरेश मेहता के काव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध-1995) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ0प्र0, पृ. 216-219
26. मेहता, नरेश : महाप्रस्थान, प्रथम संस्करण-1972, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 79
27. मेहता, नरेश : मेरा समर्पित एकान्त, प्रथम संस्करण-1967, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 74
28. मेहता, नरेश : बोलने दो चीड़ को, प्रथम संस्करण-1962, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 28
29. मेहता, नरेश : दूसरा सप्तक, प्रथम संस्करण-1951, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 134
30. मेहता, नरेश : वनपाखी! सुनो!!, प्रथम संस्करण-1957, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 41
31. मेहता, नरेश : पिछले दिनों नंगे पैरों, प्रथम संस्करण-1983, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 159
32. मेहता, नरेश : मेरा समर्पित एकान्त, प्रथम संस्करण-1967, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 75

33. मेहता, नरेश : पिछले दिनों नंगे पैरों, प्रथम संस्करण-1989, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 179

34. मेहता, नरेश : बोलने दो चीड़ को, प्रथम संस्करण-1962,लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 64

35. मेहता, नरेश : महाप्रस्थान, प्रथम संस्करण-1978, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 54

36. मेहता, नरेश : प्रार्थना पुरुष, प्रथम संस्करण-1985, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 68

37. मेहता,नरेश : देखना एक दिन, प्रथम संस्करण-1990, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 28

38. मेहता, नरेश : बोलने दो चीड़ को, प्रथम संस्करण-1962, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 21

39. मेहता, नरेश : उत्सवा, प्रथम संस्करण-1979, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 104

40. मेहता, नरेश : दूसरा सप्तक, प्रथम संस्करण-1951, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 132

41. मेहता, नरेश : दूसरा सप्तक, प्रथम संस्करण-1951, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 125

42. मेहता, नरेश : वनपाखी! सुनो!!, प्रथम संस्करण-1957, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 56

43. मेहता, नरेश : शबरी, प्रथम संस्करण-1977, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 21

44. मेहता, नरेश : महाप्रस्थान, प्रथम संस्करण-1972, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 38

45. मेहता, नरेश : चैत्या (दूसरा सप्तक), द्वितीय संस्करण-2015,भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 221

46. मेहता, नरेश : संशय की एक रात, प्रथम संस्करण-1962, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 46

47. मेहता, नरेश : चैत्या (दूसरा सप्तक), द्वितीय संस्करण-2015, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 19

48. मेहता, नरेश : दूसरा सप्तक, प्रथम संस्करण-1951, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 33

49. मेहता, नरेश : दूसरा सप्तक, प्रथम संस्करण-1951, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 130

50. मेहता, नरेश : चैत्या (पिछले दिनों नंगे पैरों), द्वितीय संस्करण-2015, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 178

51. मेहता, नरेश : चैत्या (तुम मेरा मौन हो), द्वितीय संस्करण-2015, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 125

52. मेहता, नरेश : बोलने दो चीड़ को, प्रथम संस्करण-1962, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 21-22

53. मेहता, नरेश : दूसरा सप्तक, प्रथम संस्करण-1951, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 139

54. मेहता, नरेश : चैत्या (वनपाखी! सुनो!!), प्रथम संस्करण-1976, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 45

55. मेहता, नरेश : उत्सवा, प्रथम संस्करण-1976, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 80

56. मेहता, नरेश : चैत्या (दूसरा सप्तक), प्रथम संस्करण-1976, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 19

57. मेहता, नरेश : वनपाखी! सुनो!!, प्रथम संस्करण-1957, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 19

58. मेहता, नरेश : दूसरा सप्तक, प्रथम संस्करण-1951, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 139

59. मेहता, नरेश : चैत्या (अरण्या), प्रथम संस्करण-1976, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 140

60. मेहता, नरेश : संशय की एक रात, प्रथम संस्करण-1962, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0, पृ. 68

61. मेहता, नरेश : दूसरा सप्तक,भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण-1951, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 130

●

''किशोरावस्था में मनो-सामाजिक समस्याएँ एवं समाधान''

डॉ0 माया सिंह*

किसी कवि की कल्पना को उकेरे ..... या फिर जीती जागती जिन्दगी की उलझनों ..... को समझें .....

हर गम से बेगाने बचपन की स्याह तस्वीरें पलटें ..... या फिर कोशिश करें वो सब पढ़ डालने की ..... जो स्पंदित हो रहा है एक युवा उड़ान भरने की जुस्तजू लिए किशोर के मन में ..... क्यों मार लेता है वो अपना मन ..... क्यों रुक जाता है वो अचानक हँसते-हँसते ..... कहाँ चूक जाते हैं उसके अपने ही खून की चाहत समझने में ..... शायद वक्त ही सगा नहीं हो पाया ..... शायद दुनियादारी हावी हो गई एक बार फिर ..... इसी पृष्ठभूमि में करना है एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन किशोरावस्था की चुनौतियों, समस्याओं एवं समाधान के उपायों का।

बचपन की दहलीज पार कर जब एक बालक/बालिका किशोरावस्था की दहलीज पर कदम रखते हैं - एक नई उम्मीद, सुनहरे भविष्य के सपनों को सँजोये और नई आकांक्षाओं के साथ, तो उनके समक्ष भूमिका परिवर्तन के साथ ही, तीव्र गति से होने वाले शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन तथा समस्याएँ कठिन चुनौती के रूप में सामने आती हैं। जहाँ एक तरफ उनके समक्ष समायोजन की समस्या उपस्थित होती है, वहीं दूसरी तरफ परिवार तथा समाज उनसे यह अपेक्षा रखता है कि किशोर वय में प्रवेश कर चुके बालक/बालिका जिम्मेदारी के साथ अपनी भूमिका का निर्वहन करें।

प्रस्तुत प्रपत्र में किशोरावस्था की समस्याओं एवं उनके समाधान के उपायों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है तथा इन समस्याओं के समाधान में माता-पिता एवं समाज की सकारात्मक भूमिका को भी विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हरलॉक (1950) के अनुसार, ''किशोरावस्था का प्रसार सामान्य बालक में 11-13 वर्ष से लेकर 21 वर्ष तक, यौवनारम्भ से परिपक्वता तक होता है।'' किशोरावस्था की तीन अवधियाँ होती हैं- पूर्व किशोरावस्था - किशोर 11 से 13 वर्ष तथा किशोरी 10 से 11 वर्ष, प्रारंभिक किशोरावस्था की अवधि लड़कों में 13 से 17 वर्ष तथा लड़कियों में 17 से 20 या 21 वर्ष तक।[1] किशोरावस्था में किशोर/किशोरियों में अनेकानेक शारीरिक, मानसिक, व्यावहारिक एवं सामाजिक विकास तथा परिवर्तन होते हैं, किशोर अपने आपको बाल्यावस्था एवं प्रौढ़ावस्था के बीच अनुभव करता है। इसीलिए किशोरावस्था को 'संक्रमणकालीन अवधि' के नाम से भी जाना जाता है। Hall (1905) ने किशोरावस्था को 'Age of Storm and Stress' कहा है। किशोरावस्था जीवन की सुनहरी अवस्था मानी जाती है क्योंकि इस अवस्था में किशोर के व्यक्तित्व के निर्माण के साथ ही, भावी जीवन की रूपरेखा तैयार होती है, उनमें यौन परिपक्वता पाई जाती है, उनकी जीवन शैली निर्धारित होती है तथा सबसे अधिक आनंद की अवस्था होती है।[2]

किशोरावस्था को आशंका एवं अयथार्थता की अवधि तथा प्रौढ़ावस्था की देहली के रूप में जाना जाता है। यह काम-चेतना के जागरण तथा तनाव एवं अशांति की अवधि के रूप में भी जाना जाता है। किशोरावस्था में तीव्र शारीरिक एवं अनेक अन्य प्रकार के मानसिक, सामाजिक परिवर्तन होते हैं, किशोर-किशोरियों को अपनी नवीन भूमिका में समायोजन स्थापित करने की चुनौती प्रस्तुत होती है। उत्तर किशोरावस्था में विपरीत लिंग के प्रति तीव्र शारीरिक आकर्षण पाया जाता है, माता-पिता की उनसे अपेक्षाएँ बढ़ जाती हैं, शारीरिक एवं ग्रन्थीय परिवर्तनों के कारण उनमें सांवेगिक तनाव अत्यधिक बढ़ जाता है।[3] सामाजिक परिस्थितियाँ भी किशोर/किशोरियों के सांवेगिक तनाव का एक प्रमुख कारण होती हैं। चिड़चिड़ापन, उत्तेजनशीलता, विचारों-भावनाओं पर नियंत्रण के स्थान पर क्रोध करना जैसे व्यवहार परिलक्षित होते हैं। 16 वर्ष की आयु तक इसमें सुधार दिखाई देने लगता है। स्पष्ट है कि प्रारंभिक किशोरावस्था के समाप्त होते-होते उनमें संवेगात्मक स्थिरता आने लगती है (गेसेल इत्यादि, 1956)।

किशोरावस्था को समस्याओं की अवधि के नाम से जाना जाता है, क्योंकि इस अवस्था में किशोर तथा किशोरियों को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं के कारण न केवल उनको समायोजन स्थापित करने में कठिनाई की अनुभूति होती है बल्कि इन समस्याओं के कारण उनका भविष्य भी प्रतिकूल ढंग से प्रभावित होता है। संभवतः यही कारण है कि किशोरावस्था की समस्याओं को पहचानकर उनका समाधान प्रस्तुत करने पर मनोवैज्ञानिकों ने प्रमुखता से बल दिया है, ताकि उनकी समस्याओं को पहचानकर उसे दूर करने हेतु सार्थक कदम उठाये जा सकें, उनके व्यक्तित्व को सँवारा जा सके, जिससे राष्ट्र के निर्माण में किशोर/किशोरियों की ऊर्जा का सकारात्मक उपयोग किया जा सके एवं समाज के एक जिम्मेदार नागरिक के रूप में वे अपनी भूमिका का निर्वहन कर सकें।

---

* (असिस्टेण्ट प्रोफेसर Stage-III) मनोविज्ञान, टी0डी0पी0जी0 कालेज, जौनपुर

किशोरावस्था की समस्याओं को जानने के संदर्भ में 50 किशोर एवं 50 किशोरियों को प्रतिदर्श के रूप में चयनित कर, साक्षात्कार के माध्यम से उनसे दिन-प्रतिदिन की चुनौतियों एवं समस्याओं के बारे में जानकारी प्राप्त की गई तथा उनके माता-पिता से भी उनके बच्चों के व्यवहार में होने वाले परिवर्तनों, समस्याओं तथा इन समस्याओं के समाधान में खुद उनकी भूमिका के बारे में जानकारी प्राप्त की गई। अध्ययन में प्राप्त परिणामों के विश्लेषण से स्पष्ट हुआ कि प्रायः किशोर वय के बालक/बालिका अनेक मनो-सामाजिक समस्याओं से जूझते हैं एवं अपनी नवीन भूमिका में समायोजन स्थापित करने में उन्हें बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि एक तरफ तो उनसे एक वयस्क की तरह व्यवहार की उम्मीद की जाती है - ''अब तो तुम बड़े हो गये हो/गयी हो'', वहीं दूसरी तरफ बात-बात पर उन्हें टोका जाता है कि - ''अभी तुम बच्चे हो, रहने दो, यह काम तुम नहीं कर सकते, यह बड़ों का काम है''। ऐसी अवस्था में उनमें भूमिका संभ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है कि वे किस तरह का व्यवहार करें।

उपर्युक्त अध्ययन में प्राप्त परिणामों तथा इस संदर्भ में किये गये अनेकों अध्ययनों के आधार पर किशोरावस्था की अनेक मनो-सामाजिक समस्याएँ दृष्टिगत होती हैं, जिस पर प्रकाश डालने का प्रयास प्रस्तुत प्रपत्र में किया गया है। बाल्यावस्था के किसी भी समय की तुलना में किशोरावस्था में विशिष्ट रूप से व्यवहार एवं स्कूल से सम्बन्धित मनो-सामाजिक समस्याएँ सबसे ज्यादा होती हैं। ऊर्जा एवं उत्साह से भरा किशोर अपने आप को ज्यादा स्वतन्त्र एवं गतिशील महसूस करता है तथा प्रायः बड़ों के प्रत्यक्ष नियंत्रण में नहीं रहता है। जब किशोरों का दुर्व्यवहार गंभीर एवं बार-बार दुहराया जाने लगे तो ऐसे किशोरों का मूल्यांकन मानसिक स्वास्थ्य professionals द्वारा किया जाना आवश्यक हो जाता है कि कहीं उनमें कोई मनोसामाजिक विकार तो नहीं उत्पन्न हो गया है। विशेष रूप से अवसाद, दुश्चिन्ता एवं खाने संबंधी विकृतियाँ सामान्यतया किशोरावस्था में दिखाई देती है। जिन किशोर/किशोरियों में दुश्चिन्ता या mood, disorder (मनोदशा विकृतियाँ) होता है उनमें शारीरिक लक्षण जैसे थकान या दीर्घकालिक थकान, आलस्य, सिरदर्द और पेट या सीने में दर्द जैसे लक्षण दिखाई देते हैं।[4]

"Fear sharpens the senses. Anxiety paralyzes them." - Kurt Goldstein[5]

मनोवैज्ञानिक समस्याओं एवं विकारों के संदर्भ में पाया गया कि पाँच किशोरों में से एक किसी-न-किसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक विकार से पीड़ित होता है।[6] अनुसंधानों में यह परिणाम पाया गया है कि वयस्कों के 50 प्रतिशत मानसिक स्वास्थ्य विकारों के लक्षण उनमें 14 वर्ष की आयु में ही प्रारंभ हो गये थे। वास्तव में किशोरावस्था की एक तिहाई मौतों का एक प्रमुख कारण अवसाद की मनोदशा में की गई आत्महत्या है। इस संदर्भ में सभी parents को जिनके बच्चे बहुत ज्यादा moody हैं और ठीक से खा नहीं रहे या सो नहीं रहे हैं, यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि उनके लिए प्रोफेशनल्स की सहायता ली जाय।

किशोरावस्था में आत्मसम्मान या विश्वास से जुड़े मुद्दे हावी होते हैं। हीनता या श्रेष्ठता की भावना उनके appearance से प्रकट होती है। निम्न बुद्धि-लब्धि एवं शैक्षणिक क्षेत्र में खराब प्रदर्शन के कारण उनमें हीन भावना आ जाती है और वे जीवन के प्रति 'मैं अच्छा नहीं हूँ' जैसी अभिवृत्ति विकसित कर लेते हैं। किशोरावस्था से जुड़ी सबसे सामान्य मनोवैज्ञानिक समस्या डिप्रेशन है। किशोरावस्था के दबाव एवं प्रतिबल के कारण उनमें दुश्चिन्ता से जुड़े विकार दिखाई देने लगते हैं जबकि मनोदशा में उतार-चढ़ाव (mood swing) के कारण वे conduct disorder और ODD (Oppositional defiant disorder) से ग्रस्त हो जाते हैं।[7] Conduct disorder बहुत ही घातक मानसिक विकार है जो केवल बच्चों एवं किशोरों में पाया जाता है। बच्चों में बहुत ज्यादा चिड़चिड़ापन एवं हिंसात्मक व्यवहार देखने को मिलता है। बच्चा/किशोर हिंसात्मक हो जाता है, दूसरों से झगड़ा या बहुत ही क्रूर व्यवहार करने लगता है। घर में सामान फेंकना, बहुत ज्यादा झूठ बोलने लगना या अपने से बड़ों को धोखा देने लगता है। (ODD) (विपक्षी उद्दण्ड विकार) एक विकार है जिसमें बच्चा/किशोर बड़ों और जिम्मेदार लोगों के साथ उद्दण्ड और बात न मानने वाला व्यवहार करता हुआ पाया जाता है। ODD के कारण ज्ञात नहीं हैं, लेकिन ऐसा माना जाता है कि ये आनुवांशिक और पर्यावरणीय कारकों के मेल से होता है। इस विकार से ग्रस्त बच्चों/किशोरों के व्यवहार में निम्न लक्षण दिखाई देते हैं जैसे - चिड़चिड़ा स्वभाव, विरोध करना, बात न मानने की प्रवृत्ति, आक्रामकता और बदला लेने की प्रवृत्ति इत्यादि। ऐसे लक्षण छः महीने से ज्यादा समय तक जारी रहते हैं जिसके कारण उन्हें घर में और स्कूल में काफी परेशानी होती है।

भोजन अथवा खान-पान संबंधी विकार एक मनोदैहिक (pyschosomatic) विकार है, जो किशोरावस्था में पाया जाता है। विशेष रूप से लड़कियों में यह विकार ज्यादा पाया जाता है क्योंकि उन्हें यह भय होता है कि उनका वजन न बढ़ जाय इसलिए वे बहुत कम खाना खाने लगती हैं, जिसके गंभीर स्वास्थ्य संबंधी दुष्परिणाम होते हैं और कभी-2 तो मृत्यु भी हो जाती है। खान-पान संबंधी विकारों में Anorexia, bulimia being eating disorder प्रमुख हैं। जहाँ एक तरफ एनोरेक्सिया में बहुत कम खाना शामिल है, वहीं दूसरी तरफ बुलिमिया से पीड़ित जरूरत से ज्यादा खाना खाने लगता है। इसी प्रकार being eating विकार में भी बहुत ज्यादा खाना खाने की समस्या पायी जाती है, क्योंकि इसमें अक्सर ज्यादा खाना खाने के दौरे पड़ते हैं और अनियंत्रित रूप से इस विकार से पीड़ित लोग खाना खाने लगते हैं। इन सभी खान-पान संबंधी विकारों का स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है एवं किशोर/किशोरियों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इस संदर्भ में माता-

पिता की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है और उन्हें अपने किशोर वय के बच्चों के प्रति कठोर एवं आक्रामक न होकर, उनके इस नकारात्मक व्यवहार को दूर करने में उनकी सहायता करने की अपेक्षा की जाती है। मनोवैज्ञानिक समस्याएँ चाहे जिस रूप में किशोरों/किशोरियों को प्रभावित करे, इनका समायोजन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता ही है। किशोरावस्था की मनोवैज्ञानिक समस्याओं की पहचान करने में एक कुशल विशेषज्ञ की दृष्टि जरूरी होती है।

ज्यादातर इन समस्याओं के बारे में बात करना एवं एक स्वस्थ जीवन शैली व्यवस्थित करके अवसाद से बचा जा सकता है, इसकी रोकथाम की जा सकती है। यदि बालक बहुत ज्यादा मूडी एवं हरेक को स्वार्थी समझता हो तो ऐसे समय बीच-बचाव की आवश्यकता पड़ती है और यदि आवश्यक हो तो प्रोफेशनल्स की सहायता भी ली जा सकती है। कभी-कभी टीनएज लड़की या लड़का घर में अप्रसन्न रहता है तथा बाहर ठीक से रहता है, तो ऐसी स्थिति में भी उन्हें कन्शर्न की आवश्यकता होती है। किशोर/किशोरी की भावनाओं को समझने का प्रयास माता-पिता को करना चाहिए, न कि उन्हें दबा देना चाहिए। ऐसा करने पर गंभीर परिणाम हो सकते हैं। अपने किशोर वय के बच्चों को बातचीत हेतु प्रोत्साहित करना चाहिए। इस हेतु यह आवश्यक है कि उनसे बातचीत की जाय।[8]

किशोरावस्था में विचार विकार (Thought disorder) के लक्षण भी पाये जाते हैं जिसमें किशोर को कल्पना और वास्तविकता के बीच अंतर करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है, इसे मानसिक विकार भी कहा जाता है। मनोविकृति के पहले एपिसोड को साइकोटिक ब्रेक कहा जाता है। Schizophrenia and schizoaffective disorder विचार विकार के उदाहरण हैं। मनोविकृति की अवधि शायद ड्रग से सम्बन्धित मामलों में उपयोग की जाती है। एक समय के पश्चात यह हल हो सकती है। Psychotic episodes मरिजुआना (ड्रग) विशेष रूप से edible products के साथ घटित हो सकती है।[9]

किशोरावस्था को परिवर्तनों की अवधि के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि इस अवस्था के दौरान तीव्र शारीरिक, सांवेगिक और व्यावहारिक परिवर्तन होते हैं जिसके कारण उन्हें अनेक समायोजन संबंधी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। टीनएजर्स के हारमोन स्तरों में बदलाव के कारण किशोरावस्था में अनेक शारीरिक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। हारमोन्स न केवल शारीरिक अपितु सांवेगिक रूप से भी टीनएजर्स को प्रभावित करते हैं। ऐसी अवस्था में माता-पिता की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि इन परिवर्तनों के बारे में यदि उन्हें जानकारी दी जाती है तो वे बेहतर ढंग से अपनी देखभाल करने के साथ ही अपना समायोजन भी, इन परिवर्तनों के साथ उचित रूप से स्थापित कर सकते हैं।

किशोरावस्था में तीव्र सांवेगिक उतार-चढ़ाव के कारण आवेगी व्यवहार का प्रदर्शन भी किशोरों द्वारा किया जाता है। मस्तिष्क में होने वाले सार्थक विकासात्मक परिवर्तनों के कारण टीनएज बालक/बालिका मूडी, थका हुआ और इनके साथ deal करने में कठिनाई की अनुभूति करता है। इस अवस्था में तर्क-वितर्क एवं हठी, जिद्दी तथा अड़ियल व्यवहार टीनएजर्स के व्यवहार में दिखाई देता है। इस तरह के तीव्र व्यावहारिक परिवर्तनों की अवधि में यह अत्यन्त आवश्यक है कि माता-पिता बच्चों के साथ दोस्ताना व्यवहार एवं धैर्य रखते हुए उन्हें इन परिवर्तनों के साथ उत्तम ढंग से deal करना सिखाएँ, क्योंकि यह एक गुजर जाने वाली अवस्था है और पूरी तरह से सामान्य है। बात-2 पर उनकी निंदा, शिकायत या आलोचना न करके उन्हें इस बात का अहसास कराना आवश्यक हो जाता है कि वे जैसे भी हैं, उन्हें (माता-पिता को) बहुत प्यारे हैं।

किशोरावस्था में पायी जाने वाली एक प्रमुख विश्वव्यापी समस्या मादक द्रव्यों के सेवन से संबंधित है। साथी समूह दबाव, चुनौती या रिस्क लेने की प्रवृत्ति, थ्रिल (रोमांच) के रूप में शुरूआत, घर में परिवार के किसी सदस्य का धूम्रपान या शराब सेवन करना (जिसे टीनएज किशोर अपना रोल मॉडल मान लेता है), निम्न आत्म-सम्मान, 'Cool' दिखने की चाहत तथा आसानी से मादक द्रव्यों को प्राप्त कर लेने जैसे अनेकों कारक हैं। जिसके कारण यदि एक बार किशोर को इसकी लत लग जाये तो इसका घातक प्रभाव उसके व्यक्तित्व विकास पर पड़ता है, माता-पिता के सामने भी एक गंभीर चुनौती अपने किशोरवय बालक को इससे बचाने की होती है। मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले टीनएजर्स के अभिभावकों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके कारण उसके खान-पान, निद्रा सम्बन्धी पैटर्न तथा उसके मनोदशा में होने वाले परिवर्तनों पर उनका ध्यान सबसे पहले जाता है और यदि इस तरह के परिवर्तन दिखाई दें तो उनसे पूरी ईमानदारी के साथ अपनी बात कहने के लिए प्रोत्साहित करना जरूरी हो जाता है। यदि आवश्यकता हो तो मादक द्रव्य व्यसनिता से अपने किशोर को बचाने हेतु उचित सलाह, उपचार भी कराना चाहिए।

किशोरावस्था में शैक्षिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ भी किशोरों के व्यवहार को प्रभावित करती हैं। स्कूल/कालेज में उत्तम निष्पादन का दबाव होता है, कड़ी प्रतियोगिता के इस दौर में उनसे सफलता की बहुत उम्मीद का दबाव होता है, तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ जैसे अस्वास्थ्यकर खानपान सम्बन्धी समस्याएँ एवं विकार, जंक फूड का अत्यधिक सेवन, तनाव एवं प्रतिबल के कारण उनको भूख न लगना या निद्रा में कमी जैसी समस्याएँ होती हैं। इन समस्याओं से निपटने के लिए जरूरी है कि माता-पिता अपने बच्चों को प्रेरित करें, प्रोत्साहित करें न कि बात-बात पर उनकी निंदा या आलोचना की जाये क्योंकि प्रशंसा का हमेशा सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। किशोरों द्वारा एक स्वस्थ्य जीवन शैली बनाये रखने में माता-पिता का निर्देशन अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि

स्वास्थ्य समस्याओं के रोकथाम में इनकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है। पोषणयुक्त, स्वास्थ्यवर्धक एवं संतुलित भोजन एवं खान-पान शैली, नियमित व्यायाम तथा समय से सोना उत्तम स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।[11]

किशोरावस्था काम चेतना के जागरण की अवस्था है। इस अवधि में विपरीत लिंग के प्रति तीव्र आकर्षण पाया जाता है। प्यार में निराशा या विफलता मिलने पर कभी-2 टीनएजर्स द्वारा आत्महत्या जैसा आत्मघाती कदम उठा लिया जाता है।

किशोरावस्था की एक प्रमुख समस्या जो वर्तमान में एक गंभीर चुनौती के रूप में वैश्विक स्तर पर किशोरों के ऊपर गंभीर दुष्प्रभाव के रूप में परिलक्षित हो रही है, वह है, इण्टरनेट के प्रति टीनएजर्स की आसक्ति। मोबाईल फोन के लगातार उपयोग करते रहने के कारण किशोर शारीरिक गतिविधियों, आउटडोर गेम्स से दूर होता जा रहा है, पठन-पाठन से अरुचि, अवधान में कमी तथा एकाग्रता में कमी जैसे लक्षण प्रकट होने लगते हैं, वे अपनी आभासी दुनिया में घंटों व्यतीत करने के कारण धीरे-2 वास्तविकता से कटते जाते हैं। इण्टरनेट व्यसनिता उनके शैक्षिक निष्पादन को विपरीत रूप से प्रभावित करती है। यदि थोड़ी देर के लिए भी मोबाईल डिस्चार्ज हो जाये या उनके हाथ में न हो तो वे बेचैन हो जाते हैं। दुनिया के तमाम मनोवैज्ञानिक सलाहकारों, परामर्शदाताओं के लिए यह चिंता का विषय बना हुआ है। इसे उन्होंने 'नोमोफोबिया' का नाम दिया है।[12] अर्थात् 'नो मोबाइल फोबिया'। नोमोफोबिया से पीड़ित टीनएजर्स को मोबाईल खो जाने का डर सताता है। बड़े-बड़े शहरों में अनेक सेण्टर खुल रहे हैं जहाँ मोबाईल एडिक्शन के शिकार टीनएजर्स की काउन्सिलिंग की जाती है तथा उन्हें इस लत जिसे 'ई-एडिक्शन' कहा गया है, से छुटकारा दिलाने हेतु तमाम उपाय अपनाये जाते हैं। इस संदर्भ में यह आवश्यक हो जाता है कि माता-पिता अपने किशोर वय बालक/बालिका के साथ दोस्ताना व्यवहार अपनायें, उनके साथ कुछ समय बितायें, कम्प्यूटर लैपटाप, मोबाईल के उपयोग हेतु कुछ नियम एवं सीमायें तय करें जिसका अनुपालन परिवार के प्रत्येक सदस्य करें। बार-2 मोबाईल चेक करने एवं घंटों सोशल मीडिया पर व्यतीत करने की आदत को स्वविवेक से नियंत्रित करें, क्योंकि वर्तमान में यह एक महत्वपूर्ण आवश्यकता बन चुकी है, जरूरत है, इसके अधिक उपयोग को स्वयं नियंत्रित करने की।

किशोरावस्था में आक्रामकता एवं हिंसक व्यवहार का प्रदर्शन एक बड़ी समस्या है। हिंसा से भरे टेलीविजन कार्यक्रम, सिनेमा एवं वीडियो गेम्स बच्चों के बालमन को बुरी तरह प्रभावित करते हैं। इनका असर इतना गंभीर होता है कि कब बच्चा हिंसक एवं आक्रामक व्यवहार करने लगता है, पता ही नहीं चलता। गंभीर स्थिति में तो इनके लिए परामर्श एवं उपचार की आवश्यकता भी पड़ती है। इस संदर्भ में बान्दूरा एवं वाल्टर्स के सामाजिक अधिगम सिद्धान्त जिसे प्रतिमान (मॉडल) अधिगम के नाम से भी जाना जाता है, उल्लेखनीय है जिसमें बताया गया कि किस तरह से बच्चे हिंसक एवं आक्रामक व्यवहार को देखकर उनका अनुकरण करते हैं।

किशोरावस्था की तमाम समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए एवं परिवर्तनों को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि सभी माता-पिता अपने किशोरवय बालक/बालिका को इस अवधि में होने वाली समस्याओं एवं परिवर्तनों के बारे में समय-समय पर जरूर अवगत करायें एवं उन्हें बतायें कि किस तरह से अपने किशोरवय में उन्होंने इन समस्याओं से मुकाबला किया एवं परिवर्तनों के साथ समायोजन किया। किशोरावस्था भी उम्र का एक दौर है, समस्याएँ हैं तो यह 'सुनहरी अवस्था' भी है। यह दौर भी गुजर जायेगा। नई आशाओं एवं नई उमंगों के साथ वे किशोरावस्था की अवधि को जीयें और भविष्य के सुनहरे सपनों की नींव रखें और राष्ट्र निर्माण में अपनी मजबूत सहभागिता करें।

सन्दर्भ सूची

1. Singh, R.N. et.al. (2014/15) किशोरावस्था, आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान, पृष्ठ-339, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा, 2014/15.
2. श्रीवास्तव, रामजी एवं अन्य, किशोरावस्था, आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान, पृष्ठ 151, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 2014.
3. सिंह, माया एवं त्रिपाठी विभा, किशोरावस्था : समस्याएँ एवं संभावनाएँ, पृष्ठ-202. अखिल गीत शोध-दृष्टि, वर्ष 5, अंक 5, 29 दिसम्बर 2014, ISSN.2229-7308.
4. Levy, Sharon, Overview of Psychosocial Problems in Adolescents, Feb ruary 2019 (Last full review/ revision).
5. वही.
6. The five most common problems in Adolesence, February 22, 2018, Heme » Psychology »
7. 11 common problems of Adolescene, And their solutions, Clinically reviewed by Michelle Bowyer, Written by Sagari Gongala, July 5, 2019, Home (https://momjunction.com/) » Teens ...
8. Ibid.
9. Levy, Sharon, Overview of Psychosocial Problems in Adolescents, Feb ruary 2019 (Last full review/ revision).
10. 11 common problems of Adolescene, And their solutions, Clinically reviewed by Michelle Bowyer, Written by Sagari Gongala, July 5, 2019, Home (https://momjunction.com/) » Teens...
11. Ibid.
12. INDIA TV 7:30 p.m. 10/10/2019.

●

'रामराज' की परिकल्पना में समाज-व्यवस्था का स्वरूप

डॉ0 विकास कुमार*

इस वर्ष 2 अक्टूबर को गाँधी की 150वीं जयंती थी, अपनी प्रार्थना सभाओं में गाँधी अक्सर कहा करते थे ''मैं एक सौ पच्चीस साल जी लूंगा,'' इस आत्मविश्वास के पीछे यह संकल्प था कि उन्हें जो काम करने हैं, उनके लिए एक बड़ा जीवन चाहिए।

आजादी मिली, बंटवारे के साथ। गाँधी नहीं चाहते थे। तब गाँधी को निराशा घेरने लगी, उनके जीने की सार्थकता पर संदेह होने लगा, तब वे भरे मन से कहते ''अब मैं और नहीं जीना चाहता''।[1] अपनी जन्मतिथि 2 अक्टूबर 1947 की प्रार्थना-सभा में गाँधी ने क्या कहा था, सुनिए-'आज मेरी जन्मतिथि है।... मेरे लिये तो आज यह मातम मनाने का दिन है। मैं आज तक जिंदा पड़ा हूँ। इस पर मुझकों आश्चर्य होता है। शर्म लगती है। मैं वही शख्त हूँ कि जिसकी जबान से एक चीज निकलती थी कि ऐसी करो तो करोड़ों लोग उसको मानते थे। पर आज तो मेरी कोई सुनता ही नहीं है।''[2] गाँधी की यह पीड़ा उनके जीवन के अंतिम क्षणों का है, वह इस देश में 'रामराज' के द्वारा सामाजिक विकास की नींव रखना चाहते थे।

गांधीवादी सामाजिक संकल्पना में 'रामराज' की अवधारणा उनके उस चिंतन की उपज थी, जिसके द्वारा समाज व्यवस्था जो पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के आधार पर गठित की थी, वे विकल्प के रूप में सामने रखा गया था। स्वतंत्रता संग्राम का एक मूल प्रश्न था- ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में, साम्राज्यवादी जिस सामाजिक संरचना का निर्माण भारत में किए थे और उसे बढ़ा रहे थे, उसके विकल्प में स्वतंत्रता संग्राम द्वारा अपनी खुद की समाज व्यवस्था के स्वरूप की परिकल्पना को आगे लाना और उसके निर्माण के लिए स्वतंत्र भारत में जनता की गोलबंदी को सुनिश्चित करना।

वास्तव में राम-राज की संकल्पना द्वारा प्रस्तुत सामाजिक संरचना भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में कई तरह के अंतर्विरोध की एक विवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया, एक ऐसा विकल्प था जो साम्राज्यवाद और उसके विरोधी समाज व्यवस्था समाजवाद से भिन्न सामाजिक संरचना की परिकल्पना करता था और ठोस रूप में भारतीय पूंजीपति वर्ग थे, जो पूंजीवादी विकास प्रक्रिया में इस कारण पीछे रह गया था, सम्राज्यवादी शोषण का शिकार हो रहा था और सम्राज्यवाद की तरफ मुखातिब नहीं हो सकता था क्योंकि वह उसके वर्ग के खिलाफ था, इन दो अंतर्विरोध के बीच की सोची-समझी दशा से पैदा होने वाला सामाजिक ढांचा था, इस संकल्पना की जहां कथित ऐसी विशेषताएं थी जो भारतीय पूंजीपति वर्ग के सिद्धांत और नैतिक आधार को बल प्रदान करने वाली थी, जिसको लेकर यह वर्ग स्वतंत्रता संघर्ष कर रहा था, वहीं दूसरी तरफ इसकी कतिपय ऐसी अवश्यसंभावी आवश्यकता कठिनाइयां थी, जो ऐसी संकल्पनाओं के साथ अनिवार्य रूप से या वस्तुगत रूप से जुड़ी रहती है।

भारतीय समाज की संरचनात्मक विशेषताएं थी – और आज भी है- बहुधार्मिकता, बहुसंप्रदायिकता, बहुभाषाई, विविधता में एकता की भाव की मौजूदगी का प्रश्न, जिसे अनेकता में एकता की स्थापना के प्रश्न के रूप में देखा जाता रहा है। स्वतंत्रता संग्राम की यह एक ऐसी समस्या थी जिसको सम्भाले बिना व्यापक साम्राज्यवाद विरोधी जनगोलबंदी की परिकल्पना एक मिथक था, दूसरी समस्या का संबंध अगर भारत की भौगोलिक और राजनीतिक स्थितियों के परिवेश में देखा जाए, तब क्षेत्र और स्थान विशेष के व्यापक साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन के स्वरूप में विभिन्नता के दर्शन हो जाते हैं – बंगाल, पंजाब आदि का तेवर अगर क्रांतिकारी आधुनिक संघर्षो से प्रभावित था तो विभिन्न क्षेत्रों की आदिवासियों का साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष परंपरागत, धार्मिकता आदि से प्रभावित था। मजदूर आंदोलन की दिशा और किसानों की व्यापक क्रांतिकारी जनवादी थी, आदि-आदि। साथ ही देसी राज्यों में संघर्ष की मूल दिशा में राजाओं का विरोध था। इन सारे अंतर्विरोध के साथ साथ औद्योगिक सभ्यता के विकास स्वरूप जिस नई विचार ने जन्म लिया था और जो निश्चय की सामंती विचार प्रणाली से उच्च श्रेणी के थे, जिसमें धर्म, जाति, संप्रदाय आदि के प्रति पूंजीवाद सम्भाव का जन्म हुआ था, उसका गाँधी के विचारों से अंतिर्विरोध था, क्योंकि मानसिकता के स्तर पर गाँधी के विकसित पूंजीवादी वैचारिकता अस्वीकार करते थे। ''मैं दावा करता हूं कि मैं सारे संसार के साथ मित्रता के साथ रह रहा हूँ, मैंने कभी भी किसी मुसलमान या ईसाई से झगड़ा नही किया है परंतु वर्षो तक मैंने किसी मुसलमान या ईसाई के घर के सिवा फलों के और कुछ नहीं खाया है।''[3] गाँधी की ऐसी मशीनों के उत्पादन के द्वारा जहां सभी संप्रदाय के लोगों को बिना भेदभाव के साथ काम करने के साथ, काम करने की वस्तुस्थिति से निर्मित सामाजिक संबंध बनते हैं, निर्मित संरचनात्मक संबंधों के खिलाफ जाता है, फिर भी उस कट्टर सामंतवादी संरचना के पक्षधर भी नहीं है जहां छुआछूत इतना कठोर होता है कि अछूत की छाया तक अपवित्र करने वाली होती है। इस उक्ति में उस समाज व्यवस्था का भाव छुपा है, जो सामंतवाद से निकलकर

* सहायक आचार्य, समाजशास्त्र विभाग, ईश्वर शरण डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पूंजीवादी संक्रमण की तैयारी कर रहा है- जो विकसित पूंजीवादी और प्रतिक्रियावादी सामंतवाद के बीच का यानी ऐसे राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का दर्शन है जिसे विकसित पूंजीवादी देशों के साथ बराबरी का दर्जा नहीं मिला है। विकसित पूंजीवादी संस्कृति का विरोध करते हुए गाँधी कहते है, ''मेरे मतानुसार यह विचार है कि अर्न्तजातिय भोज और अर्न्तजातिय विवाह राष्ट्रीय उन्नति के लिए आवश्यक है, पश्चिम के उधार लिया गया एक अंध विश्वास है। भोजन करना उतनी ही महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, जितनी की सफाई संबंधी जीवन की अन्य आवश्यक क्रियाएं। यदि मानव जाति ने, स्वयं अपने को हानि पहुँचाते हुए भोजन को एक प्रतीक और अति सेवन नहीं बना लिया होता, तो हम भोजन भी एकांत में बैठकर करते हैं, जैसे जीवन के दूसरे जरूरी काम अलग बैठकर करते हैं। वास्तव में हिंदू धर्म के सर्वोच्च संस्कृति भोजन की क्रिया दृष्टि से देखते है कि और आज भी ऐसी हजारों हिंदू मौजूद है जो कभी दूसरों की उपस्थिति में भोजन नहीं करते।''[4] जैसी सामाजिक बुराइयों को, जिसे पश्चिम औद्योगिक मिटा रही थी, गाँधी एक अमान्य करने योग्य धारणा मानते थे। वास्तव में आस्था सबंधी अपने इस दावे को, जो प्राचीन हिंदू धार्मिकता को प्रकट करता है और जो गाँधी को प्रभावित किए थे, स्वरूप प्रदान कर स्थायित्व प्रदान करने के लिए गाँधी ने राम राज की संकल्पना को रखा, क्योंकि आर्थिक-सामाजिक विकास प्रक्रिया में पिछड़ी तथा सामाजिक – धार्मिक भावना से ओतप्रोत भारतीय जनता की पिछड़ी मानसिकता को काफी प्रभावित कर रहा था। यह विचारधारा विकसित औद्योगिक देशों की संस्कृतियों के साथ नहीं था, तथा पिछड़े भारतीय राष्ट्रीय पूंजीवादी वर्ग के लिए ग्रामीण क्षेत्रों के सामंती तत्वों के साथ एकता की संभावना पैदा करता था। राम राज की संकल्पना से गाँधी ने न सिर्फ समाजवादी-आर्थिक सामाजिक संरचना के तहत शोषित हो रहे भारत के सामने पिछड़ी पूंजी संरचना का, जो भारत में वर्तमान था, सामंती के साथ एकता के संभावना को संभावित करते हुए उस विचार पर भी हमला किया, जो समाजवादी भारत की संकल्पना के लिए लड़ रहा था। विदेशी शासन के विकल्प में पूंजीवादी सामाजिक संरचना की जगह उसे उच्चतर सामाजिक संरचना के लिए जो समाजवाद संरचना थी, जो संघर्ष चल रहा था उसका विरोध भी गाँधी ने राम राज में ढूंढा। सांप्रदायिक सद्भाव, अछूतोद्धार ऐसी समस्यायें थी जिनको बिना काम किए स्वतंत्रता के संघर्ष को आगे बढ़ाना सिर्फ कठिन ही नहीं, बल्कि असंभव भी था, इन दोनों ने समस्याओं की जड़ में जो मूल कारण वर्तमान थे, उनका संबंध अर्थव्यवस्था के मूल में समाहित थे या आर्थिक आधार वर्तमान थे। गाँधी ने इसको नहीं माना कि सांप्रदायिकता का सार सामाजिक-आर्थिक प्रतिदंद्विता के बीच है और उसका असर हिंदुओं और मुसलमानों पर नहीं बल्कि, उदयीमान मध्यवर्ग पर पड़ता है, राम राज की परिकल्पना में देखा गया, संप्रदायवाद के आर्थिक आधार को नजरअंदाज करता था, वह नहीं मानता था कि उसका एक मूल कारण हिंदुओं और मुसलमानों के बीच विकास प्रक्रिया के द्वारा असंतुलन आया। बंबई, कलकत्ता और मद्रास में अर्थात् हिन्दु बहुल्य क्षेत्रो में, उत्तर में मुस्लिम क्षेत्रों की तुलना में व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा का विकास काफी पहले शुरू हो गया था, शिक्षा के क्षेत्र में औसतन मुसलमानों का अनुपात में 3.65% था और अंतर आज भी देखा जा सकता है। इस तरह गाँधी जिस भारतीय पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे, उसके उदय के साथ ही ऐसी परिस्थितियां तैयार हो गई थी जिसमें आसानी से सांप्रदायिक भेदभाव पैदा हो सकता था।

गाँधी के बयानों से उनके राम राज में सांप्रदायिकता की स्थिति क्या होती, इसका जायजा लिया जा सकता है। जो गलती गाँधी के राष्ट्रीय आंदोलन में प्रवेश के पहले की जा चुकी थी और जिसका दुष्परिणाम साम्प्रदायिकता का उदय था – यानी राष्ट्रीय आंदोलन को हिंदू धर्म के पुनरूत्थान के साथ मिलकर आगे बढ़ाना उसे गाँधी ने ज्यादा परिष्कृत रूप में सामने लाया। गांधीवादी राम राज में गाँधी ने अपने समूचे प्रचार में हिंदू धर्म और उनके धार्मिक धारणाओं का प्रचार किया तथा दूसरी तरफ आम राजनीतिक उद्देश्यों की बात कही। 1920 से 1922 की अवधि में जब असहयोग आंदोलन एक क्रांतिकारी निर्णायक मोड़ पर था, तभी गाँधी ने धार्मिक उग्रवाद का सहारा लेकिन अपने को सनातनी हिंदू कहा और लेख लिखा जिसमें स्थापित किया : मैं अपने को सनातनी हिंदू कहता हूँ क्योंकि-

1. मैं वेदों, उपनिषदों, पुराणों और समस्त हिंदू शास्त्रों में विश्वास करता हूँ और इसलिए अवतारों तथा पुर्नजन्म में भी मेरा विश्वास है।
2. मैं वर्णाश्रम धर्म में विश्वास करता हूँ इसे मैं उन अर्थों में मानता हूं जो पूरी तरह वेद-सम्मत है, लेकिन उसके वर्तमान प्रचलित और भोड़े रूप को नहीं मानता।
3. मैं प्रचलित अर्थ से कहीं अधिक व्यापक अर्थ में गाय की रक्षा में विश्वास करता हूं।
4. मूर्ति पूजा में मेरा अविश्वास नहीं है।[5]

संप्रदायवाद के विषय में गाँधी का अवैज्ञानिक तथा सांप्रदायिक एकता के लिए उनका उपाय कि ''यदि हम मुसलमानों के दिलों को जीतना है तो हमें आत्म शुद्धि के लिए तपस्या करनी होगी।''[6] सनातनी की विशेषताओं को बताते हुए नेहरू ने लिखा है, ''सनातनी लोग जिस रफ्तार से पीछे की ओर चल रहे हैं उससे हिंदू महासभा मात खा गई हैं। सनातनियों में धार्मिक कट्टरता के साथ-साथ ब्रिटिश सरकार के प्रति बहुत तेज या कम से कम काफी जोरदार शब्दों में प्रकट की जाने वाली वफादारी भी होती है।''[7] अपनी ऐसी सामाजिक संकल्पना के साथ रहते हुए गाँधी राष्ट्रीय संघर्ष के किसी भी दौर में अपने राम राज केा हिंदू राज, अपने स्वयं कांग्रेस छोड़कर हिंदू धर्म का सुधार आंदोलन शुरू कर सकते थे और स्वयं पुनः कांग्रेसी बन सकते थे।

राम राज की संकल्पना में धर्म का स्थानः- पूंजीवादी आर्थिक-सामाजिक संबंधों के विकल्प में राम राज की धार्मिक, सामंतवादी, नैतिकता और उत्पादन संबंधों की विचारधारा आदि को सामने लाते हुए गाँधी ने धर्म और राजनीति को परस्पर पूरक अवयवो के रूप में रखा। धर्म और राजनीति के बीच हितों की समरूपता स्थापित करने की कोशिश की गई, इसके अलावा समस्त आंदोलनात्मक कार्यक्रमों को धार्मिकता के आधार पर संचालित किए जाने संबंधी एक रणनीति भी समाहित कराई गई। राम राज की संकल्पना में धर्म एक शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है जो आम जनता के वास्तविक हितों की सुरक्षा कर सकता था। राम राज की संकल्पना के समाज में धर्म का राजनीति के साथ एक ऐसे रिश्ते की कल्पना गाँधी ने किया, साथ ही यह स्थापित किया कि धर्मविहीन राजनीति सच्ची सफलता नहीं प्राप्त कर सकती। उन्होंने कहा ''वे लोग जो कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई संबंध नहीं है यह नहीं जानते कि धर्म का मतलब क्या है।''[8] इस प्रकार सम्राज्यवादी सामाजिक संरचना के खिलाफ राम राज की एक धार्मिक संकल्पना को विकल्प रखने का जो दुष्परिणाम हो सकता था, उसे भारत को भुगतना पड़ा। राष्ट्रीय आंदोलन का प्रतिनिधि नेता, गाँधी हिन्दू धर्म तथा हिन्दू पुनरूत्थान के एक सक्रिय नेता के रूप में राम राज की संकल्पना के समाज व्यवस्था को लेकर, जिसमें धर्म की वर्चस्वता स्थापित की गई थी, सामने आया तो जो लोग गांधीवाद से प्रेरणा ले रहे थे, उन्होंने भी इसी तरीकों को अपनाया। बल्कि आम जनता के दिलों में यह भाव पैदा किया कि आंदोलन हिंदू धार्मिकता पर आधारित है और आगे के समाज के निर्माण में हिंदू धर्म को वरीयता मिलेगी।

राम राज की दार्शनिकताः- इस प्रकार गाँधी ने राम राज को आदर्शवादी या आध्यात्मवादी चिंतन के आधार पर निर्मित होने वाला समाज बताया। गांधीवादी संकल्पना में 'राम राज' का चिंतन या एक समाज के स्वरूप के रूप में स्थापित किया जाना संघर्ष की एक ऐसी रणनीति की परिकल्पना था तो भारतीय पूंजीवाद को, दो मोर्चो- साम्राज्यवाद के तथा प्रगतिशील आंदोलनों के खिलाफ संघर्ष का रास्ता प्रदान करता था। उन्होंने धार्मिकता को आधार बनाकर जनता की गोलबंदी की ओर संघर्षो का नेतृत्व करते हुए धार्मिकता के आधार पर बामजनवादी आंदोलनों का विरोध खड़ा किया। विरोध का स्वर सिर्फ स्वतंत्रता आंदोलन की रणनीति या कार्यनीति जनित कारणो तक सीमित नहीं था, बल्कि संपूर्ण दार्शनिकता के स्तर पर था- उद्‌भव और विकास से लेकर नाश तक की दार्शनिक अभिव्यक्ति विज्ञानवाद के खिलाफ आध्यात्मकवाद के रूप में आई, जहाँ विश्व को, इस जगत को यथार्थ और मानव चेतना से स्वतंत्र बताया गया और कहा गया कि जगत जिसे वस्तुगत रूप में वर्तमान है उसका उद्‌भव एक आध्यात्मिक सिंद्धात से हुआ है और यह उसी पर निर्भर है। राम राज में जिस समाज की परिकल्पना गाँधी ने कि उसमें विज्ञानवाद का कोई स्थान नहीं था। यहाँ सभी क्रियाओं का संचालनकर्ता एक अदृश्य शक्ति है, जिसका जो ईश्वर में एक रहस्यपूर्णसत्ता में, एक ऐसी सत्ता में जिसकी परिभाषा नहीं की जा सकती-जो एक साथ ही सर्वत्र व्याप्त है, और मानव अनुभूतियों से बहुत ऊपर और परे है- गाँधी ने कहा ''मैं स्पष्ट रूप से देख रह हूँ कि जहां मेरे चारो ओर सब कुछ परिवर्तित हो रहा है, निरंतर मृत्यु को प्राप्त हो रहा है, वहाँ उन तमाम परिवर्तनों के पीछे एक जीवन्त शक्ति है, जो कभी परिवर्तित नहीं होती, जो सबको एक साथ मिलाकर रखती है, जो सृजन करती है, मिटाती है और फिर सृजन करती है।''[8] इस दार्शनिक स्थापना के द्वारा गाँधी ने विज्ञानवाद के उन सारे सिद्धांतो के खिलाफत किए, जो डार्विन, मार्क्स आदि जैसे विज्ञान के चिंतकों और समाज चिंतकों ने विकास प्रक्रिया के द्वन्द्ववाद को स्थापित करते हुए चिंतन के क्षेत्र में एक वैज्ञानिक सिद्धांत का निरूपण किया था।

सृजनात्मक कार्यक्रम का दर्शन और राम राजः- राम राज की परिकल्पना के आधार पर स्वतंत्रता संग्राम को चलाते हुए गाँधी इस तथ्य को भलीभांति जानते थे कि विश्व क्रांतिकारी प्रक्रिया-खासकर प्रथम युद्ध के बाद से – का जो उफान औपनिवेशिक देशों को प्रभावित कर रहा था, उसकी दिशा गैर पूंजीवादी सामाजिक संरचना के निर्माण की तरफ था और व्यक्तिगत स्वामित्व वाली उत्पादन प्रणाली की जगह सामाजिक स्वामित्व की उत्पादन प्रणाली के आधार पर स्वतंत्र देशों की समाजिक संरचना को गढ़ना था। सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित समाज व्यवस्था के मूल में जनता के कल्याण के लिए कार्यक्रमों की आधारशिला थी, केंद्रीय योजनाबद्ध विकास की रणनीति और भारी द्रुत औद्योगिकीकीण के आधार पर उत्पादन को बढ़ाना उचित वितरण प्रणाली लागू कर सामान्य जनों के रहन-सहन के स्तर को उठाना और समाज निर्माण में उनकी कारगर भूमिका को सुनिश्चित करना। आखिरी दशकों की तुलना में भारतीय पूंजी प्रति वर्ग ज्यादा विकसित हो चुका था, इसकी आर्थिक क्षमता नहीं थी कि यह साम्राज्यवादी पूंजी का मुकाबला कर सके। भारत के सूती कपड़ा उद्योग ही अपने पुराने आधारों के कारण सबसे सबल क्षेत्र की भूमिका में था, जो साम्राज्यवाद के सामान्तर बड़ा हो सकता था। अपने राम राज की संकल्पना में गाँधी ने उत्पादन प्रणाली के जिस तरीको को चुना वह पूर्व पूंजीवाद उत्पादन प्रणाली थी जो सामंतीकाल के विकसित हस्तशिल्पों के द्वारा अब बर्बाद कर दी गयी थी। अब गाँधी ने इसी प्रौराणिक उत्पादन प्रणाली को राम राज के आधार पर प्रणाली बता प्राचीन गौरव को आगे लाया और रचनात्मक कार्यक्रमों में ग्रामोद्योग और खादी पर बल दिया, शराबबंदी कार्यो को लोकप्रिय बनाया, खाद्य उत्पादकता, उत्पादन की विधियों पर आधारित था, वही यह सामंती और पूंजीवादी के लिये एक काम कर रहा था, और उत्पादन करने वाले व्यक्तिगत स्वामित्व के उत्पादन प्रणाली को ला कर खड़ा कर दिया, इससे आर्थिक तौर पर कमजोर भारतीय पूंजीवादी को खासकर विदेशी कपड़ो के बहिष्कार आंदोलन से काफी बल मिला और चरखा साम्राज्यवाद के खिलाफ उत्पादन के व्यक्तिगत स्वामित्व

वाले भारतीय पूंजीवादी संरचना का प्रतीक बन गया। गाँधी के रंचनात्मक कार्यक्रमों के अन्य बिन्दुओं में छुआ-छूत मिशन, हरिजनोद्वार आदि किस विषय पर बल दिया गया था, उसकी दिशा उत्पादन के लिये एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया को चलना था, जहाँ उत्पादन प्रक्रिया छूआ-छूत से बाधित न हो सके। अस्पृश्यता के कारणों और निदान का दृष्टिकोण गाँधीवादी चिंतन में जिस रूप में आया, उसमें पौराणिक, धार्मिक वर्ण व्यवस्था के स्वरूप को नये उत्पादन प्रणाली के उपयुक्त बनाकर उसे बरकरार रखने की योजना के तौर पर था। राम राज की गांधीवादी संकल्पना में समाज चार वर्णो की पौराणिक जाति व्यवस्था में रहेगा, यही कल्पना गाँधी ने की। ऐसी संकल्पना को स्थापित करते हुये गाँधी ने इस तथ्य से इन्कार किया कि एक उत्पादन प्रणाली में श्रम विभाजन के आधार पर गठित समाज में जन्मी जाति प्रथा तथा समाज में जाति प्रथा उत्पादन प्रणाली से जुड़ने वाले दर्शन को गाँधी ने नकारा और उसे मानव चेतना की एक ऐसी स्थिति के रूप में चित्रित किया। गाँधी छूआ-छूत की गाँधीवादी अवधारणा अम्बेडकर में तो सिर्फ मामलों में भिन्न थी कि राम राज की संकल्पना में गाँधीवादी आधार जाति प्रथा रही थी, इसी कारण गाँधी उसे समाप्त करने के विरोध में है। एक औद्योगिक उत्पादन प्रणाली के तरह अगर जाति प्रथा का स्वरूप बदलकर शोषण के पूंजीवादी रूप में आ जाने पर गाँधीवादी सामाजिक संरचना का आधार ही समाप्त हो जाता। इस प्रकार छूआ-छूत या जाति प्रथा को गाँधीवाद में एक ऐसा तथ्य माना गया जो उत्पादन प्रक्रिया नहीं बल्कि मनोगत कारणों से पैदा हुयी, इस प्रकार गाँधी और अम्बेडकर अपने अपने ढंग से जाति प्रथा को विश्लेषित करते हैं, मगर दोनों ही इसे पूंजीवादी ढंग की संरचना के अनुकूल बनाने का प्रयास करते है।

राम राज की परिकल्पना, गाँधी की उस आध्यात्मिक भाव को दर्शाता है जहां पूर्व पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों पर आधारित समाज, धर्म, जाति, वर्ण, आदि जैसे उस मानदण्डों पर आधारित रहता है, जिसे आज की विकसित उत्पादन प्रणालियाँ नाकार चुकी है, मगर राम राज की परिकल्पना में जो भाव उदयमान होते है, वे है भारतीय पूंजीपति वर्ग के स्वार्थो की रक्षी में प्रश्नों को धार्मिक और आध्यात्मिक मान्यता प्रदान कर भारतीय जनता को उसके पीछे गोलबंद करना। आजादी पूर्व भारत में इस गाँधीवादी संकल्पना ने अपना लक्ष्य इस अर्थ में किया है कि इसने साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के उस हर मौके पर जब आंदोलन क्रांतिकारी शक्तियों के नेतृत्व में जाने लगता था, तब सत्य, अंहिसा, प्रेम सत्याग्रह की आध्यात्मिक भावना के तहत गाँधी ने क्रांतिकारी शक्तियों को रोका और स्वतंत्रता संघर्ष को पूंजीवादी नेतृत्व में रखकर क्रांतिकारी संक्रमण की हर गति को अवरूद्ध किया। मगर आजादी पश्चात भारत में राम राज की उन सारी संकल्पना इस कारण धाराशायी हो गयी कि वैज्ञानिक विकास के आधार पर पूंजीवाद भी उस पूर्व पूंजीवादी संरचना को नाकार दिया।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः-

1. कुमार, राजेन्द्र, ''संपादकीय'', सृजन सरोकार (संपादक-गोपाल रंजन), नई दिल्ली, अक्टूबर-दिसम्बर, 2019, पृ0 04
2. उपरोद्धत, पृ0 05
3. गाँधी, एम0के0, ''कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम'' नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद, 1941, पृ0 07
4. उपरोद्धत, पृ0 06
5. गाँधी, एम0के0, ''यंग इण्डिया'' होमरूल लीग ऑफ अमेरिका, न्यूयार्क, 1921, पृ0 14
6. उपरोद्धत, 1924, पृ0 07
7. नेहरू, जवाहरलाल, ''ऐन ऑटोबायोग्राफी'', पेंग्विन इण्डिया पब्लिकेशन, न्यू एडिशन 2004, पृ0 382
8. द्वारा उद्धत, के0 दामोदरन, भारतीय चिन्तक परम्परा (नई दिल्ली, पी0पी0एच0), 1975, पृ0 466
9. उपरोद्धत, पृ0 470

●

शक्ति-उपासना

धनञ्जय प्रसाद शास्त्री*

- **''यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता'' जिससे कोई श्रेष्ठ न हो, उसे दुर्गा कहते हैं।**
- **''दुर्गा दूरंगता भवति'' जो सबसे दूर हो, उसे दुर्गा कहते हैं।**
- **''दुर्गा दुर्गतिनाशिनी'' जो मनुष्य की दुर्गति का नाश करती है अर्थात् जो मनुष्य को हर तरह से समर्थ बनाती है, उसे दुर्गा कहते हैं।**

(आप्त-वाक्य)

हमारे यहाँ सबसे सुलभ देवता दुर्गा जी ही हैं। कोई गाँव नहीं है, जहाँ इनका स्थान नहीं है। अन्य देवताओं का स्थान विशेष लोगों ने बनाया है, जो सम्पन्न थे। दुर्गा स्थान के लिये आवश्यक नहीं कि मन्दिर हो ही, अनेक स्थान पर केवल नीम का पेड़ ही इनका स्थान है। अन्य किसी देवता के लिये स्थापना, प्राण- प्रतिष्ठा आवश्यक है, पर निर्धन-निरक्षर ग्रामीण पहले नीम के पेड़ के पास चबूतरा बनाकर 7 पिंड़िया-8 पिंड़िया या 9 पिंड़िया बनाकर पूजन करते थे। अब तो सम्पन्नता बढ़ने के कारण हर जगह मन्दिर बन गये हैं। हमारे यहाँ जगदम्बा को काली माई कहा जाता है और उसके स्थान को काली माई का मन्दिर कहा जाता है, यहाँ सबकी पहुँच होती है।

मैं समझता हूँ काली माई, दुर्गाजी को कहने का कारण यह है कि यह स्थान काली उपासना के क्षेत्र में आता है। तंत्रों के अनुसार शक्ति-उपासना का केन्द्र विन्ध्याचल को मानकर, उपासना क्षेत्र का सीमांकन किया गया है। विन्ध्याचल से पूरब का क्षेत्र बिहार, झारखण्ड, उड़ीसा, बंगाल, असम-काली उपासना का क्षेत्र है। कश्मीर, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र कर्नाटक, केरल तक श्रीविद्या उपासना का क्षेत्र है। विन्ध्याचल से उत्तर हिमाचल प्रदेश, उत्तराखण्ड, तिब्बत तक दुर्गा उपासना का क्षेत्र है। यह दुर्गा, सप्तशती दुर्गा कही जाती हैं। यह क्षेत्र निर्धारण शक्ति तंत्र ग्रन्थों में किया गया है, मेरे गुरुदेव अपने प्रवचनों में इसे स्पष्ट करते थे। कैलाश पर्वत का तिब्बत से सम्बन्ध है, अतः उसे स्वर्ग कहा गया है और सप्तशती ग्रन्थ वहीं से आया है, अर्थात् स्वर्ग से धरा पर आया है। यह योग का ग्रन्थ है, पूर्ण रहस्यात्मक है। यह आठवें मन्वन्तर की कथा है, जबकि सातवाँ मन्वंतर चल रहा है। अतः इसे पौराणिक इतिहास समझना भूल होगी। यह पूर्ण रहस्यात्मक है

सप्तशती दुर्गा में तीन चरित हैं 1- महाकाली, 2- महालक्ष्मी 3- महासरस्वती।

ब्रह्माजी ने महाकाली की उपासना की थी। सृष्टि के वे प्रथम उपासक हैं, अतः वे महाकाली की उपासना-पद्धति के ऋषि हैं। महालक्ष्मी के प्रथम उपासक विष्णु भगवान हैं। अतः वे महालक्ष्मी के चरित के ऋषि हैं।

भगवान शिव ने महासरस्वती की उपासना की। अतः वे महासरस्वती के ऋषि हैं। एक तरह से कहा जाय तो त्रिदेवों ने सृष्टि, पालन और मोक्ष के इन तीनों स्वरूपों को समझा, उनकी प्राप्ति को साधन पद्धति दिया। जगदम्बा के तीनों स्वरूपों के सबसे समीप यही है। इन्हीं के आशीर्वाद से किसी को उनका ज्ञान होता है, अतः महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती में किसी की कृपा प्राप्त करनी हो, तो उनके जप के पहले उनके ऋषि को प्रसन्न करना आवश्यक है। मेरे गुरुदेव का कहना है कि ऋषि मंत्र एक माला जप कर ही उस चरित का पाठ किया जाय।

गाँवों में जो माई के स्थान है, उनमें कहीं सात पिड़िया है, कहीं आठ हैं तो कहीं नव पिड़िया हैं। उनके नाम यों हैं सप्तमातृका, अष्टमातृका, नवदुर्गा। सप्तमातृका और अष्टमातृका जो हैं, वे उन देवताओं की मातृशक्ति किंवा आराध्या हैं, जिनके नाम से वे जानी जाती हैं। नवदुर्गा, सभी शिव की पत्नी हैं और उनका नाम है 1. शैलपुत्री, 2. ब्रह्मचारिणी, 3. चन्द्रघंटा, 4. कूष्माण्डा, 5. स्कन्दमाता (कार्तिकेय की माता-वाराणसी में जो स्कन्दमाता की मूर्ति है, उनके पीठ पर कार्त्तिकेय बालरूप में बाँधे गये है, लगता है जगदम्बा बच्चे को पीठ पर बाँधकर रणक्षेत्र में उतरी है) 6. कात्यायनी, 7. कालरात्रि 8. अन्नपूर्णाजी (किसी के मत से संकटा जी) 9. सिद्धिदात्री हैं। ये सभी पार्वती का विस्तार हैं- प्रथम वर्ष से युवावस्था तक।

सप्तमातृका है -1. ब्राह्मी 2 माहेश्वरी 3 कौमारी 4 वैष्णवी 5 वाराही 6 इन्द्राणी 7 चामुण्डा।

1. ब्रह्माणी 2. माहेश्वरी, 3. ऐन्द्री, 4. वाराही 5. नारायणी, 6. शिवदूती, 7. अपराजिता, 8. चामुण्डा, ये अष्टमातृका हैं।

इन माताओं के सहज और सुलभ मंत्र हैं- ऊँ, श्री, के बाद नाम में चतुर्थी विभक्ति लगाकर नमः लगा देना।

जैसे- **ॐश्री शैलपुत्र्यै नमः, ॐश्री ब्रह्मचारिण्यै नमः।**

ॐश्री ब्राह्म्यै नमः, ॐश्री माहेश्वर्यै नमः, ॐश्री कौमार्यै नमः।

ॐश्री ब्रह्माण्यै नमः ॐश्री ऐन्द्र्यै नमः। (आर्ष-मंत्र)

---

* ज्योतिषाचार्य एवं आयुर्वेदाचार्य, श्रीसुभद्रा औषधालय, सिवान

इन सभी दुर्गास्वरूपों की उपासना मोक्ष के लिये होती है। आवश्यकता अनुसार कामनाओं के लिये भी होती है- जैसे संतान-प्राप्ति के लिये '3ॅश्री ब्रह्माण्यै नमः।' ज्ञान प्राप्ति के लिये 3ॅश्री माहेश्वर्यै नमः। वैभव प्राप्ति के लिये 3ॅश्री ऐन्द्र्यै नमः। दुष्ट नाश के लिये 3ॅश्री वाराह्यै नमः।

जो नव दुर्गायें हैं- शिवपत्नी, उनका एक मंत्र होगा-'3ॅश्री नवदुर्गायै नमः। इन नवों दुर्गा की शक्ति एक व्यक्तित्व में समाहित होने पर उन्हें वन-दुर्गा कहते हैं। इन वन दुर्गा की उपासना से भयानक संकट दूर होता है। इनके साथ रहने वाले शिव को किरात वेशधारी शिव कहते हैं। किरातवेशधारी शिव की उपासना करके अर्जुन ने पाशुपतास्त्र प्राप्त किया था भगवान कृष्ण के निर्देशन में। इसी पाशुपतास्त्र के कारण महाभारत में अर्जुन सबसे बीस थे। अर्जुन की तपस्या से प्रसन्न शिव ने अर्जुन की परीक्षा लिया कि वह पाशुपतास्त्र के लिए सक्षम है कि नहीं और दोनों में मल्ल युद्ध हुआ। कहा जा सकता है कि अर्जुन के मुष्टिप्रहार से संतुष्ट हो उन्होंने महासंहारक पाशुपतास्त्र दिया। यह ब्रह्मास्त्र को निरुद्ध करने के लिए था। वनदुर्गा-वनदेवी, इन्हें ही कहते है। यह सदा सोई रहती हैं। इन्हें तपस्या से जगाया जाता है। जगने पर ये असम्भव भी सम्भव कर देती हैं। इनका मन्दिर मऊ जंक्शन से करीब 5 कि0 मी0 पश्चिम में है। वहाँ दो मूर्त्तियाँ हैं अगल-बगल। वहाँ के लोग सीता और उनकी छाया बताते हैं। गुरुदेव के साथ मैं वहाँ अनेक बार गया हूँ। गुरुदेव उन्हें सती-पार्वती बताते थे। गुरुदेव कठिनाई में पड़े किसी को कभी-कभी वहाँ भेजते थे। (एक बार एक दारोगा आये और अपना कष्ट सुनाये गुरुदेव को-'सरकार! मैं बिहार पुलिस में दारोगा हूँ। सरकार ने रिटायरमेंट 60 वर्ष से घटाकर 58 वर्ष कर दिया है। मुझे बेटी की शादी करनी है। आप सहायता करें।' गुरुदेव ने उन्हें वनदेवी से कहने को कहा। थोड़े दिन के बाद वह कानून बिहार सरकार ने वापस ले लिया। मै समझता हूँ यह बात 1975 ई0 से 1980 ई0 के बीच की होगी।)

काली माई के मन्दिर में प्रायः पीड़िया बनी होती है। इनके अंत में अर्थात् उनकी बायीं ओर एक अतिरिक्त पीड़िया होती है। जैसे नवदुर्गा के मंदिर में 10 पीड़िया। सप्तमातृका के यहाँ आठ पीड़िया और अष्टदुर्गा के यहाँ नव पीड़िया। यह अन्त की एक अतिरिक्त पीड़िया भगवान शिव की होती है, इन्हें भैरव कहते हैं। नवदुर्गा के साथ ये स्वामी है, तो सप्तमातृका और अष्टमातृकाओं के यहाँ यह पुत्ररूप है। जगदम्बा के पास पुत्ररूप में रहने वाले शिव को वटुक-भैरव कहा जाता है। साधक के अधिकार के अनुसार सदगुरु व्यक्तित्व में परिवर्तन कर सकते हैं काली माई के मन्दिर के बाहर, प्रवेश द्वार से दाहिने ताखे में एक पीड़िया रहती है, यह जगदम्बा की प्रमुख सेविका है। मेरे गुरुदेव ने इनका नाम ''समया'' बताया था। हमारे यहाँ सप्तमातृका को औरतें सातों-बहिनी (सतबहिनी) कहती हैं। इस माँ की सेविकाएँ चौंसठ योगिनी हैं। उनके अलग-अलग कार्य हैं। 64 योगिनियों की मूर्ति एक पंक्ति में बिहार के बेतिया शहर के काली बाग में है। अधिकांश स्वार्थी साधक इन्हीं की सिद्धि कर अपनी दुकानदारी चलाते हैं। दुर्गा बहुत दूर हैं, उनकी उपासना मुख्यतः मोक्ष के लिये होती है। अनेक गाँव शहरों में हम देखते है लोगों के शरीर पर दुर्गा जी आती हैं- यह पूर्णतः भ्रम है। आयुर्वेद की चिकित्सा में ''उन्माद'' (पागलपन) के बारे में बताते हुए सुश्रुत ऋषि ने देवोन्माद की चर्चा चलाया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि रज-वीर्य से बने हमारे शरीर से देवताओं का सम्पर्क नहीं होता है, वे हमसे बहुत दूर हैं। उनकी सेविकाएँ, योगिनियों से कभी किसी का सम्पर्क होता है। देवता का आवेश आने पर व्यक्ति संस्कृत बोलता है, केवल आशीर्वाद देता है, शरीर से सुगन्ध आती है। अगर ऐसा है तो देवोन्माद है, नहीं तो योषापस्मार है। चौसठ योगिनियों में काली, दुर्गा आदि नाम की भी योगिनी हैं। तात्पर्य यह है कि देवता से भेट असंभव है। प्रत्येक देवता के मंत्र का बीज होता है, जो उस मंत्र का संक्षेप कहा जा सकता है। यह बीज मंत्र के पहले लगता है। कभी-कभी मंत्र के दोनों ओर लगता है, ऐसा करने से मंत्र अधिक सशक्त हो जाता है। और अधिक सशक्त करने के लिये विशेष बीज भी लगाये जाते है। श्री दुर्गा जी का बीज मंत्र ''दुं'' है। तो इनका मंत्र होगा- ''दुं दुर्गायै नमः'' और इसे सशक्त बनाने के लिये भगवान शिव का शान्त बीज ''ऊँ'' लगाया जाता है, तब होता है '3ॅदुं दुर्गायै नमः'। इसे अत्यधिक शक्ति सम्पन्न बनाने के लिये श्री दुर्गा जी का विशेष बीज 'ह्रीं' लगाया जाएगा- '3ॅह्रीं दुं दुर्गायै नमः'। यह श्री दुर्गा जी का अष्टाक्षर मंत्र, अत्यन्त श्रेष्ठ माना जाता है। यह अष्टभुजी दुर्गा की कृपा के लिए जपा जाता है।

श्रीदुर्गा जी का ''ह्रीं'' बीज किसी देवता के मंत्र में गुरु लगा सकते हैं अधिक शक्ति सम्पन्न बनाने के लिये। यह एक ऐसा एकाक्षर मंत्र है, जो दुनिया के प्रत्येक सम्प्रदाय के मंत्रों में आया है। गुरुदेव ने मुस्लिम उपासना और बाइबिल की उपासना में भी इसका होना बताया है।

यह श्रीदुर्गा जी का बीज मंत्र अकेले भी जपा जा सकता है- केवल मोक्ष के लिये। यह जापक को शिव बन देता है। सांसारिक कोई इच्छा उसके पास नहीं बचती है। वह कहीं भी निर्लिप्त रहता है। यह जिस मंत्र में लगता है उसको उग्र भी बनाता है। यह श्रीराम के मंत्र में लगने पर वनवासी राम-सा बना देता है। शिव के '3ॅनमः शिवाय' मंत्र के दोनों ओर लगने पर केवल मोक्ष प्रदान करता है। भगवान शिव के जिस मंत्र में लगता है प्रायः वह भैरव जी का मंत्र होता है।

माँ की उपासना में तांत्रिक उपासना ही प्रधान लगती है। वैदिक उपासना पुरानी पड़ गयी है। मेरी समझ से सबको अब जल्दीबाजी है। तांत्रिक उपासना शीघ्र गति पकड़ लेती है। वैदिक उपासना शान्त है, सुरक्षित है, दीर्घ कालिक है। माँ की पौराणिक-उपासना प्रायः पुरोहितों द्वारा करायी जाती है, यह सहज है, भक्ति का बढ़ियाँ साधन है। इसमें मंत्र सहज है, क्रिया सहज है, भक्तिभाव में लगे रहने के लिये श्रेष्ठ है। दुर्गाजी की शीघ्र कृपा के लिये,

किसी कार्य को कराने के लिये, अपनी सामर्थ्य बढ़ाने के लिये, शिवत्व प्राप्ति के लिये-तांत्रिक उपासना ही श्रेष्ठ साधन है। इस साधना में समर्थ गुरु की आवश्यकता है। जिनका तांत्रिक पूर्णाभिषेक हुआ हो, उन्हें ही ऐसी साधना कराने के लिये चुनना चाहिए। कम से कम शाक्ताभिषेक प्राप्त कर ही शक्ति की साधना करनी चाहिए। उपासना और साधना में अन्तर है। उपासना में माँ के भरोसे रहना, उनकी महिमा का सदा स्मरण करते रहना, नियमपूर्वक जप-पूजन करते रहना है। तांत्रिक साधना में नियम का कठोरता से पालन होता है। निश्चित समय पर निश्चित जप आवश्यक है, पूजन आवश्यक है। पूजन की सामग्री शास्त्रानुसार सम्पूर्ण आवश्यक है। इस पूजन के पाँच अंग हैं, पाँचों का पालन अत्यावश्यक है। इन पाँचों अंगों को पंचांग कहा जाता है। ये हैं- 1 मंत्र, 2 पटल- (मंत्रों का विविध प्रयोग) 3 कवच-साधक इसे अपनी शरीर रक्षा के लिये पढ़ता है, 4 शतनाम या सहस्त्रनाम का पाठ 5 श्री दुर्गा जी के उत्तम स्तोत्र का पाठ करना। जिनके जीवन का उद्देश्य साधना हो, चाहे किसी देवता की हो, इसे विस्तृत ढंग से करना आवश्यक है। जब तक शरीर समर्थ है, युद्ध की तरह साधना करनी चाहिए, बाद शारीरिक सामर्थ्य घटने पर या सांसारिक कार्य बढ़ने पर पूजन संक्षिप्त कर लेना चाहिए, तब भी मंत्र जप, कवच, शतनाम पाठ, स्तोत्र पाठ तो करना ही चाहिए। हाँ पटल अत्यन्त संक्षिप्त कर लेना चाहिए। जप भी सामर्थ्य अनुसार कर देना चाहिए। लेकिन साधना में मन देना है, तो मंत्र जितने अक्षरों का है उतना लाख जप कर उसका दशांश हवन, हवन का दशांश तर्पण, इसका दशांश मार्जन और मार्जन का दशांश ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए, गरीबों को मित्रों को, संबंधियों को खिलाना चाहिए, दान भी देनी चाहिए। इसे कहते है मंत्र का पुरश्चरण। कलियुग में ऐसा चार बार करने पर मंत्र सिद्ध होता है- ''कलौ कुर्यात् चतुर्गुणं।'' चार पुरश्चरण के बाद दश तरह के जो उपचार हैं मारण, उच्चाटन, मोहन, वशीकरण स्तम्भन आदि के लिए मूल विद्या का 10000 हवन श्मशान में या एकान्त के मंदिर में करने से लाभ होता है। तंत्र ग्रंथों में प्रत्येक कार्य के लिए हवनीय द्रव्य दिया गया है। ऐसा कर लेने पर पटल में दिये नियम के अनुसार उचित कोई कार्य सम्भव, असम्भव किया जा सकता है। जो साधक हिंसक स्वभाव के होते है, वे मारण, उच्चाटन आदि भी करते हैं, पर यह अधम है, साधना का दुरूपयोग है, हाँ अपने प्राणरक्षा की समस्या खड़ी हो जाय, तो किया जा सकता है। उत्तम है कठोर साधना कर माँ से वरदान ले लिया जाय। बाद केवल स्मरण किया जाय। उसके भरोसे रहा जाय, यही श्रेष्ठ-भक्ति है। इसी को ज्ञानी भक्त कहा जाता है। जिसे भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है कि- ''मुझे ज्ञानी भक्त-प्रिय हैं।'' परमात्मा को जान लेने के बाद की भक्ति ही श्रेष्ठ है। परमात्मा ऐसे भक्तों के हाथ में खेलता है। बिना साधना किये मंत्र-जप करने वाले लोगों को पशु-भक्त कहा जाता है, यही पशुआचार है।

यह दुर्गा उपासना सभी उपासना में व्याप्त है। आप किसी भी देवता की उपासना करें, वह पूर्ण तभी होगी जब उन देवता की शक्ति का भी मंत्र जपा जायेगा, जैसे सूर्य नारायण की उपासना करने वाले के लिये संज्ञा और छाया का मंत्र-जप आवश्यक है। गणेश जी की उपासना करने के लिये ऋद्धि-सिद्धि का भी जप आवश्यक है, अन्यथा फल प्राप्त कैसे होगा? हनुमान जी की उपासना भी पूर्ण तभी होती है, जब उनके साथ शक्ति का मंत्र जपा जाय, या तो आप सीता माता का मंत्र जपें या काली का मंत्र जपें या तारा का मंत्र जपें। साधारण लोग तो सीता का ही जपते हैं पर तांत्रिक लोग गुरु निर्देशानुसार काली का या तारा का मंत्र जपते हैं। भगवान कृष्ण के उपासक सामान्यतः राधा का जपते है या रुक्मिणी का। विशेष साधक काली का मंत्र जपते हैं। काली के मंत्र जप का रहस्य यह है कि कृष्ण काली के उपासक थे। लेकिन बड़ी बात यह कि काली के मंत्र का बीज ''क्लीं '' है और कृष्ण के मंत्र का बीज भी ''क्लीं '' है। कृष्ण का अगर कोई ''क्रीं'' बीज मानता है, तो ''क्रीं'' काली का भी बीज है, पर यह अत्यन्त उग्र माना जाता है और ''क्लीं '' बीज सौम्य माना जाता है। साधारण अन्तर यह है कि ''क्लीं '' बीज वाले काली के मंत्र को घर में, मन्दिर में कहीं जपें, पर ''क्रीं'' बीज के साथ काली के मंत्र को श्मशान में थोड़ा भी अवश्य जपना चाहिए, वैसे भी काली का रहने का स्थान भी तो श्मशान है क्योंकि उसे श्मशानालयवासिनी कहा गया है।

वटुक-भैरव की साधना करने वाले को भैरवी का मंत्र जपना चाहिए या श्री दुर्गा जी का क्योंकि ये जगदम्बा के आगे-पीछे सदैव डोलते रहते हैं, उसकी उँगुली पकड़कर चलते हैं। तो इस तरह से सभी देवता शाक्त हैं, शक्ति से रहित कोई नहीं है। शक्ति रहित होने का अर्थ हुआ प्राण रहित होना- जगदम्बा जगत प्राण हैं।

दुष्टों को दण्ड देने के लिये कुछ साधक 'शूलिनी दुर्गा' की साधना करते हैं। ऐसे ही कुछ तांत्रिक 'बगला' की साधना करते हैं। इनका स्वरूप है- दुष्ट की जिह्वा बाँयीं हाथ से पकड़े रहती है और दूसरे हाथ में लिये मुद्गर से उसे पीटती रहती है। किसी तरह की विजय-प्राप्ति हो, कचहरी वाली या रणक्षेत्र वाली, इनकी साधना से फल मिलता है। इन्हें पीताम्बरा भी कहते हैं। इनका भारत प्रसिद्ध मन्दिर है मध्यप्रदेश के दतिया में। यह दशमहाविद्या में आती है।

वाम-मार्ग से तंत्र की साधना करने की परम्परा में अधिकांशतः साधक ''महाविद्या'' की साधना करते हैं। प्रायः विलक्षणशक्तिसामर्थ्य प्राप्ति के लिए इनकी साधना करते है। बहुत कम लोग है जो काली तारा आदि की उपासना मोक्ष प्राप्ति के लिये करते हैं। इन महाविद्याओं की संख्या दस है। ये हैं- 1. काली (महाकाली) 2. तारा, 3. राजराजेश्वरी, 4. भुवनेश्वरी, 5. त्रिपुर भैरवी, 6. बगलामुखी 7. मातंगी 8. छिन्नमस्ता 9. धूमावती 10. महालक्ष्मी।

इस महाविद्या उपासना किंवा ब्रह्म उपासना के तीन कुल हैं- काली कुल इसमें काली तारा हैं। दूसरा श्री कुल-इसमें षोडशी और भुवनेश्वरी हैं, तीसरा मिश्रकुल या मिश्र-परम्परा, इसमें शेष सभी महाविद्यायें हैं। इस मिश्र परम्परा को कोई कश्मीर परम्परा कहता है तो कोई द्रविड़-परम्परा कहता है तो कोई महाचीन परम्परा कहता है। विन्ध्याचल से पूरब काली महाविद्या का उपासना क्षेत्र है, तो काली की उपासना करने वाले इधर अधिक हैं, लेकिन काली कुल की देवीयों के भी उपासक इधर बहुत हैं। तारा के उपासक बंगाल बिहार में बहुत अधिक हैं। असम की ओर त्रिपुर भैरवी की उपासना अधिक है, तो झारखण्ड की ओर छिन्नमस्ता की। महाकाली का प्रसिद्ध मन्दिर कालीघाट कलकत्ता में है महाकाली की आकर्षक मूर्ति बिहार के दरभंगा में है। वहाँ का राज श्मशान-जहाँ राजाओं का अंतिम संस्कार हुआ है। जो राजा जिसका उपासक रहा है, उसकी चिताभूमि पर उसकी उपास्या का मंदिर है प्रायः सभी महाविद्या मंदिर हैं- विशेषतः महाकाली तारा जो सबसे आकर्षक है वह महाराजा रामेश्वर सिंह की चिता पर है। नाम है रामेश्वरी श्यामा । तारा जी का प्रसिद्ध मन्दिर बंगाल के रामपुर हाट के पास तारा पीठ में है। छिन्नमस्ताजी का प्रधान स्थान रामगढ़ के पास रजरप्पा है। कर्नाटक और महाराष्ट्र राजराजेश्वरी की उपासना का गढ़ है।

साधना का उद्देश्य है आनंद/परमात्मानंद प्राप्त करते हुए मोक्ष प्राप्त करना। मोक्ष ज्ञानात्मक है। विद्या से ही मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष के लिए सर्वश्रेष्ठ जो विद्या है, उसे ही महाविद्या कहा जाता है। दसो महाविद्यायें अत्यन्त तेजस्वी और शक्तिशाली हैं। उनसे वरदान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए इनकी साधना करने वाले वीर कहे जाते हैं। पहली महाविद्या का नाम ही आद्या है, दसों में बड़ी होने से यह दक्षिणा कही जाती हैं। काल को अपने अन्दर लीन करने के कारण काली हैं। इनका रंग नीला है। आकाश अदृश्य है, फिर भी नीला है। आकाश अदृश्य है, काली भी अदृश्य है, ये दोनों सगुण साकार नहीं हैं, लेकिन व्यापक है। काली का नग्न रहना उसके उपासकों को संसार में निर्लिप्त रहने को बताता है। बाहर निकली जिहवा भोगों में आसक्त नहीं रहना बताती है। उसके हाथ में लटका मुण्ड सदा मृत्यु का ज्ञान बनाये रखता है। वह शिव की छाती पर आरूढ़ दिखती हैं, सही यह है कि जिस शिव पर वह खड़ी है वह शिव नहीं है, वह शव है। शिव से 'ई' बाहर निकलने पर नीचे शव बचता है शिव से शक्ति बाहर निकल शव की छाती पर खड़ी है, दोनों मिलकर शिव हैं। 'ई' जो है वही काली है, दुर्गा है, इसके बिना शिव, शव हैं, क्रियाहीन हैं, कुछ नहीं है। इसी काली को शैव तंत्र में परम शिव कहा जाता है। यह श्मशानालयवासिनी हैं, अतः संसार को विरक्ति का संदेश है यह। काली को ब्रह्मा ने ठीक से समझा है, महालक्ष्मी विष्णु से सम्बन्ध रखती हैं, सरस्वती शिव से सम्बन्ध रखती है लेकिन इनके मंत्र के ऋषि ब्रह्मा विष्णु रूद्र तीनों हैं। नवार्ण मंत्र यद्यपि दुर्गा जी का है लेकिन उस मंत्र का स्वभाव काली से मेल खाता है। पार्वती से चंडिका उत्पन्न हुई और उन्होंने काली का आवाह्न किया, रक्त बीज का रक्त पान करने के लिए। रक्त बीज के रक्त हीन शव को लेकर यह चंडिका के पास आयीं यहीं उनका नाम चामुण्डा हुआ। ये संहार की देवी है, इनके साथ रहने वाले शिव महाकाल कहे जाते हैं। महाकाल की तरह शक्ति सम्पन्न बनने के लिए इनकी उपासना किया जाता है। पार्वती जी के शरीर से चण्डिका के उत्पन्न होने से पार्वती जी का शरीर काला पड़ गया और वो महाकाली कहलायीं। तब साथ रहने के लिए शिव भी काले हो गए एवं महाकाल कहलाए। सभी देवी देवताओं ने अपने अस्त्र-शस्त्र दिए राक्षस से लड़ने के लिए परन्तु कोई भी सक्षम नहीं था इनकी सवारी हेतु। अतः शिव सिंह का स्वरूप धारण कर इनकी सवारी बने तब से सिंह को 'पंचानन' भी कहा जाता है क्यूँकि पंचानन शिव का ही एक नाम है।

दूसरी महाविद्या को द्वितीया भी कहा जाता है। संसार सागर से तारने के कारण इनका नाम तारा है। यह भी चतुर्भुजा हैं। इन्हें देख कर काली का ही भ्रम सामान्य मनुष्य को होता है। चारो हाथों में से एक में यह कमलपुष्प धारण करती है, इसी से इनके तारा होने का ज्ञान होता है और सब स्वरूप प्रायः काली जैसा ही है। इनके साथ रहने वाले शिव अक्षोभ्य शिव कह जाते है, बौद्धों की आराध्या यही देवी हैं। बौद्धों के अवलोकीतीश्वर की शक्ति का नाम बज्रतारा, यही हैं। संसार भर में फैले बौद्ध, बिहार के बोधगया आकर इन्ही का अनुष्ठान करते हैं। इनका मुख्य स्थान रामपुरहाट के पास तारापीठ बंगाल में है। मंदिर के पास का श्मशान घोर है, भयानक है। पूरा श्मशान तांत्रिक साधकों से भरा है। उनकी झोपड़ियाँ मानव कंकाल से बनी थीं। 45 वर्ष पूर्व गुरुदेव की आज्ञा से गया था दर्शन करने। देवघर से जीप चला, दुमका होकर तारापीठ। दोपहर के भोजन के बाद चला। गुरुदेव को प्रणाम किया। अनेक जगह उनके भेजने पर दर्शन करने गया हूँ पर कहीं के लिए कठोर निर्देश नहीं मिले, परन्तु तारापीठ चलते समय उन्होंने कहा- ''रास्ते में कही रूकना नहीं। सूर्यास्त के पूर्व वहाँ पहुँचना है। पूजन के बाद प्रसाद ले प्रणाम कर चल देना है। पुजारी से किसी विषय पर विवाद मत करना वे जो कहें जी, जी, कहते रहना वहाँ से चलकर श्मशान पार कर नदी में खड़ा हो एक माला जप कर लेना। साथ के सभी लोगों के लिए जिम्मेदार तुम हो, कोई विकट परिस्थिति आ जाय, तो वटुक भैरव का आवाहन करना। श्मशान के तांत्रिकों से मत उलझना जिस जगह सूर्यास्त हो जाय, वहीं से लौट आना भले मंदिर के समीप हो जाय। वायु वेग से जाओ और आओ। और मैं सदा उधर ध्यान रखूँगा'' श्मशान वह तब घोरतम था बीभत्स था, लोमहर्षक था, दिन में ही। श्मशान पार करने लगा, शव मिट्टी में गाड़े गये थे। सैकड़ों (या हजार) की संख्या में, उनपर चढ़कर ही जाना पड़ा। सर्वत्र बिखरे कंकाल खण्ड से बचना असम्भव था। श्मशान में असंख्य तांत्रिकों की झोंपड़ियाँ थी जो किसी न किसी सिद्धि में लगे थे। उनकी झोपड़ियों की दिवाल नरमुण्ड तथा हाथ पैर की हड्डी और मिट्टी से बनी थी। बारिश से बचने के लिए ताड़ के पत्ते रखे गये थे । करीब 300 मीटर पार

कर नदी पहुँचा। अनेक जगह कुत्ते शव नोंच रहे थे । भारतेन्दु का लिखा 'हरिश्चन्द' नाटक पढ़ा था। उसके श्मशान वर्णन को गप समझा था, लेकिन सत्य से सामना अवर्णनीय था। हम संख्या में चार थे, जूते गाड़ी में छोड़ दिये थे। पानी में घुस जप प्रारम्भ किये, तब तक चार-पाँच मीटर की दूरी पर शव नोच रहे कुत्तों में से उनका अगुआ क्रोध में आकर हमारी ओर झपटा। मैंने सहयोगियों को शान्त रहने को कह शीघ्रता से वटुकभैरव का आवाहन किया पढ़ा- 'ॐ करकलितकपालः कुण्डली दण्डपाणिस्तरुणतिमिरनीलो व्यालयज्ञोपवीती क्रतुसमयसपर्या विघ्न विच्छेद-हेतुर्जयति वटुकनाथः सिद्धिदः साधकानाम्' पढ़ते ही वह शान्त हो गया। जप का समर्पण कर हम शीघ्रता से, समय से देवघर आ गये। अब वह जगह पयर्टन स्थल बन गया है। गुरुदेव ने कहा था कि ''ढट्ठे की झोपडी बनाकर बाबा जी (उनके गुरू) की आज्ञा से छह महीने वहाँ रहा था।'' तो बताना यह रहा की यह दूसरी महाविद्या हैं और इनकी उपासना जटिल है वैसे इनका नाम एक जटा भी है। अब मै तीसरी महाविद्या राज राजेश्वरी की चर्चा चला रहा हूँ।

इन्हीं का नाम त्रिपुर सुन्दरी है, षोडशी त्रिपुरा है ललिता है, बाला जी है। जैसे दुर्गा जी का सहस्त्रनाम स्तोत्र प्रसिद्ध है, वैसे राज राजेश्वरी जी का एक हजार नामों वाला स्तोत्र ''ललिता सहस्त्रनाम'' प्रसिद्ध है। इनका बहुत सुन्दर स्वरूप बिहार के मुजफ्फरपुर के रमना देवीमन्दिर में है। माई षोडश भुजावाली है। यहाँ मूर्त्ति विशाल है, बिल्कुल सुनहली। इसके सिंहासन के चार पाये हैं 1. ब्रह्मा, 2. विष्णु, 3. रुद्र, 4. ईश्वर। इनके ऊपर सदाशिव लेटे हैं और उनके नाभि से निकले कमल पर जगदम्बा बैठी हुई हैं। इनके बगल के कमरे में इनका यंत्र स्थापित है- ''श्रीयंत्र''। विश्वविख्यात श्री-यंत्र इन्हीं का यंत्र है। यह देवी पूर्णतः तंत्रमार्ग से आराधित होती है। संसार में सामर्थ्यवान बनकर विचरण करने वाले, भोग-मोक्ष दोनों प्राप्ति की लालसावाले, इनकी आराधना करते है। इस जगदम्बा को पंच प्रेतासना कहा गया है। ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, ईश्वर, सदाशिव इन पाँच स्वरूपों को महाप्रेत कहा गया है। इनके ऊपर जगदम्बा सदाशिव के नाभि से निकले कमल पुष्प पर बैठी हैं। कहा जाता है कि ऊपर बैठे स्वरूप को स्तन है पालनार्थ, इसलिये यह जगदम्बा हैं। नाग स्त्री चिह्न और पुरूष चिह्न मस्तक पर यह धारण करती हैं। परमात्मा को पुरूष मानने वाले इन्हे परमशिव कहते हैं शैव तंत्र ग्रंथों के अनुसार। (मेरे गुरुदेव का कहना था शैव तंत्र ग्रंथों के लिए श्रीनगर, कश्मीर का पुस्तकालय सबसे सम्पन्न है।) अर्थात् जो परमशिव हैं, वही माँ होने पर दुर्गा हैं। अतः भगवान शिव की छः अवस्थायें हैं तन्त्रों के अनुसार, ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, ईश्वर, सदाशिव, परमशिव। राजेश्वरी के बारे में कहा गया है-

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।

श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणाम् भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

(आप्त- श्लोक)

जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं है, ऐसे ही जहाँ मोक्ष है वहा भोग नहीं है लेकिन इनका उपासक संसार में राज-सुख प्राप्त करता है ओर मरने पर मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। जबकि काली, तारा के उपासक संसार में सामान्य सुखी होंगे परन्तु मरने पर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। ये दोनों देवीयाँ विशेषतः मोक्ष के लिये ही हैं। इसी महाविद्या की उपासना स्वामी शंकराचार्य ने किया था। जब वे आशीर्वाद प्राप्त कर कैलाश से चले, तो 'श्रीविद्या' भगवान शिव ने उन्हें दिया विश्वकल्याण के लिये। नन्दीश्वर शिव के मंत्री हैं, उन्हें लगा की सम्पूर्ण विद्या धरती पर जाने से अनर्थ होगा, तो उन्होंने अपने मुँह से कुछ छीन लिया। जो बचा वही सौन्दर्य लहरी है, स्वामी शंकराचार्य द्वारा रचित। बाद अपने बनाकर उन्होंने क्षति-पूर्ति के लिये आनन्द-लहरी लिखा।

स्वामी शंकराचार्य ने लिखा है-

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।

न चैवं चेद्देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

(आप्त- श्लोक)

अर्थात् शिव शक्ति से युक्त हैं तभी तक उनमें स्पन्दन है, शक्ति से अलग होने पर वे शव हो जाते हैं अर्थात् शिव का सर्वस्व उनकी शक्ति शिवा हैं। शिव शक्ति सम्पन्न को कहते हैं, शव में ई लगने पर शिव होता है। ई दुर्गा बीज है। ये राज राजेश्वरी चार भुजाओं वाली हैं। इनका ध्यान है-

बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम् ।

पाशांकुशशराँश्चापं धारयन्तीं शिवां भजे॥

(आप्त- श्लोक)

उगते हुए सूर्य के रंग की तरह इनके शरीर की कान्ति है। शायद षोडश वर्ष की हैं इसलिये भी षोडशी कही जाती हैं स्त्री के लिए 16वाँ वर्ष महत्त्वपूर्ण सुना पढ़ा है पर यह पुरूष के लिए भी है। भगवान शिव का एक कवच है 'मृत संजीवन कवच' उसकी फलश्रुति में आया है (सिद्ध हो जाने पर) ''सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो सर्वरोगविवर्जितः अजरामरणो भूत्वा सदा षोडशवार्षिकः'' इसके रचयिता महर्षि वशिष्ठ जी हैं। आसेतु हिमालय भारत की जो जलवायु है, उसमें सोलवाँ साल ही वीर्यवान लगता है। तो जगदम्बा यह अत्यन्त सुन्दर हैं, वैसी सुन्दर कोई देवी नहीं, इसीलिये वे त्रिपुर-सुन्दरी कही जाती है। उनकी चार भुजायें हैं और उनके ऊपर के हाथ में पाश और अंकुश है नीचे के दोनों हाथों में धनुष और बाण है। इनके साथ रहने वाले शिव को विश्वनाथ कहते है, उनके पाँच मस्तक हैं दशभुजायें हैं। उन भगवान विश्वनाथ का ध्यान मंत्र है-

''शान्तं पद्मासनस्थं शशधरमुकुटं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रं

शूलं वज्रं च खड्गं परशुमभयदं दक्षिणांगे वहन्तम्।

नागं पाशं च घंटां डमरूकसहितं चांकुशं वामभागे

नानालंकारयुक्तं स्फटिकमणिनिभं पार्वतीशं नमामि॥''

(आप्त- श्लोक)

भगवान शिव के सभी स्वरूपों में संसार-सुख के लिए विश्वनाथ स्वरूप ही श्रेष्ठ है।

देवी राजराजेश्वरी महासुन्दरी हैं, महारानी हैं, इनके साथ रहने के लिये भगवान शिव को भी महाराजा बनकर रहना पड़ता है। इनके पाँच मस्तक हैं और उनपर चन्द्रमा का मुकुट लगा हुआ है। ये त्रिनेत्र हैं। दाहिने के 5 हाथ में ऊपर से नीचे-त्रिशूल, वज्र खड्ग, फरसा है और नीचे का हाथ वरदान के लिए भक्त की ओर बढ़ा हुआ है। बायें के पाँच हाथ में ऊपर से नीचे है- सर्प, पाश, घंटा, डमरू, अंकुश। ये बहुत प्रसन्न दिखते हैं। इनका स्थान शरीर में, हृदय में होता है। यही ईश्वर कहे जाते हैं। भगवान कृष्ण ने गीता में अर्जुन को बताया है- ''ईश्वरः सर्वभूतनां हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रा-रूढ़ानि मायया।'' सभी प्राणियों के हृदय में रहने वाले ईश्वर अपनी माया से सबको यन्त्र की तरह चलाते रहते हैं। वेद भी ईश्वर का स्थान हृदय ही बतलाता है ''सहस्त्रशीर्षा पुरूष सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात् सभूमिं सर्वतस्पृत्वा त्यतिष्ठत् दशांगुलम्''- हजारों सिर, हजारों हाथ, हजारों पैर वाला परमेश्वर हमारे शरीर में नाभि से 10 अंगुल ऊपर रहता है। यह स्थान हृदय है। यह निश्चित संकेत करता है, ईश्वर हमारे भीतर हैं, हृदय में। आप इस पर ध्यान दें। तो जगदम्बा मायेश्वरी हैं और शिव मायेश्वर हैं। राज राजेश्वरी ब्रह्माण्ड की प्रशासक हैं। मेरे गुरुदेव ने बताया था'' इसके हाथ का अंकुश सभी देवताओं को अपने कार्य में लगाये रहता है। उसके अंकुश के भय से ही वायु, अग्नि, यम, वरूण आदि सृष्टि को अपनी सेवायें अबाध देते रहते हैं। ''तंत्रों का प्रसिद्ध मंत्र ''पंचदशी'' इसी का महामंत्र है। इसी मंत्र में इसके किसी एक गुप्त बीज को जोड़ने से वह षोडशी महामंत्र हो जाता है। इस राजेश्वरी माँ का बारह प्रमुख लोगों को उपासक बताया गया है तंत्रों में। वे हैं- ''मनु, चन्द्रमा, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ, अगस्ति, अग्नि, सूर्य, इन्द्र स्कन्द, (कार्तिकेय) शिव, दुर्वासा।''

''मनुश्चन्द्रः कुबेरश्च लोपामुद्रा च मन्मथः।

अगस्तिरग्निः सूर्यश्च इन्द्रः स्कन्दः शिवस्तथा

क्रोधभट्टार्का देव्या द्वादशेमे ह्युपासकाः॥''

(आप्त- श्लोक)

शंकराचार्य ने इसकी स्तुति में कहा है- तुम्हारे चारों हाथों में पाश, अंकुश धनुष, बाण हैं। कोई हाथ खाली नहीं है, फिर भी तुम वरदमुद्रा और अभय मुद्रा से खाली नहीं हो। तुम सतत सुख, शान्ति, ऐश्वर्य देने वाली ऐसी अकेली देवी हो। तुम त्रिनेत्र ही, नहीं हो त्रिरूपा ब्राह्मी शक्ति, वैष्णवी-शक्ति, रूद्र-शक्ति हो। अत्यन्त मनोहर होने के कारण ललिता हो।

क्रम में चौथी नहीं परन्तु सुविधा के लिए अब माँ भुवनेश्वरी की चर्चा चलाता हूँ। इनका ध्यान बिल्कुल राजराजेश्वरी से मिलता जुलता है-

''बालार्कमंडलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम्।

पाशांकुशवराभीतिं धारयन्तीं शिवां भजे।''

(आप्त- श्लोक)

ये भी त्रिपुरसुन्दरी ही की तरह सौम्य, सुन्दर है। शरीर की कान्ति भी उगते सूर्य की तरह ही है, बस अन्तर यह है कि इनके ऊपर के दोनों हाथों में ही पाश और अंकुश है। नीचे के दोनों हाथों में एक में वरदान देने की मुद्रा है तो एक में अभय प्रदान करने वाली मुद्रा है। इनके साथ रहने वाले भगवान शिव को महामृत्युञ्जय महादेव कहा जाता है। मनुष्य ही नहीं सभी प्राणीमात्र को अगर एक कोई भयभीत करता है, तो वह मृत्यु है और इस मृत्यु से कोई बचा सकता है, तो वे महामृत्युञ्जय ही हैं। चाहे किसी देवता की कोई उपासना करे, पर मृत्यु का समाधान यहीं है। और जिस शक्ति के सहारे वह, यह काम करते हैं, उस शक्ति का नाम भुवनेश्वरी है। देवी पुराण, जिसे श्री मद्देवीभागवत कहा जाता है, उसमें इनकी बहुत महिमा गायी गयी है। जब भगवान शिव अपनी पहली पत्नी, सती के शरीर को छोड़ने के बाद लम्बी समाधि में बैठ गये, तब असुरों का अत्याचार बहुत बढ़ गया। पूरी सृष्टि स्वामी रहित हो गयी। ब्रह्मा, विष्णु तो थे ही, पर वे कुछ कर नहीं सके। राक्षसराज देवताओं को स्वर्ग से खदेड़ कर स्वर्ग का राजा बन गया और सबको त्रस्त कर दिया। सभी देवता भागकर हिमालय में पहुँचे। बैठकर सबने विचार किया कि क्या हो? उनकी समस्या थी कि हमें देखने वाला अब कौन है? किससे अपनी विपत्ति कहे? निर्णय हुआ, तपस्या किया जाय, जो हमारा स्वामी होगा वह आयेगा। बहुत दिनों तक की तपस्या के बाद कुछ नहीं हुआ, तब सबने बैठकर निर्णय लिया कि भोजन-जल, सब त्यागकर तपस्या करते हुए शरीर छोड़ दिया जाय। विविध तपस्या में सभी लग गये। कोई प्राणायाम करने लगा, कोई उपवास में लगा, कोई हवन करने लगा, कोई जप में लगा। थोड़े ही दिन बाद एक बहुत बड़ा प्रकाश-पुञ्ज सामने उपसिथत हुआ। उसमें एक सुन्दर युवती, स्त्री उपस्थित हुई। उन्हें देख सभी पुत्रभाव से भरकर उनकी स्तुति करने लगे। अत्यन्त करूणापूर्ण स्वर में सभी ने पूछा- माँ आप कौन हैं? उन्होंने उत्तर दिया मैं भुवनेश्वरी हूँ, वैसे मेरे हजारो नाम हैं। मैं जगन्माता हूँ लेकिन जगत पिता भी हूँ। तुम्हारी व्याकुलता से मैं स्त्रीरूप में प्रकट हुई हूँ। देवताओं ने बहुत विह्वल हो उनकी स्तुति किया देवी सूक्त से। जयकार किया। बाद माँ से उन्होंने अपना दुःख सुनाया-हम देवताओं को अब कोई देखने

वाला महादेवता नहीं है। सती की मृत्यु के बाद भगवान शिव समाधि लगा लिए हैं। राक्षसों का अत्याचार बढ़ गया है। राक्षसराज ने वरदान प्राप्त कर लिया है कि वह शिवपुत्र से ही मरेगा। भगवान शिव की पत्नी नहीं हैं, इसी से वह और अत्याचारी बन गया है। आप हमारी रक्षा करें, उस दुष्ट का विनाश कैसे हो, उसकी व्यवस्था करें।

जगदम्बा ने कहा-उसका विनाश तय है, आप लोग धीरज रखें। आप सबके साथ सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याणार्थ मैं राजा हिमाचल के यहाँ उत्पन्न हो रही हूँ। यह सुन हिमाचल गद्-गद् हो जगदम्बा की स्तुति किये। माँ ने उनसे कहा- मैं आपके यहाँ जन्म लूँगी, पर मुझे स्त्री चिह्न नहीं होगा। पुरूष चिह्न भी नहीं होगा। अतः आप मुझे बलाय समझकर फेंकना मत। कार्तिकेय और गणेश पार्वती के गर्भ से उत्पन्न नहीं है। उनका जन्म योगज है। सृष्टि के कल्याणार्थ शिव और शिवा ने दोनों को अपनी लीला से जन्म दिया। जगदम्बा ही परब्रह्म है। उसे पिता कहने पर वह शिव है। माँ भुवनेश्वरी की यह कृपा आज भी साधक मणिपुर चक्र में सुनते हैं, यही 'देवी गीता' है। प्रत्येक गीता मणिपुर चक्र में आज भी योगी सुन सकता है, बस गुरूकृपा ही सब कुछ है। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को गीता में योग की क्रिया बताया है। आज भी योगी उस आवाज को सुन सकता है। तो इस तरह माँ भुवनेश्वरी ने स्वरूप धारण किया। शाक्त तंत्रों के अनुसार उसकी शक्ति से महामृत्युञ्जय, लोगों को अकाल मृत्यु से बचाते हैं। जैसे महाकाली की, तारा की, राजराजेश्वरी की स्वतंत्र उपासना है, वैसे ही इनकी भी स्वतंत्र उपासना है। दशो महाविद्याओं में 9 महाविद्याओं की उपासना में भगवान शिव की भी उपासना करनी ही पड़ती है।

अब मैं त्रिपुर-भैरवी जी की बात कर रहा हूँ। महाविद्याओं में काली, तारा, राजराजेश्वरी, भुवनेश्वरी को चार भुजाओं वाली बताया है, ये माँ त्रिपुर-भैरवी भी चार भुजाओं वाली हैं। अगर महाविद्याओं में दो वर्ग करें सौम्य और उग्र का, तो माँ त्रिपुर भैरवी, काली तारा के साथ आयेंगी। यद्यपि ये कमल के आसन पर बैठती हैं लेकिन मुण्ड-माला पहनती हैं। इनके साथ रहनेवाले शिव को कालभैरव कहा जाता है यह भी मुण्डमाली हैं। इनकी उग्रता डरावनी है, लेकिन दुष्टों के लिए है, शत्रुओं के लिए है। अपने उपासक के लिए ये अत्यन्त ममतापूर्ण हैं। इनका यह स्वरूप दैत्यनाश के लिए प्रस्तुत हुआ है। एक सिंहिनी जैसे अपने बच्चे को दूध पिलाती है, वैसे ही ये अपने उपासक के लिये आनंददायी हैं। प्रशासनिक सामर्थ्य प्राप्ति के लिए इनकी साधना उत्तम है। इनकी साधना करने वाला चमत्कारिक जीवन जीता है। कालभैरव को काशी का कोतवाल वहाँ के लोग कहते हैं। यह शब्द मुगलकालीन लगता है। पहले कुछ और होगा, जिस समय यह नाम रखा गया होगा, उस समय वहाँ कोतवाल ही होना महत्वपूर्ण होगा। मैं अपने गुरुदेव के साथ गया हूँ, वे काशी जाने पर गंगास्नान पूजन के बाद प्रथम दर्शन काल भैरव के करते थे। वहाँ से आकर विश्वनाथ जी, अन्नपूर्णा जी के दर्शन कर संकट मोचन होकर, बी.एच.यू. विश्वनाथ जी के दर्शन के बाद देर तक बाहर बैठते शायद छात्र जीवन की कुछ बातें सोचते हों वहाँ कीं। वे हरिऔध जी को साहित्य गुरु मानते थे और वामाचरण भट्टाचार्य को न्याय शास्त्र का गुरू; दोनों के यहाँ रहे भी थे। वे काल भैरव को काशी का एस.पी. कहते थे । मैंने एक बार अपने गुरुदेव से पूछा-चोर, डाकू, हत्यारा, साधु-सन्यासी, जो भी मरेगा, सब की मुक्ति कैसे होगी? उन्होंने उत्तर दिया-काशी में मरने पर दुबारा जन्म नहीं होगा। जिसका जैसा कर्म है उसे प्रेत योनि में भोगना पड़ता है। दुष्टों की कालभैरव कठोर दंड देकर कर्मफल मुक्त कर देते है। बाद सदाशिव वेदोक्त बीज का उपदेश कर मुक्त कर देते हैं। पाँचवी महाविद्या ये रहीं, जिनका परिचय अत्यन्त संक्षेप में दिया। छठवीं महाविद्या छिन्नमस्ता हैं। इनका सिर कटा होता है। कटा हुआ सिर उनके एक हाथ में होता है और कटे गर्दन से निकलने वाली रक्तधारा को वे इसी मुख से ग्रहण करती हैं। इनके अगल-बगल दो योगिनियाँ रहती हैं। मेरे गुरुदेव कहते थे कि वार्तालाप में इनके प्रत्येक रोम छिद्र से ध्वनि निकलती है। इनके साथ रहने वाले शिव को कबन्ध शिव कहा जाता है। इनका मस्तक भी कटा हुआ है। वेदों में यज्ञपुरूष का मस्तक भी कटा हुआ है। अतः वेदों के यज्ञपुरूष से ही जोड़कर तंत्रों के कबंध शिव तथा छिन्नमस्ता को समझना चाहिए। यज्ञों के द्वारा परमात्म प्राप्ति का मार्ग मीमांसा दर्शन बताता है। वह यज्ञों के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति बताता है। स्वर्ग वह है- जहाँ दुःख का अभाव हो। इसी तरह से छिन्नमस्ता की उपासना से अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष-सभी प्राप्त होते हैं। मैं जो समझता हूँ वह यह है कि चतुर्भुजा स्वरूप जितनी देवीयों का हैं, वे सभी शिवा हैं और सभी चतुर्वर्ग फल प्राप्त करा सकती हैं, अन्त में मोक्ष भी देती हैं। चतुर्वर्ग प्राप्ति जिस मंत्र के विनियोग में आता है, वह साधना सम्पन्न होने पर अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारो देता है।

भगवान शिव के अनेक रूपों में ऋषि रूप में दो स्वरूप मुख्य हैं (क) वामदेव रूप (ख) दक्षिणामूर्त्ति रूप ईश्वर रूप में अधिक आते हैं। वेद मंत्रों के रूद्र ऋषि अधिक देखे जाते है। मोक्ष परक मंत्रों में सदाशिव ऋषि अधिक आते है।

महाविद्याओं में जो महाविद्यायें बाहर से कठोर दिखती हैं, डरावनी दिखती है, वस्तुतः भीतर से वे अत्यन्त दयालु होती हैं, जैसे काली, तारा, त्रिपुर भैरवी, छिन्नमस्ता आदि। इनके ऋषि वामदेव हैं। वामदेव ऋषि ने भगवान शिव के ईशान रूप की उपासना किया था। उनकी उपासना से प्रसन्न हो भगवान शिव ने अपना नाम ही वामदेव रख लिया। ईशान रूप में भगवान शिव सभी विद्याओं के स्वामी हैं तथा सभी प्राणियों के ईश्वर हैं, हम भी उनकी कृपा से शिव बन सकते है। यह ईशान नाम भगवान शिव के पाँचवें मस्तक का है, जो चार दिशाओं में रहने वाले उनके चार मुख-तत्पुरूष, अघोर, सद्योजात, वामदेव के ऊपर स्थित रहता है। वामदेव नाम से भगवान शिव जिस विद्या के स्वामी हैं, उस विद्या को वाममार्ग से जीता जाता है। 'जीता जाता है' इसलिए लिखा कि गुरु के सानिध्य में रहने पर

सिद्ध साधकों की समस्यायें देखने को मिलीं। उनका दोहन (निचोड़) करने पर पाया कि समर्थ गुरु जब तक साधक के साधना स्थान पर पहुँचकर देवता को विवश नहीं करते, तब तक देवता मन्त्र से विवश हो आता है और किसी तरह सांत्वना देकर चला जाता है। अगर जपकर्त्ता को मंत्र के ऋषि के दर्शन, जगने में या पुरश्चरण स्थान पर सपने में हो चुके हैं, तो उसकी विवशता होती है और अगर जापक के गुरु खड़े हो जायँ, तब वह रूकता है, वैसे में समर्थ गुरु हाथ पकड़ उसे विवश करते हैं त्रिवचा' दो नहीं तो पुरश्चरण में त्रुटि बताओं। तब वह विवश हो आशीर्वाद देता है । सबसे बड़ा वरदान देवता को आज्ञा पालन का होता है। ऐसे में भगवान सत्यनारायण का आवाहन गुरु कर देते हैं क्योंकि देवता पिड छुड़ाने के लिए असत्य बोल सकता है। वाम मार्ग की उपासना संयम-नियम से ऊपर उठी होती है। इस उपासना पद्धति में साधक को किसी तरह की बाह्य पवित्रता की आवश्यकता नहीं होती है। यहाँ साधन की पवित्रता-अपवित्रता नहीं देखी जाती है, यहाँ केवल उद्देश्य सामने होता है। वाममार्गी साधक प्राणों का मोह छोड़कर, प्रत्येक डर पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और अद्भूत शक्ति सम्पन्न बन जाते है।

संयम-नियम से की जाने वाली साधना दक्षिण मार्ग की होती है। इसके स्वामी दक्षिणामूर्ति के नाम से भगवान शिव ही हैं। अगर विन्ध्याचल के अष्टभुजी दुर्गा निकट पूर्वाभिमुख खड़ा हो जाय तो बायाँ क्षेत्र वामदेव ऋषिका है और दाहिनी हाथ से दक्षिण समूचा दक्षिणामूर्ति शिव का है। पूर्वोत्तर भारत तो शुद्ध काली तारा का देश कहा जा सकता है, मै देवघर में गुरुदेव के साथ बहुत रहा हूँ वहाँ के पंडा लोग तारा महाविद्या के उपासक हैं, कुछ काली में लगे हैं लेकिन सभी वीर हैं। पंडा लोग एक दूसरे को देखते मायेर जोय कहते हैं अर्थात् माई की जय । मै समझता हूँ 75 प्रतिशत पण्डा लोग तारा के उपासक हैं। कुछ वैद्यनाथ बाबा के भी हो सकते हैं। वे सभी वैद्यनाथ बाबा को अपना यजमान मानते है। दक्षिण मार्ग में आचार-व्यवहार का ध्यान रखा जाता है। साधन की पवित्रता इसमें देखी जाती है। संस्कार व्यक्ति के साधन के चुनाव में बड़े कारण बनते हैं। (मुझे भी इसी मार्ग से चलना पड़ा।) यद्यपि इस मार्ग में सदा मन से संघर्ष करना पड़ता है। साधना में निडर होना अति आवश्यक है, लेकिन इस मार्ग के साधक श्मशान-साधना से घबड़ाते हैं। सभी महाविद्याओं की उपासना दक्षिण मार्ग से भी होती है।

आनन्द सबको बराबर मिलता है। कृपा सब पर बराबर बरसती है लेकिन देखा यही जाता है कि वाममार्गी अधिक सशक्त और चमत्कारी होते हैं, प्रायः इनकी सिद्धियाँ स्ववशी होती हैं। अतः अधिकांश अहंकारी बन, बाद में पतित भी हो जाते हैं। दक्षिण मार्ग से उपासना करने वालो का सब कुछ परमात्मा के हाथ में रहता है। इसलिए इस मार्ग में भ्रष्ट होने की सम्भावना नहीं रहती है।

दक्षिण मार्गी होने का मतलब यह कदापि नहीं है कि राम-राम, शिव-शिव कहा जाय और समझा जाय कि मेरा सब हो गया। ऐसा करने वालों, समझने वालों को तन्त्रों की भाषा में पशु कहा जाता है और इस आचार को पशु-आचार कहा जाता है। इस आचार के भी स्वामी भगवान् शिव ही हैं, अतः उन्हें पशुपतिनाथ कहा जाता है। यह कहीं नहीं ले जाता, अतः मंत्रों का पुरश्चरण, विविध अनुष्ठान, वृहद् पूजन तल्लिनता के साथ किया जाय। अगर वरदान प्राप्ति का लक्ष्य लेकर दक्षिणमार्ग से साधना-उपासना किया जाय तो अत्यन्त उत्तम है। साधना पूरी कर, राम-राम, शिव-शिव कहा जाय, तो यह दुर्लभ भक्ति है, यही श्रेष्ठ है। किसी उद्देश्य को लेकर महाविद्या की साधना की जाय तो इसमे किसी तरह की त्रुटि नहीं है। लेकिन आप को कोई महाविद्या अच्छी लगती है, वह आप के हृदय में हमेशा रहती है, तो आप किसी तरह की त्रुटि से निश्चिन्त रहें, आप प्रसन्नता के लिए उसका मंत्र जपे, कीर्त्तन करें, उसका अहर्निश ध्यान करें, किसी तरह की हानि नहीं होगी। भक्ति में त्रुटि होती नहीं है, त्रुटि तो होती है व्यवसाय में। आप किसी तरह के वरदान की कामना से साधना करते हैं तो नियमोपनियम का दृढ़ता से पालन करना ही पड़ेगा, त्रुटि होने पर उद्देश्य पूर्ण नहीं होगा।

साधक प्रत्येक विपत्ति में, पारिवारिकों के अकाल मृत्यु में भी परमात्मा पर अविश्वास नहीं करता है, पथ से विमुख नहीं होता है। नाम जपने वाले अपनी भक्ति को तथा भगवान को कभी भी कोसने लग सकते हैं। आपत्ति आने पर अज्ञानी भक्त उपासना छोड़ देते हैं। पुनः समय अनुकूल आने पर उपासना प्रारम्भ कर देते हैं। ऐसे लोग महाविद्या की उपासना मे मत लगें। भगवान कृष्ण ने गीता में अर्जुन को बताया है कि ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ हैं। ज्ञानी वही होता है जो साधना-सिद्धि से ईश्वर को जान लेता है। बाद नाम जप करता रहता है। अपने सभी कार्यों का श्रेय ईश्वर को देता है। ऐसे भक्तों के लिए कृष्ण ने कहा है- ''कौन्तेय प्रतिजानीहि न में भक्तः प्रणस्यति।''

सातवीं महाविद्या में पिताम्बरां जी हैं, जिन्हें वल्गामुखी या बगलामुखी कहते हैं। इनका स्वरूप राज-राजेश्वरी और भुवनेश्वरी की तरह करूणामय नहीं है, कुछ उग्र है। दुष्टों को दण्ड देने के लिए तत्पर रहती हैं। ऋषि ने इनके स्वरूप को जो हमारे सामने उपस्थित किया है वह है-बाँयी हाथ से शत्रु का जीभ पकड़कर खींचते हुए तथा दाहिनी हाथ के मुद्गर से उसको पीटते हुए। देखने पर बड़ा संतोष होता है कि माँ मेरी रक्षा में बहुत तत्पर है, मेरे दुष्ट शत्रु को सद्य शान्त कर देगी।

ये दुर्जन को सुजन बना देती हैं, बड़े अहंकारी को क्षणमात्र में अहंकार शून्य कर देती हैं। महान साधना-सिद्धि सम्पन्न योगी-तांत्रिक को अंहकारयुक्त होने पर शीघ्र दण्ड देकर स्तब्ध कर देती हैं। यद्यपि ये उग्र हैं लेकिन दुर्जनों के लिए हैं, अपने भक्त का तो पूर्णतः संरक्षण करती हैं। इसीलिए इन्हें कल्याणकारी देवी कहा जाता है। किसी भी तरह के स्तम्भन अर्थात् जो हो रहा है उसे रोक देने के लिए इनकी उपासना श्रेष्ठ मानी जाती है। अधिकांश व्यक्ति इनकी उपासना इसीलिए करते हैं। इनका प्रसिद्ध मंत्र ही है-

''ॐह्रीं बगलामुखि सर्व दुष्टानां वाचम्मुखं स्तम्भय जिह्वा कीलय कीलय बुद्धि नाशय ह्रीं ॐस्वाहा।''

(आप्त- श्लोक)

प्राचीन काल में उद्भट विद्वान बनने वाले इनकी साधना अवश्य करते थे। अगर इनके दर्शन में वरदान की वे अपेक्षा नहीं करते थे, तबभी इनके मंत्र का अनेक पुरश्चरण कर, मंत्र सिद्ध कर लेते थे । बगला का मंत्रसिद्ध विद्वान शास्त्रार्थ में राजदरबार में विरोधी कितना ही बड़ा विद्वान क्यों न हो, उससे हारने पर आते, तो उसकी जिह्वा स्तंभित कर उसे पराजित कर देते। इनके उपासक शीघ्र कृपा प्राप्त करने के लिए इनको प्रसन्न करने के लिए जपकाल में या सदा उजले कपड़े भी पीले रंग में रंग कर पहनते हैं।

इनके साथ रहने वाले शिव एक मुख द्विभुज रुद्र हैं। महाविद्याओं में धूमावती को अशुभ माना गया है। यह अमंगलमय मानी जाती हैं-विधवा। यही दरिद्रा कही जाती हैं। शुभ कार्य के लिए इनकी उपासना नहीं होती है। भगवान शिव मंगल के देवता हैं। शिव का अर्थ ही होता है कल्याण। इनका सम्बन्ध कल्याण से नहीं है। अतः इनके साथ शिव नहीं रहते हैं। दसों महाविद्याओं में नौ के साथ शिव रहते हैं। इनका सम्बन्ध विध्वंस से है। अतः रोग और शत्रु विध्वंस की कामना इनसे की जाती है। सुना है दशोपचारो में मारण के प्रयोग के लिए ये अनुकूल पड़ती हैं। जैसे ज्योतिष में मार्केश लगने पर थोड़ा भी शनि का संयोग होता है, तो मुख्य मारक वही बन जाता है। तांत्रिक गुरु इन्हें दुष्टविद्या कहते हैं।

नौवीं महाविद्या मातंगी हैं। इनके साथ रहने वाले शिव को मातंग महादेव कहा जाता है। ये सौम्य मानी जाती हैं। इसलिए सम्मोहन का मंत्र इनका अधिक सफल माना जाता है। इनके मंत्र के ऋषि मातंग महादेव हैं।

महाविद्याओं की विशेषता में कहा जाता है कि मातंगी मोहरात्रि हैं, तो महाकाली को कालरात्रि कहते हैं। तारा को क्रोधरात्रि कहा जाता है। छिन्नमस्ता को तथा बगला को वीररात्रि कहते हैं। त्रिपुर भैरवी भी कालरात्रि कही जाती हैं। राजराजेश्वरी और भुवनेश्वरी श्रीविद्या एवं सिद्धविद्या कही जाती हैं। ऐसी ही महालक्ष्मी दसवीं महाविद्या महारात्रि कही जाती हैं। इस दसवीं महाविद्या के स्वामी विष्णु रूप में भगवान शिव ही हैं। इन्हें सदाशिव कहते हैं। दरिद्रा को इनका बड़ी बहन माना जाता है। मेरे गुरुदेव का कहना था कि लक्ष्मी का सम्बन्ध रोहिणी नक्षत्र से है और दरिद्रा का ज्येष्ठा नक्षत्र से सम्बन्ध है। इसी आधार पर दरिद्रा को लक्ष्मी की बड़ी बहन कहा जाता है। यह महाविद्या, कमला और महालक्ष्मी नाम से विख्यात हैं। यह अति सौम्य हैं। मेरे गुरुदेव कहते थे कि महालक्ष्मी के मंत्र से किसी का मारण नहीं किया जा सकता। ये दसों महाविद्यायें-महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती का ही विस्तार हैं।

शक्ति की उपासना शिव बनने के लिए की जाती है विशेषता यह है कि शिव बनकर ही शक्ति की उपासना होती है-''शिवो भूत्वा शक्तिं यजेत''। स्वामी शंकराचार्य ने स्वयं को शिव बनाकर शक्ति की उपासना किया था। इस मार्ग में स्त्री को वीर कहा जाता है। उन्हें सदा पवित्र माना जाता है, संसार की प्रत्येक स्त्री को दुर्गा माना जाता है, उसी का षोडशोपचार पूजन किया जाता है, शक्ति न्यास से संयुक्त हो पूजन काल में आवेश आने पर मनोरथ पूर्ति का आशीर्वाद देती है, पूजक भी भैरव न्यास कर ही पूजन करता है। समय-समय पर प्रत्येक वर्ण की स्त्री का पूजन बड़े लोगों को करनी पड़ती है। इस मार्ग में चाण्डाल वैश्या का उच्छिष्ट भी जगदम्बा का उच्छिष्ट मानकर ही ग्रहण किया जाता है। ब्राह्मणी में, चाण्डाली में भेद बुद्धि वाले इस मार्ग के अधिकारी नहीं हैं। मेरे गुरुदेव दक्षिण मार्ग से काली की कृपा प्राप्त किये थे। उन्होंने फिरंगी स्त्रियों से ए.बी.सी.डी. से शिक्षा प्रारम्भ की। उनकी एक छोटी बात सुनिये प्रातः भ्रमण में उनके साथ निकला था, आज से 50 वर्ष पहले की बात है। थोड़ी दूर बाद रास्ते में चाण्डाल की झोपड़ी के आगे काली कलूटी नंगी खाट पर बैठ कर भजन करने लगे। मुझे संकेत से बैठकर जप करने को कहे। मैंने कहा-उसपर सुअर और बच्चे के सूखे मल हैं, मै नहीं बैठ सकता। आप को उसको तारना है तारिये, भजन तो अब आप का एक ड्रामा है। वे हँसे भजन पूरा कर तब चले। बासलेट धोती, शाहजाद अद्धी का कुर्त्ता काला चश्मा हाथ में बैटन पाँव में सैडल मोजा । वह व्यक्ति उस खाट पर आनंद में था।

मैंने अपने गुरुदेव को देखा है बड़ी विपत्ति में पड़े किसी-किसी व्यक्ति को अपनी ही पत्नी का वृहद् षोडशोपचार पूजन कर, देवी सूक्त से स्तुति कर, प्रसन्न कर आशीर्वाद लेने को कहते थे । ऐसा करने पर उसका संकट टल जाता था लेकिन जिन्हें लगता कि पत्नी की पूजा कैसे करें? तो उनका संकट टालने वाला नहीं रहता। ऐसा वे तभी उपदेश करते जब कोई दूसरा रास्ता नहीं दिखता। महाविद्याओं की उपासना में पंच मकारों की आवश्यकता पड़ती है। दक्षिण मार्ग से साधना करने वाले सबका अनुकल्प प्रयोग में लाते हैं। दक्षिण मार्ग से चरम सिद्धि प्राप्त करने वालों में परशुराम जी प्रसिद्ध है। उन्होंने तान्त्रिक साधना में संयम से साधना करने वालों के लिए परशुरामकल्पसूत्रम् ग्रन्थ लिखा है।

महाविद्याओं की उपासना में राजराजेश्वरी, भुवनेश्वरी और कमला की उपासना में बिल्कुल भय नहीं है। बाकी की उपासना में साधक पग-पग पर गुरु- स्मरण कर श्मशान में अपनी साधना पूरी करते हैं। बिना गुरु के महाविद्या की उपासना नहीं की जाती। अगर आप बहुत दृढ़ व्यक्ति हैं और गुरु कोई नहीं मिलते, तो भगवान शिव को ही गुरु मानकर इनकी उपासना करें। साधक की भगवान शिव अवश्य सहायता करते हैं। ऐसा अहंकार शून्य व्यक्ति हीं करे। अहंकारी की साधना बहुत दूर नहीं जाती है, ऐसा मैंने देखा है महाविद्या की साधना में छोटी सिद्धियाँ ही साधक को पथभ्रष्ट कर देती हैं।

मैंने तो ऐसे घमण्डी देखे हैं, जो भगवान शिव को भी कुछ नहीं समझते हैं जबकि वे आदि गुरु हैं। जगदम्बा के वरदान पर मुहर वे ही लगाते हैं। मैंने उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के काली के बहुत बड़े उपासक को समीप से देखा है। माँ का वरदान प्राप्त होने पर भी वह फलीभूत नहीं हुआ। वह देश भर में घूम-घूम कर गुरु की खोज करते रहे कि कोई गुरु, माँ के वरदान को सत्य कर दे। उनके गुरु शरीर में नहीं थे। त्रुटि यह थी कि आवेश में आने पर सिद्धि (मंत्र सिद्धि) के अहंकार के कारण शिव को भी गाली तक दे देते थे। यह साधना का बहुत बड़ा विघ्न है। उनके इस अहंकार ने उनके साधन को व्यर्थ कर दिया। पूर्ण होने पर विनम्र होना आवश्यक है, अन्यथा माया पूर्ण नहीं होने देती।

गुरु प्राप्ति के लिये मैंने भी प्राचीन शिवलिंग पर प्रत्येक महीने की शिवरात्रि को जल डाल कर गुरु प्राप्ति का निवेदन किया था। तीन वर्ष के बाद गुरु की स्वतः प्राप्ति हो गयी, ऐसा मैंने शिव पुराण पढ़कर किया था। काशी में अन्नपूर्णा के यहाँ देखा जितने दक्षिण भारतीय आते थे, वे अपने स्थानीय महाराष्ट्री या कर्नाटकी पुरोहितों के साथ अन्नपूर्णाजी के यहाँ उनके श्री यंत्र की पूजा अवश्य करते थे। उनके यन्त्रपूजा की विधि अलग थी। वे समूह में बैठते। बीच में चौकी पर थाली में यंत्र रखकर, उस पर ललिता सहस्त्रनाम से रोली चढ़ाते, यह कार्य दक्षिण-पश्चिम के सभी दर्शनार्थी करते थे। एक आश्चर्य भी वहाँ देखा, जितने संन्यासी आते जगदम्बा को भूमिष्ठ प्रणाम करते थे और वे ही जब विश्वनाथ बाबा के यहाँ जाते तो अलग से ही विल्वपत्रादि उन पर फेंक देते, दण्डी स्वामी शिवलिंग का अपने दण्ड से स्पर्श करते थे। मैंने अपने गुरुदेव से पूछा कि ये संन्यासी ऐसा आचरण क्यों करते हैं? उन्होंने हँसते हुए कहा- ''शिव को वे अपने से अभिन्न मानते हैं -जो आप हैं सो हम हैं। मैंने पूछा-लेकिन अन्नपूर्णाजी के यहाँ महा-महा विनम्रता से क्यों सोकर प्रणाम करते है? गुरुदेव ने हँसते हुए ही कहा-केवल पेट के कारण, भूख सब ब्रह्मवाद भूला देती है। उन्हें विश्वास है कि जगदम्बा ही उनके भोजन की व्यवस्था करेगी। इसलिए वे वैसा आचरण करते हैं।'' 'माँ से अधिक भूखे बच्चे का ध्यान कौन करेगा? कोई भी साधना से शिव बन सकता है, महाज्ञानी बन सकता है, लेकिन ज्ञान न बिछाएगा, न ओढ़ेगा। पुरुष देवता की उपासना-सिद्धि करने वाले को माँ-माँ कहना ही पड़ेगा। परिणाम यह होगा कि उसकी साधना भले ही राम, कृष्ण, विष्णु, शिव की रही हो, पूर्ण होने पर माँ में ही समाप्त होगी। माँ से ही जीवन का प्रारम्भ भी तो होता है। आप सोचेंगे कि क्या हुआ देवता की उपासना से? अरे भैया उसी उपासना का फल है कि तुमने माँ को पा लिया। साधना से शिव बन गये तो शिव जिसको भजते हैं, वहाँ पहुँच गये। सीधे माँ में लगने से यह रास्ता लम्बा अवश्य है लेकिन इससे सत्य का प्रायोगिक ज्ञान होता है।

महाविद्याओं के ऋषि अनेक हैं। भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये हमारे ऋषियों के पास जो समय था उसका उपयोग उन्होंने तपस्या में तरह-तरह के अनुसंधान के लिये किया, लोकोपकाराय। उन्होंने तरह-तरह के बीज खोजे और उनके अनेकशः प्रयोग किये। पूर्ण सफल होने पर सबके लिये उसे प्रस्तुत किया। तो महाकाली के ऋषि हैं- भैरवऋषि (महाकाल भैरव), तारा के वशिष्ठ ऋषि-इनके द्वारा स्थापित तारा की मूर्ति बिहार में तथा बंगाल में अनेक जगह पर है। इन्होंने भगवान राम को भी तारा की ही उपासना बताया था। भगवान राम ने श्री वशिष्ठ जी से सृष्टि को तारने वाली विद्या माँगा था, तो उन्होंने तारा महा विद्या का उपदेश दिया था। तांत्रिक लोग सीता को तारा का अवतार मानते हैं। बौद्धों की उपासना का मूल तारा ही हैं। यह बिल्कुल काली की तरह ही दिखती हैं। बौद्धों के अवलोकितीश्वर की शक्ति का नाम तारा है। इनके चारों हाथों में खड्ग, इन्दीवर (कमल) कैंची और खप्पर है। मेरे गुरुदेव के अपने दादा जी (वैष्णव गुरु) कहते थे कि तारा वैष्णवी शक्ति है, इसके हाथ में कमल पुष्प है, जो बताता है कि यह शक्ति जल से अवतरित हुई है। यद्यपि यह देखने में काली की तरह ही दिखती है-शवारूढ़ा, निकली हुई जीभ, हाथ में खड्ग और खप्पर, परन्तु एक हाथ में कमल का होना ही बताता है कि यह तारा हैं।

श्रीविद्या-त्रिपुर सुन्दरी के ऋषि-आनंद भैरवनाथ हैं। पंचमुख दशभुज शिव-सदाशिव हैं। भुवनेश्वरी के ऋषि-शक्ति ऋषि हैं। धूमावती के पिप्पलाद ऋषि हैं। बगला के नारदऋषि हैं। कमला के भृगु ऋषि हैं, महाविष्णु हैं। मातंगी के मातंग महादेव दक्षिणामूर्त्ति शिव हैं।

हमारे यहाँ दुर्गा सप्तशती का पाठ पढ़े-लिखे लोग बहुत करते हैं। विशेषकर नवरात्रि में तो गाँव-गँवई के देवी मंदिर भी सप्तशती पाठ करने वालों से भर जाता है। मैंने श्रीदुर्गापाठ का नव क्रम पढ़ा है, उनमें सरल कुछ बता रहा हूँ। सप्तशती के तीनों चरित-प्रथम, द्वितीय, तृतीय क्रम में ही पढ़ने को महाविद्या क्रम कहा जाता है।

1. यह चण्डी क्रम भी है।
2. मध्य, प्रथम, अन्तिम-सप्तशती क्रम है।
3. अन्तिम, पहला, मध्य-मृत संजीवनी क्रम है।
4. अन्तिम, मध्य, पहला-पहले के उलट-महाचण्डी क्रम है।

तो सप्तशती के मुख्यतः पाठ के सिद्धान्त यही हैं इसके अतिरिक्त 5 और हैं। इन तीनों चरितों का योग सात सौ है। इसके अतिरिक्त ऊपर से जोड़े गये हैं-कवच, कीलक, अर्गला आदि, कुछ शैव तंत्र से हैं तो कुछ वैष्णव तंत्र से।

आवश्यक माना जाता है- रात्रिसूक्त, नवार्ण मंत्र जप और सप्तशती न्यास, प्रारम्भ में और अंत में 1 माला नवार्णजप और देवीसूक्त। इसके अतिरिक्त कवच, कील, अर्गला कर सकते हैं पर वे सब बहुत आवश्यक नहीं हैं। श्री दुर्गा जी का सर्वसुलभ प्रचलित ध्यान है-

'' दूर्वा निभात्रिनयनां विलसत्किरीटां
शंखाब्जखंगशरखेटकशूलचापम्।
सन्तर्जनीञ्च दधतीं महिषासनस्था
दुर्गानवारकुल पीठगतां भजेऽहम्॥''

(आप्त- श्लोक)

पूजन के लिये तंत्रों में मूर्ति से यन्त्र को श्रेष्ठ माना गया है। यह यन्त्र स्थायी ताम्र पात्र में या रजत पात्र, स्वर्ण पात्र में अंकित किया जाता है। बाद स्थायी प्राण-प्रतिष्ठा कर दी जाती है। दूसरा पूजन के अवसर पर केले के पत्र पर या भुज पत्र पर अष्टगंध से चमेली की कलम से लिखा जाता है। नवरात्रि पूजन में प्रायः नित्य मैं अस्थायी यन्त्र बनाता था। अपने गुरुदेव की आज्ञा से इत्र में रोली घोलकर चमेली या कदम्ब की कलम से बनाकर प्राण प्रतिष्ठा कर पूजन करता था।

यन्त्र के मध्य में बिन्दु होता है-केन्द्र। यहाँ लिखा जाता है ''ॐह्रीं दुं दुर्गायै नमः'' इसके बाद एक त्रिकोण बनावें अर्थात् यह मंत्र त्रिकोण के अन्दर हो। उसके बाद 2 त्रिकोण को ऐसे बनावें कि एक षट्कोण बन जाय और उसके अन्दर त्रिकोण आ जाय। उसके बाद षट्कोण के बाहर वृत्त बनायें। यह वृत्त एक के बाद एक-3 वृत्त बनायें। आखिरी वृत्त पर अष्टदल कमल बनावें। इसके बाद चारों ओर से घेरा होगा। जैसे-

इस यन्त्र के किस अंग में क्या है, यह अतिगोपनीय है। मोटे तौर से इसकी प्राणप्रतिष्ठा करके केन्द्र में सभी पूजन सामग्री चढ़ायी जाती है। इस यन्त्र में यथास्थान जगदम्बा के सभी समीपी हैं, वृहद् पूजन में सबको पूजित करना पड़ता है। जैसे आठों दलों में ब्रह्माणी, नारायणी, चामुण्डा, अपराजिता, माहेश्वरी, कौमारी, वाराही, नारसिंही का पूजन होता है। इनके साथ अष्ट भैरव पूजित होते हैं-असितांग भैरव, रुरुभैरव, चण्डभैरव, क्रोधेश भैरव, उन्मत्त भैरव, कपाल भैरव, भीषण भैरव, संहार भैरव। ऐसे ही कोणों में, मेखला में, बाहरी आवरण में अनेक देवी-देव पूजित होते हैं। षट्कोणों में छह कुल मातायें पूजित होती हैं वे हैं शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कुष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी। सबका पूजन वामावर्त से होता है। अन्दर के तीन कोणों में कालरात्रि, महागौरी, देवदूती का पूजन होता है। सबका पूजन अगर षोडशोपचार से किया जाय तो उत्तम, अन्यथा पंचोपचार से, यह सुविधाजनक है-गंधाक्षत, धूप, दीप, पुष्प, पुष्पमाला, नैवेद्य। और ताम्बूल अर्पित करने पर षष्टोपचार होता है।

जगदम्बा के हाथों में जो शस्त्रास्त्र हैं उनका पूजन भी आवश्यक है। मध्यबिन्दु पर भगवान नीलकण्ठ के साथ इस अष्टाक्षर मंत्र की स्वामिनी, अष्टाक्षरा दुर्गा-अष्टभुजी दुर्गा की पूजा कर नैवेद्य चढ़ा मुद्रायें दिखायी जाती हैं - योनि मुद्रा, शंखमुद्रा,

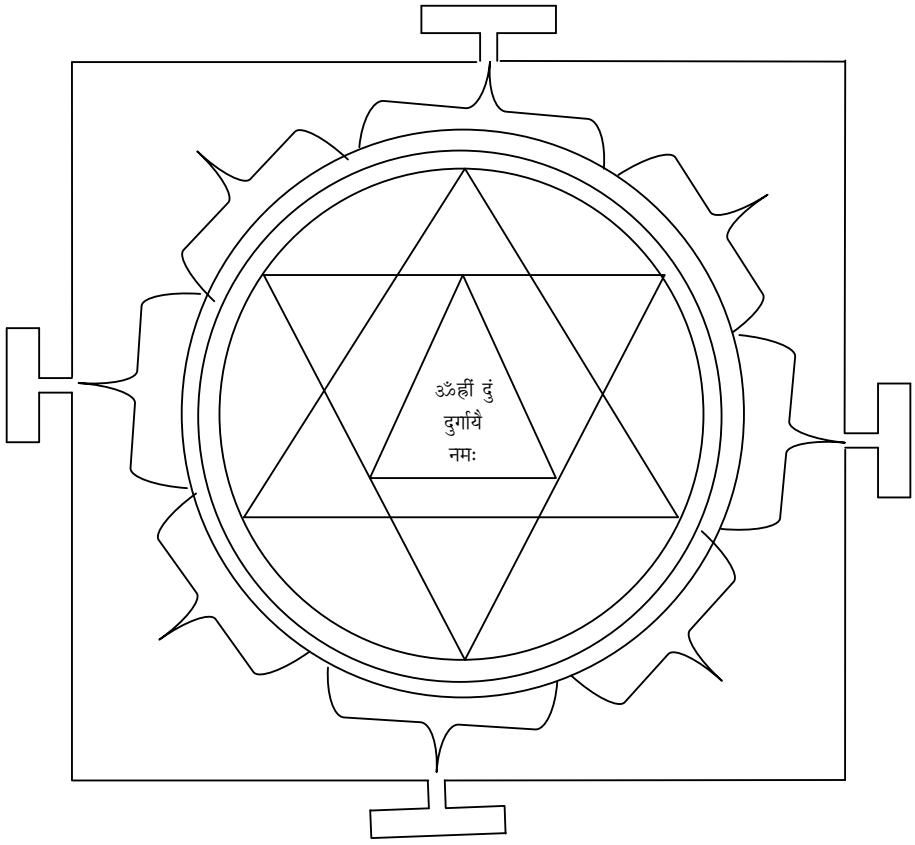

मत्स्य मुद्रा, धेनु मुद्रा बाद नाराच मुद्रा-धनुष मुद्रा से प्रणाम किया जाता है-बायीं हाथ से बायाँ पैर और दाहिनी हाथ से दाहिना पैर छूकर प्रणाम किया जाता है। इसके बाद यथेष्ट जप किया जाता है। यह सामान्य पूजन है।

इसके अतिरिक्त विस्तृत पूजन पद्धति है-यह अनुष्ठान प्रकाश ग्रन्थ में विस्तृत है। इसमें अन्दर के पाप पुरुष को नष्ट किया जाता है। इसमें भूत शुद्धि है। यह भूत शुद्धि तंत्र योग है। क्रिया तो योग की है, लेकिन मंत्रों से युक्त करने पर यह तांत्रिकों द्वारा किया जाने वाला चक्रभेदन की सशक्त क्रिया है इसे बता देता हूँ।

सिद्धासन में बैठकर मूलाधार के स्वयंभू शिवलिंग के 3 भँवर देकर बैठी हुई कुण्डलिनी को हूँ बीज का हुँकार करते हुए उपर चढ़ाया जाता है, कुम्भक में। सहस्रार-सहस्रदल कमल पर बैठे हुए शिव से अभिन्न शिवरूप में निजगुरु से उसे मिलाया जाता है। वहाँ से चूती हुई अमृत वह ले कर चलती है, तो रास्ते में आज्ञा-चक्र, विशुद्ध-चक्र, अनाहत-चक्र, मणिपुर-चक्र, स्वाधिष्ठान- चक्र के कमल दलों को अमृत से संतृप्त करती हुई मूलाधार में आकर पुनः सो जाती है। यह कुण्डलिनी दुर्गा कही जाती है। यही योगी की प्राणशक्ति है। इसी के जागृत होने पर समाधि लगती है। इस भूतशुद्धि की क्रिया से भी समाधि सिद्धि हो सकती है। बस सद्गुरु की कृपा से और साधक के अधिकार के अधीन है। इस क्रिया में भय नहीं है। सहस्रार से कुण्डलिनी जो अमृत ले कर लौटती है वह कुम्भक में ही होता है। अर्थात् चढ़ना और उतरना। उतरने में या सहस्रार में ही अखण्ड सच्चिदानंद गुरु के पास कुण्डलिनी अधिक रूक गयी, समय का ज्ञान नहीं रहा, कुम्भक टूटा नहीं, तो जितनी देर साधक की प्राणशक्ति उस चक्र के ईश्वर, ईश्वरी के पास रही यह सविकल्प समाधि है।

इसी में गुरुकृपा से वार्तालाप होते हैं, सभी समस्याओं के समाधान मिलते हैं। इसी में साधक फँसकर लौट नहीं सका, तो उसका वहीं समापन हो जाता है, अर्थात् महासमाधि। इसके लिये प्रारम्भ में हीं हाथ जोड़कर निजगुरु से या सृष्टि के कण-कण में वर्त्तमान गुरु- तत्त्व से कुशलतापूर्वक क्रिया सम्पन्न कराने के लिये निवेदन किया जाता है। जो साधक समाधि का आनन्द उठाने लगते हैं, उन्हें प्रथम में सद्गुरु को नमस्कार करते समय, क्रिया में लगने वाले समय का संकल्पपूर्वक निर्धारण कर क्रिया समर्पित कर, प्रारम्भ करनी चाहिए। इससे नियत समय पर क्रिया बन्द हो जाती है। विस्तृत पूजन-पद्धति में भिन्न-भिन्न तरह के न्यास अधिक हैं।

यन्त्र की पूजा के बाद उसके बायीं ओर रखे शस्त्रास्त्र की पूजा होती कम से कम त्रिशूल आवश्यक है, यहाँ शंख भी होता है, चरणपादुका होती है। यहीं त्रिपादिका रहती है जिसकी पूजा होती है, कलश पूजन के बाद जल भरण कर 7 बार अमृतधारा का स्पर्श कर अमृतिकरण किया जाता है। मंत्र में बहुत बीजों का प्रयोग है-'ह्रां दां दुं दीं दौं दः दुं अं अमृतं अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणी अमृतं श्रावय श्रावय शुक्र शापं मोचय मोचय ह्रां दुं सुरादेव्यै वौषट्'' पढ़ते हुए गरुड़ मुद्रा से द्रव्य को ढँककर अति शुद्ध कर लिया जाता है। बाद यन्त्र के सात आवरण का पूजन होता है, प्रथम आवरण से प्रारम्भ कर पूजन पूर्ण कर इसके बाद भूतों को, योगिनियों को, वटुकनाथ को, क्षेत्रपाल को समंत्रक बलि दी जाती है। दक्षिण मार्गी चावल-घी का प्रयोग करते हैं। बाद मूलमंत्र का विनियोग पढ़, न्यासकर यथाशक्ति जप किया जाता है। अन्त में पूजन समाप्त कर, अस्थाई प्राण-प्रतिष्ठा होने पर देव-देवी को संहारमुद्रा प्रदर्शित कर उन्हें हृदय में स्थापित कर लिया जाता है। पूजन के अन्त में ही सामर्थ्य और नियम के अनुसार सहस्रनाम या शतनाम कर पाठ होता है। स्तुति पढ़ क्षमा प्रार्थना की जाती है।

'यद्क्षर पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत् तत् सर्वं क्षम्यतां देव/देवी प्रसीद परमेश्वर/परमेश्वरी'।

मैंने यही समझा है कि कोई साधक या गुरु शक्ति सम्पन्न हैं तो निश्चित ही उन्होंने तंत्र मार्ग से शक्ति की आराधना किया है। समाज में रहने के लिए भले वैष्णव बनकर रहे, क्योंकि सामाजिक प्रतिष्ठा वैष्णवों को ही मिलती है। कहा गया है- ''अन्तः शाक्ता वहिः शैवा सभायां वैष्णवा मताः। नानारूप धरा कौला विचरन्ति महीतले।'' अन्दर काली तारा राजराजेश्वरी में लगे रहो, बाहर कल्याण है। कहते रहे, त्रिपुंड धारण कर सीताराम कहते फिरे। वैष्णव स्थलों में तथा अनेक प्रसिद्ध स्थानों के श्मशान में निशीथ में जाने पर सब दिखता है। रात्रिका 11 से 3 निशीथ काल है। छुपाकर साधना करना श्रेष्ठ है, भगवान शिव के पाँच मुखों से सम्बन्धित विद्या तंत्र ग्रंथों में है, लेकिन छठा मुख जो कहा जाता है परमशिव का उससे संबन्धित विद्या कोई प्रकाशित नहीं करता। किसी गुरु परम्परा में बड़े लड़के को या शिष्य को बताया जाता है। अगर अपात्र को आशक्तिवश उपदेश कर दिया गया तो उपदेशक को कठोर दंड का विधान है।

जगदम्बा त्रिगुण निवासिनी है-वह सात्त्विक है, राजस है, तामस है। सात्त्विक आगम है। राजस यामल है। और तामस डामर है। वैदिक उपासना सात्त्विक है। तांत्रिक राजस उपासना यामल है, इसमें रूद्रयामल, ब्रह्मयामल आदि ग्रंथ आते हैं। डामर उपासना पूर्णतः विध्वसंक है, अतः यह तामस है जैसे उड्डीस तंत्र में कहा जाता है 'उड्डीसं ये न जानाति सः रुष्टे किं करिष्यति'। यह गुण की दृष्टि से भेद है। वेद आगम हैं तन्त्र निगम हैं यह मत भी है । तन्त्र की व्याख्या के अनुसार जो विद्या भगवान् शिव ने पार्वती जी से कहा वह आगम है । जो गुप्त विद्या पार्वती ने शिवजीको कहा वह निगम है । सवीलास तन्त्र में आया है इसमें पाँच आमनाय भी हैं। भगवान शिव के पाँचों मुखों से सम्बन्धित विद्या-1. पूर्व दिशा में तत्पुरुष स्वरूप है। इनसे सम्बन्धित विद्या पूर्वामानाय है, इसका सृष्टि से सम्बन्ध है। 2. दक्षिण में अघोर कहा जाने वाला स्वरूप है, इसे दक्षिणामनाय कहा जाता है। यह पालन से सम्बन्ध रखता है। 3. पश्चिम में सद्योजात हैं। इनसे सम्बन्धित विद्या पश्चिमाम्नाय

है, यह संहार से सम्बन्ध रखता है। 4. उत्तर में उत्तराम्नाय है, यह अनुग्रहरूप है, ज्ञान रूप है, 5. पाँचवा ऊर्ध्वाम्नाय है- यह कौलों की गुप्त उपासना से सम्बन्ध रखता है। काली के उपासक कौल कहे जाते हैं।

भारत में तांत्रिक उपासना के तीन केन्द्र रहे हैं कश्मीर, कांची और कामाख्या। कांची और कश्मीर उपासना श्रीविद्या से सम्बन्ध रखता है। कामाख्या सम्बन्धित साधना-उपासना पूर्णतः वाममार्गियों की है। इनमें भी अनेक तरह के साधक हैं जिनमें आपस में सूक्ष्मान्तर है, जैसे कौल, औघट्ट, भैरव, कापालिक, अवधूत। कौलों को श्रेष्ठ माना गया है। मैं समझता हूँ कौल शब्द काली शब्द से बना है। अर्थात् काली के सिद्ध ही अपने को श्रेष्ठ कह सकते हैं क्योंकि काली को ज्येष्ठा, आद्या, दक्षिणा आदि कहा जाता है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे- ''बड़ी से शादी करने पर छोटी सभी से वार्तालाप करने का सहज अवसर मिलता है। छोटी से सम्बन्ध रखने वाले का बड़ी से बात करना कठिन है। वैसे भी महाविद्याओं में एक की दीक्षा प्राप्त करने पर सबका मंत्र जपने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। दीक्षाओं में कलावती-दीक्षा, मंत्र -दीक्षा, मनो-दीक्षा, प्राण-दीक्षा, ब्रह्म-दीक्षा आदि हैं।''

मनो-दीक्षा प्राप्त साधक अपने संकल्प से कोई कार्य कर लेता है। प्राण दीक्षा प्राप्त करने पर मरणासन्न को जीवन दान देने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मदीक्षा प्राप्त गुरुकार्य कर सकता है।

ऐसे ही तंत्रों में अभिषेक होता है-यज्ञ के कलश के जल से अभियन्त्रित जल मस्तक पर छींटना यह सामान्य अभिषेक है। विशेष है शाक्ताभिषेक पूर्णाभिषेक, साम्राज्याभिषेक, महासाम्राज्याभिषेक यहीं तक। आगे एक और अभिषेक है- ''दिव्य साम्राज्याभिषेक। जिसके बारे में कहा जाता है- ''दिव्य साम्राज्याभिषेकस्तु कलौ शंकर एव ही।''

अर्थात् कलियुग में एक ही व्यक्ति का दिव्य साम्राज्याभिषेक हुआ है, वे हैं शंकराचार्य। यह कार्य स्वयं भगवान शिव गुरुरूप में करते हैं। कैलाश वे गये थे और वहीं उन्होंने प्राप्त किया। प्रायः सिद्धियों में अधिकतर अष्टसिद्धि, नवनिधि लोग माँगते हैं। ऐसा प्रायः योग की साधना में होता है। इन्हीं अष्टसिद्धियों में से हनुमान जी ने गरिमा का प्रयोग कर सुरसा के सामने अपने को विशाल दिखाया। इस स्वरूप को निगलने के लिये सुरसा ने मुँह फैलाया तब उन्होंने अणिमा का प्रयोग कर, अणु बराबर बनकर उसके मुँह में घुसकर बाहर निकल गये अष्टसिद्धियाँ उनके पास थीं। सीता जी ने अष्ट-सिद्धियों का उन्हें दाता बनाया। स्वामी शंकराचार्य अणिमा के द्वारा ही कैलाश पर पहुँचे या लघिमा का प्रयोग किये होगे। तंत्रों की साधना में वरदान अलग तरह के देखे जाते है, इसमें कहीं न कहीं दंबगई अवश्य रहती है, शायद ही कोई भक्ति माँगे। प्रायः अकरणीय करने की सामर्थ्य ही माँगना अधिक दिखता है। छोटी देवीयों की तथा छोटे देवता की प्रायः उद्देश्य को लेकर होता है। जैसे द्रव्य प्राप्ति के लिये यक्ष या यक्षिणी की सिद्धि। सूचना एकत्र करने के लिये कर्ण पिशाचनी की सिद्धि। नृत्य-मनोरंजन के लिये परी सिद्धि संगीत के लिये गंधर्व सिद्धि। कुछ बड़ी सिद्धि भी विद्वान पहले करते थे जैसे वाग्वादिनी की सिद्धि शास्त्रार्थ में विजय के लिये। इस वागवादिनी का सम्बन्ध सरस्वती से है। विद्या प्राप्ति के लिये सरस्वती के जप का बीज 'ऐं' होता है। इसे वाक्बीज कहा जाता है। यह महाबीज में आता है अर्थात् महाकाली का 'क्लीं ', महालक्ष्मी का 'ह्रीं' और महासरस्वती का 'ऐं' है। ये तीनों बीज चंडिका के मंत्र में आ जाते है ''ॐऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे'' इसमें 'ऊँ' अलग से लगा है। वह गिनती से बाहर है। गंगा जी की उपासना में 'गं' बीज लगता है यह गणेश और गुरु का भी बीज है अतः 'गं' बीज को गुरु बीज होने के कारण श्रेष्ठ माना गया है। गुरु ज्ञान दात्री हैं और सरस्वती देवी भी ज्ञान दाता हैं। अतः दोनों का बीज 'ऐं' है। गुरु के लिये जो यन्त्र पूजा होती है, उस यन्त्र के मध्य बिन्दु के पास 'ऐं' बीज ही उद्धृत किया जाता है। राज राजेश्वरी के यन्त्र का पूजन, अन्नपूर्णा जी के लिये भी होता है। काशी में इनके दरबार में सामने श्री यंत्र है। राज-राजेश्वरी के ध्यान में और इनके ध्यान में थोड़ा अन्तर है-राज-राजेश्वरी पाश, अंकुश, धनुष, बाण धारण करती है, तो अन्नपूर्णा माला, पुस्तक, पाश, अंकुश धारण करती हैं। सृष्टि के पालन का अधिकार भगवान शिव ने विष्णु को दिया है। पालन में भोजन ही प्रथम है। आषाढ़ की एकादशी को विष्णु भगवान लक्ष्मी को अपना कार्य सौंप कर योगनिद्रा में चले गये। लक्ष्मी जी ने पालन का कार्य उनसे भी अच्छा किया। उनसे प्रसन्न लोगों ने दीपावली को उनकी बहुत-बहुत पूजा की। वे पूजन से गद्गद् हो कर्तव्य भूल गई। दूसरे दिन सृष्टि में भोजन का अभाव हो गया। हाहाकार मचने से शिव की समाधि टूट गयी। परिस्थिति देख उन्हें चिन्ता हुई। वे अपने पास कुछ नहीं रखते है। कभी-कभी वस्त्र का भी अभाव हो जाता है। शीघ्रता से अपनी ही पत्नी, पार्वती के पास पहुँचे और उन्हें प्रसन्न कर सबके भोजन-वस्त्र के लिए निवेदन किये। ऐसा होने के बाद वे अन्नपूर्णा हुई। इन अन्नपूर्णा जी की उपासना भी बहुत प्रचलित है। अनेक ऋषियों ने दश महाविद्याओं के अलावा छः और देवीयों को सामर्थ्यवान होने के कारण महाविद्या माना है। उनके अनुसार सोलह देवीयाँ महाविद्या है। इन में अन्नपूर्णा जी भी है। इसी परिवार की एक देवी वाराही है जिन्हें सोलह महाविद्या में गिना जाता हैं। यह बहुत प्रभावशाली देवी हैं। इनका उपासक इनकी कृपा से किसी होते हुए अनर्थ को तुरंत रोक देता है। इन्हें सिद्ध विद्या कहा जाता है।

बंगाल में बहुत से साधक दुष्ट प्रकृति के पाये जाते है इनका वही कार्य होता है, जो प्रत्यक्षतः समाज में गुण्डे करते हैं। पैसे लेकर जैसे गुण्डे किसी का पीड़न करते हैं, वैसे ही वहाँ के कुछ तांत्रिक महाविद्याओं के तथा दुर्गा परिवार के देवीयों का मंत्र उलटा जपते हैं। ऐसा करने से जो मंत्र सर्जनात्मक है, वह विध्वंसक हो

जाता है। दुर्गा पाठ की पुस्तक वहाँ विलोम प्राप्त है। इसमें तो अधिक परिश्रम है, कम परिश्रम से प्रत्यंगिरा का वे प्रयोग करते हैं। अनुग्रहकारिणी वाराही का भी दुष्प्रयोग कर वे वाराही निग्रह का प्रयोग करते हैं। देवता मंत्रों के वशीभूत हैं कार्य करते है। उन मंत्रों के अनुसंधानकर्त्ता कल्याण के लिए अनुसंधान किये, लेकिन उसी का प्रयोग परपीड़न में होता है। देवता को भी पीड़ा पहुँचती है, लेकिन पर पीड़न उस देवी द्वारा तांत्रिक कराते है। हाँ कर्मफल उनको इसका भोगना पड़ता है क्योंकि बुरा करने वाला बुरा कर्मफल भोगता ही है। अठारहों पुराणों के रचयिता वेदव्यास जी को लगा कि लोग इन पुराणों को पढ़कर किसी निर्णय पर नहीं पहुँचेगे कि क्या करणीय है? तो वे तीर्थो में घूम-घूम कर अपनी दोनों भुजाओं को उठाकर सबको बताने लगे-सुनो-सुनो! मैंने अपने अठारहों पुराणों में दो ही बाते लिखी हैं- 'अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वयं। परोपकाराय पुण्याय पापाय पर पीड़नम'। परोपकार पुण्य का कारण है और परपीड़न पाप का कारण है। पापी अपार कष्ट भोगता है अर्थात् परपीड़न अन्ततः पीड़क को घोर कष्ट देता है। उसके मरने पर उसके बाल बच्चे नाती-पोते कष्ट भोगते हैं। उसका परलोक तो नरक बन ही जाता है, कुछ पैसो के लोभ के कारण। तो जगदम्बा की कृपा प्राप्त करने वाला शिव होता ही है। और शिव का प्रत्येक कार्य दूसरों को सुख पहुँचाना है। शिव महादेव हैं तो ऐसा करते हैं, आप आदमी हैं तो अपने को भी सुखी रखिये और दूसरे दुखी को सुख पहुँचाने का उपाय कीजिए।

इन दिनों काशी प्रवास में रहा मित्रों और समीप रहने वालो के आग्रह पर मुझसे जो बन सका, प्रवाह में जो कह सका, कहा। काशी में नवों दुर्गाओं के अलग-अलग स्थान है। यहाँ के स्वामी भगवान विश्वनाथ के समीप श्री अन्नपूर्णा जी का मन्दिर है, वे महागौरी हैं। दिवाली बीतने पर उनका वृहद् पूजन होता है। नवरात्रि में भी अष्टमी-तिथि को उनका विशेष पूजन होता है। भारत वर्ष के किसी तीर्थ में वह आकर्षण नहीं है, जो वाराणसी में है। भगवान शिव का आकर्षण से क्या लेना-देना, सब आकर्षण उनकी ''श्री'' का है। यह स्थान नवों दुर्गाओं का है। यहाँ भगवान शिव भी अनेक भैरव रूप में विद्यमान हैं। मैं नहीं समझता सभी भैरव वाराणसी के अतिरिक्त और कहीं इकट्ठे होंगे। नव दुर्गा में (1) शैलपुत्रीजी-वरूणा नदी के किनारे हैं, सिटी स्टेशन से सामने 2 कि. मीटर बाद (2) ब्रह्मचारिणीजी-ललिता घाट के पास हैं। (3) चन्द्रघंटा-ठठेरी गली के बगल में हैं। (4) कुष्माण्डा दुर्गाकुण्ड में हैं। (5) स्कन्दमाता-विशेश्वरगंज से आगे लोहटिया के बाद हैं, यहाँ उन्हें वागीश्वरी देवी कहते हैं। (6) कात्यायनीजी-ललिता घाट के पास हैं। (7) कालरात्रिजी-विश्वनाथ मन्दिर के पास कालिका गली में हैं। (8) महागौरी कुछ आचार्यों के मत से संकटाजी, यह ललिता घाट के पास हैं, कुछ के मत से अन्नपूर्णा जी, विशेषतः श्री विद्या के क्षेत्र वालों के अनुसार महागौरी हैं, यह विश्वनाथ बाबा के समीप हैं, विशाल मंन्दिर में है। (9) सिद्धिदात्री, ये विशेश्वरगंज में गोलघर के बगल में, गली में हैं। गली का नाम सिद्धमाता गली है। भगवान शिव-शक्ति से संयुक्त रहते ही हैं लेकिन विशेषकर उग्र किं वा अति-क्रियाशील होने पर भैरव कहे जाते हैं। ये कभी भी शान्त नहीं दिखते हैं। भैरव शब्द का अर्थ होता है जिनके स्मरण से भय दूर हो जाय-''भयं रवति इति भैरवः'' ये यहाँ हैं-लाटभैरव-एन. एच. 29 के पास जी.टी रोड के समीप, जहाँ दोनों एन.एच मिलते हैं, उससे थोड़ी दूर। संहारभैरव-गाय घाट में। काल भैरव इन्हें काशी में सभी जानते हैं। यहाँ के लोग इन्हें काशी के कोतवाल बोलते हैं। मेरे गुरुदेव इन्हें काशी का एस.पी. कहते थे। वे सदा काशी आने पर गंगादर्शन के बाद काल-भैरव दर्शन के बाद ही बाबा विश्वनाथ के दर्शन या किसी के दर्शन करते थे। दण्डपाणि-भैरव ये कालभैरव के बगल में हैं। असितांग भैरव ये महामृत्युंजय महादेव के प्रांगण में हैं। भूतभैरव-ये गोला दीनानाथ के समीप लोहटिया में हैं। वटुक भैरवनाथ, रथयात्रा क्रासिंग से थोड़ी दूर पर कमच्छा मोहल्ला में हैं। चण्डभैरव, ये दुर्गाकुण्ड में मुख्य मन्दिर के बगल के बरामदे में भद्रकाली जी के पास है। आनंद भैरव शिवाला घाट पर कर्नाटका स्टेट हाउस के पास हैं। उन्मत्त भैरव, काशी से बाहर पंचकोशी मार्ग पर राजा तालाब के समीप हैं। इन सबके दर्शन विशेषकर भैरवाष्टमी को किया जाता है-अगहन कृष्ण अष्टमी को। दुर्गाजी की चर्चा हो, तो भैरव लोगों की चर्चा आवश्यक थी। बस इतना ही, आशा है मेरे इस कार्य से काशीपुराधीश्वरी (अन्नपूर्णाजी) प्रसन्न होंगी, यद्यपि उनकी चर्चा अल्प ही किया है। अन्नपूर्णा जी के कारण ही काशी को मातापुर कहा जाता है। दत्तात्रेय स्तोत्रम् में उनको मातापुर निवासी कहा गया है।

पुनश्च जैसे वेद ॐका विस्तार हैं, वैसे ही श्री दुर्गा सप्तशती ''ह्रीं'' का विस्तार है, अर्थात् सम्पूर्ण वेदों का बीज ''ऊँ'' है और ''ह्रीं'' सम्पूर्ण दुर्गा सप्तशती का बीज है। अगर सम्पूर्ण सप्तशती के पाठ का समय नहीं हो तो देवीसूक्त का पाठ कर लाभ उठाया जा सकता है। सम्पूर्ण पाठ से थोड़ा ही न्यून देवीसूक्त का पाठ माना जाता है। इसका 30 पाठ रोज करना श्रेष्ठ है, वैसे ही केवल इसी का पुरश्चरण किया जाय, प्रतिदिन 3 पाठ इसी से हवन भी किया जाय। तर्पण होगा 9 और मार्जन 1। देवीसूक्त के प्रत्येक श्लोक (मंत्र) को पढ़कर ॐशिवायै स्वाहा कह कर आहुति दी जानी चाहिये। शिवायै नमः कहकर तर्पयामि 9 और शिवायै नमः कहकर मार्जयामि 1 बार ।

बड़े गुरु घरानों में योग व तंत्र की साधना साथ-साथ चलती है। प्रायः प्रत्येक जगह योग ही प्रत्यक्ष दीखता है। लेकिन अंदर से गुप्त तांत्रिक साधना गुप्त सरस्वती की धारा की तरह प्रवाहित रहती है, जो दिखती नहीं है। नागा साधुओं में बाहर से सब योग ही दिखता है। लगता है विशुद्ध योग है। लेकिन वे विशुद्ध योगी के साथ-साथ विशुद्ध तांत्रिक भी हैं। उनकी साधना की परम्परा दत्तात्रेय जी से चलती है। दत्तात्रेयजी अवधूत थे। अवधूत शब्द विशुद्ध तांत्रिक है। नागा साधुओं में स्त्री नागाओं की संख्या भी बहुत है। इस साल के अर्धकुंभ में एक नागा स्त्री श्याम वर्ण की काली, की

तरह जिह्वा निकाले तलवार ले कर नृत्य कर रही थी लाल कपड़े में, निश्चित रूप से वह भैरवी थी। यह मैंने टी. वी. पर देखा है। उन्हीं दिनों टी. वी. में ही देखा हरिद्वार के श्मशान में नागाओं की साधना करते हुए। जबतक वे सामान्य कार्य में थे, तबतक रिपोटर को रिपोर्टिंग करने दिए, जब उनका विशेष कार्य प्रारंभ हुआ तब उन्होंने रिपोर्टर को डरा कर भगा दिया और वह जान ले कर भागा। उत्तर भारत में तीन बड़े गुरु हुए हैं। बाबा कामराज, बाबा गोरखनाथ, बाबा शक्तिनाथ।गोरखनाथ जी से हम सभी परिचित हैं कि बहुत बड़े योगी थे। लेकिन उनकी परंपरा में तंत्र की प्रधानता है। गोरखपुर में उनके मंदिर के गर्भगृह के बगल में काली और भैरव की आमने-सामने प्रतिमा स्थापित है इनकों छोड़कर अन्य देवता बाहर प्रांगण में अलग स्थापित किए गए है। साबर मंत्र जो है, उनका वाम मार्ग से संबंध है। इनका प्रयोग करने पर वे शीघ्र कार्यकारी होते हैं। साबर मंत्रों में श्रेष्ठ उन्हें माना जाता है, जिसमें बाबा गोरखनाथ की दुहाई रहती है। तंत्र और योग, एक ही काम करते है। तंत्र बाहर देव-दर्शन कराता है और योग अन्दर दर्शन कराता है। योग की शक्ति को अव्यक्त शक्ति कहते हैं तंत्र की शक्ति को व्यक्त कहते हैं।

तंत्रों में जो चक्र बाहर हैं, वैसे सभी ही चक्र शरीर के अंदर हैं। तंत्रों में इनका पूजन चक्र पूजन कहा जाता है, योग में चक्र भेदन कहा जाता है। योग में भय नहीं लगता है, तंत्र में भय लगता है। साधक डरता है। तंत्रों की साधना में साधक भाग सकता है, अधिक से अधिक डर कर पागल हो सकता है। लेकिन योग में भय नहीं है। क्रिया में किसी तरह की गड़बड़ी होने पर विशेषतः प्राणयाम द्वारा चक्र भेदन की क्रिया में, राम नाम सत्य है कभी भी हो सकता है। ''मेरे गुरुदेव कहते थे योग गोमुख व्याघ्र है, अर्थात् ऐसा बाघ जिसका मुंह देखने से गौ का है लेकिन शरीर बाघ का है, वह मार सकता है, और तंत्र व्याघ्रमुख गौ है, देखने में भयनाक है, क्योंकि इसका पूरा शरीर गाय का है, कोई हानि नहीं होती है। योग की साधना नीरस है, इसमें मंत्रों का जप, बाह्य उपासना पद्धति, कीर्त्तन-भजन, समर्पण सम्मिलित करने से यह तंत्र हो जाता है।''

17 वर्ष गुरुदेव के साथ रहा हूँ, जो उनको पढ़ा है, जैसे उनसे सुना है समझा है वही मेरे द्वारा लिखा गया है, धार्मिक ग्रंथ पढ़ना-लिखना कठोरता से मना था। मै पढ़ाकू था इसलिए उपन्यास व पत्रिकाओं की व्यवस्था की जाती थी। उनका कहना था कोई भी पुस्तक धार्मिक पढ़ोगे तो लेखक के विचार से प्रभावित हो जाओगे, तुम स्वयं देखों, खोजो, कुछ न कुछ नई बात मिलेगी। ईश्वर को जानना चाहते हो ना, अबोध बनकर प्रारम्भ करो, स्वयं ढूँढो । क्रिया आगे बढ़ने पर अन्दर चक्रों में कहीं जिज्ञासा होती है तो गुरु की वाणी में समाधान मिलता है, यह विचित्र है।

●

न्याय का आदर्श - जॉन रॉल्सके विशेष सन्दर्भ में

डॉ. ममता उपाध्याय*

राजनीतिक सिद्धांत एवं व्यवहार दोनों में केंद्रीय महत्व रखने वाली न्याय की धारणा समसामयिक बहुसंस्कृतिवाद एवं समुदाय वाद की धारणा के संदर्भ में विशेष प्रासंगिक बन गई है। किमलिका एवं माइकेल वूल्जर जैसे बहुसंस्कृतिवादी जहां अल्पसंख्यक समूहों - आप्रवासी, जातीय, धार्मिक, विदेशी व प्रजातिय समूहों के अधिकारों की मांग न्यायार्थ करते है, वही माइकेल सैंडल, चार्ल्स टेलर एवं माइकेल वूल्जर जैसे समुदायवादी व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व के साथ समुदाय की मान्यता एवं महत्त्व को रेखांकित कर न्याय हेतु समुदाय के द्वारा स्थापित अनुशासन को आवश्यक मानते हैं। जॉन रॉल्स राजनितिक चिंतन के पुनरोदय काल के प्रतिनिधि विचारक हैं जिन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता की उदारवादी धारणा एवं सामाजिक समानता पर आधारित सामाजिक न्याय की धारणा में समुचित सामंजस्य स्थापित करते हुए अपनी पुस्तक 'थियोरी ऑफ जस्टिस' के माध्यम से न केवल न्याय सम्बन्धी नई दृष्टि को जन्म दिया, बल्कि राजनितिक चिंतन में नए संप्रत्ययो को भी लोकप्रिय बनाया। उनकी दृष्टि में न्याय 'सभी सामाजिक संस्थाओं का प्रथम सद्गुण' है।[1] वास्तविकता यह है कि एक सभ्य समाज जिन मूल्यों को अपना आदर्श मानता है, न्याय उनमें से एक है। प्राचीन यूनानी विचारक प्लेटो ने भी न्याय को आदर्श राज्य का सर्वोच्य सद्गुण माना था। व्यवहारतः जितने भी राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय सामाजिक, राजनीतिक या नागरिक अधिकार संबंधी आंदोलन हुए हैं, चाहे वे नारीवादी आंदोलन हो, पर्यावरणवादी आंदोलन हो, दलित आंदोलन हो, किसान व मजदूर आंदोलन हो या प्रजातिगत विभेद विरोधी आंदोलन, सभी का व्यापक उद्देश्य न्याय की स्थापना रहा है। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य न्याय संबंधी विविध धारणाओं को स्पस्ट करते हुए जॉन रॉल्सकी न्याय संबंधी विशिष्ट दृष्टि को सम्मुख लाकर इस विषय में मनन, चिंतन एवं संवाद को आगे बढ़ाना है।

न्याय एवं न्याय संबंधी विविध धारणाए-

न्याय की धारणा एक प्राचीन, विवादास्पद, बहुपक्षीय एवं देशकाल के अनुसार परिवर्तित होती रहने वाली धारणा है। शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टी से न्याय अंग्रेजी के `Justice' शब्द का हिंदी रूपान्तर है, जिसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के `Jungere' एवं `Jus' शब्दों से हुई है, जिसका तात्पर्य है - 'बाधना या एक साथ जोड़ना'।[2] अर्थात न्याय एक जोड़ने वाली धारणा है जो लोगो के मध्य उनके हिस्से के अधिकारों एवं दायित्वों, पुरुस्कार एवं दंड का समुचित वितरण कर उनके मध्य सौहार्द्रपूर्ण संबंधो की स्थापना करती है। रोमन सम्राट जस्टीनियन के अनुसार न्याय का अर्थ - दूसरो को चोट या नुकसान न पहुचाना एवं प्रत्येक व्यक्ति को वह उपलब्ध कराना जिसका वह हकदार है। वस्तुतः न्याय की धारणा स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व जेसे राजनितिक मूल्यों से अंतः सम्बंधित है एवं इन मूल्यों के माध्य समुचित संतुलन स्थापित करती है।

न्याय की धारणा देश एवं काल के अनुसार परिवर्तित होती रही है। कुछ प्रमुख धारणाए अग्रांकित है-

पारंपरिक धारणा - सभ्यता के आदिकाल में प्राचीन यूनानी एवं भारतीय धर्म ग्रंथों में इस धारणा का उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार मित्र के साथ भलाई एवं शत्रु के साथ बुराई का व्यवहार करना सत्य बोलना, अपना ऋण चुकाना इत्यादि कार्य व्यवहार न्याय का सृजन करते हैं। मनुस्मृति जैसे ग्रंथों में मत्स्य न्याय की धारणा परिलक्षित होती है जिसके अनुसार शक्तिशाली व्यक्ति द्वारा अपने हितों एवं आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु कमजोर को दबा देना या उस पर शासन करना प्राकृतिक दृष्टि से न्याय पूर्ण है।

नैतिक धारणा - प्राचीन यूनानी विचारक प्लेटो के ग्रंथ रिपब्लिक में यह धारणा दी गई कि यदि समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा में निहित गुणों विवेक, उत्साह एवं तृष्णा में प्रधान गुण के अनुसार समाज में वर्ग का चयन कर उसके कर्तव्यों का निर्वहन करता है तो यही न्याय है। तीन गुणों के प्रतिनिधि के रूप में समाज में तीन वर्ग शासक वर्ग, सैनिक वर्ग, उत्पादक वर्ग होते हैं। तीनों वर्गों द्वारा कर्तव्य पालन समाज में न्याय का सृजन करता है।

मध्ययुगीन धारणा - यूरोप में मध्ययुग में प्रचलित इस धारणा पर ईसाई धर्म का प्रभाव था जिसके अनुसार ईश्वर न्याय का स्रोत है। धर्म ग्रंथों में वर्णित नियमों का पालन करना न्याय पूर्ण है क्योंकि यह नियम इश्वरीयइच्छा के प्रतीक हैं। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है इसलिए उसके आदेशों का पालन करने में न्याय प्रतिबिंबित होता है। संत अगस्टाइन एवं टॉमस एक्विनास जैसे विचारको के विचारों में न्याय की धारणा व्यक्त हुई है।

वितरणात्मक, सुधारात्मक एवं सामुदायिक न्याय की धारणा- (DistributiVe, correctiVe and commmutative Justice) न्याय संबंधी इन धारणाओं का प्रतिपादन प्राचीन यूनानी विचारक अरस्तू की रचनाओं में किया गया। वस्तुओं एवं सेवाओं का समान लोगों में वितरण वितरणात्मक न्याय है। दूसरों को नुकसान पहुंचाने वाले या अधिकारों का हनन करने वाले व्यक्ति को कानून के माध्यम से दंडित किया जाना सुधारात्मक न्याय है। जबकि समाज में व्यापार

* एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान,कु. मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गौ.बु.नगर

आदि के उद्देश्य से व्यक्तियों के मध्य किए गए समझौतों का पालन सुनिश्चित कराना सामुदायिक न्याय है।

प्रक्रियात्मक एवं सार्थक न्याय की धारणा - (Procidural and substantive Justice) सार्वजनिक नीति निर्माण एवं निर्णय निर्माण की प्रक्रिया में किसी तरह का पक्षपात न होना प्रक्रियात्मक न्याय है।[3] यह कानून के समक्ष समानता के सिद्धांत पर आधारित विधि के शासन को इंगित करती है एवं लिंग जाति, प्रजाति तथा धन के भेद के बिना सबके लिए एक जैसे कानूनी प्रावधान की मांग करती है। सार्थक न्याय की धारणा कानूनी प्रक्रियाओं के परिणामों की निष्पक्षता पर बल देती है अर्थात कानूनों के माध्यम से समाज को जो उपलब्ध होता है उसके वितरण में किसी तरह का पक्षपात नहीं होना चाहिए। यह न्याय की एक आधुनिक धारणा है।

आवश्यकता आधारित समानतावादी सामाजिक न्याय की धारणा - (Need based egalitarian concept of social Justice) -19वीं 20वीं शताब्दी में जर्मन विचारक कार्ल मार्क्स की `Das Capital' एवं `Communist Manifesto' एवं बाद में उनके अनुयायियों द्वारा दी गई इस धारणा के अनुसार सामाजिक न्याय का मूल मंत्र है- समाज से हर प्रकार के वर्ग भेदभाव एवं शोषण की समाप्ति तथा ऐसी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था की पुनर्रचना जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा उसकी योग्यता व क्षमता के अनुसार कार्य किया जाए किंतु प्रत्येक को आर्थिक उपलब्धि उसकी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त हो।

अधिकार आधारित उदारवादी सामाजिक न्याय की धारणा - (Right based Libertarian concept of social Justice) - जॉन लॉक एवं डेविड ह्यूम जैसे शास्त्रीय उदारवादी विचारों से लेकर रॉबर्ट नोजिक जैसे नवउदारवादियों द्वारा व्यक्ति के अधिकारों को केंद्र में रखकर सामाजिक न्याय की प्राप्ति पर बल दिया गया। ये विचारक समानतावादी धारणा के विपरीत सामाजिक न्याय की प्राप्ति हेतु व्यक्ति की स्वतंत्रता के राज्य द्वारा संरक्षण किए जाने के पक्षधर हैं।

प्राकृतिक न्याय की धारणा - अनुदारवादी विचारक एडमंड वर्क एवं चार्ल्स डार्विन के द्वारा प्राणीशास्त्रीय तर्क के आधार पर विकसित इस धारणा के अनुसार जैसे प्राकृतिक जगत में हम 'योग्यतम की उत्तरजीविता' (Survival of the fittest) का सिद्धांत लागू होते देखते हैं वैसे ही सामाजिक जीवन में भी न्याय की प्राप्ति हेतु इस सिद्धांतों को लागू किया जाना चाहिए अर्थात जैसे प्राकृतिक जगत में वातावरण से अनुकूल करने की क्षमता रखने वाले जीव जंतु व वनस्पतिया जीवित रहती एवं विकसित होती है उसी प्रकार समाज में प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्धियां उसके प्राकृतिक गुणों-अवगुणों व योग्यताओं के अनुसार प्राप्त होनी चाहिए।

उपयोगितावादी न्याय की धारणा - (Utilitarion concept of Justice) बेंथम एवं जे.एस.मिल जैसे विचारको के उपयोगितावादी विचारों पर आधारित इस धारणा के अनुसार सामाजिक न्याय की कसौटी अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की उपलब्धि है।

पर्यावरणीय न्याय की धारणा - समसामयिक पर्यावरणीय समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए पर्यावरणवादियों द्वारा विकसित इस धारणा के अनुसार पर्यावरण जनित हानियों व लाभों का वितरण समाज के सभी वर्गों एवं अंतरराष्ट्रीय समाज में सभी राष्ट्रों के मध्य समान रूप से होना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि पर्यावरण से होने वाले लाभ तो संपन्न वर्ग या राष्ट्र लेते रहें जबकि पर्यावरणीय संकट की मार साधन हीन वर्ग या अल्पविकसित राष्ट्र झेलें। यदि ऐसा होता है तो यह पर्यावरणीय अन्याय है ।

जॉन रॉल्स की उदारतावादी-समानतावादी सामाजिक न्याय की धारणा- (Liberal Egalitarian Principles of Justice) - जॉन रॉल्स 20वीं शताब्दी के अमेरिकी विद्वान हैं जिन्होंने समाजवाद व उदारवाद के वैचारिक संघर्ष में उदारवाद को एक नैतिक दर्शन का रूप देकर उसे समाजवाद के एक सक्षम विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया। उदारवाद के अमरीकी प्रारूप के वर्चस्व को आधार प्रदान करने में उनकी प्रमुख भूमिका रही है। वस्तुतः पूंजीवाद को समाजवादी समानता के सिद्धांत से संगत बनाते हुए रॉल्सने संवैधानिक प्रजातंत्र पर आधारित एक सहयोगी समाजवाद **(Associational Socialism)**[4] की नींव रखी। जे.एस. मिल की रचनाओं के बाद जॉन रॉल्सकी पुस्तक वह पहली पुस्तक है जिसमें उन्होंने तार्किक संरचना पर आधारित एक आदर्श समाज की कल्पना को साकार रूप दिया। रॉल्स एक ऐसे व्यवस्थित सहयोगी समाज की अवधारणा देते हैं जिसमें न्याय की राजनीतिक धारणा लागू हो सकती है तथा जिसमें सहयोग समन्वय करने वाली गतिविधि मात्र नहीं है बल्कि सहयोग औचित्यपूर्ण शर्तों पर आधारित है अर्थात जिसमें सहयोग करने वाले सभी व्यक्ति अपने एवं दूसरों के कल्याण के प्रति चेतनशील हैं एवं उनकी यह चेतनशीलता समाज की मूल संरचना की संस्थाओं के अंतर्गत अधिकारों एवं कर्तव्यों के रूप में अभिव्यक्त होती है। रॉल्सके अनुसार एक सभ्य, तार्किक एवं स्थाई समाज पारस्परिक लाभ पर आधारित एक सहयोगी व्यवस्था है। रॉल्स ने न्याय की उपयोगितावादी धारणा की आलोचना इस आधार पर की कि यह समाज के अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख का उद्देश्य रखता है न कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण का। जर्मन आदर्शवादी विचारक काण्ट से प्रेरणा लेते हुए रॉल्स ने एक सच्चे उदारवादी के रूप में प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता व समानता की धारणा में विश्वास व्यक्त किया।

राजनीतिक न्याय सामाजिक समझौते की ऐतिहासिक प्रक्रियाका परिणाम - लॉक की सामाजिक समझौते की प्रक्रिया का समर्थन करते हुए रॉल्स न्याय को सामाजिक समझौते से उत्पन्न ऐतिहासिक प्रक्रिया मानते हैं। वे समाज की ऐसी मूल स्थिति की कल्पना करते हैं जहां लोग अपनी पद प्रस्थिति, अधिकार संपत्ति की धारणा से अनभिज्ञ होकर समाज के हित में पारस्परिक विवेक पर

आधारित न्याय व्यवस्था की स्थापना करते हैं। रॉल्स इसे 'अज्ञान का पर्दा [5] (veil of ignorance) कहते हैं। समाज की मूल स्थिति में रॉल्स जिस सार्वजनिक विवेक की बात करते हैं वह ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहा है और यही कारण है कि प्राचीन व आधुनिक युग की न्याय की धारणा में अंतर दिखाई देता है। यूनानी नैतिक दर्शन का प्रारंभ नगर राज्य के सांस्कृतिक संदर्भ में हुआ जहां होमर द्वारा वर्णित नायको व देवताओं को सर्वश्रेष्ठ माना गया क्योंकि वह अपने परिवार मित्रों आदि के कल्याण की कल्पना भी करते हैं। आधुनिक युग की न्याय की धारणा को सोलहवीं सदी के धार्मिक सुधारवादी आंदोलन जिसने मध्ययुगीन धार्मिक एकता को नष्ट कर धार्मिक बहुलवाद को जन्म दिया, ने प्रमुखरूप से प्रभावित किया। आधुनिक राष्ट्रीय राज्य का एक केंद्रीय प्रशासन के साथ विकास तथा तथा वैज्ञानिक विकास ने न्याय की एक सार्वभौमिक, व्यवस्थित एवं वस्तुनिष्ठ धारणा को जन्म दिया। सुधारवादी आंदोलनों ने न्याय के सिद्धांत को सहिष्णुता आधारित बनाया। इस प्रकार ऐतिहासिक संदर्भों में रॉल्स ने न्याय की धारणा की विवेचना की।

न्यायपूर्ण समाज की विशेषताएं - रॉल्सके विचार अनुसार एक न्यायपूर्ण समाज वह होता है जहां प्राथमिक सामाजिक वस्तुओं (Primary Social Goods) का इसके सभी सदस्यों में न्याय पूर्ण ढंग से वितरण किया जाता है तथा सामाजिक दायित्व व लाभों का वितरण सभी के मध्य निष्पक्ष रूप में किया जाता है। प्राथमिक सामाजिक वस्तुओं में अधिकार एवं स्वतंत्रताए, शक्ति, अवसर वधन-संपदा आते हैं जो समाज की आधारभूत संरचना द्वारा वितरित किए जाते हैं।

न्याय के आधारभूत सिद्धांत - रॉल्सके अनुसार किसी समाज में प्राथमिक सामाजिक वस्तुओं का न्यायपूर्ण वितरण तब संभव होता है जब न्याय के निम्नांकित दो सिद्धांतों का पालन किया जाता है।[6]

1. **आधारभूत स्वतंत्रताओ की समानता का सिद्धांत -** मूलतः एक उदारवादी विचारक के रूप में रॉल्सकी मान्यता है कि एक न्यायपूर्ण समाज में प्रत्येक व्यक्ति को आधारभूत स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। स्वतंत्रताओं में अंतर्चेतना की स्वतंत्रता, विचार की स्वतंत्रता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, संपत्ति की स्वतंत्रता, संघ निर्माण की स्वतंत्रता, बिना कारण गिरफ्तारी से स्वतंत्रता, विधि के शासन की स्वतंत्रता आदि शामिल हैं। ये स्वतंत्रताए व्यक्ति को दो सर्वोच्च नैतिक शक्तियों के उपयोग योग्य बनाती हैं। यह दो शक्तियां हैं :- (1) न्याय के सिद्धांत के अनुसार समझ एवं कार्य क्षमता का विकास (2) सामाजिक वस्तुओं (Social Goods) को विकसित करने, संशोधित करने एवं प्राप्त करने की क्षमता का विकास।
2. **अवसर की निष्पक्ष समानता का सिद्धांत-** रॉल्स के अनुसार एक न्यायपूर्ण समाज में असमानता भी स्वीकार्य है यदि समाज में सबको अवसर की समानता उपलब्ध हो। शर्त यह है कि यह असमान व्यवस्था या व्यवहार समाज के सर्वाधिक कमजोर वर्गों को लाभ पहुंचाने वाली होनी चाहिए।[7] ऐसी समाजवाद की आय की समानता के सिद्धांत को खारिज करते हुए रॉल्स ने प्रतिपादित किया कि अत्यधिक आय की समानता समाज से रचनात्मकता व उत्पादकता को समाप्त कर देती है।

उपयुक्त दोनों सिद्धांतों में एक सोपनात्मक क्रम की बात भी रॉल्स करते हैं। अर्थात प्रत्येक व्यक्ति को आधारभूत स्वतंत्रताए उपलब्ध कराये बिना अवसर की समानता के लक्ष्य तक नहीं पहुंचा जा सकता। अतः राज्य को शैक्षणिक, सांस्कृतिक व आर्थिक क्षेत्र में अवसर की समानता सुनिश्चित करने तथा बीमारी व बेरोजगारी संबंधी लाभ उपलब्ध कराने से पूर्व आधारभूत स्वतंत्रताओ को सुनिश्चित करना चाहिए।

न्याय की प्राप्ति हेतु सरकार का पुनर्गठन - सामाजिक न्याय की उपर्युक्त भावनाओं को मूर्तमान करने हेतु रॉल्ससरकार की 4 शाखाओं के निर्माण की बात करते हैं। (1) आवंटन शाखा (Allocation branch) सरकार की पहली शाखा होगी जो आर्थिक क्षेत्र में मूल्य व्यवहार को प्रतिस्पर्धी बनाएगी एवं अतार्किक बाजारी शक्तियों के विकास को रोकेगी। दूसरी शाखा स्थायित्व शाखा (Stabilization branch) होगी जो बाजार अर्थव्यवस्था की कुशलता को बनाए रखते हुए आवंटन शाखा के सहयोग से पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाए रखेगी तीसरी शाखा स्थानांतरण शाखा (Transfer branch) होगी जो लोगों की आवश्यकताओ एवं औचित्यपूर्ण जीवन शैली से संबंधित मांगो से निपटेगी। चौथी शाखा वितरण शाखा (Distribution branch) के रूप में कार्य करेगी जो कर-व्यवस्था एवं लोगों के संपत्ति संबंधी अधिकारों में सामंजस्य बनाए रखते हुए समुचित वितरणात्मक न्याय व्यवस्था का संरक्षण करेगी।

स्पष्ट है कि रॉल्स ने न्याय के एक वृहद सिद्धांत को जन्म दिया जो विश्वव्यापी तथा विचारो की संपूर्णता का घोतक है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के संदर्भ में जॉन रॉल्स के विचार सर्वथा प्रासंगिक है। आरक्षण जैसी सकारात्मक कार्यवाही एवं कमजोर वर्गों के लिए किए गए अन्य प्रावधान समानता के सिद्धांत के प्रतिकूल होते हुए भी इसलिए न्याय पूर्ण बन जाते हैं कि उनसे समाज के सबसे कमजोर वर्ग लाभकारी स्थिति में आ जाते हैं। रॉल्स की न्याय की धारणा का सार यही है जो उन्हें क्रांतिकारी समाजवाद से अलग कर उदारवादी समानतावादी की श्रेणी में ला देता है। आज के बहुसांस्कृतिक समाज में जहां व्यक्ति को संस्कृति की उपज मानकर पृथक सांस्कृतिक मान्यता की मांग की जा रही है, रॉल्स व्यक्ति की स्वतंत्रता को प्राथमिक मान्यता देकर समाज को उन संघर्षों से बचा लेते दिखाई देते हैं जो संस्कृतियों एवं समुदायों के नाम पर उत्पन्न हो रहे हैं।

REFERENCES

1. PROF.THOMAS PANTHAM, JUSTICE, POLITICAL THEORY, p-73 ISBN-81-266-1043-3, INDIRA GANDHI NATIONAL OPEN UNIVERSITY, SCHOOL OF SOCIAL SCIENCES, 2016, NEW DELHI
2. Ibid, p-74
3. Ibid
4. Ibid, p.75
5. Ibid, p.7
6. E. KELLY[ED.], JUSTICE AS FAIRNESS; A RESTATEMENT, P.42- 43, CAMBRIDGE, HARWARD UNIVERSITY PRESS, 2001, STANFORD ENCYCLOPAEDIA OF PHILOSOPHY, STANFORD. EDU, 25 MARCH, 2
7. NARESH DADHEECH, UDAR SAMTAWAD, P.60, SAMSAMYIK RAJNEETIK SIDDHANT, RAWAT PUBLICATIONS, JAYPUR, 2015

●

गोंड जनजाति की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन (1526 से 1707 के विशेष संदर्भ में)

डॉ. रामेश्वर मिश्र एवम् डॉ. चूणामणि मिश्र***

गोंड जनजाति का इतिहास 1526-1707 के मध्य का स्वर्णिम इतिहास है। अनेक इतिहासकारों एवं समाज विज्ञान के विद्वानों ने गोंड जीवन के राजनैतिक विकास को रेखांकित किया है जिससे गोंड जनजाति के राजनैतिक विकास से जुड़े हमारे ज्ञान की तुष्टि होती है और एक क्रमिक विकास हमे मिलता है परन्तु इन सब अध्ययन के उपरान्त हमें एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य गोंड जनजाति से जुड़ा हुआ मिल रहा है वह इनके सामाजिक ढाँच में मूल परिवर्तन को इंगित कर रहा है। गोंड जनजातीय समाज में हुए सामाजिक परिवर्तन की एक क्रमिक प्रक्रिया रही है यह कोई अचानक से होने वाला अमूल-चूल परिवर्तन नहीं था बल्कि यह परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने के लिए गोंड शासकों द्वारा समय-समय किये गये कार्यो का परिणाम था।

गोंड जनजातीय समाज में 1526-1707 के मध्य हुए सामाजिक परिवर्तन से जुड़े तथ्यों में सर्वप्रथम गोंड शासक संग्रामशाह द्वारा किये गये कार्यो के संदर्भ में समझेंगे। ''सिंहासनारुढ़ होने के उपरान्त आम्हणदास ने सर्वप्रथम-महाराजा श्री राजा आम्हणदास देव की उपाधि धारण की।''[1] इस तथ्य का अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि इस प्रकार की उपाधियाँ हिन्दू शासकों द्वारा धारण की जाती थी जैसे महाराजा महाराजाधिराज, श्री विजय, राजाधिराज आदि। संग्रामशाह द्वारा यह उपाधि धारण करना जनजातीय समाज में अपने प्रभाव एवं दैवीय शक्ति के प्रति लोगों में उत्साह एवं सम्मान की भावना का विकास करना था।

अधिकांसतः देखा जाता है कि जनजातीय समाज कबीले के संगठन एवं स्वरुप पर आधारित होते हैं परन्तु संग्राहशाह के द्वारा हिन्दू धर्म से जुड़ी उपाधि ग्रहण करना एक सामाजिक परिवर्तन इंगित करता है। आम्हणदास ने इस दिशा में बढ़ते हुए महत्वपूर्ण कदम उठाया तथा अपने नाम के साथ 'शाह' की उपाधि जोड़ी। ''आम्हणदास ने गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह को रायसेन विजय के समय सहायता दी जिसके फलस्वरूप उसने आम्हणदास को संग्रामशाह की पदवी दी।''[2] उपर्युक्त तथ्य का मूल्यांकन करने पर स्पष्ट होता है कि बहादुरशाह द्वारा दी गई पदवी का चलन संग्रामशाह ने बनाए रखा तथा उसके बाद के वंशजों ने भी 'शाह' उपाधि को अपने नाम के साथ जोड़ा इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि संग्राशाह ने सर्वप्रथम श्री महाराजा की उपाधि धारण करके राजत्व में जहाँ हिन्दू प्रणाली से समानता स्थापित करने का प्रयास किया वही 'शाह' की उपाधि धारण करके दक्षिण के मुस्लिम शासकों के साथ अपने सम्बन्ध जोंडने का प्रयास कर रहा था।

संग्रामशाह के ही विचारों को आत्मसात करते हुए उसके पुत्र दलपतिशाह ने भी अपने नाम के साथ ''श्री महाराजाधिराज श्री राज''[3] जोड़ा। जबलपुर ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि-दलपतिशाह ने महाराजाधिराज श्री राजा की उपाधि धारण किया था। इसके बाद गोंड शासक प्रेमशाह ने ''महाराजाधिराज''[4] का विरुद धारण किया। इसके बाद भी अनेक गोंड शासकों द्वारा उपाधि धारण करने की परम्परा गोंड जनजातीय द्वारा अपनाई जाती रही।

गोंड जनजातीय शासक संग्रामशाह द्वारा गोंड लोगों को मुख्य धारा से जोड़ने के लिए तथा एकता के सूत्र में बाँधने के लिए एक मुद्रा व्यवस्था को आधार बनाया गया। संग्रामशाह ने समय-समय पर 6 प्रकार के सिक्कों का प्रचलन किया। संग्रामशाह के सिक्के सोना, चाँदी, एवं ताँबे के धातु से निर्मित थे। संग्रामशाह के सिक्कों का अवलोकन करने पर सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह प्राप्त होता है कि संग्रामशाह के सिक्कों पर तेलुगु में और नागरी लिपि में ''श्री संग्रामशाह''[5] अंकित है और दूसरी ओर ''सूर्य तथा स्वास्तिक''[6] चिन्ह अंकित है और ''फारसी में संग्रामशाह''[7] तथा ''नागरी लिपि में संवत् 1588''[8] अंकित है। उपर्युक्त तथ्यों का मूल्यांकन करने पर स्पष्ट होता है कि संग्रामशाह गोंड जनजाति को मुख्यधारा से जोड़ने के लिए सिक्कों पर तीन भाषा का प्रयोग कर रहा था जिसमें फारसी जो कि मुगल शासकों के दरबार की राजभाषा थी, तेलुगु (जो कि दक्षिण की भाषा थी) का प्रयोग गोंड जनजाति के दक्षिण से आगमन को दर्शाता है तथा देवनागरी लिपि का प्रयोग उसके आस-पास के हिन्दू राज्यों से सम्पर्क स्थापित करने का एक नजरिया था। इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि गोंड शासक एक साथ मुगलों-हिन्दुओं को भाषा के माध्यम से जोड़ना चाहते थे। संग्रामशाह ने हिन्दू साम्राज्य से अपने गोंड समुदाय को जोड़ने के लिए सिक्कों पर हिन्दू देवता सूर्य एवं स्वास्तिक चिन्हों का प्रयोग करता था जिसका उद्देश्य गोंडों को हिन्दू धर्म के नजदीक लाना था। इस तथ्य से गोंड जनजातीय क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन को देखा जा सकता है, जिसकी पुष्टि होती है।

संग्रामहशाह से जुड़े तथ्यों का अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि ''संग्रामशाह ने दमादोर ठाकुर को मिथिला से आमंत्रित

* पूर्व पोस्ट डाक्टोरल फेलो, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** प्राध्यापक, शासकीय टी. आर. एस. महाविद्यालय, रीवा

किया।''[9] दामोदर ठाकुर को मिथिला से गढ़ा में बुलाने का संग्रामशाह के कई उद्देश्य थे जिसकी पूर्ति विद्वानों के आने से लगभग पूर्ण भी हुई। पहला उद्देश्य यह था कि संग्रामशाह को हिन्दू धर्म के अनुकूल आचरण करने के लिए एक विद्वान की आवश्यकता थी जो गोंड साम्राज्य में हिन्दू धर्म का मार्ग प्रसस्त करे, दूसरा गोंड समाज में हिन्दू विद्वानों के आने से वहां शिक्षा का माहौल बनाने में और गोंड समाज को अन्य समाज के नजदीक लाने का एक सार्थक कदम था। तीसरा उद्देश्य संग्रामशाह का यह रहा कि गोंड जनजाति का इतिहास क्रमिक रुप से लिखा जाय जो कि बाहर से आने वाले विद्वानों पर निर्भर था जिसकी पूर्ति दामोदर ठाकुर के आने के फलस्वरूप हुई। ''दामोदर ठाकुर ने 'संग्रामसाहीयविवेकदीपिका' और दिव्य निर्णय नामक दो निबन्ध लिखे।''[10] परन्तु उपर्युक्त तथ्य से स्पष्ट होता है कि गोंड समाज में बाहरी लोगों का आना और सम्मिलित होना गोंड कबीलाई संगठन का धीरे-धीरे टूटना इंगित करता है जो कि एक महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन को रेखांकित करता है।

संग्रामशाह ने अपने गोंड जनजातीय समाज को हिन्दू समाज से जोड़ने के लिए अपने सिक्कों पर अपने को ''पुलत्स्यवंशी''[11] कहा है, पुलत्स्य ऋषि ब्राह्मण वंश के थे और रावण के पिता थे जिससे सम्पूर्ण गोंड समाज इसके पहले अपने को रावणवंशी कहता था परन्तु गोंड शासक संग्रामशाह ने रावण की छबि को देखते हुए अपने को पुलत्स्यवंशी कहना प्रारम्भ किया।

संग्रामशाह ने गोंड राजवंश के सही संचालन और उसको पूर्णता प्रदान करने का बहुत प्रयास किया। गोंड लोगों को बाहरी शासन प्रणाली के विकास से जोड़ने की दिशा में दो महत्वपूर्ण समाज के लोगों को अपने राजतंत्र का भाग बनाया। इनमें पहला नाम ''भोजसिंह कायस्थ''[12] का था जो उसका दीवान था और दूसरा सर्वे पाठक के पुत्र ''माधवपाठक''[13] का था। भोजसिंह कायस्थ द्वारा गोंड समाज में आर्थिक परिवर्तन किया गया एवं माधवपाठक ने राजव्यवस्था के संचालन में उचित सहयोग प्रदान किया। उपर्युक्त तथ्यों का स्पष्टीकारण करने पर स्पष्ट होता है कि गोंड जनजातीय समाज का कबीलाई स्वरुप पूर्णतः टूट रहा था और वह अपने को अन्य समाज से जोड़ने के लिए तैयार था, इसकी पुष्टि होती है।

संग्रामशाह के शासन काल में गोंड समाज दो भागों में विभाजित हुआ जिसमें एक वर्ग धुरगोंड कहलाया और दूसरा वर्ग राजगोंड कहलाया जो कलान्तर में हिन्दू देव उपसना को भी आत्मसात किया वे राजगोंड कहलाये। राजगोंड का स्पष्टीकरण करने के लिए ''ग्रियर्सन''[14] के तर्क को पूर्णता के आधार पर देखा जा सकता है। ग्रियर्सन का मानना है कि भारत के कबीलों में प्रचलित प्रवृति के परिणामस्वरूप कालान्तर में जो गोंड अपने पड़ोसी हिन्दूओं के समाज का अंग बनने के लिए क्रमशः आचार-विचार मानने लगे वे राजगोंड कहे जाने लगे। गोंड शासकों ने उच्चतर एवं विकसित हिन्दू धर्म से अपना रिस्ता स्थापित करने का प्रयास किया तथा ब्राह्मणों को एवं अन्य हिन्दू लोगों को अपने समाज का अंग बनाया वे राजगोंड कहलाए। गोंड लोग राजतंत्र की प्रणाली में उच्चतर हिन्दू संस्कृति से प्रभावित हुए और गोंड शासकों ने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की उन्नति को सहर्ष स्वीकार कर लिया।''[15] जिन गोंडों ने अच्छे पद एवं अधिकार पा लिया तथा भूखण्ड के स्वामी बन गये, ''राजपूतों से सम्बन्ध का दावा किया''[16] एवं ''पौराणिक हिन्दू संस्कृति को अधिकाधिक अपनाने लगे।''[17] इन सब को आत्मसात कर लेने वाले समुदाय को कालान्तर में राजगोंड कहा जाने लगा। हिन्दू संस्कृति को आत्मसात करना एवं कबीलाई संस्कृति का धीरे-धीरे लोप होना गोंड जनजातीय समाज में विशिष्ट सामाजिक परिवर्तन को रेखांकित करता है जिसकी उपर्युक्त तथ्य से पुष्टि होती है।

गोंड शासक संग्रामशाह के शासन काल के बाद राजगोंड एवं धुरगोंड का अन्तर काफी बड़ा होता गया। राजगोंड शासक कालान्तर में ''जनेऊ धारण करने लगे।''[18] गोंड समाज में जनेऊ धारण करना महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन को रेखांकित करता है।

संग्रामशाह के शासनकाल में एक महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन वैवाहिक रिवाज में देखने को मिलता है। इस परिवर्तन के क्रम में गोंड शासक संग्रामशाह के शासन काल में संग्रामशाह के पुत्र द्वारा महोबा के राठशासक की पुत्री ''दुर्गावती से विवाह सूत्र''[19] की स्थापना को देखते है। इस कथन के आलोक में मुगल इतिहासकार अबुल-फज्ल लिखता है कि-''चंदेलराजा सालवाहन ने अपनी पुत्री का विवाह संग्रामशाह के पुत्र दलपतिशाह से कर दिया था यद्यपि वह अच्छे कुल का नहीं था जबकि गोंड शासक की स्थिति आर्थिक रुप से अच्छी थी।''[20] गोंड एवं चंदेल राजवंश में वैवाहिक सम्बन्ध की यह प्रक्रिया एक महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन को रेखांकित करती है। रानी दुर्गावती के कार्य का प्रभाव दलपतिशाह पर भी पड़ा, दलपतिशाह के शासनकाल में हमें ''महेश ठाकुर''[21] एवं ''केशव लौगक्षि''[22] का उल्लेख मिलता है। ये दोनों विद्वान संस्कृत, दर्शन, मीमांसा, न्याय के मुर्धन विद्वान थे। गोंड शासकों का मुख्य लक्ष्य इन विद्वानों के द्वारा जनजातीय परम्परा में बाह्य समाज को जोड़ना था जिससे अलग-थलग पड़े गोंड समाज को मुख्यधारा से जोड़ा जा सके।

रानी दुर्गावती के शासन काल से जुड़े तथ्यों का अवलोकन करने का पर स्पष्ट होता है कि-''रानी ने बल्लभ सम्प्राद के गुसाई विद्वलनाथ से 1558 ई. में दीक्षा ली एवं उन्हे 108 ग्राम दान में दिये।''[23] रानी द्वारा 108 ग्राम दान में देने का परिणाम यह हुआ कि गुसाई विद्वलनाथ जी के साथ आए तैलग ब्राह्मणों ने गाँव में बसना प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरुप गाँव और जंगलों में निवास कर रही गोंड जनजातीय जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग हिन्दू रीति-रिवाजों के सम्पर्क में आया जो कि एक कबीलाई परम्परा के पतनों को रेखांकित करता है।

गोंड समाज में हिन्दू धर्म के विकास का पूर्ण अवसर था जिसका अनुमान लगाकर ''राघावल्भ सम्प्रदाय से स्वामी चर्तुभुज दास ने पंचमठा में एक मंदिर की स्थापना कर डाली जो आज भी वहां विद्यमान है।''[24] उपर्युक्त तथ्य से स्पष्ट होता है कि गोंड जनजातीय क्षेत्र में इस समय हिन्दू धर्म का काफी विकास हो रहा था। गोंड जनजाति में कबीलाई व्यवस्था का पतन हो रहा था, कबिलाई संगठन के कमजोर पड़ने के फलस्वरुप धीरे-धीरे समाज का बाह्य समाज से सम्पर्क हो रहा था जो कि एक महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन को दिखाता है।

रानी दुर्गावती ने हिन्दू योग्य सेनानायकों के साथ-साथ मुसलमान सेनानायकों को भी उचित स्थान दिया। ''रानी की सेना में शम्स खाँ मियाना और खान जहाँ डकीत योग्य सेनानायक के रुप में सम्मिलित थे''[25] एक तरफ खान जहाँ डकीत ने मुगलों के विरुद्ध युद्ध में लड़ते हुए वीरगति प्राप्त की वहीं शम्स खाँ मियान ने राजतंत्र व्यवस्था के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। रानी द्वारा संचालित गोंड समाज परिवर्तन के लिए तैयार था और यह सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक परिवर्तन को रेखांकित करता है।

प्रेमशाह के शासन काल में बल्लभ सम्प्रदाय के सन्तों का आगमन होता रहा इस सम्प्रदाय से जुड़े एक ''सन्त चर्तुभुजदास''[26] का आगमन प्रेमशाह के शासनकाल में हुआ तथा सन्त चर्तुभुजदास के सहयोग एवं प्रोत्साहन के फलस्वरूप गढ़ा में बल्लभ सम्प्रदाय काफी मजबूत हुआ और गोंड जानजातीय समाज में अपना असर छोड़ने में सफल रहा। गोंड शासकों द्वारा कबीलाई धर्म के स्थान पर हिन्दूधर्म को स्थान देने से गोंड समाज वैष्णव धर्म के सम्पर्क में आया होगा जो कि एक विशिष्ट सामाजिक परिवर्तन को इंगित करता है।

गोंड शासक हृदयशाह, प्रेमशाह के उत्तराधिकारी के रुप में शासन सत्ता सँभाली यह भी अपने पूर्वजों की ही भाँति विद्वानों का आश्रयदाता था तथा इसने अपने सम्राज्य में अनेक विद्वानों को संरक्षण दिया। हृदयशाह ने गोंड शासन को अच्छे तथा कुशलम तरीके से संचालन करने के लिए अपना ध्यान हिन्दू धर्म के प्रति केन्द्रित किया और राजशासन व्यवस्था में हिन्दू आचार विचार को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। राजशासन व्यवस्था कुशलता पूर्वक चले इसके लिए ''कमलादत्त ठाकुर''[27] को पुरोहित नियुक्त किया। कमलादत्त ठाकुर की भूमिका राजव्यवस्था संचालन के साथ-साथ धार्मिक क्रिया कलापों के लिए भी उत्तरदायी थी। कमलादत्त ठाकुर के साथ-साथ ''वैद्यनाथ दीक्षित''[28] हृदयशाह के शासन काल में उच्च स्थान प्राप्त विद्वान थे।

गढ़ा के गोंड शासकों ने शासन व्यवस्था में बड़े पैमान पर ब्राह्मणों को स्थान दिया। ब्राह्मणों को स्थान देने के पीछे गोंड शासकों की विचारधारा का मूल्यांकन करने पर स्पष्ट होता है कि गोंड शासक इन ब्राह्मण विद्वानों के माध्यम से हिन्दू रीति रिवाजों से जहाँ अपना सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे वही इसके दूसरी तरफ राजपूत मॉडल की तरह ब्राह्मण को मंत्री, आमात्य जैसे महत्वपूर्ण पदों पर तैनात कर अपने समाज को एक विस्तृत स्वरुप प्रदान करने एवं उनके इस कार्य को कबिलाई संगठन को कमजोर करने की एक प्रक्रिया के रुप में देखा जा सकता है।

गोंड शासकों ने अपने जनजातीय समाज को व्यापक आधार प्रदान करने के लिए अनेक वैवाहिक सम्बन्ध गोंडेतर समाजों से स्थापित करने का सफल प्रयास किया। गोंड शासकों ने कबिलाई संगठन के विरुद्ध बाहरी हिन्दू एवं मुस्लिम धर्म की लड़कियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। गोंड समाज के समाजिक परिवर्तन में इन वैवाहिक सम्बन्धों ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। हिन्दू महिलाओं के आने से जहाँ हिन्दू धर्म गोंड समाज में व्यापक पैमाने पर फूला-फला वही मुस्लिम सम्बन्ध व्यापक सामाजिक परिवर्तन को रेखांकित करता है। गोंडेतर समाज से व्यापक वैवाहिक सम्बन्ध के तथ्य मिलते है, संग्रामशाह के शासन काल में दलपतिशाह का विवाह चंन्देल राजकुमारी दुर्गावती से हुआ था वही हृदयशाह का विवाह रीवा के ''बघेलराजा अनूपसिंह''[29] की कन्या से हुआ, नरेन्द्रशाह की बहन का विवाह रतनपुर के ''कलचुरी शासक राजसिंह''[30] से हुआ, निजामशाह की दो पत्नियों में एक बघेल वंश की तो एक चदेलवंश की थी। इसी प्रकार देवगढ़ के गोंड शासक महिपतशाह (बख्तबुलन्द) ने भी दो मुस्लिम लड़कियों से वैवाहिक संबंध स्थापित किया था। गोंड जनजातीय समाज में गोंड शासकों द्वारा इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति मात्र थी परन्तु इस तथ्य का एक महत्वपूर्ण पहलू इसमें अन्तर्निहित था जो कि अप्रत्यक्ष रुप से गोंड शासकों द्वारा राजपूत वंशजों के मध्य अपना स्थान बनाना था और इसका सबसे महत्वपूर्ण फल यह हुआ कि अलग-थलग पड़े गोंड जनजातीय समाज का जुड़ाव अन्य समाजों से हो रहा था जो कि विवाह परम्परा में एक महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन को रेखांकित करता है।

गोंड शासकों द्वारा राजपूत कन्याओं से विवाह का परिणाम गोंड समाज पर पड़ना तय था। गोंड रानियों ने हिन्दू आचार-विचार को गोंड समाज का अंग बनाया। राजपूत रीति-रिवाज का परिणाम था कि रानी दुर्गावती एवं मुगलों के मध्य युद्ध में गोंडों की पराजय हुई और पराजय से अभिभूत होकर राजपूत नारियों की भाँति गोंड नारियों ने सतित्व की रक्षा करने के लिए जौहर प्रथा का आलिंगन किया। गोंड जनजातीय समाज में इस प्रकार की प्रथायों का होना एक आश्चर्य एवं महत्वपूर्ण विषय था क्योंकि गोंड समाज में न इससे पूर्व कभी और न इसके बाद कभी हमें ''जौहर प्रथा''[31] का उल्लेख मिलता है। इस तथ्य के पीछे कारण यही रहा कि इस प्रकार का पराजय का सामना गोंड जनजाति को 1564 ई. से पूर्व कभी नहीं करना पड़ा था और न ही इस प्रकार का सामना बाद में भी करना पड़ा। रानी दुर्गावती राजपूत कन्या थी जिसका प्रभाव

उनके राजनैतिक एवं सामाजिक कार्यो में देखने को मिलता है। इसी राजपूत मॉडल का प्रभाव 1564 ई. में गोंड समाज में जौहर के रूप में देखने को मिलता है जो कि एक प्रबल सामाजिक परिवर्तन की पुष्टि करता है।

गोंड शासक नरेन्द्रशाह ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती शासकों की भाँति शासन का संचालन किया। नरेन्द्रशाह के शासन काल तक गोंड समाज में अन्य समाज (गोंडेतर) के लोगों का आधिपत्य शासन संचालन में हो चुका था। इन लोगों में ब्राह्मणों की सर्वाधिक भूमिका थी। ब्राह्मणों की भूमिका राज्य संचालन में मंत्री से लेकर राजस्व विभाग तक थी। ब्राह्मणों ने आगे के गोंड शासन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया, ब्राह्मणों द्वारा कार्य प्रणाली के संचालन से गोंड राजवंश को राजपूत वंशी एवं नागवंशी राजपूत कहा जाने लगा। नरेन्द्रशाह के शासनकाल में ज्योतिषी के पद पर ''खड्गेश्वर ज्योतिषी''[32] का नाम विशेष उल्लेखनीय है। नरेन्द्रशाह के शासन काल में अनेक पदों पर गोंडेतर समुदाय के लोगों को रखा गया था। नरेन्द्रशाह के शासन काल में ''जोधी''[33] नामक एक साधारण व्यक्ति को दीवान बनाया गया था। नरेन्द्रशाह के शासन काल तक अनेक गोंडेतर समाज के लोगों का मिश्रण शासन संचालन में हो चुका था। गोंड शासक क्षत्रिय शासकों की भाँति आचरण करना प्रारम्भ कर दिये थे और गोंड शासकों द्वारा ब्राह्मणों को मंत्री, आमात्य, पुरोहित, ज्योतिषी आदि का पद प्रदान किया गया। क्षत्रिय शासकों की तरह गोंड शासकों ने ब्राह्मणों को दान-दक्षिण दी उन्हे हिन्दू रीति-रीवाजों के संचालन का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व का कार्य सौंपा। गोंड शासकों द्वारा अनेक हिन्दू मंदिरों का निर्माण कराया गया इसमें विष्णु, दुर्गा, शिव मंदिरों की स्थापना प्रमुख है। ''नरेन्द्रशाह स्वयं महाकाली का भक्त था''[34] उसके द्वारा जारी सनदो पर एवं उसके सिक्के पर महाकाली अंकित है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों का अन्तर्निरिक्षण करने पर स्पष्ट होता है कि 1526-1707 के मध्य गोंड शासकों द्वारा गोंड समाज में हिन्दू आचार विचार का फैलाव काफी तेजी से हो रहा था तथा प्रशासन संचालन एवं पौराणिक कर्मकाण्डों में ब्राह्मणों की भूमिका महत्वपूर्ण हो गयी, गोंड शासक नरेन्द्रशाह द्वारा अपनी सनदो पर महाकाली अंकित करने से साफ स्पष्ट होता है कि हिन्दू धर्म के प्रति गोंड शासकों की अगाध श्रद्धा थी जिसके फलस्वरूप गोंडों के मूल धर्म का उल्लेख हमें कहीं उनके सनदों एवं कार्यो में नहीं देखने को मिलता है। गोंड शासकों द्वारा हिन्दू धर्म अपनाने का चाहे जो कारण रहा हो परन्तु इसका एक सामाजिक प्रभाव यह रहा कि गोंड संस्कृति में हिन्दूधर्म का समाजस्य स्थापित हो रहा था जो कि विशेष सामाजिक परिवर्तन को रेखांकित कर रहा था।

गढ़ा से दूर चाँदा में भी गोंड शासन सत्ता का विकास हुआ था जो कि बड़े पैमान पर सुदूर स्थिति गोंड धर्म के साथ-साथ हिन्दू धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा का केन्द्र बना हुआ था। यहाँ चाँदा के राजनैतिक विकास को रेखांकित करना हमारा विषय नहीं है। चाँदा के गोंड शासक भी गढ़ा के गोंड शासकों की ही भाँति अपने कार्यो में हिन्दू धर्म को प्रधानता से स्वीकार करते थे तथा ब्राह्मणों की नियुक्ती यहाँ भी महत्वपूर्ण प्रशासनिक पदो पर होती रही है।

चाँदा के गोंड शासक कर्णशाह (1547-1572) की हिन्दू धर्म पर अगाध श्रद्धा थी। कर्णशाह से जुड़े तथ्यों का अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि वह शैव धर्म का उपासक था जिसके फलस्वरूप उसने कई ''शैव मन्दिरों''[35] का निर्माण करवाया था। कर्णशाह के काल की एक प्रमुख घटना यह घटी की तैलंगाना से बड़ी संख्या में हजारों लोग उसके क्षेत्र में आकर बस गये जिसका प्रभाव यह हुआ कि चाँदा राज्य में तैलग लोगों के साथ वहाँ का आचार-विचार भी उनके साथ गोंड समाज तक पहुँचा जो गोंड समाज में एक सामाजिक परिवर्तन को इंगित करता है। चाँदा के गोंड क्षेत्र में तैलग लोगों की इतनी संख्या बढ़ी की गोंड साम्राज्य के चारों ओर उनकी बस्ती हो गयी। चाँदा का गोंड जंमीदार हरचन्द गोंड भी हिन्दू धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा रखता था। ''हरचन्द गोंड ने चाँदा में सप्तधाम मंदिर''[36] की स्थापना भी की थी।

गोंड शासकों ने गोंड अर्थव्यवस्था को मजबूत करने के उद्देश्य से कृषि व्यवस्था को उन्नत बनाने के लिए बाहरी समाज के लोगों को कृषि व्यवसाय में जोड़ने के लिए बुलाया। गोंड समाज में अन्य समाज के लोगों का कृषि से जुड़ना एक महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन को रेखांकित करता है, क्योंकि गोंड समाज या कबीलाई व्यवस्था में सम्पूर्ण व्यवस्था कुनवे के लोगों में बन्धुत्व परम्परा पर आधारित होती है और उनके द्वारा कृषि व्यवस्था में पारम्परिक प्रणाली का उपयोग किया जाता था परन्तु गोंड शासकों द्वारा कृषि क्षेत्र को सुदृढ़ बनाने के लिए तथा गोंड लोगों पर निर्भरता को कम करने के उद्देश्य से गोंडेतर समाज को कृषि कार्य में बुलाया गया। इस कार्य के फलस्वरूप गोंड की पारम्परिक कृषि व्यवस्था में व्यवसायिक कृषि व्यवस्था ने स्थान जमा लिया।

गोंड कृषि व्यवस्था से जुड़े तथ्यों का अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि गोंड शासक हृदयशाह ने अपने शासन काल में उन्नत कृषि व्यवसाय के लिए बाहर से कृषिकों को बुलाया और उन्हे राज्य कृषि व्यवस्था से जोड़ा, उन्हे योग्य भूमि तथा अन्य कृषि यन्त्र प्रदान किये। हृदयशाह ने लोधी, कुर्मी, एवं पनसारियों को बुलाया और कृषि कार्य से जोड़ा, इसका उल्लेख मिलता है। ''हृदयशाह ने 1637 ई. में महोबा के पनसारियों को बुलाया और बसने के लिए जमीन प्रदान की।''[37] उपर्युक्त तथ्य का अन्तर्निरिक्षण करने पर स्पष्ट होता है कि हृदयशाह ने 1637 के मध्य हृदयशाह नामक ग्राम बसाया था तथा वहाँ पर महोबा के पनसारियों को पान उगाने के लिए बुलाया जिसके फलस्वरूप कृषि व्यवस्था में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन देखने को मिलता है। गोंड समाज की व्यवस्था में गोंडेतर कृषि प्रणाली का विकास गोंड बन्धुतत्व पर आधारित कृषि व्यवस्था अर्थात कबिलाई कृषि व्यवस्था का पतन था जो कि सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत एक परिवर्तन को रेखांकित करता है।

इसी प्रकार चाँदा के गोंड शासक रामशाह (1597-1622) ने भी चाँदा की कृषि व्यवस्था को सुदृढ़ करने लिए बाहर के लोगों को चाँदा की सीमा में बसने के लिए बुलाया। गोंड शासन व्यवस्था की नींव गोंडों की कृषि व्यवस्था पर आधारित थी परन्तु पारम्परिक एवं बन्धुत्व आधारित कृषि व्यवस्था से प्रर्याप्त विकास के अवसर नहीं थे। कृषि व्यवस्था को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से रामशाह ने कृषि को प्रोत्साहन देते हुए ''ब्राह्मण और वीर शैव लिंगायतो को इनाम दिया।''[38] उपर्युक्त तथ्य का अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि दोनों ही गोंड क्षेत्रों में कृषिकों को बाहर से बुलाया गया जिससे गोंडेतर प्रणाली का विकास कृषि व्यवस्था में देखने को मिलता है।

उपर्युक्त तथ्यों का अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि गोंड शासकों द्वारा राजगोंड समाज का विकास, संस्कार में जनेऊ धारण करना, हिन्दू समाज एवं मुस्लिम समाज के लोगों को उच्चपदों पर नियुक्त करना, संस्कृत, फारसी, हिन्दी भाषा का विकास, जौहर प्रथा, यज्ञ प्रथा, दान-दक्षिणा प्रणाली, गोंडेतर विवाह सम्बन्ध, हिन्दू एवं मुस्लिम उपाधियाँ साधारण वर्ग के बाहरी लोगों को कृषि से जोड़ना आदि ऐसे महत्वपूर्ण तथ्य है जो गोंड जनजाति की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन को रेखांकित करते है।

सन्दर्भ

1. विल्स सी.यू, द राजगोंड ऑफ द महाराजा ऑफ द सतपुडा हिल्स, सी.पी. गवर्मेन्ट प्रेस, नागपुर, 1923, पृ. 441
2. इलियट एच.एम., डाउसन जोहन हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एस टोल्ड बाइ इटस हिस्ट्रोरियन्स, लो प्राइज पब्लिकेशन, नई, दिल्ली, 1990, पृ. 12
3. प्रोसीडिंग्ल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, भाग 28, 1959, पृ. 262
4. लाल हीरा (रायबहादुर), डिस्क्रिपटिव लिस्ट्स ऑफ इन्सक्रिप्सन इन द सेन्ट्रल प्राविन्सेज एण्ड बेरार सी.पी. गवर्मेन्ट प्रेस नागपुर 1916, पृ. 41
5. न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल एण्ड द जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी, पाँचवी सिरीज, जिल्द 17, 1937, पृ. 300
6. वही, पृ. 300
7. वही, पृ. 300
8. वही, पृ. 300
9. बसु नाग्रेन्द नाथ (सम्पादक), हिन्दी विश्वकोष भाग चौबीस, नाग्रेन्द बसु एण्ड विश्वनाथ बसु कलकत्ता, 1931, पृ. 573
10. पाठक गणेशदत्त, गढ़ा मण्डला का पुरातन इतिहास, क्रिशिचयन मिशन प्रेस, जबलपुर, 1905, पृ. 111
11. न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल एण्ड द जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी, पाँचवी सिरीज, जिल्द 17, 1937, प. 300
12. पाठक गणेशदत्त, गढ़ा मण्डला का पुरातन इतिहास, पृ. 111
13. भावे जी.वी. (गणेशनृपवर्णनम संग्रह श्लोक), एनल्स ऑफ भण्डाकर ओरियन्टल रिर्सच इंस्टियूट, भाग 28, अंक 3-8, पृ. 247-280
14. फुश स्टीफेन, द गोंड एण्ड भूमियाज आफ इर्स्टन मण्डला, न्यू लिटरेचर पब्लिशिंग को, 1960, पृ. 16-18
15. वही, पृ. 36
16. वही, पृ. 36
17. वही, पृ. 36
18. वही, पृ. 36
19. वही, पृ. 36
20. बेवरिज एच (अनुवादक), अकबरनामा, भाग दो (अबुल फज्ल अलामी कृत), बिब्लिथिका इण्डिका प्रेस, कलकत्ता, 1937, पृ. 327
21. वही, पृ. 327
22. जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, भाग 19, खण्ड 2, 1953, पृ. 140
23. वही, पृ. 140
24. रामनगर शिलालेख, श्लोक-16
25. रामनगर शिलालेख, श्लोक-16
26. मिश्र सुरेश, गढ़ा का गोंड राज्य, रामकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 66
27. डॉ. विजयेन्द्र, राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त एवं साहित्य, नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली 1968, पृ. 410
28. मिश्र सुरेश, गढ़ा के गोंड राज्य का उत्थान एवं पतन, रानी दुर्गावती प्रेस, जबलपुर, पृ. 100
29. भावे जी.वी. (गणेशनृपवर्णनम संग्रह श्लोक), एनल्स ऑफ भण्डारकर ओरियन्टल रिर्सच इंस्टियूट, भाग 28, अंक 3-4, पृ. 247-280
30. गुप्ता भगवानदास, महाराजा छत्रशाल बुन्देला, रेडिएन्ट पब्लिसर्स, कानपुर 1999, पृ. 42
31. झा रूपनाथ कृत गढेशनृपवर्णनम संग्रहश्लोका, श्लोक 42, पृ. 196
32. बेवरिज एच. (अनुवादक), अकबरनामा, भाग दो (अबुल फज्ल अलामी कृत), पृ. 331-332
33. मिश्र सुरेश, गढ़ा का गोंड राज्य, पृ. 133
34. पाठक गढेशदत्त, गढ़ा मण्डला का पुरातन इतिहास, पृ. 24
35. मिश्र सुरेश, गढ़ा के गोंड राज्य के उत्थान एवं पतन, पृ. 125
36. मिश्र सुरेश, चाँदा का गोंड राज्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 40
37. गैजेटियर ऑफ द सेन्ट्रल प्राविन्सेज, 1870, पृ. 205
38. मिश्र सुरेश, चाँदा का गोंड राज्य, पृ. 42

मानवीय मूल्य और महामना मालवीय जी का चिंतन

*डॉ. ऋतम्भरा तिवारी**

भारतरत्न पूज्य महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी का मानवीय मूल्य विषयक चिंतन धर्म पर आधारित है। वे भारतीय सनातन धर्म के प्रखर चिंतक एवं उनकी युगानुरूप व्याख्या करने वाले दूरदर्शी विचारक थे। उनकी धर्म संबंधी अवधारणा काफी व्यापक एवं अत्यन्त उदार थी। उनमें परंपरा बोध एवं आधुनिक चिंतन-मनन का अद्भुत सामंजस्य था। महामना जैसे विरले महापुरुष होते हैं, जो भारतीय जीवन मूल्यों की मूल भावनाओं को सुरक्षित रखते हुए उनको गत्यात्मक स्वरूप प्रदान करते हैं तथा उनको युगानुरूप सार्थकता प्रदान करते हैं। ऐसे लोग धर्म में आयी रूढ़ियों एवं विकृतियों को दूर कर स्वस्थ एवं विकासमान परंपरा का निर्वाह करते हैं। इस प्रक्रिया में वे प्राचीन मानवीय मूल्यों के सार्थक स्वरूप का समर्थन करते हैं और साथ ही समयानुकूल उत्पन्न नए मानवीय मूल्यों को भी स्वीकृति प्रदान करते हैं।

धर्म के संबंध में महामना जी ने समय-समय पर अनेक व्याख्यान दिये हैं। पत्र-पत्रिकाओं में कई महत्वपूर्ण लेख लिखे हैं। वे धर्म के विभिन्न आयामों को नवीन दृष्टि द्वारा उन्मीलित करते हैं। उनकी धर्म संबंधी अवधारणा में राष्ट्रभक्ति एवं समाज के कल्याण का भाव समाहित है। इस संदर्भ में 2 मई, सन् 1908 को 'अभ्युदय' नामक पत्र में प्रकाशित उनका मंतव्य अत्यंत महत्वपूर्ण एवं विचारणीय है— ''वस्तुतः धर्म उन व्यवस्थाओं, उन नियमों का नाम है, जो समाज को, राज्य के विभिन्न अंगों को धारण किए रहती है।''

धर्म की समाजिक एवं राष्ट्रीय अर्थवत्ता के साथ ईश्वर भक्ति का भी समावेश करना महामना की धर्म संबंधी अवधारणा की मौलिक विशेषता है। वे भारतीय चिंतन परंपरा की धर्म संबंधी अवधारणाओं को सुरक्षित रखते हुए उनकी नवीन व्याख्या करते हैं— ''मनुष्य के पशुत्व को ईश्वरत्व में परिणत करना ही धर्म है। मनुष्यत्व का विकास ही ईश्वरत्व और ईश्वर है।''[2]

महामना के उक्त विचार महर्षि व्यास के प्रसिद्ध वचन की पुष्टि करते हैं। 'धारणाद् धर्ममित्याहुधर्मो धारयति प्रजाः' धर्म की मूल अवधारणा एवं उनके सशक्त स्वरूप का दिग्दर्शन मनुस्मृति के निम्न श्लोक में भी सन्निहित है—

''धृतिः क्षमा, दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥''[3]

स्पष्ट है कि उक्त श्लोक में व्यापक एवं शाश्वत मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई है। ये मानवीय मूल्य सभी समाज एवं सभी देश का कल्याण करने में सक्षम हैं। इनका महत्व सभी कालों में है। इन मानवीय मूल्यों में प्रमुख है— धैर्य, क्षमा, दमन (कुप्रवृत्तियों का), अस्तेय (चोरी ना करना), शौच (पवित्रता), इंद्रिय निग्रह (आत्म संयम), धी (विवेक), विद्या, सत्य एवं अक्रोध आदि।

भारतीय चिंतन धारा में मानवीय मूल्यों की दृष्टि से तप, यज्ञ, दान, ईश्वर भक्ति एवं दुखी जीवों की सेवा करना आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। महामना के चिंतन में भी इन मानव मूल्यों का उल्लेखनीय स्थान है। इनकी वे तरह-तरह से व्याख्या कर उनमें नई अर्थवत्ता का संधान करते हैं। इस संदर्भ में उनका यह कथन विशेष रूप से विचारणीय है— ''सच्चा तप है अपने भाईयों के ताप से तप्त होना। सच्चा यज्ञ है, अपने स्वार्थ की आहुति देना। सच्चा दान है, परमार्थ करना। सच्ची ईश्वर सेवा है, दुखी जीवों की सेवा एवं सहायता करना।''[4]

मानवीय मूल्यों एवं धर्म का मूल तत्व है— करुणा एवं परोपकार। करुणा ही वह बीज बिंदु है, जिससे सभी मानवीय मूल्यों का विकास होता है। संसार के समस्त प्राणियों के प्रति दया एवं करुणा का भाव रखना उदात्त मानवीय मूल्यों की आधार भूमि है। 'श्रीरामचरितमानस' महामना का अत्यंत प्रिय ग्रंथ था, जिसकी महत्ता का बखान वे बराबर किया करते थे। वे इस महान ग्रंथ को पंचम वेद तक कहा करते थे। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को भी तुलसी रामायण अत्यंत प्रिय था। वे अपने प्रवचनों में बार-बार तुलसी के निम्न कथन को दुहराते थे— 'दया धर्म का मूल है, देह मूल अभिमान। तुलसी दया न छोड़िए जब लगि घट में प्रान।' तुलसी के राम ने दया एवं करुणा से ही प्रेरित होकर राक्षसों के बध का दृढ़ संकल्प लिया था। उन्होंने पृथ्वी को आततायी एवं अत्याचारी राक्षसों से मुक्त किया। श्रीराम चित्रकूट में राक्षसों द्वारा मारे गए विशाल नर कंकालों को देखकर करुणा एवं दया से द्रवित होकर राक्षसों के वध की प्रतीज्ञा की थी—

''निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाई पर कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ सुख दीन्ह॥''[5]

विश्वकवि तुलसीदास ने सभी धर्मों के मूल तत्वों को निम्न पंक्तियों में समाहित कर दिया है— 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई।

---

* शिक्षिका, वसंत कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी।

पर पीड़ा सम नहीं अघ माई।' इसी संदर्भ में महामना का अत्यंत प्रिय एवं प्रसिद्ध श्लोक विचारणीय है—

''न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्ग न पुनर्भवं।
कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामर्तिनाशनम् ॥''[6]

यहाँ स्पष्ट है कि महामना जी ने दुखी प्राणियों के दुख को दूर करने की कामना की है। इसके लिए वे स्वर्ग सुख, राज्य सत्ता एवं पुनर्जन्म की भावना का भी त्याग करते हैं। महामना का यह क्रांतिकारी विचार सदा याद किया जाएगा।

महामना के मानवीय मूल्य चिंतन में राष्ट्रीयता एवं देश प्रेम का महत्वपूर्ण स्थान है। वे देश की समृद्धि एवं विकास में देशवासियों में एकता एवं मैत्री भाव को पुष्ट करने का आग्रह करते हैं— ''राष्ट्रीयता द्वारा ही विभिन्न समुदायों में एकीकृत भावना जागृत होती है, जो विकास और समृद्धि के लिए आवश्यक है।''[7]

महामना की देशभक्ति स्वराज की भावना से ओतप्रोत थी। उनके अनुसार यह दोनों भावनाएं मानवता से जुड़ी हुई हैं। वे धार्मिक कर्तव्य में निर्धनता को दूर करना आवश्यक मानते थे— ''स्वराज के साथ देशभक्ति और मानवता दोनों जुड़नी चाहिए। स्वराज और स्वदेशी देश की निर्धनता दूर करने का साधन है और देश की जनता के प्रति हमारा धार्मिक कर्तव्य है।''[8]

महामना स्वदेशी एवं स्वराज की अवधारणा में त्याग एवं आत्म बलिदान को आवश्यक मानते हैं— ''त्याग और आत्म बलिदान पवित्र शब्द है। यह वास्तव में स्वदेशी और स्वराज की अवधारणा में शामिल हैं।''[9]

महामना त्याग एवं विद्या को मानवीय मूल्यों में अत्यंत महत्वपूर्ण मानते थे। वे त्याग के महत्व के संदर्भ में ईशावास्योपनिषद के निम्न श्लोक को बार-बार उद्धृत करते थे—

''ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥''[10]

इसी संदर्भ में वे विद्या एवं ज्ञान को भी मनुष्य के लिए अत्यंत उपयोगी मानते थे। मनुष्य को अमरत्व प्रदान करने का महत्वपूर्ण साधन विद्या है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदो भयं सह।
अविद्ययां मृत्युं तीर्त्वा विद्याययाऽमृतश्नुते॥[11]

महामना सनातन हिंदू धर्म के उपासक थे, लेकिन उनकी दृष्टि अत्यंत उदार एवं व्यापक थी। वे दूसरे धर्मों के अनुयायियों के प्रति भी स्नेह का भाव रखते थे। उनके अनुसार हिंदू मुसलमानों के मेल से देश की एकता एवं शक्ति में वृद्धि होगी। उनमें परस्पर बैर भाव एवं मतभेद बढ़ने से देश दुर्बल एवं कमजोर होगा—''जितना इन दोनों में परस्पर मेल और एकता बढ़ेगी, उतनी ही देश की उन्नति करने में हमारी शक्ति बढ़ेगी, और इनमें जितना ही बैर या विरोध या अनेकता रहेगी उतना ही हम दुर्बल होंगे''।12

महामना का स्पष्ट मत था कि हिंदू एवं मुसलमान ही नहीं अपितु पारसी, इसाई एवं यहूदियों आदि विभिन्न मतावलम्वियों में परस्पर प्रेम एवं एकता का भाव देश को सुदृढ़ करने में अत्यंत सहायक सिद्ध होगा—

''परसीयैर्मुसल्मानैरीसाईयैर्यहूदिभिः।
देशभक्तैर्मिलित्वा च कार्या देशसम्मुन्नतिः॥''13

महामना ब्राह्मण के शुद्ध आचरण एवं सात्विक जीवन के समर्थक थे। आचरण भ्रष्ट ब्राह्मण को वे पूजनीय नहीं मानते थे। इस संदर्भ में उनका विचार अत्यंत क्रांतिकारी एवं उदार था। वे आचारवान शुद्र को सम्माननीय मानते थे न कि क्रियाहीन ब्राह्मण को—

''शूद्रोऽपि शीलसंपन्नो गुणवान ब्रह्मणों भवेत् ।
ब्रह्मणोऽपि क्रियाहीनः शुद्रात् प्रत्यवरो भवेत् ॥''[14]

उक्त कथन से स्पष्ट है कि महामना सात्विक आचरण को महत्व देते हैं बाह्याडंबर को नहीं। केवल जन्म से ब्राह्मण श्रेष्ठ नहीं हो सकता उसकी श्रेष्ठता का आधार है उसका शुद्ध आचरण एवं उत्तम शील है।

मानवीय मूल्यों की दृष्टि से महामना मदन मोहन मालवीय जी द्वारा स्वरचित श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय है। जब कोई छात्र महामना के पास हस्ताक्षर लेने जाता था तब वे निम्नलिखित श्लोक लिखकर उसे मानवीय मूल्यों का सदुपदेश देते थे और अन्त में अपना हस्ताक्षर करते थे—

''सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाय विद्यया।
देशभक्त्यात्म त्यागेन सम्मानर्हः सदा भवः॥''[15]

अर्थात् सत्य, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, विद्या, देशभक्ति एवं आत्मत्याग जैसे नैतिक मूल्यों का सर्वदा पालन करना चाहिए, जिससे जीवन में सम्मान मिलता रहे।

समग्रतः महामना मदन मोहन मालवीय के चिंतन में जिन मानवीय मूल्यों को महत्व दिया गया है, उनमें करुणा, त्याग, आत्म संयम, देशप्रेम, विश्व बंधुत्व, परोपकार, ईश्वर भक्ति, विद्या, प्रेम, आपसी भाईचारा, राष्ट्रीय एकता, आचरण की पवित्रता एवं प्राणी मात्र के प्रति दया भाव आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन मानवीय मूल्यों में भारतीय सनातन परंपरा एवं आधुनिक चिंतन पद्धतियों का अद्भुत समावेश है। इनमें प्राचीन एवं अर्वाचीन चिंतन पद्धतियों के सारतत्व एवं समयानुकूल अर्थवत्ता का महत्वपूर्ण योगदान है। इन मानव मूल्यों को सार्वभौम एवं सर्वकालिक भी कहा जा सकता है. क्योंकि इनकी उपयोगिता सभी देशों एवं सभी कालों में बनी रहेगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1. अभ्युदय, 2 मई, सन् 1908।
2. अभ्युदय, पत्र, 19 मई, सन् 1912।
3. 'मनुस्मृति', अध्याय 6, श्लोक क्रमांक 92।
4. डॉ. मिथिलेश पांडे, 'मदन मोहन मालवीय जीवन दर्शन', पृ.सं. 549।
5. 'श्रीरामचरितमानस', गीताप्रेस, 'अरण्यकाण्ड', दोहा सं. 9।
6. उद्धृत, 'प्रज्ञा', महामना मालवीय जयन्ती विशेषांक, भाग एक, पृ.सं. 87।
7. डॉ. सत्येन्द्र द्विवेदी, डॉ. कृष्ण दत्त, 'भारतीय राष्ट्रवाद', विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2006, पृष्ठ 101।
8. डॉ. मिथिलेश पाण्डेय, 'मदन मोहन मालवीय जीवन दर्शन', पृ.सं. 549।
9. गणेशन, 'दी आनरेबल पंडित मदन मोहन मालवीय लाइफ एंड स्पीचेज', सेकेंड एडीशन, 1918, मद्रास, पृ.स. 549।
10. ईशावास्योपनिषद, 1।
11. ईशावास्योपनिषद, 11।
12. मालवीय जी के लेख, संपादक पद्मकांत मालवीय, पृष्ठ24-25।
13. उद्धृत, 'प्रज्ञा', 150वीं महामना मालवीय जयन्ती विशेषांक, द्वितीय सोपान, पृ.स. 183।
14. उद्धृत, डॉ. विश्वनाथ पांडेय, संपादक, 2008, 'का.हि.वि.वि. के संस्थापक', पृ. 28।
15. उद्धृत, 'प्रज्ञा', महामना मालवीय जयन्ती विशेषांक भाग, पृ.सं. 78।

●

संत-मत में माया का स्वरूप

*डॉ. राकेश कुमार द्विवेदी**

'माया' शब्द संस्कृत भाषा के 'मी' धातु से निष्पन्न है- ''मीयतेज्ञानसामाया'' अर्थात् माया वह है जो अमेय को माप लेती है। असीमित को सीमित कर देती है। शांत को अनंत से मिलाती है तथा 'अवस्तु' में भी अपनी शक्ति के कारण 'वस्तु' होने का भ्रम पैदा कर देती है। माया को कुछ अन्य नामों से भी पुकारा गया है, जैसे- अविद्या, अध्यास, अज्ञान, अंधकार, अनृत इत्यादि। भारतीय वाङ्मय में 'माया' का सर्वप्रथम विवेचन वादरायण कृत 'ब्रह्मसूत्र' के शारीरक भाष्यकार आदि शंकराचार्य ने अपने मत अद्वैतवाद के अंतर्गत किया, किन्तु शंकराचार्य से पहले भी इस देश में आध्यात्मिक विचारों के रूप में ब्रह्म, जीव, जगत् और माया विषयक चिंतन उपनिषद्कालीन तत्ववेत्ता ऋषियों के चिंतन में दिखाई पड़ता है। आचार्य रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे ने अपने शोधग्रंथ 'ए कॉन्सट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसोफी'[1] में माया या अविद्या की अवधारणा का उद्गम उपनिषद से ही सिद्ध किया है। वे लिखते हैं कि -

1. ईश (ईशावास्योपनिषद्) की उक्ति है कि सत्य का मुख स्वर्णिम पात्र अर्थात् आवरण (माया) से ढका है। (ईश, 15)
2. कठ (कठोपनिषद्) की उक्ति है कि अविद्या के अंदर स्थित व्यक्ति स्वयं को पंडित मानते हैं और अविद्या में ही चक्कर लगा रहे हैं, जैसे अंधो के पीछे अंधे। (1, 2, 4-5)
3. मुण्डक (मुण्डकोपनिषद्) में अविद्या को ग्रंथि कहा गया है, जिसे खोलने पर ही आत्मा का दर्शन हो सकता है। (2, 1, 10)
4. छान्दोग्य (उपनिषद्) में विद्या को वीर्यवती और अविद्या को निर्बल कहा गया है। (1, 1, 10)
5. बृहदारण्यक (उपनिषद्) में असत् से सत् की ओर, तमस से ज्योति की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलने की प्रार्थना की गई है। अर्थात् अविद्या को असत्, अंधकार और मृत्यु के समान बताया है। (1, 3, 28)
6. प्रश्न (प्रश्नोपनिषद्) की उक्ति है कि जिनमें जिह्वा (कुटिलता), अनृत (मिथ्यात्व) और माया नहीं है, उन्हीं के लिए ब्रह्मलोक है। (1, 16)
7. बृहदारण्यक (उपनिषद्) में कहा गया है कि 'मानो द्वैत' (द्वैतमिव भवति) जिसका अर्थ है कि द्वैत केवल प्रतीति है, वास्तव में द्वैत नहीं है। (2, 4, 14)
8. छान्दोग्य (उपनिषद्) में कहा गया है कि आत्मा ही सत्य है। अन्य सब वाचारम्भण (शब्दमात्र) विकार (रूपमात्र) नामधेय (नाममात्र) है। (6, 1, 4)
9. श्वेताश्वर (उपनिषद्) में ईश्वर को 'मायी' कहा गया है जो अपनी माया शक्ति से सृष्टि को उत्पन्न करता है। (4, 9, 10)
10. कठ (कठोपनिषद्) की उक्ति है कि जो इस प्रकार देखता है मानो यहाँ भेद है, मानों अनेकता है (नानेव पश्यति) वह जन्म-मरण के चक्र में ही घूमता है। (2, 4, 11)

उपयुक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि माया का विवेचन अनेक रूपों में उपनिषदकालीन मंत्रों में दिखाई पड़ता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि शंकराचार्य ने कालांतर में अद्वैत वेदांत के अंतर्गत माया के स्वरूप का तात्विक विवेचन किया। अन्य भारतीय दर्शनों ने भी किसी-न-किसी रूप में माया का विवेचन किया है। आस्तिक ही नहीं नास्तिक दर्शनों में भी इसके स्वरूप का विवेचन मिलता है। बौद्ध और जैन दर्शनों ने इसे ही अविद्या कहा है।

शंकराचार्य ने माया के स्वरूप का जो विवेचन किया, वह बड़ा ही विलक्षण है। उनके अनुसार माया न तो सत् है, न असत्। यह सृजन करती है। इसलिए असत् नहीं है और भ्रम या अज्ञान के नष्ट होने पर यह समाप्त हो जाती है इसलिए सत् भी नहीं है। शंकर के अनुसार माया सदासद्विलक्षण अनिर्वचनीय है। यथा-

न सद्रूपा ना सद्रूपा माया नवोभवात्मिका।

सद्सद्भ्याम निर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी॥

-'ब्रह्मसूत्र' : शारीरिक भाष्य

शंकराचार्य ने माना कि माया का आश्रय ब्रह्म है,तथापि ब्रह्म सर्वथा माया से अलिप्त है। इसे ही गीता में 'पद्यमपत्र मिवाभ्यसा' (जल में कमल की भांति अलिप्त) कहा गया है। सांख्य दर्शन के आचार्यों ने द्वैत तत्व (प्रकृति-पुरूष) के अंतर्गत इसे ही 'प्रकृति' कहा है, जो सत-रज-तम गुणों से युक्त त्रिगुणात्मिका है। शंकराचार्य ने भी

*एसोसिएट प्रोफेसर : हिन्दी विभाग, डी0ए0वी0पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी

माया को त्रिगुणात्मक माना है। उनके अनुसार माया की दो शक्तियाँ हैं-

(क) आवरण शक्ति

(ख) विक्षेप शक्ति

'आवरण शक्ति' द्वारा माया वस्तु के मूल वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है और 'विक्षेप शक्ति' द्वारा वह अवस्तु में (जैसे रस्सी या रज्जु में) वस्तु होने का (जैसे रज्जु में सर्प होने का) भ्रम पैदा कर देती है। यथा-

अव्यक्तनाम्नी परमेश्वर शक्तिः

अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।

कार्यानुमेया सुधियैव माया,

यदाजगतमिदं प्रसूयते॥

- 'ब्रह्मसूत्र - शारीरक भाष्य'

अपनी इन्हीं शक्तियों के द्वारा माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को ढँककर उसे नाना रूपात्मक जगत के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसमें पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश का भ्रम पैदा कर देती है। इसीलिए शंकराचार्यने कहा कि ''ब्रह्मसत्यजगन्मिथ्याजीवोब्रह्मैव ना परः।'' ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। जगत् मिथ्या है। तात्विक रूप से ब्रह्म और जीव में कोई विभेद नहीं है। वह पूर्णतः अद्वैतसत्ता है। कालांतर में रामानुजाचार्य और अन्य आचार्यों ने शंकर के इस सिद्धांत का खण्डन कर विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि अनेक-अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया।

हिन्दी के संत कवियों-कबीर, दादू, रैदास, नानक, रज्जब आदि ने अपनी माया संबंधी अवधारणाओं में कहीं-न-कहीं वेदांत के सिद्धांतों का सहारा लिया है या तो उन्होंने पढ़ा होगा या सुनकर और सतसंगति-कर इसका ज्ञान प्राप्त किया था, जो हो उनके विचारों पर शंकर के चिंतन की छाप स्पष्ट है। संतों ने इसके अतिरिक्त मुक्ति-मार्ग में बाधक नारी को भी माया का ही एक रूप मानते हुए मनुष्यों को विषय-भोगों से दूर रहने और समस्त कामनाओं को तजकर परमात्मा की शरण में जाने का आह्वान किया।

संत-साधकों में कबीर सबसे प्रखर हैं। कबीर-साहित्य में माया के संदर्भ में अनके उक्तियाँ मिलती हैं। वेदांत के 'प्रतिबिम्बवाद' के अनुसार ब्रह्म बिम्ब है तो नानारूपात्मक जगत उसका प्रतिबिम्ब है। संसार मायाकृत है जो लोग माया से लिपटे हैं उनके मन पर अज्ञान का आवरण पड़ा हुआ है। कबीर कहते हैं कि माया के पाँच पुत्र काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर हैं। मनुष्य के अधः पतन के यही कारण हैं-

पंच चोर गढ़ मंझा, गढ लूटै दिवस अरू संझा।

जो गढ़पति मुहकम होई, तो लूटि न सकै कोई॥[2]

माया ही पाखंड की जननी है। अतएव माया का उचित स्थान पाखंडियों के पास ही है। इसीलिए कबीर माया को संबोधित करते हुए कहते हैं-

तहाँ जाहु जहँ पाट पटम्बर, अगर चंदन हासि लीना।[3]

माया ने कबीर पर भी डोरे डाले, उसका कार्य ही जीवों को भरमाना है। लेकिन ''कबीर ने होशियारी से जवाब दिया था कि 'माया बहन, तू यहाँ से चली जा, कबीर फँसने वाला जीव नहीं है। तुझे तो पाट-पटबंर चाहिए और बेचारा कबीर कमीनी जाति का जुलाहा है। माया सहज ही छोड़ने वाली कहाँ थी, उसने जवाब दिया भई, मैं तो अपना काम करती ही जाऊँगी। अपने साहब को मुझे लेखा तो देना ही पड़ेगा।' कबीर बोले, 'माया रानी पत्थर नहीं भीज सकता। कबीर नहीं डिगेगा, जिस मच्छ की तू मच्छी है वह मेरा रखवाला है। जरा भी तेरी ओर नजर डालूँ तो वह नाराज हो जाया तू और जगह जा।''[4] पूरे आत्मविश्वास के साथ कबीर कहते हैं-

कबीर माया पापिणी, फंध ले बैठी हाटि।

सब जग तो फंधै पड्या, गया कबीरा काटि॥[5]

कबीर ने माया को मुक्ति में सबसे बड़ा बाधक बताया है, इसीलिए उन्होंने माया के लिए 'डाइन', 'कुलटा', 'सर्पिणी', 'निशाचरी', 'पिशाचरी', 'ठगिनी' आदि अनेक तिरस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है। कबीर का कहना है कि इस माया ने अनेक रूप धारण कर मनुष्यों को ही नहीं देवताओं को भी छला है, कोई इससे बच नहीं पाया है। तीनों लोक में इसी का हाहाकार मचा हुआ है-

1. **माया महाठगिनी हम जानी।**

   तिरगुन फाँसि लिए कर डोलै, बोलै मधुरी बानी॥

   केशव के कमला होई बैठी, सिव के भवन भवानी।

   पंडा के मूरत होई बैठी, तीरथ हूँ में पानी॥[6]

2. **ई माया रघुनाथ की बौरी, खेलन चली अहेरा हो।**

   चतुर चिकनियाँ चुनि-चुनि मारे, काहू न राखे नेरा हो।

   मौनी पीर दिगंबर मारे, ध्यान धरंते जोगी हो।

   जंगल में के जंगम मारे, माया किन्हहुँ न भोगी हो।[7]

कबीर कहते हैं कि जितने भी चतुर और चिकनियाँ हैं। माया ने एक-एक को ढूँढ-ढूँढकर मारा है। मौनी बाबा, पीर बाबा, जोगी बाबा, जंगम बाबा, डिगंबर बाबा आदि कोई भी इसके शिकार से बच नहीं सका है।

अनेक स्थलों पर माया के संदर्भ में कबीर साहित्य में ऐसी ही उक्तियाँ मिलती हैं। कबीर ने माया के सबसे बड़े रूप 'कामिनी' और 'कंचन' से लोगों को सावधान रहने के लिए कहा है। कबीर ने

'माया' को अत्यंत व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। वे कहते हैं कि जितने भी सांसारिक पद और पदार्थ हैं वे सब माया के ही रूप हैं, 'आदर', 'मान', 'जप', 'तप', 'जोग', 'माता', 'पिता', 'स्त्री', 'पुत्र' सब कुछ माया है। इस माया का विस्तार जल, थल, नभ तीनों में है। किन्तु कबीर ने यह भी कहा है कि जो संत परमात्मा का स्मरण कर करता है, वह इसे भोगकर इसकी उपेक्षा कर देता है। माया उसकी दासी बन जाती है। यथा-

माया आदर माया मान, माया नहीं तहाँ ब्रह्म गियान।

माया रस माया कर जान, माया कारनि तजै परॉन।।

माया जप-तप माया जोग, माया बाँधे सब ही लोग।

माया जल-थलि माया आकासि, माया व्यापित रही चहुँ पासि।।

माया माता माया पिता अति माया अस्तरी सुता।

माया मारि करै व्यौहार, कहैं कबीर मेरे राम अधार।।[8]

कबीर के अतिरिक्त अन्य संत साधकों ने भी माया के विषय में ऐसी ही अवधारणाएँ व्यक्त की है। संत साधकों में कबीर के बाद रैदास का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। जिस काशी के कबीर थे उसी के रैदास भी। रैदास की बानियाँ भी कबीर की तरह जनमानस में लोकप्रिय हुईं। वे अपनी एकांत निष्ठा, सात्विक जीवन और निर्मल प्रभु-भक्ति के लिए जाने जाते हैं। निम्न चमार जाति के होते हुए भी रैदास का जीवन समर्पण त्याग और साधना की मिसाल था। रैदास ने भी माया के संदर्भ में प्रायः वैसी ही उक्तियाँ कही हैं जैसे उनके गुरू-भाई कबीर ने। एक उद्धरण पर्याप्त होगा-

माधो भरम कैसेहु न बिलाई।

तातै द्वैत दरसै आई।।[9]

माया के कारण ही भ्रम होता है। द्वैत की भावना उसी की देन है। अद्वैत (परमात्मा) के भीतर जो द्वैत (आत्मा) दिखता है, वह दृष्टि का भ्रम है। रैदास के मत से माया अथवा अज्ञान ही इस भ्रम का कारण है। प्रभु-भक्ति से ही जीव माया का फंदा काट सकता है। अन्य किसी भी उपाय से उससे बच पाना मुमकिन नहीं है।

कबीर और रैदास की तरह दादूदास या दादू दयाल का नाम भी संत साधकों में अग्रिम पांक्तेय है। वे भी निर्गुण-निराकार के उपासक थे। कबीर-पंथ की तरह पीछे उनके नाम का भी दादू-पंथ चला। दादू की उक्तियाँ भी अत्यंत मार्मिक हैं। ब्रह्म और माया के संदर्भ में उनके विचार भी वेदांत और योगदर्शन से प्रभावित जान पड़ते हैं। उन पर कबीर का भी अत्यधिक प्रभाव है। कबीर की भाँति दादू भी मुक्ति-मार्ग में माया को ही सबसे बड़ा बंधन मानते हैं। उत्पत्ति और विनाश माया का ही कार्य है। यह जीवन पर धूप-छाया की तरह छायी रहती है-

1. **उपजै बिनसै गुण धरै, यहु माया का रूप।**

   दादू देखत धिर नहीं, खिण छाहाँ खिण धूप।।[10]

   - पीव पिछावण को अंग।

2. **जे नाहीं सो ऊपजै, है सो उपजै नाहिं।**

   अलख आदि अनादि है, उपजै माया माहिं।।[11]

   - पीव पिछावण को अंग।

धूप और छायावाली यह माया एक प्रकार की 'मृगमरीचिका' है जो स्थल की जगह जल की भ्रांति पैदा करती है। ब्रह्म अजन्मा, अनादि और सनातन है। जगत में जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है वह सब मायामय है। दादू ने कबीर की ही भाँति अन्यत्र कहा है-

जनमैं मरै से जीव है, रमता राम न होई।

जामण मरण थे रहित है, मेरा साहिब सोइ।।[12]

कबीर ने भी कहा था-

जनमैं मरै न संकटि आवै, नाँव निरंजन जाको रे।

अविनासी उपजै नहिं बिनसै, संत सुजस कहैं ताको रे।।[13]

इस प्रकार दादू के विचारों पर भी वेदांत दर्शन का पर्याप्त प्रभाव है। स्वयं इन संतों ने अपनी साधना से इसी सत्य को स्वानुभूत भी किया था। दादू की उक्तियों में औपनिषदिक रहस्यवाद के भी दर्शन होते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में लिखा कि - ''दादू की बानी में यद्यपि उक्तियों का वह चमत्कार नहीं है जो कबीर की बानी में मिलता है, पर प्रेमभाव का निरूपण अधिक सरस और गंभीर है।''[14] कबीर के विपरीत दादू में खण्डन-मण्डन भी अधिक नहीं है। दादूजी की बानियों का संग्रह जगन्नाथ दास एवं संत दास ने 'हरडेवाणी' नाम से तो उनके शिष्य रज्जबने 'अंगबधू' नाम से किया है। आचार्यपरसुराम चतुर्वेदी ने लिखा कि - ''अपनी नम्रता, क्षमाशीलता एवं कोमल हृदयता के कारण ये केवल दादू से दादू दयाल कहलाने लगे थे और सर्वव्यापक परमात्मतत्व के प्रति इनकी अविछिन्न विरहासक्ति ने इन्हें प्रेमोन्मत-सा बना दिया था।''[15]

मध्ययुगीन संतों में सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरू नानक देव का नाम भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कालांतर में नौ अन्य गुरूओं ने उनके धर्म का प्रचार-प्रसार किया। दसवें और अंतिम गुरू गोविंद सिंह थे। उनके पश्चात् यह परम्परा समाप्त हो गयी तथा 'गुरूग्रंथ साहब' को ही आगे सदा के लिए गुरू (गुरूवाणी) मान लिया गया। इस ग्रंथ में गुरू नानक देव और अन्य गुरूओं की वाणी संकलित है। गुरू नानक की रचनाओं में नीति और धर्म की अनेक शिक्षाएँ हैं। एक प्रसंग में वे कहते हैं कि - चंचल चित्त एक स्थान पर नहीं टिकता। यह जीव रूपी मृग पाप रूपी नये अंकुरों की खेती को

चोरी से खाता है। परमात्मा के चरणकमलों को चित्त में धारण करने पर ही मनुष्य शाश्वत सुखों को पा सकता है-

चंचल चीतु न रहई ठाइ। चेरी रिगु अंगूरी खाइ।

चरन कमल उर धारे चीत। चिरू जीवनु नित नीत॥[16]

नानक के उपदेशों में करूणा और प्रेम का संदेश है। 'मानवता' उनकी वाणी का उदात्त स्वर है। नानक ने माया का उस रूप में वर्णन नहीं किया जिस रूप में कबीर या दादू ने किया। पर वे बार-बार संकेत करते हैं कि चंचल मन मृग की भांति मनुष्य के जीवन रूपी खेती को चर रहा है। जो परमात्मा की शरण गया उसका उद्धार हुआ और जो माया (वासना-कामना का जंगल) में अपने मन-मृग को दौड़ाता रहा उसे सदा निराशा ही हाथ लगती है। विद्यापति ने अपने काव्य में एक स्थल पर कहा है- ''माधव! हम परिनाम निरासा।'' नानकदेव ने मनुष्य को बार-बार परमात्मा की शरण में जाने का आह्वान किया है।

उक्त संतों के अतिरिक्त धर्मदास, मलूकदास, सुंदरदास, रज्जब, दरिया साहब, यारी साहब, बुलेशाह, दीनदरवेश, भीखा साहब, पलटू साहब, तुलसी साहब आदि अन्य संत साधकों ने भी माया के संदर्भ में अपने विचारों का प्रतिपादन किया है और ये विचार किसी-न-किसी रूप में एक-दूसरे से मिलते हैं। इन विचारों का चूणांत निदर्शन यही है कि मनुष्य ईश्वरीय अनुकंपा के बगैर न तो सांसारिक दुःखों से मुक्त हो सकता है और न ही माया का फंदा काट सकता है।

माया के संदर्भ में संतों के उक्त विचारों से जो निष्कर्ष निगमित होता है वह यह है -

(क) माया ब्रह्म की मूल शक्ति है। उसी की इच्छा से वह इस नाना रूपात्मक जगत का निर्माण करती है। किंतु माया ब्रह्म को प्रभावित नहीं कर सकती। ब्रह्म माया से परे है।

(ख) ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। जीव या आत्मा उसी का अंश है। माया असत्य होने के बावजूद भी जीव को भ्रमित करती है। ईश्वर से अभिन्न होने पर भी उसमें द्वैत की दृष्टि पैदा कर देती है।

(ग) ईश्वर या परमात्मा कहीं बाहर नहीं है। वह मंदिर-मस्जिद या तीर्थों में नहीं बैठा है। वह हमारे ही भीतर विद्यमान है। अविद्या अज्ञान या माया के कारण हम उसे नहीं जान पाते।

(घ) माया ज्ञान-निरस्या है। अर्थात सच्चा ज्ञान होने पर माया का खेल खत्म हो जाता है। उसका बाह्य आवरण नष्ट हो जाता है। वह सच्चे वीतरागी की दासी बन जाती है।

(ङ) परमात्मा की कृपा और सद्गुरू के ज्ञान के बिना जीव माया से मुक्ति अर्थात् जरा-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता। ध्यान, योग-साधना और निर्मल भक्ति से जीव सच्चे ज्ञान के द्वारा परमात्मा की दया का पात्र बनता है।

(च) सात्विक जीवन, पवित्र आचरण, दया, परोपकार की भावना, करूणा और प्रेम, समर्पण और सेवा का भाव जीव पर माया की पकड़ को ढीला कर देते हैं। नाम-संकीर्तन और निरंतर परमात्मा का ध्यान जीव के भीतरी कल्मष को समाप्त कर इसमें द्वैत की जगह अद्वैत के भाव को पैदा कर देता है।

सांसारिक अनुरक्ति को नष्ट किये बिना सच्ची विरक्ति नहीं हो सकती और सच्ची विरक्ति के बिना हृदय में ईश्वर के प्रति सच्चे समर्पण का भाव पैदा नहीं होता, इसीलिए संतों ने कामनाओं, वासनाओं और इच्छाओं के त्याग पर बहुत अधिक बल दिया है। जिसका मन अनासक्त होकर सात्विक हो जाता है। माया-मृग उसके जीवन की खेती को नष्ट नहीं कर पाते, पर यह कष्टकर कार्य विरले ही कर पाते हैं। कबीर कहते हैं-

मन बैरागी माया त्यागी, शब्द में सुरत समाई।

कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह गम विरले पाई॥[17]

उक्त संक्षिप्त विवेचनोपरांत निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संतमत में माया की अवधारणा औपनिषदिक, दर्शन, गीता और अद्वैत वेदांत के सन्निकट है। सभी संतों ने एक स्वर में इसे मुक्ति मार्ग में सबसे बड़ा बाधक माना है। यह माया जीव के वास्तविक स्वरूप को ढँककर उसे सदा के लिए कामनाओं के जंगल में भटकने और वासनाओं के पंक में डूब जाने के लिए छोड़ देती है। सद्गुरू के प्रकाश और परमात्मा की कृपा से ही जीव माया से अपना पिंड छुड़ा पाता है और जो ऐसा कर सकने में समर्थ होता है, माया उसकी चेरी बन जाती है, जिस जीव को अब तक वह अपने इशारे पर नचाती आ रही थी। अब वह स्वयं उसके इशारे पर नाचने लगती है। माया पर जीव की यह विजय उसके आध्यात्मिक यात्रा के प्रस्थान-पर्व का सूचक होता है। कबीर ने अपनी एक साखी में बड़े महत्व की बात कही है कि यह देह धारण करने का दण्ड है जो सभी को भुगतना पड़ता है, पर ज्ञानी इसे जहाँ आनंद के साथ भोगता है वहीं मूर्ख अपनी मूर्खता के कारण इसे रो-रो कर भोगता है, यथा-

देहधरे का दण्ड है, सब काहू को होय।

ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोय॥[18]

संदर्भ-सूची

1. आचार्य रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे : 'ए कॉन्सट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फ़िलॉसोफ़ी, उद्धृत - चन्द्रधर शर्मा : भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन, प्रकाशन, मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर्स, प्रा0लि0 दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1985, पृ0 13-14

2. डॉ0 श्यामसुंदर दास : सम्पादक - 'कबीर ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी 25वाँ संस्करण, संवत् 2064, पृ0 27

3. वही, पृ0 27
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'कबीर', राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0, नई दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण-2014, पृ0 92
5. डॉ0 श्यामसुंदर दास : सम्पादक - 'कबीर ग्रंथावली', वही, पृ0 25
6. हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'कबीर', वही, पृ0 237
7. वही, पृ0 234
8. आचार्य परसुराम चतुर्वेदी : 'संतकाव्य', किताब महल, 22 ए सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद, संस्करण - 2008, पृ0 91
9. वही, पृ0 113
10. डॉ0 संत नारायण उपाध्याय : 'दादू दयाल : जीवन, दर्शन और काव्य, प्रकाशक - प्रभात कुमार उपाध्याय, 19/5/1 ईश्वर गांगुली स्ट्रीट, कलकत्ता-26, 1969 पृ0 134
11. वही, पृ0 134
12. वही, पृ0 137
13. डॉ0 श्यामसुंदर दास : संपादक - 'कबीर ग्रंथावली', वही, पृ0 81
14. रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 32वाँ संस्करण संवत् 2054 वि0, पृ0 88
15. आचार्य परसुराम चतुर्वेदी : 'संतकाव्य', वही, पृ0 138
16. गुरबचन सिंह तालिब : 'गुरुनानक', अनुवादक - नरेन्द्र मोहन, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, संस्करण-2002, पृ0 41-42
17. हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'कबीर', वही, पृ0 181
18. डॉ0 श्यामसुंदर दास : संपादक - 'कबीर ग्रंथावली', वही, पृ0 83

●

छत्तीसगढ़ राज्य के बस्तर संभाग में जनजातीय घढ़वा हस्तशिल्प (बेलमेटल या ढोकरा कला) उद्‌भव एवं विकास

शिव कुमार सिंघल* *एवम्* डॉ. एल. आर. सिन्हा**

धातु ढलाई पद्धति द्वारा बनाई गई देवी-देवताओं की मूर्तियां, बर्तन एवं गहने आदि जनजाति संस्कृति का अभिन्न अंग हैं। कई पुस्तकों एवं इन्टरनेट में छत्तीसगढ़, उड़ीसा व बंगाल के जनजाति लोक धातु शिल्प का ढोकरा धातु शिल्प के नाम से संबोधन मिलता है। ढोकरा शब्द का चलन 1970 के दशक में प्रारंभ हुआ तथा आम बोल-चाल में आ गया। 'फोक मेटल्स ऑफ इंडिया' पुस्तक की लेखिका रूथ रीव्स ने पश्चिम बंगाल के घुमक्कड़ धातु शिल्पियों के लिए पहली बार ढोकरा शब्द का प्रयोग किया था।[1] पश्चिम बंगाल के ढोकरा कमार आदिवासी समुदाय द्वारा ढलाई कार्य करने के कारण लोक धातु शिल्प को ढोकरा धातु शिल्प कहा जाने लगा। बस्तर संभाग के धातु शिल्पियों के लिए ढोकरा धातु शिल्पी का संबोधन औचित्यपूर्ण नहीं लगता है। इस क्षेत्र के जनजातीय धातु शिल्पी अपने आप को ढोकरा समुदाय का अंग नही मानते और न ही अपने शिल्प को ढोकरा नाम से संबोधन करते हैं। इस संभाग के धातु शिल्पी स्वयं को घसिया जाति से जोड़ते हैं व अपने को घढ़वा कहते हैं। इस तरह बस्तर संभाग के धातु शिल्प को घढ़वा धातु शिल्प कहना अधिक सार्थक लगता है। बेलमेटल (घढ़वा हस्तशिल्प) को लॉस्ट वैक्स पद्धति (मोम को पिघलाकर) के माध्यम से धातु ढलाई द्वारा मूर्ति बनाने की कला प्राचीनतम है। सिंधु घाटी सभ्यता के अंतर्गत मोहनजोदड़ो से प्राप्त नर्तकी की धातु प्रतिमा इस कला का सबसे प्राचीन नमूना है। इस तरह लॉस्ट वैक्स पद्धति द्वारा धातु ढलाई का कार्य 4500 ई.पू. पुरानी अटूट परंपरा से संबंध रखता है।[2]

1950 में डॉ. वेरियर एल्विन की प्रकाशित पुस्तक 'ट्राईबल आर्ट ऑफ मिडिल इंडिया' में बस्तर के धातु शिल्प का प्रमाणिक उल्लेख मिलता है जिसमें उन्होनें बस्तर में घसिया जनजाति के द्वारा गहने, मूर्तियां, पीतल के बर्तन आदि बनाएं जाने का उल्लेख किया था। सेन्ट्रल प्रोविंस के गजेटियर 1871 के हवाले से रसल एवं हीरालाल ने लिखा है कि 'घसिया एक द्रविडियन मूल की जनजाति है व बस्तर में पीतल के बर्तन सुधारने व बनाने का कार्य करती है।'[3] वर्तमान में बस्तर के अनेक धातु शिल्पी अपने आप को घढ़वा जनजाति का बताते हैं व अपना संबंध घसिया जाति से नहीं बताते। घसिया जाति द्वारा जब धातु ढलाई का कार्य किया जाने लगा तब उन्हें घढ़वा कहा जाने लगा। घढ़वा का शाब्दिक अर्थ घढ़ने वाला अर्थात वह व्यक्ति जो गहने एवं मूर्तियों को गढ़ता है घढ़वा कहलाते हैं। यह कहा जाता है कि रियासतकाल में घसिया जनजाति को पहचान इनके कार्य को लेकर हुई। ये लोग उन दिनों घोड़ो के लिए घास काटने का कार्य किया करते थे। घढ़वा से संबंधित कई किवदंतिया भी प्रचलित हैं। अधिकांश घढ़वा जनजाति के लोगों की मान्यता है कि- 'रियासतकाल में बस्तर के राजदरबार में किसी व्यक्ति ने राजा को पैर में पहनने वाला आभूषण पैरी भेंट किया। राजा उस गहने की कलात्मकता से प्रभावित होकर बोले तुम गहने गढ़ने का कार्य करते हो इसलिए आज से तुम घढ़वा हो' तब से बस्तर के धातु शिल्पी स्वयं को घढ़वा कहते हैं। घढ़वा सारे बस्तर संभाग में फैले हुए हैं। इनके बस्तर के मूल निवासी होने के बारे में दो तरह की मान्यताएं है- पहली यह की घढ़वा बस्तर के मूल निवासी है क्योंकि इनकी संस्कृति, परंपरा, बोली आदि इस क्षेत्र में रहने वाली अन्य जनजातियों के समान है। दूसरी मान्यता यह हैं कि घढ़वा बस्तर के मूल निवासी नहीं है। कहा जाता है कि बस्तर के महाराजा को एक बार दंतेश्वरी देवी की धातु की प्रतिमा बनाने की आवश्यकता महसूस हुई, उस समय बस्तर में कोई भी धातु शिल्पकार मौजूद नही था जो धातु को ढाल सके तब उड़ीसा से पांच घढ़वा शिल्पकारों को बुलाया गया उन्होंने दंतेश्वरी देवी की चांदी की मूर्ति ढालकर तैयार की। कालांतर में यह परिवार सारे बस्तर में फैल गया।[4]

बस्तर का घढ़वा कला विश्व प्रसिद्ध है। इस कला में मोम, मिट्टी व धातु (कांसा, पीतल) का उपयोग किया जाता है। शिल्पकार धातु को मोम में साधता है व मिट्टी जीवन फूके जाने तक अपने सांचे में धारण करती है। लाला जगदलपुरी ने अपनी पुस्तक 'बस्तर इतिहास एवं संस्कृति' में लिखा है कि 'बस्तर के घढ़वा जनजाति प्रारंभ में कसॉडी, कॅडरी, समई, पैंदियां व चिमनी तैयार किया करते थे, अब यह जनजाति देवी-देवता, हिरण, हाथी, स्त्री-पुरूष आदि की मूर्तियां बनाने लगे हैं।' इस हस्तशिल्प कला को समझने पर इतिहास सामने आने लगता है। सिंधु घाटी सभ्यता में अगर इस तरह की धातु कलाकृतियों का निर्माण हुआ करता था तो इस सभ्यता के नष्ट होने के साथ जो पलायन हुए उनके साथ यह कला भी स्थानांतरित हुई होगी। बस्तर में नाग शासकों ने लगभग सात सौ वर्षों तक शासन किया व इतिहास में इनके आगमन का स्थल मध्य एशिया के पश्चात् सिंधु घाटी का क्षेत्र ही माना जाता रहा है तो क्या यह कला यहां से स्थानांतरित हुई व बस्तर के जनजाति तक

* पीएच.डी. शोधार्थी - अर्थशास्त्र, बस्तर विश्वविद्यालय जगदलपुर, छत्तीसगढ़

** सहायक प्राध्यापक (शोध—निर्देशक)— अर्थशास्त्र, भानुप्रतापदेव शासकीय स्नातकोत्तर कॉलेज, बस्तर विश्वविद्यालय, जगदलपुर (छत्तीसगढ़)

पहुंची होगी? घढ़वा कला विश्व की प्राचीनतम कलाओं में से एक है। इन कलाओं को महापाषाण काल से भी जोड़ कर देखा जाता है। घढ़वा जनजाति के अलावा बेलमेटल हस्तशिल्प का निर्माण दंडामी माड़िया, गोंड, धुरवा, भतरा, आदि जनजातियों के द्वारा भी किया जा रहा है इन जनजातियों के रीति-रिवाज, देवी-देवताओं के प्रति इनकी मान्यताओं, भावनाओं को इनके हस्तशिल्प के माध्यम से देखा जा सकता है। इनके द्वारा ढाली गई मूर्तियों में जैसे- देवी-देवता, पशु-पक्षी की मूर्तियॉ तथा आकृतियॉ काफी सराही जाती है। यह शिल्पकला इन जनजातियों का पारंपरिक शिल्प व व्यवसाय भी है। जनजातीय शिल्पियों द्वारा निर्मित शिल्प लोक आधारित, पारंपरिक, सरल आकारों में आकर्षक कृतियां आज के आधुनिक युग में भी कला प्रेमियों की पहली पसंद है।[5] जनजातियों द्वारा दो तरह के हस्तशिल्पों का निर्माण किया जाता है- पहला वो होता है जो देव आराधना पर आधारित होता है जैसे- देवी- देवताओं की मूर्तियां जो घोड़ों पर सवार होती हैं, हाथों में खड़ग, ढाल, अन्न की बालियां, मयूर पंख धारण किए हुए होते है। दूसरे प्रकार के शिल्प में पशु आकृतियों जैसे- घोड़े, हाथी, शेर, मछली, कछुआ, मोर आदि का निर्माण किया जाता है। इसके अतिरिक्त आनुष्ठानिक शिल्पों, पात्रों का निर्माण भी किया जा रहा है। जिस क्षेत्र की जैसी परंपरा, रीति-रिवाज होती है शिल्प भी उसके अनुसार ढलने लगते हैं। बस्तर संभाग का घढ़वा शिल्प विकसित स्वरूपों और नवीन प्रयोगों में उद्योग का रूप लेता जा रहा है। बस्तर संभाग के कोण्डागांव, बस्तर, नारायणपुर, दंतेवाड़ा जिलों में बड़े पैमाने पर जनजातियों द्वारा कलाकृतियों का निर्माण किया जा रहा है। बस्तर संभाग में अनुमानित 6000-7000 शिल्पी बेलमेटल शिल्प से जुड़े हुए हैं।[6] बस्तर के अधिकांश जनजातीय शिल्पी भले ही आर्थिक रूप से पिछड़े व अनपढ़ हैं परंतु मौलिक सृजनता की कसौटी में इन्होनें अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। इन जनजातियों द्वारा बनाई गई हस्तशिल्प कलाकृतियों की मांग राष्ट्रीय, अंतराष्ट्रीय स्तर पर बढ़ी है। बस्तर संभाग के कुछ ऐसे शिल्पी भी हैं जिन्होंने इस कला को नया आयाम दिया है। 1961-62 में सिमरन बघेल को सरोजनी नायडू द्वारा सम्मानित किया गया, वर्ष 1970 में श्री. सोनाबाल को हस्तशिल्पी पुरस्कार व 1972 में स्व. जयदेव बघेल को हस्तशिल्प के क्षेत्र में राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुआ। इसी तरह बस्तर के शिल्पियों में सुकूरराम बघेल, संग्राम सिंह, राजेन्द्र बघेल, पंचूराम सागर, मानिक, नान्हेराम आदि प्रथम पंक्ति के दक्ष शिल्पी है। इन शिल्पियों में कोण्डागांव जिले के जयदेव बघेल नीव के पत्थर की तरह जाने जाते हैं जिन्होंने फ्रॉस, ब्रिटेन, चीन, जापान आदि अनेक देशों में बेलमेटल शिल्प को पहचान दिलाई है।[7] नवीनता एवं परिवर्तन अभिव्यक्ति की आवश्यकता और समय की मांग भी है। घढ़वा हस्तशिल्पी जैसे-जैसे प्रदर्शनियों के द्वारा समकालीन शिल्पियों के साथ भाग लेते जा रहे हैं वैसे-वैसे जनजातीय शिल्पी परंपरागत हस्तशिल्प में नए-नए प्रयोग कर रहे है। कलाप्रेमी वर्गो के माध्यम से भी इन्हें प्रोत्साहन मिल रहा है। इन सब के बावजूद जनजातीय घढ़वा शिल्पी अपनी परंपरा, संस्कृति को इन हस्तशिल्पों के माध्यम से संजोए रखे हुए है।[8]

बस्तर संभाग के कोण्डागांव जिले के हस्तशिल्पकार स्व. जयदेव बघेल ने घढ़वा कला के बारे में कहा है कि 'जनजातीय देवी-देवताओं के रूपों से परिचित कराने का श्रेय घढ़वा जाति को जाता है घढ़वा कला का जनजातियों की संस्कृति से गहरा संबंध है।'[9] जनजातियों के द्वारा पशुओं की मूर्तियां देवी-देवताओं को चढ़ाई जाती हैं इस संबंध में एस. करीमुद्दीन ने लिखा है कि- ''प्राचीन समय से जनजातियों द्वारा अपने ईष्ट देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नर बलि दी जाती थी समाज के विकास के साथ नर बलि को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा तथा पशु बलि की प्रथा प्रारंभ हुई, यह प्रथा भी समाज के विकास के साथ समाप्त होती चली गई, आज नर बलि, पशु बलि नही होती किंतु इनके प्रतीकों के रूप में धातु से बनी मूर्तियों को देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए चढ़ाया जाता है ।'' [10]

अपने आलेख में प्रसिद्ध घढ़वा शिल्पकार जयदेव बघेल ने लिखा है कि- बस्तर में इस कला के प्रारंभ के लिए जो मिथक कथा है उसका संबंध आदिमानव और उसी जिज्ञासाओं से है। यदि उनके विवरणों को अपने शब्दों में व्यक्त करूँ तो- यह बात उस समय की है जब मनुष्य आदिमानव के रूप में जंगलों एवं गुफाओं में रहा करता था। एक आदिमानव का बालक अपने माता-पिता से बिछड़ कर जंगलों की गुफाओं में रहने लगा। एक दिन बादलों की गड़गड़ाहट के साथ बिजली चमकी व बारिश हुई बिजली की उसी गुफा के समीप गिरने से वहां आग लग गई ऐसा उस बालक ने प्रथम बार देखा था। जब बारिश रूकी तो उस आदिमानव के बालक ने उस स्थान को देखना चाहा जहां बिजली गिरी थी। वह बालक उस स्थान पर गया तो उस स्थान पर उस बालक ने कुछ चमकती हुई वस्तु देखी जो धातु की बनी सुंदर कलाकृति थी वह बालक उस धातु की कलाकृति को अपने साथ गुफा ले आया। कुछ समयावधि बाद बालक के परिवार वालों ने उस बालक को खोज निकाला था। उस बालक ने उस धातु की कलाकृति की रोज साफ-सफाई करना प्रारंभ किया तथा स्वयं भी स्वच्छ रहने लगा। धातु की बनी कलाकृति सफाई के कारण चमकने लगी जो दिखने में आकर्षक था। जब सभी लोगों की नजर उस कलाकृति पर पड़ी जो जिज्ञासावश उन सभी लोगों ने यह धातु की बनी कलाकृति कहां से प्राप्त हुई जानने की पहल की। जब उस बालक ने वह स्थान दिखाया व सारी बाते बतायी तो पाया गया कि उस स्थान पर दीमक का टीला है एवं टीले के अंदर मधुमक्खी का छत्ता बना हुआ था जिसमें मोम मौजूद होता है। टीले के समीप प्राकृतिक रूप से उपस्थित धातु था। जब बिजली गिरी व आग लगी तब यह धातु का टुकड़ा पिघल कर दीमक के टीले में प्रवेश कर गया जिसमें मधुमक्खी का छत्ता व छत्ते में मोम मौजूद था। मोम ने सांचे का

कार्य किया होगा व यह कलाकृति बनी होगी ऐसा उन्होंने अनुमान लगाया था। उस आदिमानव के बालक ने सभी से कहॉ की मैंने इस धातु के टुकड़े को अपनी मॉ माना है और उसी की तरह इससे प्रेम किया है तुम भी इस कला व निर्माण को मॉ की तरह मानो। कहते हैं कि उस आदि कलाकार ने सबसे पहले अपनी मां की आकृति बनाने का प्रयास किया व धीरे-धीरे अपनी निकटतम परिवेश की वस्तुओं और पशु – पक्षियों को भी इस कला के माध्यम से रूप देने लगा। स्व. जयदेव बघेल के अनुसार आदिमानव ने सर्वप्रथम हिरण, कुत्ता, भालू, खरगोश, नाग, कछुवा, पक्षी, गाय, बकरी, बंदर, मछली आदि बनाए। धीरे-धीरे उसने अपनी मॉ के रूप में डोकरी मॉ की कलाकृति बनाई व कालांतर में डोकरा बाबा के रूप में पिता के स्वरूप को गढ़ने लगा। इसी तरह समयानुसार विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियां जैसे- मूलकोलातादो, कर्मकोलातादो, भीमादेव, भैरमदेव, दंतेश्वरी देवी, राजाराव देव, परदेसीन माता, हिंग्लाजिन देवी, कंकालन माता आदि की मूर्तियां इस कला के विकास के अनुसार विभिन्न चरणों में निर्मित की जाने लगी। उन आदिमानव को ही आज की जनजातियों के पुर्वज के रूप में देखा जाता है।[11]

प्रायः देखा जाता है कि घढ़वा हस्तशिल्प कला में झिटकू-मिटकी के नाम से (बेलमेटल, घढ़वा हस्तशिल्प) ऐम्पोरियम खोले जाते हैं व मूर्ति भी बनाई जाती है। दक्षिण वन मण्डल कोण्डागांव की सहायता से कोण्डागांव जिले में झिटकू-मिटकी ऐम्पोरियम की स्थापना की गई है। शोधार्थी शिव कुमार सिंघल ने जब झिटकू-मिटकी से संबंधित जानकारी एकत्र करना प्रारंभ किया तो इनकी मुलाकात कोण्डागांव जिले के घढ़वा हस्तशिल्पकार पंचूराम सागर से हुई। उन्होंने झिटकू-मिटकी के बारे में जानकारी देते हुए बताया कि- झिटकू- मिटकी की एक प्रेम प्रसंग की कहानी है। यह कहानी कोण्डागांव जिले के केशकाल तहसील व विश्रामपुरी विकासखण्ड के बीच एक गांव पेन्ड्रावंड की है। उन्होंने अपने पूर्वजों के आधार पर कहानी बताते हुए कहा कि झिटकू-मिटकी एक प्रेमी जोड़े थे। मिटकी (लड़की) जिसका वास्तविक नाम ह्दय था घर की सबसे छोटी लड़की थी। मिटकी के सात भाई थे। परिवार वाले चाहते थे कि मिटकी शादी के बाद कहीं नहीं जाए यहीं रहे। बस्तर संभाग में एक प्रथा प्रचलित है कि यदि लड़की के परिवार वाले शादी कराने में सक्षम नहीं है, आर्थिक स्थिति अच्छी नही है, तो लड़की लड़के के घर चली जाती है जिसे ऊठरियां या पैसा मूंडी कहा जाता है। इसी तरह लड़के के परिवार वाले सक्षम नहीं हैं तो लड़का लड़की के यहां घर जमाई बनकर एक वर्ष तक कार्य करेगा इसके एवज में लड़की वाले लड़की की शादी करवाकर उसे विदा करेगें। ठीक ऐसी ही घटना मिटकू के साथ हुई वह घर जमाई बनकर मिटकी के यहां आया कि एक वर्ष तक कार्य कर फिर मिटकी को विवाह कर ले जाएगा। मिटकी के भाईयों ने एक तालाब बनवाने का सोचा व तालाब बनवाने के कार्य में लग गए। बहुत गहराई तक खोदने पर जब जल नहीं निकला तो गांव की एक मान्यता के अनुसार नर बलि देने से कार्य सिद्ध होता है का विचार मिटकी के भाईयों को आया साथ ही इन्होंने सोचा कि यदि बाहरी व्यक्ति की बलि दी जाएगी तो बदनामी होगी। ऐसे विचारों के साथ झिटकू की बलि उस तालाब में दे दी गई व लाश को तालाब के मेढ़ में दफना दिया गया। बलि के पश्चात् तालाब पानी से भर गया। झिटकू के साथ हमेशा एक कुत्ता रहता था उसने यह घटनाक्रम देख लिया व वह स्थान भी देखा जहां झिटकू को दफनाया गया था। कुछ देर बाद मिटकी को झिटकू से मिलने की चाह उत्पन्न हुई उसने उसे हर जगह खोजा परंतु झिटकू कहीं दिखा ही नहीं। भाईयों से पड़ोसियों से पता करने पर भी नहीं मिल रहा था। मिटकी रोने लगी तभी वह कुत्ता जो झिटकू के साथ हमेशा रहा करता था मिटकी की साड़ी को खिंचकर उस स्थान ले गया जहां झिटकू को दफनाया गया था। कुत्ते ने पैरों से मिट्टी हटाना प्रारंभ किया फिर पता चला कि झिटकू को उसके भाईयों ने मार कर यहां पर दफनाया है व्याकुल मन से रोते बिलगते मिटकी ने उस तालाब में कुदकर आत्महत्या कर ली मिटकी की आत्मा भाईयों के इस कृत कार्य के लिए भाईयों को सताने लगी। बाद में भाईयों ने देवी-धाम (देव आराधना) के जरिए पता लगाया कि यह आत्मा मिटकी की है और हमारे कृत कार्यो के रूप में हमें सता रही है। फिर इन्होंने मिटकी को देवी रूप में पूजना प्रारंभ किया। धीरे-धीरे यह जानकारी एक गांव से दूसरे गांव में फैली व मिटकी के प्रति आस्था भी फैली कि-जो कामना मांगों वह पूर्ण होती है। वर्तमान में झिटकी-मिटकी की मूर्ति रखना शुभ माना जाता है बस्तर, उड़ीसा के कई क्षेत्रों में आज इसी मान्यता के साथ झिटकू-मिटकी की मूर्ति घर-घर रखी जाती है।[12]

बस्तर संभाग में जिलेवार बेलमेटल हस्तशिल्प कार्य में लगी जनजातियां

बस्तर संभाग के जिलों के नाम	बेलमेटल हस्तशिल्प कार्य में लगी जनजातियां	अनुमानित कारीगर संख्या	औसत
कोण्डागांव	गोंड, घसिया, भतरा, मुरिया	1500-2000	1750
बस्तर	दंडामी माड़िया, धुरवा	1000-1500	1250
नारायणपुर	मुरिया, घसिया	300-400	350
दंतेवाड़ा	दंडामी माड़िया	200-250	225
बीजापुर	माड़िया	250-300	275
कांकेर	गोंड	100-200	150
सुकमा	भतरा, माड़िया	250-250	250

तालिका 01 - बस्तर संभाग मे जिलेवार बेलमेटल हस्तशिल्प कार्य में लगी जनजातियां

स्त्रोंत– शोध प्रबंध शीतल शर्मा (वाणिज्य) 2016 प. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय रायपुर छ.ग. एवं साथी समाज सेवी संस्था कोंण्डागांव से प्राप्त आकड़े

घढ़वा (बेलमेटल) हस्तशिल्प बनाने की विधि-

कोण्डागांव जिले के राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त घढ़वा हस्तशिल्पकार पंचूराम सागर ने शोधार्थी को इस कला की विधि बताई व शोधार्थी ने अपने ऑखों से पूरी प्रक्रिया को देखा व समझा। घढ़वा कला (बेलमेटल) को मोम क्षय विधि द्वारा बनाया जाता है। मूर्ति निर्माण के पहले चरण में काली मिट्टी को धान के भूसे में मिलाकर अच्छी तरह गुंथ लिया जाता है फिर इससे सॉचा तैयार किया जाता है। शिल्पकार द्वारा सॉचे को मिट्टी से कच्चा रूप देकर तैयार करना 'मन मिट्टी' कहलाता है। इसी तरह तैयार ढॉचे की मूर्ति पर विभिन्न तरह की मिट्टियों से लेप करना 'रूई माटी' कहलाती है। अब उस कच्चे साचे को धूप अथवा आग में तपाकर ठोस किया जाता है। इसके पश्चात् इस पर गिली मिट्टी की दूसरी परत चढ़ाई जाती है इस बार मिट्टी के सूखने पर इसे घिसाई कर चिकना बना लिया जाता है। अगली प्रक्रिया में ऐसे पत्तों का उपयोग किया जाता है जिनके घिसने पर हरा रंग प्राप्त होता हो जैसे- सेम के पत्ते, इन पत्तों से तैयार ढॉचे को घिसा जाता है। इसके पश्चात् शिल्पकार मोम के तार की सहायता से आकृति के ऊपर विभिन्न तरह की कलात्मक बारीकियों को ऊभारता है। पूरी प्रक्रिया में प्राण इसी चरण में भरे जाते हैं। इस तैयार ढॉचे का मोम से श्रृंगार होने के पश्चात् खड़िया मिट्टी में कोयले के महिन पाउडर या गोबर मिलाकर आकृति के ऊपर हल्के हाथों से लेप चढ़ाया जाता है इस लेप के सूख जाने पर दीमक की बाबी की मिट्टी व धान के भूसे को मिलाकर लेप किया जाता है। इसी चरण में धातु को ढालने हेतु छेद छोड़ दिया जाता है। अब आकृति को पुनः आग पर तपाया जाता है जिससे मोम पिघल जाता है व उतने क्षेत्र में एक रिक्त अथवा खोखलापन बन जाता है। अगले चरण में धातु ढालने के लिए जो छेद छोड़ा गया था उस छेद के माध्यम से पिघली हुई धातु जैसे- कांसा, पीतल का प्रवेश कराया जाता है। यह घातु उन सभी रिक्त स्थानों में बैठ जाती है जहां से मोम पिघल गई थी अब इसे ठोस होने के लिए छोड़ दिया जाता है। इसके पश्चात् धातु के जम जाने के उपरान्त कलाकृति की ऊपर की मिट्टी को धीरे-धीरे तोड़कर अलग कर देते हैं और इस तरह धातु की कलात्मक प्रतिमा अपना आकार ले चुकी होती है।[13] घढ़वा

निष्कर्ष -

घढ़वा (बेलमेटल) कला विश्व की प्राचीनतम कलाओं में से एक है। छत्तीसगढ़ बस्तर संभाग में घढ़वा हस्तशिल्प कला जनजातियों की प्राचीन संस्कृति, सभ्यता का बोध कराता है। जनजातियों द्वारा निर्मीत हस्तशिल्प कला ने आज इस क्षेत्र में हस्तशिल्प उद्योग का रूप ले लिया है। यहां रहने वाली जनजातियां घढ़वा हस्तशिल्प के अंतर्गत विभिन्न तरह की कलाकृतियों का निर्माण कर कुटीर उद्योग, स्वसहायता समूह, सहकारिता समूह के माध्यम से इन हस्तनिर्मित कलाओं का विक्रय भी कर रही है। वर्तमान में घढ़वा हस्तशिल्प कला की मांग राष्ट्रीय ही नही अपितु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ी है। यह सत्य है कि प्रारंभ में आदिवासी कलाकारों को अपनी हस्तकला का सही मूल्य प्राप्त नही हो पाया और यह भी उतना ही सत्य है, कि गत दो दशक पहले तक भोले-भाले आदिवासी कलाकारों का आर्थिक शोषण कतिपय बिचौलियों द्वारा किया जाता रहा है। जनजातीय कलाकारों द्वारा निर्मित हस्तशिल्प वस्तुओं के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराने तथा विपणन के लिए अभी भी कदम उठाए जाने हेतु राज्य शासन को और गंभीर प्रयास करना होगा जिससे जनजातियों के आर्थिक स्तर में सुधार आने के साथ ही साथ उनका जीवन स्तर भी ऊॅचा हो सके।

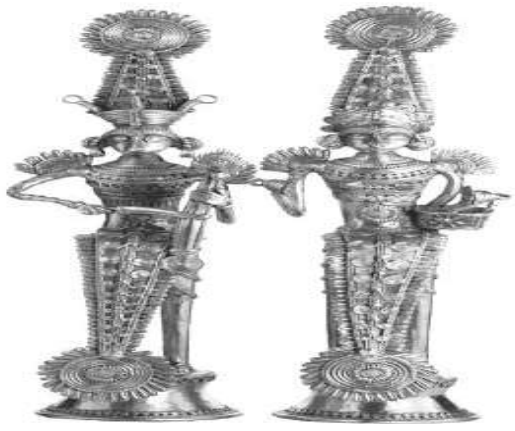

चित्र क्र.01 झिटकू-मिटकू की मूर्ति

चित्र क्र.02 आदिवासी की ढोल बजाते हुए मूर्ति

चित्र क्र03 आदिवासी परिवार की मूर्ति

चित्र क्र04 बैल की मूर्ति

चित्र क्र.05 बाजार जाता हुआ बैलगाड़ी मूर्ति

चित्र - उपरोक्त सभी चित्र घढ़वा (बेलमेटल) हस्तशिल्प द्वारा बनाये गए है।

संदर्भ सूची

01. खान, मुश्ताक (2013). 'आदिवासी कला परम्परा के निर्वाह से जीविकोपार्जन के साधन तक'.सामाजिक विकास परिषद आई.सी.एस.एस.आर. का शोध संस्थान राजेन्द्र नगर हैदराबाद के कार्यक्रम-आदिवासियों के सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों का साकार के अन्तर्गत प्रस्तुत आलेख, पृ.क्र. 1-28

02. वही, 2013 पृ.क्र. 1-28

03. एल्विन, वेरियर (1950). द ट्राइबल आर्ट ऑफ मिडिल इंडिया. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ.क्र.135

04. यदु, डॉ. हेमूलाल (1980). दक्षिण कोसल की कला. नई दिल्लीः रामानन्द विद्याभवन प्रकाशन, पृ.क्र.166

05. जगदलपुरी, लाला (2003). बस्तर लोक कला-संस्कृति प्रसंग. जगदलपुरः आकृति संस्थान, पृ.क्र. 08

06. दोषी, किरीट (1983). बस्तर का हस्तशिल्प. भोपालः मध्यप्रदेश संदेश पत्रिका माह-अप्रेल, पृ.क्र. 53

07. वही, 2013 पृ.क्र. 1-28

08. पटेल, हरिराम (2018). छत्तीसगढ़ विशिष्ट अध्ययन. बिलासपुरः कॉम्पिटिशन एकेडमी प्रथम संस्करण एच.आर. पब्लिकेशन्स, पेज न.123

09. साहू, छबिराम (2012). जनजातीय हस्तकलाएंः एक ऐतिहासिक अध्ययन बस्तर संभाग के विशेष संदर्भ में. पीएच.डी. शोध प्रबंध, इतिहास अध्ययनशाला, प. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय रायपुर छ.ग., भारत, पृ.क्र.74

10. वही, 2012 पृ.क्र. 74

11. प्रसाद, राजीव रंजन (2014). 'कभी मर नही सकते जयदेव बघेल!! कला अस्त नहीं होती', बस्तर भूमकाल समाचार पत्र में प्रकाशित आलेख, 25 नवंबर से 08 दिसंबर 2014, पृ.क्र. 14-16

12. शोधार्थी शिव कुमार सिंघल द्वारा बस्तर के राष्ट्रीय हस्तशिल्प पुरस्कार प्राप्त श्री पंचूराम सागर से लिए गए साक्षात्कार के आधार पर प्राप्त जानकारी दिनांक 20/01/2020

13. वही, 2020 हस्तशिल्पकार श्री पंचूराम सागर साक्षात्कार

●

भक्तिमार्गविशारदा शबरी

सुनीता मिश्रा एवम् प्रो. उपेन्द्र पाण्डेय***

विद्याविशारद की उपाधि जिस प्रकार विद्या-नैपुण्य को द्योतित करता है उसी प्रकार भक्तिशास्त्र में निष्णात होने की सर्वश्रेष्ठ उपाधि भक्तिमार्ग-विशारदा मानी जाती है और इस विशिष्ट उपाधि के भागीदारों में जिनका नाम सर्वोपरि लिया जाता है, उनका नाम शबरी है। यहाँ जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि वस्तुतः शबरी है कौन तथा इसे भक्तिमार्ग-विशारदा की उपाधि से क्यों विभूषित किया गया है? यद्यपि शबर भू-जाति विशेष की कन्या होने के कारण उसका नाम शबरी रखा जाना युक्तिसंगत प्रतीत होता है और सहज गुण के अनुसार यह नाम सर्वजन-संवेद्य भी है, तथापि विविध ग्रन्थानुसार विद्वानों ने उसके जन्म-कर्म के सन्दर्भ को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। प्रस्तुत लेख में शबरी की चर्चा भक्तिमार्ग विशारदा के रूप में करने का तात्पर्य यह है कि उसकी कर्त्तव्यनिष्ठा एवं गुरुभक्ति के फलस्वरूप साक्षात् भगवान् श्रीराम उसके पास स्वयं जाकर उसको सनाथित करते हैं और अपने सामने ही उसे दिव्यस्वरूप में अपने धाम में भेज देते हैं। वैसे तो भक्ति एवं भक्त की अनेकशः चर्चाएं भारतीय वाङ्मय में विविध रूपों में प्राप्त होती हैं, किन्तु सर्वपुराण-शिरोमणि ग्रन्थरत्न श्रीमद्भागवत में भक्तिनारद-संवाद अत्यन्त स्पृहणीय एवं अप्रतिम है। भागवत के विषय में मान्यता है कि जिस प्रकार विश्वसृट् विधाता मनुज-सृष्टि के पूर्व समग्र स्वनिर्मिति से असन्तुष्ट थे, उसी प्रकार सम्पूर्ण वाङ्मय की रचना के पश्चात् भी महर्षि वेदव्यास निजकृति से असन्तुष्ट होकर पुनः तपः-साधना में लीन हुए। तदनन्तर भगवत्-कृपा प्रसाद के कारण उन्हें भक्तों की कथाओं का विस्तार से वर्णन करने वाले किसी विलक्षण काव्य-सर्जना की सत्प्रेरणा सम्प्राप्त हुई तो श्रीमद्भागवत की रचना उन्होंने की। इस भागवत ग्रन्थ की महत्ता को ख्यापित करने वाले पद्मपुराण के उत्तरखण्ड के तृतीय अध्याय में कहा गया है कि सम्पूर्ण भुवनों में वे निर्धन भी धन्य हैं, जिनके हृदय में श्रीहरि की एकमात्र भक्ति निवास करती है। ऐसी भक्ति से पूतान्तःकरण वाले भक्तों के हृदय में स्वयं भगवान् भक्तिरूपी सूत्र में उपनिबद्ध होकर भी सब प्रकार के अत्यावश्यक क्रियाकलापों को अनदेखी कर अपने वैकुण्ठधाम को त्यागकर प्रवेश करते हैं। महर्षि व्यास के इस पद्यामृत का रसास्वादन करें-

सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या

निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका।

हरिरपि निजलोकं सर्वथाऽतो विहाय

प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः॥[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति की इसी महिमा के कारण अध्यात्म रामायण के अरण्यकाण्ड के अन्तिम दशवें सर्ग में गन्धर्वराज (कबन्ध) के कहने पर सीता का अन्वेषण करते हुए लक्ष्मण के साथ श्रीराम शबरी के आश्रम में जाते हैं। उस गन्धर्वराज ने ही शबरी के लिए भक्तिमार्ग विशारदा विशेषण प्रस्तुत किया था-

भक्त्या त्वत्पादकमले भक्तिमार्गविशारदा।

तां प्रयाहि महाभाग सर्वं ते कथयिष्यति॥[2]

भगवान् शंकर देवी पार्वती को रामकथा सुनाते हुए कहते हैं कि हे देवि! भगवान् राम से कबन्ध नामक राक्षस अपने पूर्ववाले गन्धर्वराज के स्वरूप को प्राप्त कर परमधाम को जाते हुए कहता है कि हे रघुनन्दन! सामने वाले आश्रम में शबरी रहती है जो आपके चरण कमलों में अति अनुराग रखने के कारण भक्तिमार्ग में कुशल है। अतः आप वहाँ पधारिये वह आपको सीता जी के सम्बन्ध में सब बातें बता देगी।

आश्रम में आतिथ्य सत्कार सम्पन्न करने के पश्चात् शबरी ने भक्तिपूर्वक हाथ-जोड़कर भगवान् श्रीराम से कहा कि इस आश्रम में पहले मेरे गुरु महर्षि मतंग रहा करते थे और मैं उनकी सेवा शुश्रूषा करती हुयी यहाँ हजारों वर्षों से रहती हूँ। वे महर्षिश्रेष्ठ अब ब्रह्मलोक को चले गये हैं तथा जाते समय उन्होंने मुझसे कहा था कि तू एकाग्रचित्त होकर यहीं रह, क्योंकि सनातन परमात्मा ने राक्षसों को मारने और ऋषियों की रक्षा करने के लिए राजा दशरथ के पुत्र रामरूप में अवतार लिया है और वे शीघ्र ही यहाँ आयेंगे इसलिए तू एकाग्रचित्त से उनका ध्यान करती हुयी इसी आश्रम में रह। इस संवाद से यह स्पष्ट होता है कि शबरी की भक्ति ईश्वर एवं गुरु के प्रति एक समान थी। अर्थात् शास्त्रोक्त **'यथा देवे तथा गुरौ'** सिद्धान्तानुसार शबरी को गुरुवाक्य में पूर्ण विश्वास था, जिसके कारण गुरुभक्ति-निष्ठा द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार स्वतः निवासाश्रम में हो जाता है। अध्यात्म रामायण के पद्यों का अवलोकन करें-

अत्राश्रमे रघुश्रेष्ठ गुरवो मे महर्षयः।

स्थिताः शुश्रूषणं तेषां कुर्वती समुपस्थिता॥

---

* शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, कला सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

** प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

बहुवर्षसहस्त्राणि गतास्ते ब्रह्मणःपदम्।

गमिष्यन्तोऽबुवन्मां त्वं वसात्रैव समाहिता।।

रामो दाशरथिर्जातः परमात्मा सनातनः।

राक्षसानां वधार्थाय ऋषीणां रक्षणाय च।।

आगमिष्यति सैकाग्रध्याननिष्ठा स्थिरा भव।

इदानीं चित्रकूटाद्रावाश्रमे वसति प्रभुः।।[3]

इसी क्रम में श्रीराम के दर्शन होने पर उस वाक्य को सफल होने की अनुभूति से प्रेरित होकर शबरी श्रीराम से कहती है कि हे राम! आपका दर्शन तो मेरे गुरुदेव को भी नहीं हुआ फिर हे अप्रमेयात्मन! मेरी तो बात ही क्या है, मैं तो नीचजाति में उत्पन्न हुयी एक गँवारी नारी ही हूँ। मैं तो जो आपके दासों के दास हैं उनके भी जो उत्तरोत्तर सैकड़ों दासानुदास हैं उनकी दासी होने की भी अधिकारिणी नही हूँ फिर साक्षात् आपकी दासी कहलाने का तो प्रश्न ही कहाँ है? हे राम! आप तो मन या वाणी के विषय नहीं है फिर न जाने आज मुझे आपका दर्शन कैसे हो गया।

हे देवेश्वर! मैं आपकी स्तुति करना तो नहीं जानती अब मैं क्या करुँ? आप स्वयं ही अपनी दयालुता से मुझ पर प्रसन्न होइए। अध्यात्म रामायण के इन पद्यों का रसास्वादन करें-

तव सन्दर्शनं राम गुरूणामपि मे न हि।

योषिन्मूढाप्रमेयात्मन् हीनजातिसमुद्भवा।।

तव दासस्य दासानां शतसङ्ख्योत्तरस्य वा।

दासीत्वे नाधिकारोऽस्ति कुतः साक्षात्तवैवहि।।

कथं रामाद्य मे दृष्टस्त्वं मनोवागगोचरः।

स्तोतुं न जाने देवेश किं करोमि प्रसीद मे।।[4]

इस प्रसङ्ग में ध्यातव्य है कि भक्ति-वैराग्य के साक्षात् प्रतीक भगवद्भक्त देवर्षि नारद, जो स्वयं देवी भक्ति के भी मार्गप्रदर्शक हैं उनकी अपेक्षा शबरी में कौन से ऐसे विलक्षण गुणगण थे, जिसके कारण अत्यन्त प्रियभक्त नारद से भक्ति का साङ्गोपाङ्ग वर्णन न करके एक सामान्य भगवद्भक्त शबरी से इस भक्तिस्वरूप का विवेचन विस्तार से करते हैं। इसका विश्लेषणपूर्वक विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि शबरी में जो गुण थे वे तो थे ही, किन्तु भगवान् को विशेषरूप में मानवों का परिचय भक्ति से कराना था इसलिए उन्होंने मानवों में भी अत्यन्त साधारण स्त्री शबरी को इसके आद्य श्रोता होने का सौभाग्य प्रदान किया। देवर्षि नारद को इसका उपदेश करते तो वे देवों के ऋषि होने के कारण उसका प्रचार-प्रसार या अनुपालन विशेषरूप से देवों में अधिक होता उसका मानवीकरण कम हो पाता।

उपर्युक्त पद्यों के माध्यम से देवी शबरी की बात सुनकर श्रीराम अति प्रसन्न होकर भक्ति के मर्म-प्रकाशन के साथ नवधा भक्ति के स्वरूप का वर्णन उस साधारण नारी शबरी से करते हैं, जो कुछ ही समय बाद अपने शरीर को जलाकर स्वयं उनके परमधाम वैकुण्ठ को जाने वाली है। इससे यह सुनिश्चित होता है कि श्रीमद्भागवत में प्रोक्त अधो-निर्दिष्ट पद्यार्थ कितना सार्थक सिद्ध हो रहा है। पद्य में कहा गया है कि चिन्तामणिरत्न सांसारिक सम्पूर्ण लोकसुख को देता है और कल्पवृक्ष स्वर्ग की सम्पत्तियों को देता है किन्तु प्रसन्न हुआ गुरु तो योगियों के लिए भी दुर्लभ वैकुण्ठ धाम को भी दे देता है-

चिन्तामणिर्लोकसुखं सुरद्रुः स्वर्गसम्पदाम्।

प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुण्ठं योगिदुर्लभम्।।[5]

इससे स्वतः सिद्ध हो रहा है कि शबरी अपने गुरु मातंग के प्रति कितनी एकनिष्ठ भक्ति रखती थी और उनके वाक्य पर विश्वास कितना दृढ़ था, जिसका सुपरिणाम श्रीराम की उपस्थिति में ही अपने शरीर को योगाग्नि द्वारा जलाकर वैकुण्ठधाम की प्राप्ति से सुस्पष्ट होता है।

ऐसी भगवद्भक्त शबरी के लिए अध्यात्म-रामायण में भक्तिमार्ग-विशारदा की उपाधि अर्थात् विशेषण प्रयुक्त है, जिसको सम्पूर्ण मानवजाति का प्रतिनिधि होने का सौभाग्य भगवान् श्रीराम स्वयं देते हैं और उसके माध्यम से ही परमात्मा में परानुरक्तिरूप भक्ति के स्वरूप-लक्षण एवं साधन का विशद व्याख्यान करते हैं। साक्षात् श्रीराम द्वारा प्रोक्त अध्यात्म रामायण के इस प्रसङ्ग को प्रस्तुत करने वाले अतिसुगम पद्यों को हृदयंगम करें-

पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः।

न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम्।।

यज्ञदानतपोभिर्वा वेदाध्ययनकर्मभिः।

नैव द्रष्टुमहं शक्यो मद्भक्तिविमुखैः सदा।।

तस्माद् भामिनि संक्षेपाद् वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम्।

सतां संगतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्।।

द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।

व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्।।

आचार्योपासनं भद्रे मद्बुध्यामायया सदा।

पञ्चमं पूर्णशीलत्वं यमादिनियमादि च।।

निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम्।

मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते।।

भद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः।

बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा।।

अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि।

एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा।।[6]

स्त्रियो वा पुरुषस्यापि तिर्यग्योनिगतस्य वा।

भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे।।

भक्तौ संजातमात्रायां मत्तत्वानुभवस्तदा।

ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि।।

स्यात्तस्मात्कारणं भक्तिर्मोक्षस्येति सुनिश्चितम्।।[7]

अर्थात् श्रीराम ने शबरी से कहा, कि पुरुषत्व-स्त्रीत्व का भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम- ये कोई भी मेरे भजन के कारण नहीं हैं, उसका कारण तो एकमात्र मेरी भक्ति ही है जो मेरी भक्ति से विमुख हैं, वे यज्ञ, नाम, तप अथवा वेदाध्ययन आदि किसी भी कर्म से मुझे कभी नहीं देख सकते।

अतः हे भामिनि! मैं संक्षेप में अपने भक्ति के साधनों का वर्णन करता हूँ उनमें पहला साधन तो सत्संग ही है। मेरे जन्म-कर्मों की कथा का कीर्तन करना दूसरा साधन है, मेरे गुणों की चर्चा करना यह तीसरा उपाय है और गीता-उपनिषदादि मेरे वाक्यों की व्याख्या करना भक्ति का चौथा साधन है। हे भद्रे! गुरुदेव की निष्कपट भाव से भगवद्बुद्धि द्वारा सेवा करना पाँचवाँ, पवित्र स्वभाव यमनियमादि का पालन और मेरी पूजा में सदा प्रेम होना छठा तथा मेरे मन्त्र की साङ्गोपाङ्ग उपासना करना सातवाँ साधन कहा जाता है। मेरे भक्तों की मुझसे भी अधिक पूजा करना, समस्त प्राणियों में मेरी भावना करना, बाह्य पदार्थों में वैराग्य करना और शमदमादि सम्पन्न होना यह भक्ति का आठवाँ साधन है तथा तत्त्वार्थविचार करना नवाँ है। हे भामिनि! इस प्रकार यह नव प्रकार की भक्ति है।

हे शुभलक्षणे! जिस किसी में ये साधन होते हैं वह स्त्री, पुरुष अथवा पशु-पक्षी आदि कोई भी क्यों न हो उसमें प्रेमलक्षणा भक्ति का आविर्भाव हो ही जाता है। भक्ति के उत्पन्न होने मात्र से ही मेरे स्वरूप का अनुभव हो जाता है और जिसे मेरा अनुभव हो जाता है उसकी उसी जन्म में निःसन्देह मुक्ति हो जाती है, अतः यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष का कारण भक्ति ही है। इससे स्पष्ट होता है कि भक्तवत्सल भगवान् के प्रसन्न होने पर कुछ भी प्राप्तव्य दुर्लभ नहीं है, क्योंकि उनके कृपाप्रसाद से नीचजाति में उत्पन्न हुई शबरी ने भी मोक्षपद प्राप्त कर लिया, तो फिर भगवान् श्रीराम का ध्यान करने वाले पुण्यजन्मा ब्राह्मणादि यदि मुक्त हो जाएं तो इसमें क्या आश्चर्य है। निःसन्देह भगवान् राम की भक्ति ही मुक्ति को देनेवाली है, इसीलिए संसार के सम्पूर्ण मानवों को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि, भगवान् श्रीराम की भक्ति ही मोक्ष देनेवाली है, अतः कामधेनुरूप उनके चरण युगलों की अतीव उत्सुकता से सेवा करो। हे बुद्धिमान् मानव! नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञानकी चर्चाओं और मन्त्रविस्तार को दूर (अलग) रखकर शीघ्र ही श्रीशंकर के हृदयधाम में शोभा पानेवाले श्यामल शरीरवाले भगवान् राम का अत्यन्त भक्तिपूर्वक भजन करो-

भक्तिर्मुक्तिविधायिनी भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य हे

लोकाः कामदुघाङ्घ्रिपद्मयुगलं सेवध्वमत्युत्सुकाः।।

नानाज्ञानविशेषमन्त्रवितितिं त्यक्त्वा सुदूरे भृशं

रामं श्यामतनुं स्मरारिहृदये भान्तं भजध्वं बुधाः।।[8]

उपर्युक्त नवधा भक्ति का वर्णन सन्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के अरण्यकाण्ड में सुगमता के लिए लोभभाषा के माध्यम से इस प्रकार किया है-

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।

गुरुपद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान। चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि जान।।

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।।

छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा।।

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते संत अधिक करि लेखा।।

आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा।।

नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना।।

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई।।

सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें।।[9]

उक्त दोनों प्रसंग-वर्णनों की साम्यता इसी से सुस्पष्ट है कि उभयत्र शबरी के लिए 'भामिनि' शब्द का सम्बोधन दो बार किया गया है। चौपाई में अन्तिम चौपाई के द्वारा गोस्वामी जी ने भी 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें' के द्वारा नवधा भक्ति के समग्र लक्षण शबरी में सुव्यक्त एवं सुलभ हैं इसीलिए शबरी की भक्ति को दृढ़ भक्ति अर्थात् अनन्या भक्ति के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार भी कर्म, भक्ति एवं ज्ञानयोग के माध्यम से भक्ति मध्य में रखकर देहली-दीपकन्याय के अनुसार कर्म योगी (गृहस्थ) तथा ज्ञानयोगी (सन्यासी) इन दोनों की संसिद्धि-प्राप्ति के लिए भी भक्ति से जुड़ना अनिवार्य बतलाया गया है। अर्थात् परमतत्त्व की प्राप्ति भक्ति के बिना न कर्मयोगी गृहस्थ को हो सकती है और न ही ज्ञानयोगी को। सम्पूर्ण लक्षणों के साथ परमात्मा श्रीराम के प्रति अतिशय दृढ़ अनुराग था, जिसके कारण उस साधारण सी नारी शबरी को भक्तिमार्ग की कुशल भक्तपथिक माना गया।

संदर्भ-सूची

1. श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, अध्याय 3, श्लोक 73.
2. अध्यात्म रामायण, अरण्यकाण्ड, 10/2.
3. अध्यात्म रामायण, अरण्यकाण्ड, 10/11-14.
4. अध्यात्म रामायण, अरण्यकाण्ड, 10/17-19.
5. श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, 1/8.
6. अध्यात्म रामायण, अरण्यकाण्ड, 10/20-27.
7. अध्यात्म रामायण, अरण्यकाण्ड, 10/28-30.
8. अध्यात्म रामायण, अरण्यकाण्ड, 10/44.
9. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा- 35-36.

●

भारत में पर्यटन की समस्यायें एवं संभावनाएँ

डॉ0 राजबहादुर एवम् डॉ0 संजय कुमार***

भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ मानी जाती है क्योंकि बहुत सारे उद्योग प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से कच्चा पदार्थ कृषि आधारित उत्पादों से प्राप्त करते हैं। कृषि में उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ अन्य अनेक उद्योगों का विकास हुआ जैसे- स्टील उद्योग, कपड़ा उद्योग, सेवा उद्योग आदि जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लोगों को रोजगार प्रदान करते हैं। उद्योग जगत में अदृश्य लेकिन निरंतर गतिमान पर्यटन उद्योग आज न केवल भारत वरन् विश्व की महत्वपूर्ण आवश्यकताओं में शामिल हो गया है। भारत में इसका इतिहास अतिप्राचीन है। अनादिकाल से लेकर आज तक पर्यटन ने अपने स्वरूप में अनेक परिवर्तन करते हुए न केवल भारत अपितु विश्व पटल पर मजबूती के साथ प्रकट हुआ है।

भारत में इसकी शुरूआत सांस्कृतिक आदान-प्रदान करने, नवीन भूदृश्यों को खोजने तथा उन्हें जानने-समझने से शुरू होकर मनोरंजन, आनन्द-विनोद, मुद्रा अर्जन आदि तक सतत् प्रगति कर रहा है। विश्व के विकसित देशों में प्रचलित इसके सकारात्मक प्रभावों को देखते हुए भारत में भी इसका प्रचलन एवं विस्तार बड़ी तेजी से हो रहा है। अवकाश के समय का ज्ञानवर्धक उपयोग, विदेशी मुद्रा की प्राप्ति, रोजगार के अवसरों का सृजन तथा दो या दो देशों के बीच मैत्रीय-मिलन/सम्बन्ध स्थापित करना जैसे वर्तमान आवश्यकता की आपूर्ति-क्षमता रखने की असीम सम्भावनाओं वाला क्षेत्र पर्यटन आज दुनिया का ध्यान अपनी ओर आकर्षत किया है।

आज भारत का पर्यटन उद्योग देशी और विदेशी पर्यटकों को आकर्षित करने की पूर्ण क्षमता रखता है क्योंकि यहाँ विविध विशेषता के भूदृश्य पर्यटकों के लिए उपलब्ध है। भारत के आन्तरिक भागों में उपस्थित पर्यटन स्थलों को देखने के लिए विदेशी पर्यटकों के साथ ही साथ देशी दर्शनार्थियों का भी मुद्रा निर्माण में बहुत बड़ा योगदान है। आज भारत में पर्यटकों की संख्या में उत्तरोत्तर इजाफा तथा स्थानीय/क्षेत्रीय विकास में संतुलन स्थापित हो रहा है।

भारत के अन्दर पर्यटन के अधिक विकसित होने से स्थानीय कौशल, शिल्पकला, लोककला, गीत-संगीत, नृत्य, अभिनय, वादन तथा सांस्कृतिक समृद्धता को उचित स्थान मिलने से खोयी हुई विरासत को पुनर्जीवित करने का अवसर मिलेगा। इसके अलावा पर्यटन के माध्यम से मूर्त तथा अमूर्त वस्तुओं के उत्पादन से स्थानीय तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को गति देने में सहायक सिद्ध होगा।

इस शोध के माध्यम से भारत में पर्यटन के प्रसार, पर्यटन उद्योग का निर्माण तथा इससे संबंधित गतिविधियों की संभावनाओं का वर्तमान एवं भविष्य के संदर्भ की समीक्षा करना एवं इससे संबंधित अन्य अनेक क्षेत्रों में पर्यटन विकास को रेखांकित करना जहां रोजगार के अवसर उपलब्ध हो सके।

पिछले कुछ दशकों से विदेशी एवं घरेलू पर्यटकों की संख्या में भारी वृद्धि देखने को मिली है। परिणामस्वरूप भारत में पर्यटन तेजी से विकसित एवं प्रसिद्ध हो रहा है। पर्यटकों की इस संख्या का सुनियोजित प्रबंधन केवल कुछ स्थानों तक सीमित है, शेष स्थानों में पर्यटकों का अधिक दबाव, क्षेत्रीय विषमता, ढांचागत सुविधाओं की कमी तथा अनियोजित पर्यटन विकास जैसी समस्याएँ विद्यमान है। अतः क्षेत्रीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक की समस्याओं को रेखांकित करना एवं संभावनाओं को तलाशना भी इसमें शामिल है।

शोध का उद्देश्य-

- भारत में पर्यटन विकास की स्थिति एवं प्रगति का आंकलन करना।
- क्षेत्रीय विकास में पर्यटन की भूमिका का मूल्यांकन करना।
- रोजगार सृजन के रूप में इसकी समस्याओं एवं संभावनाओं को तलाशना।

भारत में पर्यटन उद्योग का स्वरूप

अन्य देशों की तुलना में भारत में पर्यटन की मौजूदा स्थिति बहुत ज्यादा सन्तोषजनक कही जा सकती है। भारत विश्व का सातवां बड़ा देश है जहां विविध खूबसूरत समुद्री किनारे, सदाबहार वन, जैविक-विविधता, समृद्ध सांस्कृतिक विरासत, महल, मंदिर, मस्जिद, किले, गुफाएँ, पेंटिंग्स, विविध धरातलीय बनावट तथा जीवन के विविध रंग आदि अनेक विविधताओं से परिपूर्ण है। इन तत्वों की उपस्थिति से भारत की स्थिति विश्व स्तरीय के साथ एशियाई देशों में भी बहुत सुदृढ़ है। वर्तमान पर्यटन के विभिन्न प्रकारों- धार्मिक, ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, हेरिटेज-टूरिज्म, वन्य-जीव, पारिस्थितिकी-पर्यटन, सांस्कृतिक-पर्यटन, चिकित्सा-पर्यटन,

* सहायक प्राध्यापक, सामान्य एवं व्यावहारिक भूगोल विभाग, डॉ0 हरीसिंह गौर वि0वि0, सागर (म0प्र0)
** सहायक प्राध्यापक, भूगोल विभाग, महिला महाविद्यालय, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

योग जैसी अनेक संभावनाएँ मौजूद हैं परन्तु आज भी हम प्रबंधन व पर्यटन विकास में हांगकांग, सिंगापुर, थाईलैण्ड जैसे छोटे देशों से काफी पीछे हैं।

भारत में ऐसे कई क्षेत्र हैं, जहाँ उसकी सम्पदा व क्षमता का पूरी तरह से दोहन नहीं किया गया है। पर्यटन क्षेत्र में उनमें से एक है। भारत में पर्यटन तीसरा सबसे बड़ा प्रभाग है जो विदेशी मुद्रा का अर्जन करता है। विश्व पर्यटन संगठन के अनुसार भारत के सकल घरेलू उत्पाद में पर्यटन का योगदान 6.8 (2013) प्रतिशत है जबकि इसी साल पर्यटकों से 18.13 बिलियन डॉलर की आमदनी हुई। भारत की स्थिति विश्व में विदेशी पर्यटकों के आगमन में 42वें स्थान पर रही। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटक आगमन (2013) में भारत का हिस्सा 0.64 प्रतिशत जबकि एशिया महाद्वीप में 2.81 प्रतिशत के साथ 12वें स्थान पर था। वर्ल्ड ट्रैवल एवं टूरिज्म काउंसिल (डब्ल्यूटीटीएस) के अनुसार देश की कुल जीडीपी के मामले में भारत विश्व में 7वें स्थान पर है। इस क्षेत्र ने वर्ष 2016 में 14.1 ट्रिलियन (USD 208.9 बिलियन) राशि का उत्पादन किया जो भारत के सकल घरेलू उत्पाद के 9.6 प्रतिशत के बराबर थी। जबकि 2016 में ही इस क्षेत्र से 40.3 मिलियन नौकरियाँ सृजित हुई जो कुल रोजगार के विश्व मामले में दूसरे स्थान पर रहा अर्थात् देश के 9.3 प्रतिशत लोग लगे हुए हैं।

फिक्की (फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैंबर्स ऑफ कॉमर्स एंड इण्डस्ट्रीज) के एक सर्वेक्षण (2013) के अनुसार भारत में पर्यटन उद्योग के लिए बहुत उज्ज्वल भविष्य है। भारत हमेशा अपनी विविध जलवायु, आतिथ्य सत्कार, विशिष्टता आदि के लिए जाना जाता रहा है जो हजारों पर्यटकों को विविध प्रकृति वाले पर्यटन स्थलों को देखने एवं मनोरंजन की संभावनायें रखता है।

पर्यटन : कल और आज

भारत में पहली बार साठ के दशक में दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61) में पर्यटन के व्यावसायिक और आर्थिक महत्व को समझते हुए इसका उल्लेख किया गया। तब तक विश्व के अनेक देशों ने पर्यटन क्षेत्र में काफी विस्तार कर लिया था। इस अवधि में भारत ने पहली बार महत्वपूर्ण व विदेशियों की पसंद के पर्यटन स्थलों को विकसित करने की सुनियोजित योजना बनायी तथा राज्य सरकारों को अपनी परिधि के अंदर स्थित पर्यटन स्थलों को विकसित करने के लिए प्रेरित किया।

सन् अस्सी के दशक (1985-90) में विदेशी और देशी पर्यटकों की बढ़ती संख्या को देखते हुए आधारभूत सुविधाओं जैसे- यातायात एवं परिवहन, संचार, आवास, सुरक्षा तथा पर्यावरण की सुरक्षा को महसूस किया जाने लगा क्योंकि बिना उक्त साधनों के विकास के पर्यटन गतिविधियों को आगे बढ़ाना संभव नहीं था।

हेनप्पा, रामकिशन (2006) के अनुसार, भारतीय पर्यटन उद्योग विशेष तौर से 1990 में, देशी एवं विदेशी पर्यटकों के आगमन में उल्लेखनीय वृद्धि की। इसी आमद को देखते हुए भारतीय पर्यटन मंडलियों ने एक नया कार्यक्रम शुरू किया- अतिथि देवो भव, अर्थात् अतिथि हमारा भगवान है। इस दर्शन के माध्यम से विश्व में यह संदेश देना कि सम्मान हमेशा भारतीय आत्मा का प्रमुख मन्त्र है।

भारत में पर्यटन का अस्तित्व पुराना है। यहाँ सभी वर्ग और धर्म के लोग एक साथ मिलकर इस गतिविधि को सम्पन्न करते हैं। इसके महत्व को देखते हुए मार्क ट्वेन (राष्ट्रीय पर्यटन नीति, 2002) में कहा था- 'भारत एक ऐसा देश है जिसको विदेशी राजकुमार हों या किसान, ज्ञानी-अज्ञानी, बुद्धिमान एवं मूर्ख, अमीर-गरीब, बन्धुआ व मुक्त सभी इस भूमि को देखने की इच्छा रखते हैं वह सभी इसकी एक झलक के लिए दुनिया के सारे कार्यक्रम को भूलकर यहाँ आना पसंद करेंगे।

इसी प्रकार भारत में पर्यटन के महत्व को जनमानस तक पहुँचाने तथा इसके भविष्य देखते हुए अक्टूबर 2001 में देश के मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन में (राष्ट्रीय पर्यटन नीति, 2002) स्व0 श्री अटल विहारी वाजपेयी ने कहा था- 'पर्यटन दुनिया के हिस्सों में आर्थिक विकास का एक प्रमुख अवयव है। कई देशों ने पर्यटन की क्षमता के बल पर अपनी अर्थव्यवस्था बदल दी है। इसमें रोजगार पैदा करने की अपार क्षमता है खासकर अकुशल लोगों के लिए बड़े पैमाने पर रोजगार के अवसर पैदा किये जा सकते हैं।'

भारत के राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों में देशी एवं विदेशी पर्यटकों का आगमन (मिलियन में)

सारणी- 1

वर्ष	घरेलू पर्यटक	विदेशी पर्यटक
1997	159.88	5.50
1998	168.20	5.54
1999	190.67	5.58
2000	220.11	5.89
2001	236.47	5.44
2002	269.60	5.16
2003	309.04	6.71
2004	366.27	8.36
2005	392.01	9.95
2006	462.32	11.74
2007	526.56	13.26

2008	563.03	14.38
2009	668.80	14.37
2010	747.70	17.91
2011	864.53	19.50

स्रोत : पर्यटन मंत्रालय, भारत सरकार, 1997-2011

सारणी-2

भारत में पर्यटन से विदेशी मुद्रा की प्राप्ति (यूएसएस मिलियन में) 1997-2011

वर्ष	भारत में विदेशी पर्यटकों से प्राप्त आय
1997	2889
1998	2948
1999	3009
2000	3460
2001	3198
2002	3103
2003	4463
2004	6170
2005	7493
2006	8634
2007	10729
2008	11832
2009	11136
2010	14193
2011	16564

स्रोत : Good Research Thoughts/Volume/Issue-11/May 14.

पर्यटन : एक सेवा उद्योग

वर्ष 2002 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने पर्यटन को एक उद्योग का दर्जा प्रदान कर दिया था तब से यह अत्यधिक श्रम आधारित हो गया। यह पर्यटकों को उनके निज निवास से लेकर वापिस आने तक, उसके द्वारा चाही गई इच्छा की पूर्ति करता है। इस उद्योग में पर्यटकों द्वारा किये जाने वाले खर्च तथा सेवा उद्योग में संलग्न लोगों की आमदनी अनिश्चित होती है। विश्व यात्रा एवं पर्यटन संगठन के अनुसार इस क्षेत्र में देश के लगभग 6 प्रतिशत लोग संलग्न हैं। वर्ष 2004 में भारत की लगभग 2.4 प्रतिशत श्रमशक्ति को प्रत्यक्ष रूप से पर्यटन सेवा से रोजगार प्राप्त हुआ। यह श्रम होटल, यातायात, टैक्सी, पर्यटन प्रबन्धन, फुटकर दुकानदारों, उपहार विक्रय जैसी सेवाओं में कार्यरत रहकर सेवा प्रदान करने के एवज में मिला। इसके अलावा अप्रत्यक्ष रूप से यह उद्योग लगभग 13 मिलियन लोगों को आंशिक व पूर्ण समय के लिए द्वितीयक सेवाएँ उपलब्ध कराने से रोजगार प्राप्त करते हैं। इतना ही नहीं पर्यटन उद्योग गाइड, लोक कलाकारों, हस्तकरघा में संलग्न कलाकारों, फोटोग्राफी के अतिरिक्त कपड़ा धुलाई, दवा विक्रेता व प्रसाधन विक्रेताओं आदि को भी रोजगार प्रदान करने की क्षमता रखता है। पर्यटन उद्योग अपनी तरह का ऐसा उद्योग है जो सभी स्तर के श्रमिकों को श्रम देने की क्षमता रखता है। जिस तरह से भारत में कार्य की प्रकृति एवं विविधता है, पर्यटन अकुशल श्रम (चाय, फल, दूध, वस्तु, उपहार) से लेकर कुशल (सेफ, पेशेवर गाइड, चालक, ऑपरेटर के साथ कुशल आयोजक) को भी शामिल करता है। इसीलिए इसे बहुआयामी सेवा उद्योग कहा जाता है।

आर्थिक गतिविधि के अन्य क्षेत्रों जैसे कृषि व उद्योग की अपेक्षा इसमें कम लागत की आवश्यकता होती है तथा इसका सबसे बड़ा फायदा प्राकृतिक संसाधनों का दुरुपयोग नहीं होता जैसे कि कृषि व विनिर्माण उद्योगों में होता है। समय के साथ पर्यटन एवं इसके क्षेत्र में विस्तार होता है और पर्यटकों की जरूरतों को पूरा करने के लिए क्षेत्रीय व राष्ट्रीय स्तर पर ढांचागत सुविधाओं जैसे परिवहन, संचार, विद्युत आपूर्ति, स्वच्छ जल व साफ-सफाई आदि की मांग भी बढ़ती है।

एक उद्योग के रूप में पर्यटन को विकसित करने के लिए आकर्षण की विविधता जरूरी होती है। वर्तमान में पर्यटन उद्योग बाजार आधारित होता जा रहा है। पर्यटन की उत्तरोत्तर वृद्धि से कृषि, वस्त्र, आवास, विनिर्माण, भवन, सड़क, संचार को बढ़ावा मिल रहा है। इसके अलावा अन्य अनेक छोटे उद्योग (कुटीर, हथकरघा, हस्तशिल्प) भी विकसित हो रहे हैं। पर्यटन का प्रबन्धन करने के लिए पर्यटन विभाग, टूर ऑपरेटर आदि सक्रिय होकर इस गतिविधि में मुख्य भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं।

पर्यटन का क्षेत्रीय प्रसार

भारत में पर्यटन के विस्तार की सबसे बड़ी समस्या या तो यह कुछ राज्यों तक सीमित व लोकप्रिय है या फिर इसके क्रमिक क्षेत्रीय विकास पर जोर नहीं दिया गया। भूगोल के क्षेत्रीय उपागम के तहत अन्य अनेक क्षेत्र हैं जो आर्थिक रूप से अत्यंत पिछड़े हुए हैं लेकिन वहाँ की संस्कृति, कलाएँ, परम्पराएँ, पर्यटक उत्पाद या फिर सेवा-सत्कार की भावना अगम्य है। एक पर्यटक हमेशा उस देश की स्मारक/यादगार वस्तु को अपने साथ ले जाना चाहता है जहाँ की

वह यात्रा करता है। दुर्भाग्य इस बात का है कि इन क्षेत्रीय स्तर के आकर्षण को न तो पहचाना गया है और न बाहर निकालने का जमीनी प्रयास किया गया।

भारत में आज युवा बेरोजगारों की अधिकता है, ऐसे लोग पठन-पाठन के साथ आंशिक रूप से रोजगार करना चाहते हैं। यह वर्ग होटल, विक्रय केन्द्र, मौसमी मार्गदर्शन, हस्तकलात्मक वस्तु निर्माण आदि में स्वरोजगार प्राप्त कर आगे बढ़ सकता है। भारत के अन्य अनेक गैर-औद्योगिक क्षेत्रों का कृषक हस्त-निर्मित वस्तुओं का निर्माण कर कुटीर उद्योग को पुनर्जीवित कर सकता है। मगर उचित मूल्य एवं बाजार के अभाव में रोजगार सृजन की संभावनाओं का विकास नहीं हो पाता है।

भारत शिल्पकला एवं कौशल का बहुत बड़ा अजायबघर है। ऐसे उत्पादों की सूची बहुत बड़ी है। आज भारत का अधिकांश युवा वर्ग रोजगार की तलाश में शहर की ओर पलायन कर रहा है जिससे शहरों में अनावश्यक दबाव बढ़ रहा है। अतः ऐसे अनेक अविकसित क्षेत्रों में पर्यटन-सेवा-उत्पाद को विकसित कर उन्हें स्थानीय स्तर पर रोजगार उपलब्ध कराया जा सकता है साथ ही स्थानीय अर्थव्यवस्था की उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है।

पर्यटन का प्रभाव

विश्व सहित अन्य अनेक एशियाई देश अपनी अर्थव्यवस्था में पर्यटन को एक आधारभूत अंग मानकर आगे बढ़ रहे हैं क्योंकि पर्यटन आज एक विषद् व बहुआयामी क्षेत्र हो गया है। इसका प्रभाव कई क्षेत्रों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दिखाई दे रहा है। नीचे दिये गये विवरण से पर्यटन के प्रभाव को समझा जा सकता है-

1. पर्यावरण पर प्रभाव- पर्यावरण प्रकृति की अद्वितीय अनुकृति है। विश्व के अन्य देशों की तुलना में भारत में पर्यावरण एवं पर्यावरणीय तत्व समृद्ध है। ऐसे देश जहाँ का पर्यावरण संतुलित होता है पर्यटकों की पहली पसंद होती है। पर्यटकों के अत्यधिक आकर्षण के लिए पर्यावरणीय तत्वों का सतत् विकास व देखभाल अतिआवश्यक है।

पर्यावरण को जीवित रखने के लिए मिट्टी को मरने से बचाना होगा। सामान्यतया मानवीय क्रियाओं जैसे- कृषि, उद्योग, व्यापार, पशुपालन, सड़क, बाँध, रेलवे एवं जंगल कटाई से मिट्टी की ऊपरी सतह स्वतंत्र होकर अलग हो जाती है जो वर्षा, हवा, बाढ़ तथा मानवीय प्रदूषण से या तो स्थान्तरित हो जाती है या फिर अपना स्वाभाविक गुण खोना शुरू कर देती है। इसके अलावा प्लास्टिक, टिन, रासायनिक प्रदूषण, रासायनिक कचरा आदि भी इसकी उर्वरक क्षमता को नष्ट कर देता है जिससे वन, वनस्पति, घास, झाड़ियों आदि की उत्पादन क्षमता कम हो जाती है। परिणाम स्वरूप जैव-विविधता में कमी आ जाती है तथा पारिस्थितिकी संतुलन बिगड़ने लगता है। वन्य एवं वनस्पतियों के अभाव से जीव-जंतुओं की प्रजाति भी खतरे में आ जाती है। यही कारण है कि देश से हजारों वनस्पतियों एवं जीव-जंतुओं की प्रजातियाँ विलुप्त हो गईं तथा हजारों विलुप्त होने की कगार पर खड़ी हैं।

भूतपूर्व प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में- 'आदमी संस्कारित व सभ्य होने के बावजूद, कथित जंगली जानवरों की तुलना में, न केवल जंगली है अपितु उससे भी ज्यादा खतरनाक है।'

लगातार जंगलों का कटना (आवास-निर्माण, गरीब-बेरोजगार, सड़क-निर्माण, औद्योगिक विकास आदि के लिए) जंगली जीवों व पशु-पक्षियों के आवास के विनाश का कारण बनता है। परिणामस्वरूप या तो जीव अपना आशियाना बदल देते हैं या फिर मानव व जीवों के शिकार की भेंट चढ़ जाते हैं। यहीं से पर्यावरण क्षति के साथ जैव-विविधता की हानि का सिलसिला होना शुरू हो जाता है।

भारत में अभी भी पर्यावरण की स्थिति कुछ राज्यों व क्षेत्रों में अधिक सुदृढ़ है। जिन क्षेत्रों में पर्यावरण अवनयन हुआ है उसका एक कारण पर्यटकों का दबाव भी रहा है।

चूंकि पर्यटन एक उद्योग है। आज पर्यटन स्थलों को आधुनिक तरीके से उन्नति करने के लिए स्वीमिंग पुल, वाटर पार्क, शॉवर स्नान तथा स्वच्छता का रख-रखाव, गन्दे पानी की निकासी, स्वच्छ जल-आपूर्ति आदि ने पानी की एकतरफा खपत को बढ़ा दिया है। परिणामस्वरूप पर्यावरणीय तत्वों के स्वभाव में विपरीत असर दिखाई देने लगते हैं।

पर्यटन के घटक

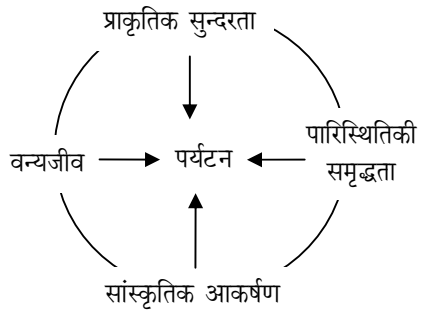

उक्त पर्यावरण के सभी घटक एकल व सामूहिक रूप से पर्यटन को प्रभावित करते हैं। भविष्य को दृष्टिगत रखते हुए भारत में पर्यावरण संरक्षण की नितांत आवश्यकता है जिससे प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण व संवर्धन दीर्घावधि के लिए किया जा सके।

दिल्ली, कलकत्ता, अहमदाबाद, मद्रास जो पहले सांस्कृतिक पर्यावरण के केन्द्र हुआ करते थे वह आज प्रदूषण व प्राकृतिक आकर्षण के अभाव में पर्यटकों को आकर्षित करने में नाकाफी साबित हो रहे हैं। स्थानीय प्रबन्धन एवं राष्ट्रीय नीति के तहत ऐसे स्थानों के संरक्षण की जरूरत है, साथ ही राष्ट्रीय उद्यान एवं वन्य जीव अभ्यारण्य की संख्या में वृद्धि के साथ ही वन क्षेत्र का विस्तार व शेष वनों का रख-रखाव भी बहुत जरूरी है।

2. पर्यावरण का क्षेत्रीय प्रभाव- भारत में अर्थव्यवस्था एवं आर्थिक विकास का क्षेत्रीय वितरण असमान है। ठीक इसी प्रकार पर्यटन सम्बन्धी गतिविधियों में क्षेत्रीय व प्रादेशिक असमानता देखने को मिलती है। भारत में पर्वतीय, समुद्रतटीय व मैदानी क्षेत्रों (धार्मिक व आध्यात्मिक पर्यटन केन्द्र) आदि में पर्यटन का विकास अधिक हुआ है। यहाँ तक कि इनकी अर्थव्यवस्था पर्यटन पर आधारित हो गई है। इन क्षेत्रों का अधिकांश मानव श्रम पर्यटकों के सेवार्थ- होटल, टैक्सी, दूध, सब्जी, अंडे, फल, स्थानीय उत्पाद, उपहार विक्रेता आदि के माध्यम से धन अर्जन में लगा रहता है। इन क्षेत्रों में पर्यटन प्रबन्धन एवं पर्यटन के महत्व के बारे में लोगों के अन्दर अद्भुत जागरूकता रहती है। ये लोग हर वस्तु को बाजारीकरण की दृष्टि से तैयार कर पर्यटकों के सामने परोसते हैं। यही कारण है कि यहाँ का हर व्यक्ति अपनी निपुणता का परिचय देता है तथा पर्यटकों को बार-बार आने लायक व्यवहार करता है।

इसके विपरीत भारत के अन्दर अन्य अनेक क्षेत्र जैसे- बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, मालवा, विदर्भ, तेलंगाना, दन्तेवाड़ा, कालाहाड़ी आदि में प्राकृतिक खूबसूरती के बावजूद स्थानीय लोगों में अभिरुचि के अभाव, पर्यटन के प्रति कम जागरूकता के कारण पर्यटन विकास नहीं हो पाया है। शायद इन क्षेत्रों के आकर्षक तत्वों का प्रयोजन पर्यटन उद्देश्य की दृष्टि से नहीं किया गया।

3. पर्यटन का स्थानीय संस्कृति पर प्रभाव- भारत की संस्कृति प्रकृति की पुजारी और अतिथि को भगवान मानने वाली रही है। भारत में हर उस वस्तु की पूजा की जाती रही है जो संसाधन या फिर साधन के रूप में मानवीय मूल्यों के हितों की रक्षा करता हो। भारत में पर्यटक को अतिथि के स्वरूप माना जाता है क्योंकि वह संस्कृति का संवाहक और धन प्राप्ति का साधन भी होता है। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही भारत के गौरवशाली विरासत की पहचान विश्वस्तरीय कैसे हो? इसके लिए राज्य तथा केन्द्र सरकारों ने क्षेत्रीय संस्कृति एवं प्रतिभाओं को बढ़ावा देने के लिए क्षेत्रीय स्तर पर राष्ट्रीय मंचों को आयोजित कर, निरंतर प्रयास किये जाते रहें हैं। उदाहरण के लिए मध्यप्रदेश में खजुराहो नृत्य महोत्सव, उस्ताद अलाउद्दीन खाँ संगीत समारोह मैहर, मंगोरिया हाट झाबुआ आदि। यहीं से निकलकर स्थानीय प्रतिभा एवं कला राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर 'भारतीय स्थानिक संस्कृति' की विजय पताका पहुँची और पर्यटकों को बार-बार आने के लिए प्रेरित किया।

कई बार पर्यटन के स्थानिक प्रभाव नकारात्मक भी देखे गये हैं। एक समाज दूसरे समाज से संस्कृति का आदान-प्रदान करता है। ऐसी स्थिति में पर्यटकों का कई बार सांस्कृतिक टकराव भी संभव है। ये टकराव निम्न प्रकार से देखे गये हैं-

- वस्तु एवं सेवा भुगतान के सम्बन्धों में।
- आयोजक व आगन्तुक की यात्रा सम्बन्धी विवरण।
- सांस्कृतिक प्रदूषण से सम्बन्धित।
- बुजुर्ग एवं युवा पीढ़ी के मध्य तारतम्य में अंतराल सम्बन्धी।
- आधुनिक जीवन शैली के माध्यम से संस्कृति संवर्धन के प्रति उदासीनता व कम आकर्षण।

पर्यटन का सबसे ज्यादा प्रभाव युवाओं पर दिखाई देता है। युवाओं की जीवन-शैली, वेशभूषा, बाहर खाने का चलन, कमाई में परिवर्तन एवं स्व-स्वतंत्रता आदि अनेक चलन प्रचलित हो गये हैं। परिणामस्वरूप पारिवारिक व संस्कृति के प्रति अलगाव पैदा हुआ है। अब प्रश्न यह उठता है कि इसके लिए जवाबदार कौन है? तथा स्थानीय संस्कृति व संस्कारों की विरासत को लेकर आगे कौन जाएगा? चूंकि स्थानीय संस्कृति बाह्य अवयवों से जल्दी प्रभावित होती है जबकि बड़े क्षेत्रों में इसका असर देर से दिखाई देता है। अतः स्थानीय संस्कृति को सुरक्षित व संतुलित बनाये रखने के लिए आयोजक व पर्यटकों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान के बदलते स्वरूप का सामाजिक चिंतन जरूरी है।

पर्यटन परिणाम एवं योजना नीति

भारत में पर्यटन का भविष्य उज्ज्वल है तथा इसके प्रसार की अनन्त संभावनाएँ हैं। लेकिन इस हेतु एक सुनियोजित एवं योजनाबद्ध कार्यक्रम की जरूरत है। आज जिस तरह से पर्यटकों का आगमन भारत की ओर हो रहा है, समस्याओं को दरकिनार कर, पार पाना सरल नहीं है। भारत दुनिया का एक ऐसा देश है जहाँ प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक खूबसूरती का बेमिसाल जोड़ है। पृथ्वी का वह हर अवयव जिसकी चाहत एक यात्री को होती है भारत में पाया जाता है।

पर्यटन के सतत् एवं क्रमबद्ध विकास के लिए 'स्वस्थ पर्यटन नीति' की जरूरत है जो पारदर्शी पर्यावरण के अनुकूल, संसाधन संरक्षण को बढ़ावा देने वाली हो तथा पर्यटन विकास के नये आयाम विकसित करने वाली हो।

भारत में पर्यटन का स्वरूप अति व्यापक है। यह शहरों से लेकर गाँवों तक में पाया जाता है। ऐसी स्थिति में भारत जैसे विशाल देश में पर्यटन का प्रचार/प्रसार एवं विकास शहरों से ग्रामीण क्षेत्रों की ओर हो इस हेतु वृहत स्तर पर नीतियों/नियोजकों

एवं जन भागीदारी की आवश्यकता है। अब, जब पर्यटन एक उद्योग का दर्जा प्राप्त कर चुका है इस हेतु नियोजनकर्ताओं को यह ध्यान रखना कि वह समस्त सुविधाएँ पर्यटन क्षेत्रों में उपलब्ध हो जो एक उद्योग के लिए जरूरी है। इस संदर्भ में दो स्तरीय पर्यटन नीति की जरूरत है-

अ. राष्ट्र स्तरीय पर्यटन नीति

ब. क्षेत्र स्तरीय पर्यटन नीति

अ. राष्ट्र स्तरीय पर्यटन नीति- इस प्रकार की नीति विश्वस्तरीय तथा राष्ट्र हित को ध्यान में रखते हुए बनायी जाती है। भारत में केन्द्रीय पर्यटन मंत्रालय या फिर भारतीय पर्यटन विकास निगम जैसी सर्वोच्च संख्याओं के द्वारा इस प्रकार की नीतियाँ तैयार की जाती है। आज विश्व के अनेक देशों में जिस तरह से पर्यटन के प्रति जागरूकता, जन सहयोग, निजी क्षेत्रों की सहभागिता एवं एक देश का दूसरे देशों में पर्यटन क्षेत्र में निवेश के बढ़ने से पर्यटन के प्रति लोकप्रियता में काफी वृद्धि हुई है। इस प्रकार की संस्थाओं के द्वारा निम्न प्रकार से निर्णय की अपेक्षा की जाती है-

- पर्यटन के व्यापक प्रचार-प्रसार की योजना बनाना।
- पर्यटन क्षेत्र में विदेशी निवेश को प्रोत्साहित करना।
- पर्यटकों की सुविधाओं को रियायती दर से अपनाना।
- राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय स्तर के प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक संसाधनों के रख-रखाव व संवर्धन की विस्तृत रूपरेखा बनाना।
- आर्थिक आमदनी का मिल बांटकर उपयोग करना।
- पर्यटन के नवीन आयामों की निरंतर कार्ययोजना बनाना।
- विदेशी पर्यटकों को आकर्षित करने के लिए शून्य इन्तजार नीति, सस्ते आवास, मुफ्त इंटरनेट एवं वाहन सुविधा आदि की व्यवस्थाएँ करना।

ब. क्षेत्र स्तरीय पर्यटन नीति- भारत एक विशाल देश है। यहाँ की क्षेत्रीय बनावट बहुरंगी है। इन क्षेत्रों में अनेक प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक भूदृश्य विद्यमान हैं जिनका व्यावसायिक विपणन किया जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि इन भूदृश्यों को कैसे लोकप्रिय बनाया जाय? लोगों को यह प्रशिक्षण दिया जाए कि इन दृश्य एवं अदृश्य परिदृश्यों को किस प्रकार से पर्यटकों के आकर्षण के रूप में परिवर्तित किया जाय? जिससे ये आमदनी का जरिया बन सके।

हरे-भरे खेत, घास में रंगीन मैदान, टेढ़-मेढ़े एवं ऊँची-नीची पहाड़ियाँ, पानी के विविध स्रोत, प्रदूषण मुक्त हवा व नीला आसमान, पशु-पक्षियों की सुरीली आवाज, मिट्टी की सुगन्ध व कच्चे मकानों का आनन्द, खेती-किसानी के उपकरण, स्वस्थ रहने के तरीके व रहन-सहन के तौर-तरीके, रिमझिम बारिश व ठण्ड में बचाव के तरीके, चौपाल आदि अनगिनत आकर्षण हैं जहाँ महीनों तक पर्यटकों का मन बहलाया जा सकता है।

सवाल यह है कि इन तत्वों को कैसे वैज्ञानिक रूप देकर पर्यटकों के सामने परोसा जाय? कैसे इनको रोजगारपरक व अर्थव्यवस्था के रूप में विकसित किया जाए? इस हेतु एक वर्षीय/द्विवर्षीय/पंचवर्षीय क्षेत्र स्तरीय पर्यटन नीति बनाने की महती जरूरत है जो पर्यटकों को इस दिशा में मोड़कर स्थानिक विकास के साथ-साथ भारत के विकास का मार्ग प्रशस्त कर सके। इस हेतु तीन प्रकार से नीति निर्धारित की जा सकती है-

1. क्षेत्र स्तरीय पर्यटन अध्ययन नीति- अभी इस क्षेत्र में अध्ययन की बहुत आवश्यकता है। विशेषतौर से महाविद्यालय, विश्वविद्यालय व स्वयंसेवी सामाजिक संस्थानों को इस दिशा में अग्रसर होकर शोधकार्य करना पड़ेगा तथा पर्यटन की संभावनाओं को विकसित करना होगा। बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, महाकौशल, विदर्भ, बस्तर जैसे पिछड़े इलाकों में जहाँ पर्याप्त प्राकृतिक संसाधन तो है लेकिन इनका उपयोग पर्यटन क्षेत्र में नहीं हो पा रहा है। इसके अलावा इन क्षेत्रों में उपजाऊ भूमि का अभाव, उद्योग धन्धों की कमी, जंगल कटाई, खनिज उत्खनन जैसी समस्याएँ भी है। समय रहते अगर इन संसाधनों का संरक्षण नहीं किया गया तो अतिशीघ्र स्थानीय लोग, रोजी-रोटी का माध्यम बनाकर नष्ट कर देंगे।

आज ऐसे क्षेत्रों में निम्न परिमार्जित अध्ययन नीति की आवश्यकता है-

- भारतवर्ष में प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध क्षेत्रों की क्रमवार पहचान करना।
- आधारभूत सुविधाओं के माध्यम से स्थानीय पर्यटन स्थलों को विकसित पर्यटन केन्द्रों से जोड़ना।
- स्थानीय आकर्षण के भूदृश्यों को संरक्षण प्रदान करना।
- स्थानीय लोगों को पर्यटन के महत्व को बताना और पर्यटन को प्रोत्साहन देने पर सम्मानित करना।
- स्थानीय लोकप्रिय उत्पाद को सुविधाएँ प्रदान करना तथा उपयुक्त बाजार की सुविधा प्रदान करना।
- स्थानीय कृषि उत्पाद, जैविक खेती तथा संसाधन संरक्षण करने वाले व्यक्तियों को सम्मानित करना।
- पिछड़े क्षेत्रों में शोध संस्थान केन्द्रों की स्थापना करना एवं सरकारों द्वारा अतिरिक्त बजट उपलब्ध कराने हेतु सामूहिक प्रयास करना।

2. पर्यटन के नवीन आयामों व नवाचारों का विकास करना- प्रश्न यह उठता है कि ऐसे अविकसित व पिछड़े क्षेत्रों में पर्यटकों को कैसे आकर्षित किया जाय? इस हेतु इन क्षेत्रों में नवाचारों का प्रयोग करना, मनोरंजन के नवीन माध्यम उपलब्ध कराना, पर्यटकों के लिए रियायती आवास, भोजन, परिवहन आदि सुविधाएँ उपलब्ध कराना होगा। भारत तथा विश्व के सफल पर्यटन स्थलों में निम्न पर्यटन के नवीन आयाम आज पर्यटकों को अधिकाधिक आकर्षित कर रहे हैं-

(1) पारिस्थितिकी-पर्यटन (2) ग्रामीण-पर्यटन (3) वन्य-जीव पर्यटन (4) चिकित्सा-पर्यटन (5) साहसिक-पर्यटन (6) जल-क्रीड़ा पर्यटन (7) समारोह-पर्यटन (8) स्थानीय-संस्कृति-समारोह पर्यटन।

चूँकि आज का पर्यटक अधिकांशतः प्रकृति प्रेमी होता है। वह किसी ऐसे स्थल की तलाश में निकलता है जहाँ उसे नयापन महसूस हो। ऐसी स्थिति में पर्यटन के उक्त प्रकार इन क्षेत्रों में आकर्षण के मुख्य माध्यम बन सकते हैं। साथ ही पर्यटन के लिए नवीन गंतव्य हो सकते हैं।

3. नवीन प्रोत्साहन नीति- पर्यटन क्षेत्र के विस्तार व संरक्षण में गैर-सरकारी संगठन, जनभागीदारी समिति, संस्थागत उत्थान समिति तथा धार्मिक न्यास आदि द्वारा किये गये कार्यों के परिणाम, आज सार्वजनिक क्षेत्रों की तुलना में अच्छे आ रहे हैं। ऐसी संस्थाएँ स्वयं के श्रम व सम्पत्ति से निम्न कार्य सम्पादित कर मिशाल कायम कर रही हैं-

- स्थानीय सांस्कृतिक भूदृश्यों जैसे- कुँओं, बावड़ियों, पोखरों, तालाबों, बीहरों, किलों, महलों, गढ़ियों आदि को संरक्षित, जीर्णोद्धार व पुनर्जीवित करना।
- पर्यावरणीय सुरक्षा हेतु ग्राम वन समिति के माध्यम से वन विहार व वन उत्पाद का संग्रहण व बाजारीकरण करना।
- पर्यटकों की तमाम सुविधाओं के लिए ग्राम समितियों द्वारा प्रबंधन की व्यवस्था करना।
- पर्यटन का व्यापक प्रचार-प्रसार करना।
- पर्यटन क्षेत्र में अतिरिक्त रियायतें देकर पर्यटकों को आकर्षत करना।
- अतिथि सत्कार की भावना का विकास।
- पर्यटन-परिपथ के माध्यम से क्षेत्रीय पर्यटन स्थलों को जोड़ना।
- पर्यटकों के लिए स्थानीय कानूनों का निर्माण करना तथा पर्यटन केन्द्रों को स्वच्छ रखना।

सुझावात्मक रूप से एक ठोस रणनीति बनाने की जरूरत है। सर्वप्रथम क्षेत्रीय पर्यटन स्थलों को उनकी ख्याति के अनुसार विभाजित करना, उनके विकास की रूपरेखा बनाना, पर्यटन-परिपथ के माध्यम से एक-दूसरे को जोड़ना, क्षेत्र में व्याप्त विरासत स्थल, विशिष्ट भूदृश्य के प्रति लोगों को गर्व महसूस कराना, उनके विपणन की रूपरेखा तैयार करना, पर्यटन स्थलों का व्यापक प्रचार-प्रसार करना, नित नवीन आयामों को विकसित करना, पर्यटकों की संतुष्टि के आयाम विकसित करना तथा जनभागीदारी की सहायता से निर्धारित नीति की समीक्षा करना मुख्य है।

सारांश एवं सुझाव

भारत में पर्यटन के गहन विश्लेषण के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आज भी भारत जितना संसाधन सम्पन्न है उतना पर्यटकों को आकर्षित करने में कामयाब नहीं हो पा रहा है। यही कारण है कि भारत को पर्यटन क्षेत्र से प्राप्त विदेशी मुद्रा व विश्व में पर्यटन क्षेत्र में हिस्सेदारी क्षमता के अनुसार बहुत कम है। भारत जैसे विश्व के विकासशील देशों के लिए पर्यटन विकास एवं इसके परिणाम एक औषधि के समान है क्योंकि कम निवेश पर अधिकाधिक रोजगार सृजन व मुद्रा निर्माण इसकी मुख्य विशेषता है साथ ही पर्यटन से प्राप्त धन व्यापार-संतुलित होता है।

पर्यटकों को सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाले कारकों में प्राकृतिक और विरासत स्थल मुख्य है परन्तु इन दोनों तत्वों को पर्यावरण प्रदूषण से सबसे ज्यादा खतरा होता है क्योंकि बड़े पैमाने पर पर्यटकों के आने से इन पर दबाव पड़ना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में आयोजकों की मनमानी, होटलों का अनियंत्रित विस्तार, वन्य जीवों का शिकार आदि गतिविधियों में भी तीव्रता की संभावना है।

आज भारत में युवाओं का प्रतिशत सर्वाधिक है इसीलिए इसे 'युवा भारत' भी कहा जाता है, लेकिन हमारे देश के युवाओं की सबसे बड़ी समस्या अंधानुकरण है। परिणाम यह निकलता है कि विदेशी संस्कृति का सीधा अनुकरण करने से कहीं हमारी संस्कृति पीछे न छूट जाए। इस हेतु युवाओं को युवा भारत बनाने में शैक्षणिक, राजनीतिक, प्रशासनिक आदि दृष्टि से मानव संसाधन के रूप में विकसित करने की जरूरत है जिससे लोगों का देश की जरूरतों के प्रति जवाबदारी तथा प्राकृतिक संसाधनों के प्रति सजगता विकसित हो। साथ ही पर्यटन जैसे क्षेत्रों में स्थानीय सहभागिता से देशी एवं विदेशी पर्यटकों को पर्यटन एवं इसके विविध आयामों के महत्व का प्रचार-प्रसार कर और अधिक लोकप्रिय बनाया जा सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. सिंह, जितेन्द्र, डॉ0 जे0एस0 नर्बन (2015), 'रूरल टूरिज्म इन इण्डिया- ए मॉडल ऑफ रूरल कल्चर एण्ड हेरिटेज', आईजेएआर,

टीआईई, वॉल्यूम-1, इश्यू-05, आईएसएसएन (ओ) 2395-4396।

2. कामरा, किशन, के0 एण्ड मोहिन्दर चंद (2004), 'बेसिक ऑफ टूरिज्म थ्योरी ऑपरेशन्स एण्ड प्रैक्टिस', कनिष्का पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2004।

3. भारद्वाज, डी0एस0 चौधरी, मंजुला (2006), 'इंटरनेशनल टूरिज्म-इश्यूज एण्ड चैलेंजेस', कनिष्का पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2006

4. मोहन्ती, दीपक कुमार, 'टूरिज्म दि नेक्ट डिवाइडिंग फैक्टर ऑफ इण्डियन इकोनॉमी', न्यूज ट्रेक इण्डिया, एवैलेबल एट, 2008।

5. सरकार, ए0, प्रेमनाथ धर, 'इण्डियन टूरिज्म', कनिष्का पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 1998।

6. कुरूक्षेत्र, दिसम्बर (2017), 'रूरल टूरिज्म', वॉल्यूम 66, नम्बर 2।

7. कुरूक्षेत्र, दिसम्बर (2019), 'रूरल टूरिज्म', वॉल्यूम 67, नम्बर 6।

8. डब्लूडब्लूडब्लू. टूरिज्मइण्डिया.कॉम।

●

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में संस्कृत-साहित्य का प्रभाव

रिंकी कुमारी एवम् डॉ. शिल्पा सिंह***

जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत यात्रा को जीवनकाल कहा जाता है। जिसमें सुख-दुःख, राग-द्वेष, वृद्धि-ह्रास तथा मित्रता-शत्रुता के द्वन्द्व अन्तर्निहित होते हैं। साहित्य का हमारे जीवन से अटूट सम्बन्ध रहा है, ये हमारे जीवन से अटूट रूप से जुड़े होने के कारण समाज के स्वरूप को प्रदर्शित करता है। इसीलिये साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। साहित्य समाज को उसी प्रकार प्रतिबिम्बित करता है जिस प्रकार वह वास्तव में होता है। अतः समाज के प्रत्येक स्थिति का सम्यक् ज्ञान का प्रधान साधन तात्कालीन साहित्य होता है। जहाँ एक ओर सामाजिक विचार की विशुद्ध अभिव्यक्ति होने के कारण समाज का दर्पण है, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक विचार विनिमय का साधन भी जो कि संस्कृत-साहित्य में विशिष्ट रूप से व्यक्त हुआ है।

संस्कृत विश्व की प्राचीनतम भाषा है। इस भाषा का साहित्य अपनी मौलिकता, प्राचीनता, व्यापकता और प्रभावोत्पादकता के कारण विश्व की श्रेष्ठतम भाषाओं के साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। भारत के साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक जीवन की पूरी व्याख्या संस्कृत भाषा में समाविष्ट है। जो नाटक, महाकाव्य, उपन्यास आदि जैसे विधाओं के माध्यम से व्यक्त हुआ है। वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, बाणभट्ट, भवभूति, भर्तृहरि, यास्क, पाणिनी, कौटिल्य, कल्हण, पतञ्जलि, भरतमुनि, आर्यभट्ट, चरक, शंकराचार्य आदि मुनियों, महाकवियों ने अपनी उत्कृष्ट संस्कृत रचनाओं से संस्कृत-साहित्य को अत्यन्त समृद्ध किया है। इनकी रचनाओं में मनोरंजन के साथ-साथ उपयोगी उपदेश की प्रवृत्ति भी निहित है। हितोपदेश, पंचतन्त्र जैसी कथायें आधुनिक बाल-शिक्षाओं के लिये अत्यन्त लाभकारी हैं। रामायण, महाभारत की कथा, वेद-पुराण आदि सदैव की भाँति आज भी हमारे जीवन-मूल्यों के लिये आवश्यक है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र जटिल राजनीतिक परिस्थितियों में राजा-महाराजाओं के लिये मार्गदर्शक का कार्य करता है। वहीं ज्योतिष, आयुर्वेद और योग की पद्धतियाँ हमारे दैनिक जीवन से जुड़ी हुयी हैं। किसी भी पूजा-पद्धति में वैदिक-मन्त्रों का उच्चारण एक अनिवार्य सत्य है। अतः संस्कृत-साहित्य की महत्ता वैदिक-काल से अद्यतन काल तक है। संस्कृत-साहित्य केवल अपने तक ही सीमित नहीं रहा अपितु इसने अन्य भाषा-भाषी क्षेत्र के साहित्य को भी प्रभावित किया है, विशेषकर हिन्दी साहित्य को। हिन्दी-साहित्य का संस्कृत-साहित्य के साथ गहरा जुड़ाव रहा है। हिन्दी-साहित्य के अनेक विद्वान संस्कृत-साहित्य से प्रभावित रहें हैं। ऐसे में हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य आलोचक, उपन्यासकार, निबन्धकार व संस्कृति के पोषक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की पृष्ठभूमि संस्कृत से ओतप्रोत थी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। आचार्य द्विवेदी का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था और उनका पारिवारिक वातावरण संस्कृतमय था। उनके पूर्वजों के समय से ही संस्कृत अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया चली आ रही थी। यह स्वाभाविक है कि उसका प्रभाव द्विवेदी जी पर भी पड़ा। संस्कृत का ज्ञान उनके संस्कारों में पहले से ही व्याप्त होने के कारण उनके साहित्य में भी संस्कृत के उद्धरण दृष्टिगत होते हैं। संस्कृत-भाषा उनके रोम-रोम में बसी हुयी थी और यही कारण है कि संस्कृत शब्दावली की मोती उनके सम्पूर्ण साहित्य में बिखरी हुई दिखाई पड़ती है। ये सब उनका संस्कृत-साहित्य के प्रति अगाध प्रेम को दर्शाता है। वे हमेशा से संस्कृत-साहित्य की महान धरोहर की ओर दृष्टिनिक्षेप का आग्रह करते हैं। संस्कृत-साहित्य की विशिष्टता इस बात में रही है कि यह मानव-जीवन के कल्याण की बात करता है। इसने मानव-जीवन से जुड़ी समस्याओं को, विसंगतियों को गहराई के साथ व्यक्त किया है। चूँकि द्विवेदी जी मानवतावाद के पक्षधर रहे हैं, इसलिये उन्होने अपने साहित्य में संस्कृत को न केवल एक विशिष्ट स्थान दिया अपितु उनसे सन्दर्भ भी ग्रहण किया। जो कि उनकी रचनाओं में विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है। उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' तथा 'अनामदास का पोथा' में संस्कृत-साहित्य की छटा सर्वत्र व्याप्त है। विशेष रूप से **'बाणभट्ट की आत्मकथा'** में।

भारतीय साहित्य जगत् में विशिष्ट स्थान रखने वाले अपने समय के महान् साहित्य सृजनकर्ता आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी विरचित 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आत्मकथात्मक शैली में लिखित बाणभट्ट की जीवनी है। द्विवेदी जी ने 7वीं शतीं के भारत की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति का निरूपण 'बाणभट्ट' को केन्द्र में रखकर किया है। इसमें हर्षकालीन भारतीय परम्परा को दर्शाया गया है। उस समय स्थाणीश्वर शासक सम्राट हर्षवर्द्धन थे और बाणभट्ट इनके दरबारी कवि। बाणभट्ट का संस्कृत-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। बाणभट्ट संस्कृत-गद्यकाव्य के समृद्धिकाल के सर्वश्रेष्ठ गद्य-काव्यकार रहे हैं। इनके दो प्रमुख गद्यकाव्य मिलते हैं, जो है- हर्षचरित और कादम्बरी। हर्षचरित एक ऐतिहासिक आख्यायिका है, इसके प्रथम तीन उच्छवासों में बाणभट्ट ने अपनी

* शोधच्छात्रा, भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी। सदस्या, भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

आत्मकथा लिखी है। कादम्बरी एक गद्यकाव्य है, इसके आरम्भ में बाण ने अपने वंश का संक्षिप्त परिचय दिया है। इन दोनों कृतियों को उपजीव्य ग्रन्थ बनाकर, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास की सृष्टि की गयी है। इसमें बाणभट्ट की रचनाओं के अतिरिक्त मालतीमाधव, रत्नावली, कामसूत्र, नागानन्द, मृच्छकटिकम्, महाभारत, विक्रमोर्वशीयम्, कुमारसंभवम्, रघुवंशम्, मिलिन्दप्रश्न, बृहत्संहिता, भागवत, भक्तिरसामृतसिन्धु, नाट्यशास्त्र, मेघदूत आदि ग्रन्थों के उद्धरणों को उपस्थापित किया गया है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के प्रणयन एवं सम्पादन के मूल में आचार्य द्विवेदी एवं मिस कैथराइन का अप्रतिम योगदान परिलक्षित होता है, जिसका उल्लेख लेखक ने कथामुख भाग में किया है। ग्रन्थानुशीलन में संस्कृत-साहित्य सन्दर्भित अनेक विषय है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण का श्लोक उद्धृत है। किसी भी शुभ कार्य के निर्विघ्न समाप्ति के लिये कार्य का प्रारम्भ मंगलाचरण से किया जाता है-

ततः समुत्क्षिप्य धरां स्वदंष्ट्रयामहावराहः स्फुट-पद्मलोचनः।
रसातलादुत्पल-पत्र-सन्निभः समुत्थितो नील इवाचलो महान्॥
जलौधमग्ना सचराचरा धराविषाणकोट्याडखिलविश्वमूर्तिना।
समुद्धृतायेन वराहरूपिणा स मे स्वयंभूर्भगवान् प्रसीदतु॥[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कादम्बरी के कथामुख भाग से उद्धरण उपस्थापित करते हुये 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का प्रारम्भ करते हैं:-

जयन्ति बाणासुरमौलिलालितादशास्यचूड़ामणिचक्रचुम्बिनः।
सुरासुराधीशशिखान्तशायिनोभवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपासंवः॥[2]

अर्थात्, बाणासुर के मुकुट से उपसेवित, रावण से मस्तकों के मणिसमूह का स्पर्श करने वाली देवता और दैत्यों के स्वामियों के शिर के समीप रहने वाली और संसार को दूर करने वाली महेश्वर के चरणों की धूलि अत्यन्त उत्कर्ष से रहती हैं।

बाणभट्ट अपने नाम और वंश के विषय में स्वरचित कादम्बरी में उल्लेख करते हैं। जिसे आचार्य द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास लिखते समय उद्धृत किया है- 'यद्यपि बाणभट्ट नाम से मेरी प्रसिद्धि है; पर यह मेरा वास्तविक नाम नहीं है। इस नाम का इतिहास लोग न जानते, तो अच्छा था। मैंने प्रयत्नपूर्वक इस इतिहास से लोगों को अनभिज्ञ रखना चाहा है; पर नाना कारणों से अब मैं उस इतिहास को अधिक नहीं छिपा सकता। मेरी लज्जा का प्रधान कारण यह है कि मेरा जन्म प्रख्यात वात्स्यायन वंश में हुआ है, उसके धवलकीर्ति पट पर यह कहानी एक कलंक है। मेरे पितृ- पितामहों के गृह वेदाध्यायियों से भरे रहते थे। उनके घर की शुक-सारिकायें भी विशुद्ध मन्त्रोच्चरण कर लेती थीं; और यद्यपि लोगों को यह बात अतिशयोक्ति जँचेगी, परन्तु यह सत्य है कि मेरे पूर्वजों के विद्यार्थी उनकी शुक-सारिकाओं से डरते रहते थे। वे पद-पद पर उनके अशुद्ध पाठों को सुधार दिया करती थीं।'[3]

उपर्युक्त समस्त बातें कादम्बरी, कथामुख भाग से साम्य रखती हैं। जिसमें महाकवि बाण का वंश निरूपण इस प्रकार है-

बभूव वात्स्यायनवंशसंभवो द्विजो जगद्गीतगुणोऽग्रणीः सताम्।
अनेकगुप्तार्चितपादपङ्कजः कुबेरनामांश इव स्वयंभुवः ॥
उवास यस्य श्रुतिशांतकल्मषे सदा पुरोडाशपवित्रिताधरे।
सरस्वती सोमकषायितोदरे समस्तशास्त्रस्मृतिबन्धुरे मुखे॥
जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पञ्जरवर्त्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणा बटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शङ्किताः॥[4]

उडुपति भट्ट, बाण के चचेरे भाई थे। उन्होंने वसुभूति नामक बौद्ध भिक्षु को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। उनकी विद्धता और चारित्र्य का महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। हर्षचरित में बाण के एक पितृत्व-पुत्र का नाम तारापति लिखा है। कदाचित् उडुपति भट्ट वहीं हों इस बात की पुष्टि उक्त कथन से होती है-

तच्छ्रुत्वा बाणस्य चत्वारः पितामहमुखपद्मा इव वेदाभ्यासपावत्रितमूर्तयः, उपाया इव सामप्रयोगलितमुखाः, गणपतिः, अधिपतिः, तारापतिः, श्यामल इति पितृव्यपुत्रा भ्रातरः, प्रसन्नवृत्तयः, गृहीतवाक्याः, कृतगुरुपदन्यासाः, न्यायवादिनः, सुकुतसंग्रहाभ्यासगुरवो लब्धसाधु-शब्दा लोक इव व्याकरणेऽपि सकलपुराणराजर्षिचरिताभिज्ञाः, महाभारतभावितात्मानः, विदितसकलेतिहासाः, महाविद्वांसः, महाकवयः महापुरुषवृत्तान्तकुतूहलिनः, सुभाषितश्रवणरसरसायनाः, वितृष्णाः, वयसि वचसि यशसि तपसि सदसि महसि वपुसि यजुषि च प्रथमाः, पूर्वमेव कृतसंगराः, विवक्षवः स्मितसुधाधवलितकपोलोदराः, परस्परस्य मुखानि व्यलोकयन्।[5]

इसी क्रम में बाणभट्ट अपने माता-पिता के सम्बन्ध में स्वरचित हर्षचरित में उल्लेख करते हैं। जिसे आचार्य द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखते समय बताया है कि बाण जब 14 वर्ष की अवस्था में थे तब पिता नहीं रहें और उनकी माता तो बहुत पहले दिवंगत हो चुकी थी।

हर्षचरित, प्रथम उच्छवास में अग्रिम कथन है-

स बाल एव बलवतो विधेर्वशादुपसंपन्नया व्ययुज्यत जनन्या। जातस्नेहस्तु नितरां पितैवास्य मातृतामकरोत। अवर्धत च तेनाधिकतरमाधीयमानधृतिर्धाम्नि निजे।

कृतोपनयनादिक्रियाकलापस्य समावृत्तस्य चास्य चतुर्दशवर्षदेशीयस्य पितापि श्रुतिस्मृतिविहितं कृत्वा द्विजजनोचितं, निखिलं पुण्यजातं कालेनादशमीस्थ एवास्तमगमत्।[6]

कुमार कृष्णावर्द्धन के पुत्रजन्मोत्सव के शोभायात्रा का वर्णन बाणभट्ट कुछ इस प्रकार करते हैं- 'मैं नगर के एक चौराहे पर खड़ा-खड़ा मुग्ध भाव से यह दृश्य देख रहा था इसका सबसे मजेदार हिस्सा वह था, जिसमें राजमहल में रहने वाले बौने, कुबड़े, नपुंसक और मूर्ख लोग उद्धत नृत्य से विह्वल होकर भागे जा रहे थे। एक वृद्ध कंचुकी की दशा बड़ी दयनीय हो गई थी। उसके गले में एक नृत्यपरायण रमणी का उत्तरीय वस्त्र अटक गया था और खींचतान में पड़ा हुआ बेचारा बूढ़ा उपहास का पात्र बन गया था। राजकन्याओं का स्थान जुलूस के ठीक मध्य भाग में था। यहाँ के नृत्यगाान संयत, गम्भीर और मनोहारी था। एक ओर भेरी, मृदंग, पटह, काहल और शंख के निनाद से धरित्री फटी जा रही थी और दूसरी ओर राजकन्याओं के कपोल-तली के आन्दोलित मणिमय कुण्डलों और उत्पल-पत्रों से जगमगाती हुई शिविकाएँ बीच-बीच में सनूपुर चरणों की ईसत् झंकार से मुखरित हो उठती थीं। सबके पीछे राजा के चारण और बंदी लोग विरुदगान करते हुए जा रहे थे। उनमें से कुछ तो आन्दातिरेक में ऐसे मदमस्त थे कि मुख से ही एक विशेष प्रकार के वाद्य का काम ले रहे थे। जुलूस के पार होने में दो दण्ड समय बीत गया।'[7] यह वर्णन 'कादम्बरी' में शुकनांस के पुत्रोत्सवकालीन यात्रा के वर्णन से साम्य रखता है, जो इस प्रकार है-

प्रनृन्त-कल-मूक-कुब्ज-किरात-वामन – वधिर-जड़-जन-पुरः सरेण, उत्तरीयांशुक-ग्रीवा बद्धावकृष्ट-विडम्बित-जरत्कञ्चुकि-कदम्बकेन, वीणा-वेणु- मुरज-कास्यतालल्लया-नुगतेन, कल-मधुरमुद्गायता हर्षनिर्भरतया मत्तेनेव उन्मत्तेनेव ग्रहगृहीतेनेवापगतवाच्यावाच्यविवेकेन नृत्य-क्रीड़ा-प्रसक्तेनान्तः पुरिकाजनेन, प्रचल-मणिकुंडलाहत- कपोलभित्तिना च विधूणमानकर्णोत्पलेनाधोविगलित-विलोल-शेखरेण दोलायमान-वैकक्षक-कुसुममालेन निर्हय-प्रहत-भेरी-मृदङ्ग-मर्हल-पटह-निनादानुगत-काहल-शङ्ख-रव-जनित-रभसेन चरण-सन्निषातैर्दारयतेव वसुधां राजपरिजनेन, प्रवृत्तनृत्येन च चारणगणेन विविधमुख-वाद्य-कृतकोलाहलेन पठता गायता चानुगम्यमानः शुकनासभवनं गत्वा द्विगुणतरमुत्सवमकारयत्।[8]

बाण, निपुणिका और भट्टनी पर केन्द्रित यह उपन्यास त्रिकोणीय प्रेम पर आधारित है। निपुणिका बाण के नाटक मण्डली में कार्य करती थी। एक दिन सहसा बाण निपुणिका के रूप-सौन्दर्य से अभिभूत होकर कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' का श्लोक का पाठ करने लगता है-

'वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्तहस्तं नितम्बें
कृत्वा श्यामा-विटपि-सदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयं।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमेकुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्यादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्।[9]

महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम् में मालविका के नैसर्गिक सौन्दर्य का उपर्युक्त श्लोक के माध्यम से वर्णन किया है। जिसे आचार्य द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में निपुणिका के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन करते हुये मालविका और निपुणिका के नैसर्गिक सौन्दर्य की साम्यता स्थापित किया है।

इस उपन्यास की नायिका भट्टनी है, जिसे बाणभट्ट प्रेम करता है। समस्त घटनायें 'भट्टनी' को केन्द्र में रखकर घटित होती है। मौखरी वंश के एक दुष्ट सम्बन्धी ने अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर 'राजकुमारी भट्टनी' को बन्दी बना लिया था। जिसकी रक्षा का दायित्व सखी निपुणिका भट्ट को सौंपती है। भट्टनी के रक्षार्थ के लिये दोनों निकलते हैं। मार्ग में उन्हें कोई ध्वनि सुनाई पड़ती है, तभी निपुणिका को ध्यान आता है और कहने लगती है- 'आज मदनपूजा का दिन है। आज कुमारियों ने व्रतकिया होगा, कामदेव की पूजा की होगी और वरदान में अपने अभिलक्षित वरों को मांग लिया होगा। कान्यकुब्ज में यह उत्सव बड़े आडम्बर के साथ मनाया जाता है। आज मदनोद्यान में कुमारियों ने फूल चुने होंगे, हार गूँथे होंगे, कुंकुम और अबीर का तिलक लगाया होगा और लाक्षारस से भुर्जपत्र पर अपने-अपने अभिलक्षित वरों की प्रतिमा बनाकर चुपके से भगवान् कुसुम-सायक को भेंट किया होगा।'[10]

उपन्यास में आये हुये इस प्रसंग का उल्लेख 'मालतीमाधव के दो अङ्कों में देखने को मिलता है। प्रथम-'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास द्वारा कथित चैत्रशुक्ल त्रयोदशी की साम्यता का वर्णन 'मालतीमाधव' के तृतीय अङ्क में इस प्रकार है- **अवलोकिता-अद्यकृष्णचतुर्दशीति जनन्यासमं मालती शंकरपुरं गमिष्यति।**[11]

दूसरा प्रसंग उपन्यास में आये हुये मदनोद्यान से साम्यता रखता हुआ वर्णन 'मालतीमाधव' के प्रथम अङ्क में द्रष्टव्य है-

माधवः-गतोऽहमवलोकिताजनिकौतुकः कामदेवायतनम्। तस्य च यदृच्छया निरन्तरनिपतितानि विकसितानिकुसुमान्यादाय विदग्धरचनामनोहरां स्रजमभिनिर्मातुर्मातुमारब्धवान्।[12]

मदनोत्सव के समय प्रकृति का दृश्य अद्भुत होता है। सम्पूर्ण वातावरण शोभायमान लगने लगता है। मन्द-मन्द वायु प्रवाहित होती है। उद्यान की पुष्पलता खुशी से झूमने लगती हैं। भौंरों की आवाज गूंजने लगती है। मदनोत्सव के इस प्रसंग का साम्यरूप 'रत्नावली' के प्रथम अङ्क में देखने को मिलता है, जो इस प्रकार है-

राजा–अहो मकरन्दोद्यानस्य पराश्रीः। इहहि

उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः किसलयैस्ताम्रां त्विषं विभ्रतो

भृङ्गालौविरुतैः कलैरविशदव्याहारलीला भृतः।

घूर्णन्तो मलयानिलाहतिचलैः शाखासमूहैर्मुहुर्भान्ति

प्राप्य मधुप्रसंगमधुना मत्ता इवामी द्रुमाः।।[13]

राजकन्या भट्टनी अत्यन्त तन्मयता के साथ वीणा वादन कर रही थी, वह पूर्णरूप से भक्ति रस से ओतप्रोत थी। भट्टनी के इस वीणा वादन की तुलना भट्ट शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' से करता है। वहाँ भी इस प्रसंग में नायक (चारुदत्त) और विदूषक (मैत्रेय) रेभीलगीत में जाते हैं जहाँ पर चारुदत्त जोकि वसन्तसेना के प्रेम में उत्कण्ठित है, कहता है- 'बहुत अच्छा रेभील ने गाया। क्योंकि वीणा समुद्र से निकलने वाला रत्न है और विरह से विकल की प्रिय सखी भी। मिलने का संकेत करने वाले प्रेमी के देर करने पर सबसे अच्छा मनोरंजन का साधन है। प्रियतमा के वियोग पीड़ित व्यक्ति की सबसे अधिक सहानुभूति दिखाने वाली है, प्रेमी के प्रेम को बढ़ाने वाला साधन है प्रमोद का साधन है।[14]

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास में एक सारिका नामक पक्षी का वर्णन किया है। जो अन्तःपुर की समस्त गुप्त बातों को जानती है। इस सारिका पक्षी की तुलना श्रीहर्षदेव की 'रत्नावली' नाटिका के सारिका पक्षी से की गयी है। अपनी बात को पुष्ट करने के लिये आचार्य द्विवेदी ने रत्नावली से उद्धरण लिया है-

दुर्वारां कुसुम-शर-व्यथा वहन्त्या, कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनां।

तद्धूयः शुक-शिशु-सारिकाभिरुक्तं, धन्यानां श्रवणपथतिथित्वमेति।।[15]

भट्ट सारिका के माध्यम से अन्तःपुर की समस्त वस्तुस्थिति से अवगत होकर दुःखी होता है। वह मन ही मन सोचता है- 'मैं जिस रास्ते पर जा रहा हूँ, वहाँ से कोई मदोन्मत्त उत्सवकारी दल निकल गया है। कालिदास ने उज्जयिनी में प्रातःकाल जो दृश्य देखा था, वह मैं स्थाण्वीश्वर में मध्याह्न को देख रहा हूँ। उसी प्रकार गमन के उत्कम्पवश यहाँ सुन्दरियों के केश से मन्दार-पुष्प झड़े है; कान से सुनहरे कमल खिसक कर भू-लुंठित हो रहे हैं; हृदय-देश पर बार-बार आघात करने वाले हारों से बड़े-बड़े गंधराजकुसुम टूटकर गिर गये हैं; परन्तु फिर भी मैं इसे प्रेमाभिसार का मार्ग नहीं समझ रहा हूँ।'[16]

द्विवेदी जी ने अपने कथन की पुष्टि के लिये कालिदास विरचित मेघदूत का अग्रलिखित श्लोक उद्धृत किया है-

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दरा-पुष्पैः

पत्रच्छेद्यैः कनककमलैः कर्ण-विभ्रं शिमिश्र।

मुक्ताजालैः स्तनपरिचितच्छिन्नसूत्रैश्च हारैः

नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनान्।।[17]

अतः उपर्युक्त ग्रन्थों के उद्धरणों के अतिरिक्त आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नागानन्द, कुमारसम्भव, चण्डीशतक, मिलिन्दप्रश्न, महाभारत, रघुवंशम् तथा बृहत्संहिता आदि से भी सन्दर्भ ग्रहण कर इस सुन्दरतम् कृति को निर्मित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि संस्कृत लेखन की परम्परा काफी प्राचीन है। ऋग्वेदकाल से लेकर आज तक संस्कृत-साहित्य की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही है। समग्रतः कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास के माध्यम से 7वीं शती के भारत का सम्यक् चित्रण सांस्कृतिक धरातल पर प्रस्तुत किया है।

सन्दर्भ सूची :

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, कथामुख से पूर्व पृ0 6, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, बारहवाँ संस्करण-2018
2. कादम्बरी, पूर्वभागः, श्लोक सं0 2, पृ0 1, सम्पादक-पाण्डेय रामतेज शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण 2012
3. बाणभट्ट की आत्मकथा, प्रथम उच्छवास, पृ0 11, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, बारहवां संस्करण2018
4. कादम्बरी, पूर्वभाग, श्लोक सं0 10,11,12, पृ0 3, सम्पादक पाण्डेय रामतेज शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण 2012
5. हर्षचरितम्, तृतीय उच्छवास, पृ0 147, हिन्दीव्याख्याकार-पं0श्रीजगन्नाथपाठक, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2017
6. हर्षचरितम्, प्रथम उच्छवास, पृ0 72-73, हिन्दीव्याख्याकार-पं0श्री जगन्नाथपाठक, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-2017
7. बाणभट्ट की आत्मकथा, प्रथम उच्छवास, पृ0-13, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, बाराहवाँ संस्करण 2018
8. कादम्बरी, पूर्वभाग, पृ0 156-157, व्याख्याकार सम्पादक-पाण्डेय रामतेज शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण 2012
9. मालविकाग्निमित्रम्, द्वितीयोऽङ्कः, श्लोक सं0 6, पृ0 47, व्याख्याकार-डॉ0 रमाशंकर पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी संस्करण- 2014
10. बाणभट्ट की आत्मकथा, तृतीय उच्छवास, पृ0 22, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2018
11. मालतीमाधव, तृतीय अङ्क, पृ0 124, व्याख्याकार – श्री शेषराज शर्मा 'रेग्मी', चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, संस्करण 2018
12. मालतीमाधव, प्रथम अङ्क, पृ0 44-45, व्याख्याकार- श्री शेषराज शर्मा 'रेग्मी', चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, संस्करण 2018

13. रत्नावली, प्रथम अङ्क, श्लोक सं0 17, पृ0 36-37, व्याख्याकार- आचार्य श्रीरामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन वाराणसी, पञ्चम संस्करण 1982

14. **'उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा-वयस्या सङ्केतके चिरयति प्रवरो विनोदः। संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः॥'** मृच्छकटिकम्, तृतीय अङ्क, श्लोक सं0 3, पृ0 183, व्याख्याकार डॉ0 जयशंकरलाल त्रिपाठी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, नवम् संस्करण 2017

15. रत्नावली, द्वितीय अङ्क, श्लोक सं0 8, पृ0 80-81, व्याख्याकार- आचार्य श्रीरामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पञ्चम संस्करण 1982

16. बाणभट्ट की आत्मकथा, सप्तम् उच्छवास, पृ0 67-68, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, बारहवाँ संस्करण 2018

17. मेघदूतम्, उत्तरमेघ, श्लोक सं0 11, पृ0 155, व्याख्याकार- आचार्य श्री शेषराज शर्मा रेग्मी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण 2015

●

''प्रज्ञा''
नियम एवं निर्देश

1. ''**प्रज्ञा**'', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो प्रकाशित होगी : प्रथम अंक सत्रारम्भ के अवसर पर और दूसरा अंक मालवीय जयंती के अवसर पर।

2. ''**प्रज्ञा**'' पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शोध छात्रों एवं अध्यापकों के लेख/शोध प्रपत्र सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' के कार्यालय में प्रथम अंक के लिए 30 नवम्बर तथा द्वितीय अंक के लिए 30 अप्रैल तक पहुँच जाने चाहिए। शोध छात्रों के लेख/शोध प्रपत्र अपने निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष से संस्तुत एवं अग्रसारित होने चाहिए।

3. ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित लेखों/शोध प्रपत्रों के लेखकों को ''**प्रज्ञा**'' की दो प्रतियाँ दी जायेगी : प्रथम लेखकीय प्रति और दूसरी प्रतिमुद्रण की 10 प्रतियों के बदले में।

4. सभी प्रकार का शुल्क, सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी-221005 के नाम भेजें।

5. **शोध-प्रपत्र/लेख के पाण्डुलिपि निर्माण सम्बन्धी दिशा निर्देश :**

   (क) संगणक (कम्प्यूटर) पर टंकित शोध प्रपत्र/लेख की एक प्रति सी०डी० के साथ ''**प्रज्ञा**'' कार्यालय में जमा करना होगा।

   (ख) पाण्डुलिपि ए-4 आकार के बाण्ड पेपर पर डबल-स्पेस में टंकित होना चाहिए। लेख के चारों तरफ 2 से०मी० की हासिया छोड़ें।

   (ग) **हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में टंकित लेखों के लिए दिशा निर्देश :**

   ए.पी.एस.-डी.वी.-प्रियंका रोमन फॉन्ट, शीर्षक– 17 प्वाइंट ब्लैक, लेखक का नाम – 13 प्वाइंट इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट– 13 प्वाइंट, फोलियो – 11 प्वाइंट और पाद टिप्पणी 9 प्वाइंट।

   (घ) **अंग्रेजी भाषा में टंकित लेखों/शोध प्रपत्रों के लिए दिशा निर्देश :**

   'टाइम्स न्यू रोमन' फॉन्ट, शीर्षक – 14 प्वाइंट आल कैप्स काला, लेखक का नाम – 11 प्वाइंट सभी कैप्स इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट – 11 प्वाइंट ऊपर नीचे की पाद टिप्पणी और फोलियो – 9 प्वाइंट।

   (ङ) **टंकित पृष्ठ संख्या : अधिकतम 10 पृष्ठ।**

6. **लेखक का घोषणा-पत्र :**

''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशनार्थ प्रेषित ''.....'' शीर्षक लेख/शोध प्रपत्र का लेखक मैं घोषणा करता हूँ कि—

(अ) मैं लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है, और साथ ही अपने लेख/शोध प्रपत्र को ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ।

(ब) यह लेख/शोध प्रपत्र मूल रूप से या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छापने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है।

(स) मैं ''**प्रज्ञा**'' जर्नल के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। ''**प्रज्ञा**'' में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापी राइट का अधिकार **सम्पादक** ''**प्रज्ञा**'' को देता हूँ।

लेखक का नाम एवं हस्ताक्षर .....

दिनांक एवं स्थान .....

मोबाइल/टेलिफोन नं0 .....

●

लोकमान्य तिलक के स्वराज्य विषयक सूत्र एवं सूरत कांग्रेस अधिवेशन में नरमपंथ-गरमपंथ की विभाजक-गाथा: अंग्रेजी समाचार पत्रों की तिलक विषयक टिप्पणी पर आधारित समीक्षात्मक आलेख

प्रो0 राकेश कुमार उपाध्याय[*]

1 अगस्त, 2020 को लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को गुजरे हुए 100 साल पूरे हो गए और इस 100 साल के बड़े अन्तराल में आज आवश्यकता एक बार फिर से दिखाई देती है कि भारत के जिस स्वराज्य को पाने के लिए लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपनी जिंदगी ब्रिटिश हुकूमत से लड़ते हुए स्वाहा कर दी क्या वह स्वराज्य देश में आ चुका है? क्या लोकमान्य की आंखों के सपने पूरे हो चुके हैं? लोकमान्य ने जिस स्वतंत्र भारत का स्वप्न देखा और जिसे साकार करने की दिशा में उन्होंने स्वातंत्रता आंदोलन का सबसे प्रभावकारी उद्घोष किया ''स्वराज्य हमारा जन्मसिध्द अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूंगा'', आज तिलक महाराज के उसी स्वराज्य के स्वप्न पर सामयिक दृष्टिकोण से विचार की जरूरत है।

स्वराज्य का प्रश्न इस समय यह प्रश्न उत्पन्न कर सकता है कि आखिर स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद स्वराज्य की बात क्यों? क्या पराधीनता 1947 में खत्म नहीं हो गई? आखिर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जीवित होते तो आज क्या कर रहे होते? क्या आज भी वे स्वराज्य, स्वराज्य का मंत्र जाप कर रहे होते? क्योंकि आजादी के पिछले 68 वर्षों के बाद भी देश की सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक हालत जैसी बनी अथवा बनाई गई, उससे तो संकेत यही मिलता है कि भारत में स्वराज्य की कसौटी का नए सन्दर्भों के साथ समीक्षात्मक अध्ययन आवश्यक है।

जीवन निर्वाह की वर्तमान स्थिति का आकलन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। एक दशक पूर्व असंगठित श्रमिकों की हालत के ऊपर अर्जुन कुमार सेनगुप्ता की अगुवाई में संसदीय कमेटी की रिपोर्ट (अप्रैल 2009 में जारी) के जरिए हम देखें जिसमें 77 प्रतिशत भारतीय आबादी की दैनिक आय 2 डॉलर अर्थात 120 रुपये से कम आंकी गई है। साल 2011 की सामाजिक सर्वे रिपोर्ट के आंकड़ों से भी इसकी पुष्टि होती है जिसमें आकलन प्रस्तुत किया गया है कि देश कै 75 प्रतिशत से ज्यादा ग्रामीण परिवार 5000 रुपये तक की मासिक आय में ही गुजर-बसर कर पाते हैं। पांच सदस्यों का एक परिवार माना जाए तो 5000 रुपये मासिक आमदनी का पांच व्यक्तियों में दैनिक हिसाब से वितरण प्रति व्यक्ति आय के सन्दर्भ में अत्यधिक चिन्तनीय हालात की ओर संकेत करता है। इन आंकड़ों से साफ है कि देश की हालत आजादी के बीते 68 वर्षों में बहुत नहीं बदल सकी। दूसरी ओर वैश्विक संस्था ग्लोबल इंटीग्रिटी की रिपोर्ट आजादी के बाद भारत से विदेश भेजे गए कालेधन के आंकड़ों को प्रस्तुत करती है जिसका संकेत यही है कि भारत की संपदा की लूट अंग्रेजों से आजादी मिलने के बावजूद कम नहीं हो सकी।

1947 में भारत जहां जीडीपी के आंकड़ों में 3.5 फीसद के आंकड़े पर था वही भारत आजादी के 73 सालों में जीडीपी के आंकड़ों के लिहाज से औसतन 2 या 3 फीसदी प्रगति कर कोविड-19 की महामारी से पूर्व के विगत एक दशक में औसतन 5-7 फीसद के आंकड़े के आस-पास ही ठहरा हुआ दिखाई देता है जबकि एक अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन के अनुसार, ब्रिटिश आधिपत्य देश में प्रारंभ होने के समय अठारहवीं सदी में भारत विश्व जीडीपी में 24 प्रतिशत से ज्यादा का योगदान कर रहा था तो प्रश्न निःसन्देह उठता है कि आखिर कमी कहां रह गई, हम कहां और क्यों पीछे रह गए?

देश की इस विकट परिस्थिति में यद्यपि अब राजनीतिक महौल नए शासन की नीतियों से करवट ले रहा है। नोटबंदी, कालेधन के विरुद्ध शासन के दृढ़संकल्प और जीएसटी समेत विकास के अनेक नवीन कार्यक्रमों के बीच विश्वास की नई रोशनी हमें दिख रही है किंतु फिर भी प्रश्न वहीं आकर रुकता है कि क्या तिलक के सपनों का भारत हम गढ़ पा रहे हैं?

लोकमान्य तिलक की स्मृति इसलिए भी आज प्रासंगिक है क्योंकि वही अकेले थे जिन्होंने 125 साल पहले भारत की राजनीति को अपने मन और बुध्दि से सोचना सिखाया। वह तिलक ही थे जिन्होंने सबसे पहले पूर्ण स्वराज्य के प्रश्न को भारतीय ब्रिटिश शासन के सम्मुख सबसे मुखर रूप से तर्कों के साथ प्रस्तुत किया। स्वराज्य के प्रश्न पर उनकी सिंह गर्जना से ब्रिटिश हुकूमत हिली थी और कांग्रेस का नरमपंथी धड़ा भी। ब्रिटिश लेखक बेलेन्टाइन शिरोल ने उन्हें 'फादर ऑफ इंडियन अनरेस्ट' अर्थात भारत में अशांति के जन्मदाता होने का कारण माना था। ये उनकी लोकप्रियता का ही भय था कि ब्रिटिश हुकूमत ने साल 1908 में जब उन्हें काले पानी की सजा दी तो गुपचुप तरीके से और गोपनीय रास्ते से उन्हे कैद के लिए वर्मा स्थित माण्डले जेल रवाना करने पर शासन को मजबूर होना पड़ा।

---

* चेयर प्रोफेसर, भारत अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

स्वतंत्रता आंदोलन के इस महान योद्धा की जिंदगी की कहानी का हर पहलु अदभुत है, बेमिसाल है, उस अंधेरे युग में जबकि चारों ओर गहन निराशा की चादर पसरी थी, 1857 के प्रथम स्वातंत्र्य समर का दीपक करोड़ों हिंदुस्तानियों में आजादी की आस जगाकर बुझ चला था, स्वतंत्रता के संघर्ष का जो मंगल-दीपक मंगल पाण्डे प्रभृति वीरो ने अपना जीवन दीप जलाकर रोशन किया था उस दीपक को एओ ह्यूम के द्वारा गठित कांग्रेस जब विलायती घी से जला कर रखने की कोशिश कर रही थी, जब विदेशी गुलामी का विकट घना अंधेरा हमारे लाखों ग्रामों से होता हुआ दूर लाहौर, कोलकाता, मुंबई, मद्रास और दिल्ली तक जनता को भयानक रूप से जकड़ चुका था, जब कोई राह सुझाने वाला नहीं था, अंग्रेजी राज और विदेशियों का राज मानो ईश्वर ने सदा के लिए भारत की नियति में लिखपढ़ दिया था तब लोकमान्य का पदार्पण हिंदुस्तान की राजनीति में हुआ। उस महनीय व्यक्तित्व की याद आज के संदर्भ में इसलिए भी और अधिक प्रासंगिक हो उठती है क्योंकि उन्हीं ने उन्नीसवीं सदी के उगते सूर्य को साक्षी मानकर सर्वप्रथम कहा था कि 'अंग्रेजों तुम हमारे भाग्यविधाता नहीं हो, हमारी आजादी हमें सौंपकर तुम हम पर कोई अहसान नहीं कर रहे हो, तुम हमारी आत्मा पर राज नहीं कर सकते, तुम्हें हिंदुस्तान से जाना होगा, जाना ही होगा क्योंकि स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे।'

स्वराज्य! पांच अक्षरों का ये छोटा सा पंचाक्षरी शब्द-मंत्र। किंतु मानव ही क्या मानवेतर अन्य योनियों, पशु-पक्षियों के जीवन के लिए भी सर्वाधिक गहन और महत्वपूर्ण इस शब्द मंत्र के अर्थ को देश को समझाने के लिए तिलक महात्मा ने कैसा भीषण संघर्ष और संताप अपने संपूर्ण जीवन में झेला इसकी कहानी रोंगटे खड़े करने वाली है। ब्रिटिश हुकूमत और भारत के कुछ कथित राजनीतिक रहनुमाओं की षडयंत्री राजनीति ने सन् 1908 में उन्हें 6 साल के लिए बर्मा स्थित माण्डले जेल पहुंचा दिया, जेल में रहने के दौरान ही उन्होंने अपनी धर्मपत्नी को खो दिया। इसके पूर्व अपने नरम पंथी साथियों के खिलाफ दिसंबर, 1907 के कांग्रेस के सूरत महाधिवेशन में ताल ठोंककर वह खड़े हो गए। कहां कहां उन्होंने संघर्ष नहीं किया। ब्रिटिश पराधीनता की चक्की में पिस रहे स्वदेशी शिल्पकारों, मजदूरों, किसानों, मजलूमों की अंधेरे कालखण्ड की सबसे सशक्त आवाज बने। उनकी लोकप्रियता कैसी थी इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि जब उन्हें केसरी में ब्रिटिश शासन विरोधी संपादकीय लेख लिखने और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ हिंसा और बगावत भड़काने के आरोप में सन् 1908 में कैद की सजा सुनाई गई, समूची मुंबई उस दिन ठप्प पड़ गई। 5 लाख से अधिक श्रमिकों ने उस दिन मुंबई में हड़ताल कर दी। और मुंबई ही क्यों समूचे देश में अंग्रेजी शासन ने अलर्ट की घोषणा कर दी। बैरकों में सिपाहियों को किसी संभावित विद्रोह को कुचलने के लिए तैयार रहने को सावधान कर दिया गया।

1897 में लोकमान्य की गिरफ्तारी

ये 27 जुलाई, 1897 की तारीख थी जब बाम्बे प्रेसीडेंसी के चीफ मेजिस्ट्रेट मिस्टर जॉन सैंडर्स स्लेटर ने लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी का वारंट जारी किया। ब्रिटिश सरकार ने तिलक के अखबार केसरी के कुछ लेखों और उनके भाषणों को रोजद्रोह माना था। तब उन्हें पहली बार 18 महीने के सश्रम कारावास की सजा सुनाई गई। सरकार ने सजा से बचने के लिए उनसे माफी मांगने और उन्हें आगे से ऐसा ना करने की चेतावनी भी दी लेकिन तिलक ने ऐसा करना गंवारा नही किया। 1897 में तिलक के विरुद्ध अंग्रेजों ने जो मुकदमा चलाया वह मुकदमा अंग्रेजी राज को चुनौती देने के पहले लोकतांत्रिक प्रयास को पूरी ताकत से कुचलने का प्रयत्न था। जो घटना घटी थी वह सिर्फ हिंदुस्तान के लिए ही ऐतिहासिक महत्व की नहीं थी, संपूर्ण एशिया को लोकमान्य तिलक ने संदेश दे दिया था कि ब्रिटिश राज की औपनिवेशिक गुलामी से बाहर निकल आने का सकम आ गया है।

तिलक ने उस समय समूचे मध्य भारत में पड़े अकाल और उसके बाद पुणे सहित अनेक इलाकों में फैले प्लेग के बारे में अपने अखबार में रिपोर्ट दर रिपोर्ट प्रकाशित कीं। इसी क्रम में परिस्थिति से निपट पाने में अंग्रेज अफसरों और प्रशासन की नाकामी पर भी वे जमकर बरसे। तिलक अपने मित्रों के साथ उस भयानक दौर में राहत कार्य के लिए स्वयं ही दौड़ धूप कर रहे थे, सैंकड़ों ग्रामों में भूखे लोगों के लिए भोजन, पशुओं के लिए चारे का इंतजाम करने में तिलक और उनके साथी जुटे थे। लेकिन दिन पर दिन भोजन और चारे का इंतजाम करने में तिलक और उनके साथी जुटे थे। लेकिन परिस्थिति दिन पर दिन बिगड़ती जा रही थी, अंग्रेज सरकार हाथ पर हाथ धरे बैठी थी और उसे इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता था कि लाखों लोग पेट की खातिर अपना गांव छोड़ कर पुणे, पनवेल, नाशिक, शोलापुर, अहमदनगर, जुन्नार सहित अन्य दर्जनों कस्बों और शहरों की ओर रूख कर रहे हैं। और इसी में उन्हें दिखाई पड़ा कि ब्रिटिश सरकार के अफसर हिंदुस्तान की जनता पर कैसा कहर बरपा रहे हैं। तिलक ने इस भयावह स्थिति पर अपने अखबार में कठोर टिप्पणी की। 17 नवंबर, 1896 दिनांकित केसरी में उन्हांने लिखा- 'एक ओर तो लोग घासफूस की कीमत पर अपने पशुओं को बेच रहे हैं क्योंकि खुद की जिंदगी को बचाने के लाले पड़ रहे हैं तो दूसरी ओर गांवों में घास और अनाज बेहद महंगे भाव बिकने के हालात पैदा हो गए हैं। हजारो लोग सपरिवार नगरों की ओर रूख कर गए हैं और जो थोड़े लोग गांवों में बचे है वो भी शीघ्र नगरों की ओर जाने करने की तैयारी कर रहे हैं। ..... अकाल के समय सरकार की जिम्मेदारी है कि वह जनता के प्राण रक्षण और उनके खान-पान का इंतजाम करे। सरकार ने इसके लिए अकाल बीमा फंड भी बनाया हुआ है जिसमें जनता की गाढी कमाई जमा कर रखी गई है। जनता के करोड़ों रूपए सरकार के पास जमा हैं और जनता भूखों मरे, ये स्थिति क्यों बनी, किसने बनाई।'....

तिलक महीनों तक लगातार अकाल की स्थिति पर सरकार और उसके तंत्र को आगाह करते रहे। एक ओर तिलक और उनके सहयोगियों ने स्थान-स्थान पर अकाल पीड़ितों के लिए राहत शिविर लगा कर वहां पर उनके लिए दो जून की रोटी की व्यवस्था की वहीं दुसरी ओर गांव-गांव से तथ्य आधारित रिपोर्ट मंगाकर सरकार की नाकामी के खिलाफ उन्होंने अपने अखबार केसरी में जंग छेड़ दी।

अकाल का ताण्डव अभी समाप्त भी नहीं हुआ कि मध्य भारत को प्लेग की महामारी ने घेर लिया। पुणे में एक ओर तो तिलक और उनके साथी साफ-सफाई और रोगियों की पहचान कर उन्हे अस्पताल भेजने मे जुटे तो वही प्लेग कमिश्नर रैण्ड ने समस्या से निपटने का एक अत्यंत खतरनाक तरीका निकाला। रैण्ड ने सेना के जवानो को लेकर एक सर्वे टीम बनाई और वे सब उन घरो का पता लगाते थे जहां प्लेग का कोई मरीज पाया जाता। मरीज और उनके परिजनो को घर से बाहर निकाल कर वे घर के एक एक सामान को आग के हवाले कर देते। गांवो मे तो रैण्ड ने सीधे सीधे घर ही आग के हवाले करने का निर्देश दे दिया। सीधी साधी गाय समान जनता अंग्रेजों का ये अत्याचार देखकर जोर-जोर रो उठी। एक ओर तो लोग अपने प्लेग पीड़ित परिजनो के विछोह की करुण पीड़ा सहने को मजबूर थे तो दूसरी ओर अंग्रेज सरकार के कर्मचारी उनके घरों को आग के ह्वाले कर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर रहे थे ।

तिलक से ये परिस्थिति देखी ना गई। तिलक ने केसरी मे सिंह गर्जना की। उन्होने केसरी मे तब संपादकीय लिखा कि ''आम जनता पर कहर बरपाना बंद करो मिस्टर रैण्ड। प्लेग से निपटने का ये कोई तरीका नही है कि तुम और तुम्हारी फौज गांव के गांव आग के हवाले कर दे। तुम्हे लोगों की सेवा और साफ-सफाई के कार्य मे सरकार ने नियुक्त किया है ना कि लोगों को यमलोक पहुंचाने के कार्य में।'' तिलक ने रैण्ड से बार-बार विनती भी कि वह और उसके सैनिक लोगों से सभ्य तरीके से पेश आएं, जनता का सहयोग लेकर प्लेग की महामारी का सामना करें। लेकिन रैण्ड के कानो मे जूं तक न रेंगी। इस पर तिलक ने केसरी मे जो लिखा वह आगे चलकर इतिहास का दस्तावेज बन गया। तिलक ने लिखा कि ''इस धरती पर जनता कितनी भी दब्बू क्यों न हो जाए, पीड़ितजनो के घरो मे आग लगाने के इस पागलपन भरे भयानक कार्य का बदला लेकर रहेगी।''

और वही हुआ जिसकी आशंका तिलक ने प्रकट की थी। चापेकर बंधुओ ने 22 जून, 1897 को मिस्टर रैण्ड और कर्नल अयेस्ट को गोलियो से भून दिया। हत्या होते ही सरकार ने तिलक के खिलाफ घेराबंदी तेज कर दी। पुणे में छापेमारी का क्रम तेज हो गया। सरकार और प्रशासन की ताबड़तोड़ छापेमारी से रंचमात्र भी न घबराए तिलक ने केसरी में सरकार को फिर से घेरा। ''क्या सरकार का दिमाग खराब हो गया है'' और ''शासन का मतलब प्रतिशोध नहीं'' नामक शीर्षक से लिखे आलेखो ने अंग्रेज सरकार को तुरंत तिलक के खिलाफ कार्रवाई का अवसर दे दिया। सरकार ने जनता की भावनाएं भड़काने और राजद्रोह लेखन के आरोप में तिलक को गिरफ्तार कर लिया। उनके ऊपर मुंबई (बॉम्बे) उच्च न्यायालय में मुकदमा चलाया गया और उन्हे 18 महीने के सश्रम कारावास की सजा सुनाई गई। सजा पूरी कर जब तिलक जेल से लौटे तो उन्होंने फिर पूरे जोश-खरोश से केसरी मे संपादकीय लिखा 'हम अपने लक्ष्य स्वराज्य को पाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं, कोई भी भय, अपमान और अत्याचार हमे हमारे लक्ष्य से डिगा नहीं सकेगा। जब तक हमारे भाव और हृदय पवित्र हैं और हम मानव मात्र के प्रति हर प्रकार की घृणा से दूर है, हमे किसी से डरने की जरुरत भी नहीं है। इस प्रकार महज 41 वर्ष की आयु मे लोकमान्य तिलक ने स्वराज्य के प्रश्न पर राष्ट्र जीवन को झकझोरना प्रारंभ कर दिया। वह साल 1889 मे कांग्रेस में सम्मिलित हुए किंतु महज 6 वर्ष मे ही वह स्वराज्य के प्रश्न पर कांग्रेस के भीतर ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध खुली बगावत बुलंद करने वाली ध्रुवीकरण की सबसे बड़ी आवाज बन गए।

जेल से लौटने के बाद तिलक कांग्रेस के मंच पर नए सिरे से सक्रिय हो उठे। इसके पूर्व महाराष्ट्र में गणेशोत्सव और शिवाजी जन्मोत्सव का आयोजन प्रारंभ कर वह जनता को भारत के स्वतंत्र गणतांत्रिक भविष्य का संकेत दे चुके थे। उनकी लोकप्रियता दिन दूनी रात चैगुनी बढ़ रही थी। मनसा-वाचा-कर्मणा अपनी आत्मा और कृति के द्वारा वह एक समान व्यवहार कर रहे थे, यही कारण है कि जनता का भरोसा भी उनके ऊपर निरंतर बढता चला गया। सन् 1905 का वर्ष भारतीय राजनीति के इतिहास मे अत्यंत महत्व का वर्ष बनकर आया। इसी साल लार्ड कर्जन ने बंगाल को विभाजित करने का निर्णय लिया। तिलक ने सरकार के इस निर्णय के विरुद्ध जनता मे आए उबाल को समय रहते पहचान लिया और बंगाल के विभाजन के प्रश्न को समूचे देश का प्रश्न बना दिया। 15 अगस्त, 1905 को केसरी मे उन्होंने लिखा-संकट आ पहुंचा है, देशवासियों सावधान।

राष्ट्रीय राजनीति में तिलक का ये उभार उन कांग्रेसियो को पसंद नहीं आया जो कांग्रेस को अपनी निजी जागीर बनाए बैठे थे। तिलक ने सीधे तौर पर अंग्रेज सरकार को भारत की दारुण और दुःखदायी स्थिति के लिए जिम्मेदार ठहराया। तिलक ने कहा कि 'अंग्रेज सरकार अपने तुच्छ स्वार्थो की खातिर सदियो से साथ-साथ रहते चले आ रहे हिंदुओं और मुसलमानों के बीच विभाजन का विषबीज बो रही है। बंगाल विभाजन सरकार की इसी सोच का नतीजा है। उन्होंने कहा कि हमें ऐसी सरकार नहीं चाहिए जो भाइयों में बंटवारा करा दे। इस अंग्रेज सरकार को जितनी जल्दी हो देश छोड़कर चले जाना चाहिए। इधर तिलक अंग्रेज सरकार के खिलाफ उग्रवैचारिक ध्रुवीकरण का नेतृत्व प्राप्त कर चुके थे उधर भारत में

अंग्रेज सरकार समर्थक कांग्रेस के नरमपंथी खेमे में बेचैनी का वातावरण घर करने लगा।

वाराणसी अर्थात बनारस में दिसंबर, 1905 में आयोजित कांग्रेस के 21वें अधिवेशन ने कांग्रेस में समान रुप से पनप चुकी इन दो उग्र-वैचारिक एवं नरमपंथी विचारधाराओं का अंतर रेखांकित कर दिया। अधिवेशन में हिस्सा लेने के लिए बनारस रेलवे स्टेशन पर जब तिलक उतरे तो 20000 से भी अधिक लोग उनके दर्शनमात्र के लिए सड़कों पर उमड़ पड़े। हजारों लोगों ने कांग्रेस संगठन का नेतृत्व लेने के लिए उनके समर्थन में आवाज बुलंद की। 'जुझारु नेता चाहिए, दब्बुओं कुर्सी छोड़ दो।' इसके उत्तर में तिलक ने भी विजयशाली मुद्रा में कांग्रेस के नरमपंथी धड़े को सीधा संदेश भेजा कि 'अंग्रेजी राज के खात्मे के लिए अब उग्र और कठोर नीति चाहिए, विनय के दिन लद गए।' मराठा अखबार में उनके लिखे हुए शब्दों ने अंग्रेज सरकार को कांग्रेस में होने वाले संभावित नेतृत्व परिवर्तन के परिणामों से परिचित करा दिया जिसमें तिलक महाराज ने साफ संकेत दिया कि अंग्रेजी राज के खिलाफ-'वी नीड मिलिटेंसी, नॉट मेंडीकेंसी'

बनारस अधिवेशन (1905) में स्वराज्य के प्रश्न पर गोपाल कृष्ण गोखले और उनके सहयोगियों के साथ लोकमान्य तिलक के तीखे मतभेद खुलकर सामने आ गए। अधिवेशन में एक ओर गोपाल कृष्ण गोखले ने कहा कि हम औपनिवेशिक स्वराज्य चाहते है और इसी के साथ कांग्रेस की विषय समिति की बैठक में जार्ज पंचम और उनकी रानी के भारत आगमन के लिए स्वागत प्रस्ताव प्रस्तुत कर दिया गया। तिलक ने इसका तीखा प्रतिवाद किया और कहा कि 'जार्ज पंचम के स्वागत की जरुरत हमें क्यों पड़ गई? कांग्रेस में जार्ज पंचम के आगमन पर इतना उत्साह क्यों?' उन्होंने कहा कि 'अंग्रेज सरकार और उनसे जुड़े अंग्रेजी वफादार इस कार्य को मजे से कर लेंगे, कृपया इस मुद्दे पर कांग्रेस अधिवेशन का कीमती समय जाया न करें। 'तिलक के इस प्रतिवाद ने उस समय के कांग्रेस आलाकमान को स्पष्ट कर दिया कि अब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में किसी की अंग्रेजपरस्ती नहीं चलेगी। अब जो भी प्रस्ताव प्रस्तुत होगा वह 'स्वराज्य' की कसौटी पर कसा जाएगा। स्पष्ट रुप से इसी कारण कांग्रेस में उपस्थित अंग्रेजपरस्त तत्वों के मन में तिलक विरोध भी प्रबल होने लगा। नरमदल ने अपनी आंतरिक बैठकों और वार्ताओं में साफ कर दिया कि-'तिलक अपनी शर्तों पर मनमाने तरीके से कांग्रेस की संपूर्ण कार्यवाही प्रभावित कर रहे हैं, कांग्रेस के कार्य में बाधा पहुंचा रहे हैं।'

तिलक ने कांग्रेस के बनारस अधिवेशन और इसके बाद दिसंबर, 1906 में कोलकाता अधिवेशन में स्वराज्य, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा, अंग्रेजी माल के बहिष्कार और ब्रिटिशराज के खिलाफ सत्याग्रह प्रारंभ करने के सवाल को बहुत ही मुखर ढंग से उठाया। बनारस अधिवेशन मे कांग्रेस की अध्यक्षता गोपाल कृष्ण गोखले कर रहे थे। गोपाल कृष्ण गोखले यद्यपि तिलक की मांगों के प्रति व्यक्तिगत दृष्टिकोण से सहमत थे लेकिन वे उन मुद्दों के संदर्भ में कांग्रेस के प्लेटफार्म से कोई बात कहने से हिचक रहे थे। जाहिर था कि कांग्रेस के उस समय के नेतृत्व के ऊपर तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति मे सर्वसत्ता सम्पन्न ब्रिटिश हुकूमत की ताकत का भय भी कुछ हद तक काम कर रहा था। यही कारण था कि वे तिलक के खिलाफ खुलकर खड़े हो गए। गोखले और फिरोज शाह मेहता ने हर मुददे पर कांग्रेस में तिलक का विरोध प्रारंभ कर दिया। परिणामतः कांग्रेस अंदर ही अंदर बनारस अधिवेशन में नरमपंथी और गरमपंथी दो दलों में विभाजित हो गई।

इस परिस्थिति में विपिन चंद्र पाल, अरविंद घोष और लाला लाजपत राय ने कोलकाता कांग्रेस की कमान लोकमान्य तिलक के हाथों में देने का निश्चय किया। इसकी पहल अरविंद घोष की ओर से आई। वही अरविंद घोष जो आगे चलकर योगी अरविंद के रुप में विश्वविख्यात हुए।

ये समाचार जैसे ही नरमपंथी धड़े को मिला, वहां घबराहट फैल गई। कांग्रेस अध्यक्ष पद पर तिलक का नामांकन रोकने के लिए उन्होंने दादा भाई नरौजी को आगे कर दिया। दादाभाई की छवि उस समय एक देश समर्पित नेता की थी, उम्र मे भी वे अपने समकालीनों में बहुत वरिष्ठ थे। वे पहले भारतीय थे जिन्हें ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स का सदस्य चुना गया था। उन्होंने ब्रिटिश हुकूमत के दौरान भारत की आर्थिक लूट का चिट्ठा एक पुस्तक के रुप में लिखकर राष्ट्रवादियो के मन मे पर्याप्त प्रतिष्ठा भी प्राप्त कर ली थी। लोकमान्य तिलक व्यक्तिगत रुप से दादाभाई के सबसे बड़े प्रशंसकों में थे। कांग्रेस अध्यक्ष के रुप में दादाभाई का नाम आगेकर लोकमान्य तिलक का रास्ता रोकने के लिए जो दांव नरमपंथियों ने चला वह काम कर गया, लोकमान्य ने स्वयं ही 81 वर्षीय दादाभाई के सम्मान में अपना नाम कांग्रेस अध्यक्ष पद के लिए आगे बढाने से इंकार कर दिया। कोलकाता कांग्रेस अधिवेशन से ठीक 10 दिन पहले अपने अखबार केसरी में तिलक ने लिखा-'दादाभाई के सामने यदि कोई मुद्दा है तो वह है स्वराज्य। मै उनके पूर्व के जीवन को देखकर कह सकता हूं कि वह स्वराज्य के प्रश्न को कांग्रेस के माध्यम से संपूर्ण देश का प्रश्न बना देंगे। मुझे यह कहने मे भी संकोच नहीं है कि दादा भाई उन राजनीतिज्ञों मे नहीं हैं जिनके लिए राजनीति खाली समय बिताने का एक आरामदायक तरीका है। उनका समूचा जीवन देशभक्ति का जीता जागता उदाहरण है।'

कोलकाता कांग्रेस-अधिवेशन 1906 के बारे में तिलक ने जैसा कहा वैसा ही हुआ। पहली बार दादाभाई नरौजी के रुप में किसी कांग्रेस अध्यक्ष ने स्वराज की मांग उठाई। लेकिन नरमपंथी धड़े को ये पसंद नही आया लेकिन वे कर भी क्या सकते थे। तिलक और उनके साथियों ने परिस्थिति का लाभ उठाकर स्वराज्य, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा के मसौदे को भी विषय समिति की बैठक मे गर्मागर्म बहस के बाद पारित करवा लिया। नरमपंथी धड़े के अगुवा फिरोजशाह मेहता गरमपंथियों के प्रस्तावों पर कांग्रेस की

स्वीकृति एवं बढते जनाधार को देखकर अत्यंत उग्र हो उठे। उन्हें दादाभाई नरौजी से यह उम्मीद नहीं थी कि वे इस प्रकार से गरमपंथियों की बातों में आ जाएंगे। अधिवेशन की समाप्ति पर कोलकाता से लौटते वक्त फिरोज शाह मेहता तिलक से मिले और उन्होंने तिलक को डराने के अंदाज मे चेतावनी दी-'तिलक तुमने ये स्वराज्य और स्वदेशी का प्रस्ताव यहां कलकत्ते में तो पारित करा लिया लेकिन ध्यान रखना अब आइंदा तुम ऐसे प्रस्ताव पारित करा पाना तो दूर इसे कांग्रेस की किसी बैठक में प्रस्तुत भी नहीं कर पाओगे।' तिलक ने उनका इशारा भांप लिया और मेहता को तुरंत जवाब भी दे दिय-'आपकी चुनौती मुझे स्वीकार है, मैं शेर का उसकी मांद में ही ललकारना पसंद करुंगा।' यहां यह उल्लेखनीय है कि अगला अधिवेशन बंबई प्रेसीडेंसी में ही आयोजित होना था। फिरोजशाह मेहता की टिप्पणी और तिलक के प्रत्युत्तर ने तय कर दिया था कि कांग्रेस की भावी दिशा क्या होगी। नरमपंथी धड़े ने तिलक का रुख भांपकर और मुंबई मे उनके समर्थन में कांग्रेस के भीतर बढती खेमेबंदी देखकर 1907 का कांग्रेस अधिवेशन मुंबई की बजाए कहीं और करना तय कर लिया। कुछ ही दिनों में तय हो गया कि अगला अधिवेशन मुंबई की बजाए सूरत मे होगा। चूंकि सूरत उन दिनों फिरोजशाह मेहता और गोपाल कृष्ण गोखले के प्रभावक्षेत्र का एक प्रमुख अडडा था, दूसरे वहां की स्थानीय कांग्रेस ईकाई पूरी तरह से नरमपंथियों के हाथ में थी, इसलिए भी नरमपंथी धड़े ने कांग्रेस के 23वें अधिवेशन के लिए सूरत का चुनाव किया। दोनों पक्ष अपनी तैयारियों में जुट गए। तिलक ने तय कर लिया कि कांग्रेस को पूर्णरुपेण भारतीय हितों की संरक्षक, स्वराज्य, स्वदेशी समर्थक राजनीतिक दल बनाकर ही दम लेंगे तो नरमपंथी धड़े ने तिलक को ही निपटाने का षडयंत्र रचना प्रारंभ कर दिया।

सूरत में कांग्रेस स्वागत समिति बनाई गई और उसमें अधिकांशतः लोग वही रखे गए जो नरमपंथी धड़े के इशारे पर चलने वाले थे। फिरोजशाह मेहता के एक विश्वासपात्र सहयोगी अम्बालाला शंकरलाल को जिम्मेदारी सौंपी गई कि वह अधिवेशन में तिलक की उग्रता को शांत करने का प्रबंध पहले से करके रखें। तिलक परिस्थिति की गंभीरता को समझ रहे थे इसलिए वे अधिवेशन की तारीख 26 दिसंबर, 1907 से एक सप्ताह पूर्व ही सूरत पहुंच गए। कांग्रेस स्वागत समिति ने तिलक के स्वागत समारोह के संदर्भ मे पहले से चुप्पी साध रखी थी और उनके आगमन पर कोई विशेष प्रबंध भी नहीं किया गया लेकिन जैसे ही सूरत वासियों को तिलक के आने का समाचार मिला, सूरत रेलवे स्टेशन हजारों लोगों और फूल-मालाओं के अंबार से सज उठा। सूरत की जनता ने अपनी ओर से ही तिलक महाराज का ऐसा भव्य स्वागत किया कि नरमपंथी खेमे के हाथपांव फूल गए। रेलगाड़ी से उतरते ही तिलक को जनता ने रोडशो के साथ पूरे नगर में घुमाया। सूरत मे आम जनता के बीच तिलक महाराज का ऐतिहासिक भाषण हुआ। अपनी गरजती आवाज मे लोकमान्य ने कहा-'मैं यहां कांग्रेस को तोड़ने या उसमें फूट डालने के इरादे से नहीं आया हूं और ना मुझे नरमपंथियों से कोई लड़ाई झगड़ा करना है। कुछ लोग इस प्रकार की अफवाहें फैला रहे हैं कि तिलक कांग्रेस को तोड़ना चाहते हैं तो ऐसे लोगों से मैं पूछना चाहता हूं कि ऐसा करके मुझे और मेरे लक्ष्य स्वराज्य को कौन सा फायदा होने वाला है। मैं कांग्रेस को तोड़कर एक नया संगठन बना भी लूं तो इससे देश का कौन सा हित सधेगा? मेरा केवल इतना ही कहना है कि कोलकाता कांग्रेस में जो मत कांग्रेस ने व्यक्त किए वह उस पर अडिग रहे। अब हम कांग्रेस को किसी कीमत पर स्वराज्य प्राप्ति के घोषित लक्ष्य से पीछे हटने की अनुमति नहीं देंगें। मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि ब्रिटिश राज के सफाए के बिना मैं चैन की सांस नहीं लूंगा, मेरा लक्ष्य कांग्रेस का खात्मा नहीं वरन ब्रिटिश राज का खात्मा है। मैं सदा ही कांग्रेस की सेवा करता रहा हूं और आगे भी करता रहूंगा।'

इधर सूरत की जनता से स्वराज्य प्राप्ति में सहयोग मांग रहे थे उधर गोपाल कृष्ण गोखले के हस्ताक्षर से एक पत्र सूरत अधिवेशन के आयोजन के एक दिन पूर्व सभी कांग्रेस सदस्यों में वितरित कर दिया गया। इस पत्र में गोखले ने कहा कि 'सर्वसम्मत निर्णय लिया गया है कि कांग्रेस औपनिवेशिक स्वराज्य चाहती है। इस निर्णय के विरुद्ध कोई भी प्रस्ताव कांग्रेस अधिवेशन में नहीं लाया जा सकता।' जाहिर था कि नरमपंथियों ने कोलकाता कांग्रेस में उठे सारे मुददों को ठंडे बस्ते मे डालने का निश्चय कर लिया था। नरमपंथियों ने रासबिहारी घोष को कांग्रेस अधिवेशन का अध्यक्ष बनाना तय किया तो उधर गरमपंथियों ने लोकमान्य तिलक के नाम का प्रस्ताव करने की घोषणा कर दी।

26 दिसंबर, 1907 को प्रातः काल जैसे ही सूरत कांग्रेस अधिवेशन प्रारंभ हुआ नरमपंथियों की ओर से दीवान बहादुर अंबालाला शंकरलाल देसाई ने डॉ0 रासबिहारी घोष का नाम अधिवेशन की अध्यक्षता के लिए प्रस्तावित कर दिया। इसका समर्थन करने के लिए तुरंत सुरेंद्र नाथ बनर्जी खड़े हो गए। लेकिन वे कुछ बोल पाते इसके पहले ही पण्डाल मे हल्ला मच गया। स्वागत समिति के अध्यक्ष त्रिभुवन दास मालवीय ने लोगो को शांत करने की अपील दर अपील की लेकिन हल्ला गुल्ला बढता देख उन्होंने अधिवेशन को दिन भर के लिए स्थगित करने की घोषणा कर दी।

इसके बाद नरमपंथियों और गरमपंथियों के बीच बैठकों का सिलसिला चल पड़ा। तिलक ने इन बैठकों में गोखले के हस्ताक्षर से वितरित औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग संबंधी पत्र के बारे मे पूछताछ की और कहा कि 'यदि ये पत्र वापस नहीं लिया जाता है तो बातचीत का कोई मतलब नहीं है। कांग्रेस कोलकाता अधिवेशन में देश के साथ किए गए वायदे से अब मुकर नहीं सकती।' तिलक ने दूसरा मुददा उठाया कि 'डॉ0 रासबिहारी घोष को अध्यक्ष पद के

लिए किसकी सहमति से नामित किया जा रहा है। उन्होंने कहा कि वे हमें किसी कीमत पर स्वीकार नहीं होंगे। अच्छा होगा कि अध्यक्ष का चुनाव कुछ समय के लिए टाल दिया जाए और उसकी जगह एक संचालन समिति का गठन कर कांग्रेस के कार्यो को उचित रीति से संचालित किया जाए'

तिलक का प्रस्ताव फिरोजशाह मेहता के पास पहुंचा तो वे भड़क उठे। उन्होंने तिलक की किसी भी बात को सुनने तक से इंकार कर दिया। फिर क्या था, कांग्रेस का 23वां अधिवेशन भारत के साथ संपूर्ण यूरोप में चर्चा का विषय बन गया। 27 दिसंबर की दोपहर में अधिवेशन का सत्र प्रारंभ हुआ और सुरेंद्र नाथ बनर्जी अपना भाषण फिर से प्रारंभ करने लगे। कुछ देर तक उनके बोलने के समय गंभीर शांति पूरे पण्डाल में पसरी पड़ी थी जिसमें उस वक्त पूरे देश से करीब 7000 प्रतिनिधि मौजूद थे। सुरेंद्र नाथ बनर्जी ने जैसे ही अपना भाषण समाप्त किया, मंच के नीचे की प्रथम पंक्ति में कुर्सी पर बैठे तिलक ने एक पर्ची अधिवेशन का संचालन कर रहे त्रिभुवन दास मालवीय के पास भिजवाई। लेकिन पर्ची पढने के बावजूद मालवीय चुप्पी साधे बैठे रहे। उल्लेखनीय यह है कि इस समय तक अध्यक्ष के निर्वाचन की विधिवत घोषणा नहीं हुई थी। तिलक ने देखा कि उनकी पर्ची पर बिना कोई ध्यान दिए त्रिभुवन दास मालवीय ने नए अध्यक्ष के रुप मे कार्रवाई संचालित करने का अधिकार सौंप दिया। तिलक से रुका न गया और वे बिना किसी बुलावे के ही मंच की ओर बढने लगे। तिलक का मुखमण्डल अपनी इस अवमानना से अत्यंत गंभीर हो उठा। डॉ0 रास बिहारी घोष ने तिलक को मंच की सीढियों पर देखा तो उन्हें तत्काल अपनी सीट पर लौटने को कहा। लेकिन तब तक तिलक मंच पर चढ चुके थे। मंच पर चढते ही उन्होंने बुलंद आवाज मे कहा कि 'उन्हें यहां आए हुए हजारो प्रतिनिधियों को संबोधित करने से कोई रोक नहीं सकता। डॉ0 घोष यदि देखा जाए तो आपका निर्वाचन पूरी तरह से अवैध है। आपके निर्वाचन के लिए कांग्रेस के इस पण्डाल में उपस्थित प्रतिनिधियों से कोई सहमति नहीं ली गई है।' इस पर त्रिभुवन दास मालवीय और स्वयं डॉ0 घोष ने कहा कि 'नहीं निर्वाचन पूरी तरह से वैध है। आप अपनी सीट पर वापस जाएं।' लेकिन तिलक ने उलट जवाब दिया कि 'आप स्वराज्य के सवाल पर कांग्रेस में मतविभाजन करा लीजिए और जब तक ये नहीं होता मैं यहीं मंच पर रहूंगा और कृपया मुझे कांग्रेस को संबोधित करने दीजिए।' तिलक और डॉ0 घोष के बीच अभी ये वाद विवाद चल ही रहा था कि अचानक मंच पर दोनों ओर से कुछ पहलवान टाइप लोग हाथों में लाठियां लिए चढ आए और तिलक को धक्का देकर मंच से फेंकने की कोशिश की जाने लगी।

लेकिन तिलक इस पर भी रुके नहीं, उन्होंने अवांछित तत्वों को दूर रहने की चेतावनी दी और साफ कर दिया कि कांग्रेस को उनके सुझावों और प्रस्तावों पर विचार करना ही होगा। क्या थे वे प्रस्ताव? जरा गहराई से विचार करिए कि तिलक क्या कह रहे थे और क्या कहना चाहते थे सूरत कांग्रेस के मंच से? सूरत अधिवेशन में जिन प्रस्तावों को लेकर लोकमान्य तिलक कांग्रेस के मंच पर चढे थे वह प्रस्ताव थे स्वराज्य, स्वदेशी, अंग्रेजों का बहिष्कार यानी अंग्रेजी वस्तुओं और अंग्रेजी सभ्यता का बहिष्कार तथा वैकल्पिक राष्ट्रीय शिक्षा नीति और स्वदेशी शिक्षा तंत्र की स्थापना का मसौदा। लेकिन अंग्रेजों के साथ पर्दे के पीछे संबद्ध होकर कांग्रेस चला रहे नेताओं ने इन प्रस्तावों पर बहस और जनमत जानने की जगह तिलक को ही निशाने पर ले लिया। पहली बार कांग्रेस के अधिवेशन में कुर्सियां चलीं, लोग एक दूसरे पर लाठियां और जो जो कुछ भी हाथ में मिला, लेकर टूट पड़े। अंग्रेजों की चाटूकारिता करने वाले ये भूल गए थे कि तिलक को खींचकर मंच से हटाना उनके लिए कितना भारी पड़ सकता है।

मंच पर जैसे ही तिलक ने अपने प्रस्तावों के बारे मे बोलना शुरु किया तो लठैतों ने उन्हें पुनः मंच से धक्का देकर उतारने की कोशिश की। इस पर बीच बचाव के लिए गोखले उठ खड़े हुए। उन्होंने तिलक को अवांछित तत्वो से बचाने की कोशिश की। उधर धक्का-मुक्की के बीच तिलक मंच पर ही दोनों हाथ बांधे, अपने दोनों पैर जमाए बलिष्ठ शरीर और बुलंद आवाज के साथ त्यौरियां कस कर खड़े हो गए। लठैतो ने सोचा कि तिलक को शीघ्र मंच से उतार फेकेगे लेकिन कुछ ही देर मे उन्हें ध्यान मे आ गया कि उनका पाला गरमदल से पड़ गया है। अपने नेता के साथ इस प्रकार का अमानवीय व्यवहार होता देख पण्डाल में उपस्थित गरम दल के नेता सकते मे आ गए। तिलक समर्थक सैकड़ों प्रतिनिधि तत्काल अपने नेता के बचाव में मंच पर कूद पड़े और सैकड़ों अन्य पतिनिधियों ने फिरोजशाह मेहता और सुरेंद्र नाथ बनर्जी को घेर लिया। दोनों पक्षों में खुला घमासान छिड़ गया। दोनों ओर से लाठियां, कुर्सियां चलने लगीं। जिधर देखो उधर हाहाकार मच गया। हालात नियंत्रण से बाहर जाता देख पुलिस को पंडाल के अंदर घुसकर लाठीचार्ज करना पड़ गया। गरम दल के प्रतिनिधियों ने एक-एक कर नरम दल के नेताओं को निशाने पर ले लिया। पंडाल में नारे लगने लगे-तिलक नहीं तो अधिवेशन नहीं। 27 दिसंबर, 1907 की तारीख कांग्रेस अधिवेशन के इतिहास में काला अध्याय लिख गई। नरमपंथी और गरमपंथी अब पूरे तौर पर दो अलग-अलग राहों पर चल पड़े।

आखिर तिलक ने बिना अनुमति मंच पर चढने का दुस्साहस क्यों किया? इस पर टिप्पणी देते हुए टाइम्स ऑफ लंदन ने दिनांक 30 दिसंबर, 1907 को अपने संपादकीय मे जो कुछ लिखा उससे पता चलता है कि भारत के राजनीतिक नेता लोकमान्य तिलक और उनके साथियों के साथ किस पकार का बर्ताव कर रहे थे। पता इस बात का भी चलता है कि तिलक किस पकार से दृढपतिज्ञ होकर अपने मत पद अड़े हुए थे। अखबार लिखता है- एक विद्वान मराठा ब्राह्मण बहुत पहले भी भारत के सभी राजनीतिक समूहों का अविश्वास है फिर भी वह अपने को स्थापित करने, अपने

अनुयायियों की संख्या बढाने और ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असंतोष को हवा देने की युक्ति बनाने मे जुटा हुआ है। राजनीतिक नजरिये से उसके पास कोई सिद्धांत नहीं दिखता सिवाय विध्वंस के। जब वह कांग्रेस पर नियंत्रण कर सकने मे कामयाब ना हो सका तो उसने कांग्रेस को ही नष्ट करने का निश्चय कर लिया है। लंबे समय से वह इसी फिराक में था और सूरत अधिवेशन ने उसे ये मौका दे ही दिया।

ब्रिटिश पत्रकार लेखक वेलेटाइन शिरोल ने भी सूरत मे हुए उपद्रव के लिए तिलक को जिम्मेदार ठहराया। वेलेटाइन शिरोल ने 1910 में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक इंडियन अनरेस्ट में लिखा है कि 'तिलक और उनके अनुयायियों ने कांग्रेस अधिवेशन को उलट-पलट दिया। जिस प्रकार का फसाद और संभ्रम निर्माण किया वह अत्यंत निंदाजनक था।'

अंग्रेजों ने जो लिखा और बोला, उसी से जाहिर होता कि उनका रवैया तिलक के पति कितना तिरस्कारपूर्ण था। भारतीय राजनीति के क्षितिज पर तिलक के आगमन के पूर्व कांग्रेस देश को किस ओर ले जाने की वकालत कर रही थी इसका पता भी अंग्रेजी चिट्ठे से चल जाता है। तिलक ने बाद में जारी किए गए अपने वक्तव्य में स्पष्ट किया कि ''बार-बार आग्रह के बावजूद कोलकाता कांग्रेस अधिवेशन में प्रस्तुत प्रस्तावों को सूरत कांग्रेस अधिवेशन में चर्चा के लिए आखिर क्यों प्रस्तुत नहीं किया गया? पूर्ण स्वराज, स्वदेशी, अंग्रेजों का बहिष्कार और शिक्षा क्षेत्र में राष्ट्रीय विकल्प का आह्वान, आखिर इनमें से कौन सी बात कांग्रेस के वर्तमान नेतृत्व को पसंद नहीं आ रही है?'' तिलक ने कांग्रेस के तत्कालीन वरिष्ठ नेता फिरोज शाह मेहता और गोपाल कृष्ण गोखले व उनके अनुयायियों से पूछा कि ''आप लोग किस मुंह से ऐसी आजादी मांग रहे है जिसमें हमें हर कदम पर अंग्रेजों के सामने हाथ फैलाकर भिक्षुक रुप मे खड़े होना पड़ेगा? उन्होंने कहा कि जिस प्रकार से कोलकाता नगरी में बहुत सी स्वायत्त कालोनियां बन गई हैं जो अपनी रोजमर्रा की व्यवस्थाएं खुद संभालती है तो भारत को भी अंग्रेजी राज के अंतर्गत ऐसी ही कॉलोनी के रुप मे देखा जाना आपको मंजूर हो सकता है किंतु मुझे ये कदापि मंजूर नहीं है। अंग्रेजों को हर हाल में पूरे तौर पर भारत से जाना होगा।''

तिलक के वज्र संकल्प और कठोर व्यवहार का परिणाम था कि समूची कांग्रेस एक तरफ डॉ0 रास बिहारी घोष, गोपाल कृष्ण गोखले और फिरोज शाह मेहता तो दूसरी तरफ लाला लाजपत राय, अरविंद घोष, विपिन चंद्र पाल और लोकमान्य तिलक के समूह वाले नेतृत्व में दो धड़ो मे बंट गई। कांग्रेस की राजनीति में जो धारा तिलक ने संघर्ष के द्वारा निर्मित की वही धारा आगे चलकर आजादी के महान आंदोलन मे परिवर्तित हुई और पूर्ण स्वराज्य का तिलक का सपना आजादी के आंदोलन का केंद्रीय मुददा बन गया। तिलक के द्वारा जो नीव डाली गई उसी पर महात्मा गांधी ने आजादी के आंदोलन का सारा भवन खड़ा करने का प्रयास किया। चाहते तो तिलक भी उस समय पार्टी अनुशासन मानकर चुप बैठ सकते थे, चाहते तो अंदर ही अंदर गोपाल कृष्ण गोखले से तालमेल कर वह कांग्रेस के अध्यक्ष भी बन सकते थे लेकिन इस प्रकार की धूर्त और लंपट राजनीति का हिस्सा बनना तिलक ने कभी गंवारा नहीं किया। जैसे को तैसा और अभी नहीं तो कभी नहीं की तर्ज पर उन्होंने उस समय की कांग्रेस सहित समूचे देश को स्वराज के सवाल पर झकझोर कर रख दिया। सचमुच जो नींव उन्होंने डाली आगे चलकर उसी पर भारत की आजादी के आंदोलन का सारा ताना बाना रचा-बुना गया।

सन्दर्भ-

1. लोकमान्य तिलकः फादर ऑफ इंडियन अनरेस्ट एंड मेकर ऑफ माडर्न इंडिया, डीवी तहमनकर
2. लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, एनजी जोग, प्रकाशन विभाग
3. Full And Authentic Report on Tilak 1908, NC Kelkar
4. लाइफ ऑफ लोकमान्य तिलक, डीवी आठल्ये
5. पॉवटी एंड अन-ब्रिटिश रुल ऑफ इंडिया, दादाभाई नरौजी, प्रकाशन विभाग, 1962
6. https://en.wikipedia.org/wiki/Arjun_Kumar_Sengupta

साहित्यचूडामणि पं0 वायुनन्दन पाण्डेय की सारस्वतोपासना

डॉ. राजेश सरकार*

सनातन संस्कृति-सभ्यता, धर्म-दर्शन, कला-साहित्य के केन्द्र के रूप में काशीनगरी सदा से विख्यात रही है। भिन्न-भिन्न कालखण्डों में इसकी गौरव-गरिमा के दर्शन भारतीय-साहित्य के माध्यम से होते रहे हैं, न केवल भारतीय-साहित्य अपितु वैदेशिक यात्रियों के स्रोतों में भी इस नगरी के भव्य-दिव्य स्वरूप परिलक्षित होते हैं। 'काशी' शब्द स्वयं में ही एक महती ज्ञान-परम्परा को द्योतित करती है-

'काशते प्रकाशते ब्रह्मविद्या यस्यां नगर्यां पुर्यां सा काशी' अर्थात् जिस नगरी में ब्रह्मविद्या प्रकाशित हो उसे काशी कहते हैं।

काशीपुरी उपनिषत्काल से ही विद्या की विश्रुतस्थली रही है। यहाँ विद्याध्ययन के लिये न केवल भारत के अनेक प्रान्तों से बल्कि विदेशों से विद्वान् आते थे, और उत्कृष्ट विद्वानों से विविधविध शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन कर अपनी विद्या को परिपुष्ट करते थे। धर्म एवं संस्कृति के केन्द्र के रूप में इसका उल्लेख वैदेशिकों के यात्रा-विवरणों में उपलब्ध होता है। चीनी यात्रियों फाहियान (चतुर्थ-पञ्चम शताब्दी ई0) एवं ह्वेनसांग (सप्तम शताब्दी ई0) के विवरणों में काशी का उल्लेख एक ख्यातिलब्ध नगर के रूप में प्राप्त होता है।

मध्य एशिया से आगत मुस्लिम यात्री अबू रेहान मुहम्मद इब्न अहमद अल्बीरूनी (973 ई0-1050 ई0) अपनी भारत विषयक प्रसिद्ध पुस्तक 'किताब अल् बीरूनी फ़ी तहक़ीक़ माली अल् हिन्द (किताब अल् हिन्द) में काशी के विषय में लिखते हैं-

''हिन्दुओं के कुछ स्थान ऐसे हैं जो उनके राजनियम और धर्म के सम्बद्ध कारणों से पूजित हैं, उदाहरणार्थ बनारस (वाराणसी)। क्योंकि उनके तपस्वी वहाँ जाते हैं और सदा के लिये वहीं ठहर जाते हैं। जिस प्रकार काअबा के रहने वाले सदा मक्के में ठहरे रहते हैं। वे अपने जीवों की समाप्ति तक वहाँ रहना चाहते हैं ताकि मृत्यु के पश्चात् उनका इसके कारण अच्छा हो जाय।''[1]

इसी क्रम में फ्रांस का प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ0 फ्रैंक्विस बर्नियर अपने मुग़ल शासित भारतयात्रा के क्रम में काशी आता है और अनेक साधु संन्यासियों एवं विद्वानों से उसकी भेंट होती है उनसे वह अध्यात्म विषयक चर्चा भी करता है। उन विद्वानों में उसके द्वारा उल्लिखित नामों में से एक महत्त्वपूर्ण नाम सर्वविद्यानिधान कवीन्द्राचार्य सरस्वती का है, बर्नियर उनसे मूर्तिपूजा, आत्मा, मोक्ष, परलोक एवं पुनर्जन्म इत्यादि विषयों पर चर्चा करता है। पियरे बर्नियर ने कवीन्द्राचार्य सरस्वती की अध्ययन-परायणता एवं उनके विशालकाय पुस्तकालय का भी उल्लेख किया है। बर्नियर काशी के सन्दर्भ में लिखता है-

''काशी अथवा बनारस एक बहुत प्रसिद्ध और सुन्दर नगर गंगा के बायें किनारे पर बसा हुआ है। यह हिन्दुओं का बहुत प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। भारतवर्ष में यह स्थान कैसा ही समझा जाता है, जैसा यूनान में एथिन्सा। यहाँ प्रायः सारे भारतवर्ष के ब्राह्मण और पण्डित पढ़ने आते हैं। मेरी समझ में केवल यही लोग ऐसे हैं, जो अपना सारा समय पठन-पाठन में व्यतीत करते हैं। प्राचीन पद्धति पर यहाँ विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती है। विद्यार्थियों को संस्कृत भाषा में शिक्षा दी जाती है। संस्कृत भाषा की प्रायः सारी पुस्तकें पद्य में हैं और इस भाषा में पुस्तकें भी इतनी अधिक हैं कि जिनसे बनारस में एक बड़ा कमरा बिल्कुल भरा हुआ है।''[2]

धार्मिक-वैभव की दृष्टि से मध्यकाल में काशी का ऐसा उत्कट आकर्षण रहा है कि षोडश शताब्दी में फ़ारस (ईरान) के इस्फ़हान नगर से काशी आये हुये सूफ़ी सन्त शेख़ अली हज़ी भावुक शब्दों में कह उठते हैं-

'अज़ बनारस न रवम माबदे आम अस्त ईन्जा।'

हर बरहमन पिसरे राम ओ लछमन अस्त ईन्जा।।

अर्थात् अब मैं बनारस छोड़कर नहीं जाऊँगा यहाँ जगह-जगह मन्दिर हैं। यहाँ हर ब्राह्मण का बेटा राम और लक्ष्मण है।

महाकवि मिर्ज़ा ग़ालिब (1797-1869 ई0) अपनी पेंशन के सम्बन्ध में कलकत्ता जाते समय काशी में रुकते हैं और यहीं पर उन्होंने काशी के वैभव, सौन्दर्य, आध्यात्मिक माहात्म्य को आधार बनाकर प्रसिद्ध फ़ारसी मसनवी 'चिराग़ ए दैर' लिखी। जिसका अर्थ होता है- 'देवालय का दीप'। एक सौ आठ पद्यात्मक इस फ़ारसी रचना के कुछ पद्य इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं-

तनासुख़ मुश्रुबा चू लब कुशायंद

ब-केश-ए-ख़ेश काशीश सतायंद।

अर्थात् पुनर्जन्म में विश्वास करने वाले (हिन्दू) सदा अपने धर्म के अनुसार काशी की प्रशंसा और उपासना करते हैं।

---

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कि हर कस कांदरो गुलशन व मीरद

दिगर पैबन्द ए जिस्माने न गीरद।

ज़िहे आसूदगी बख्श ए रवां हा

कि दाग़ ए जिस्म भी शोयद ज़ जाँहा।

अर्थात् जो व्यक्ति इस नगर में मृत्यु प्राप्त करता है वह पुनर्जन्म नहीं प्राप्त करता है। काशी आत्माओं को सुख शान्ति देती है और हृदय के समस्त दुःखों को धो देती है। अन्तिम क्रम में महाकवि ग़ालिब कहते हैं-

सवादश पायः तख़्त ए बुतपरस्ताँ

सरापायश ज़ियारतगाहे मस्ताँ।

इबादतखानः ए नाक़ूसियानस्त

हमाना काबा ए हिन्दूस्तानस्त।

बलन्द उफ्तादः तमकीन ए बनारस

बबद बर औज ए ओ अंदेशः ना रस।

अर्थात् बनारस मूर्तिपूजकों की राजधानी है, यह नगर धर्म में लीन लोगों का तीर्थस्थान है। बनारस शंखध्वनि करने वालों का प्रार्थनागृह और भारतवर्ष का 'काबा' है। बनारस की प्रतिष्ठा अत्यन्त उच्च है, इसकी उच्चता और श्रेष्ठता पर हमारा चिन्तन भी नहीं पहुँच सकता है।

उपर्युक्त वैदेशिक एवं अहिन्दू महानुभावों के विवरणों से काशी की प्रतिष्ठा का सहज अनुमान किया जा सकता है। इन तथ्यों से यह ज्ञात होता है कि जहाँ प्राचीनकाल में काशी मात्र धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी और विद्याकेन्द्र के रूप में कश्मीर की ख्याति थी, वहीं मध्यकाल आते-आते काशी तीर्थभूमि के साथ-साथ शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में विकसित हो उठी। यही कारण है कि काशी में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से आकर निवास कर रहे मनीषियों द्वारा विरचित संस्कृत-साहित्य अपनी मौलिकता तथा प्रामाणिकता के कारण वैश्विक कीर्ति से मण्डित है। भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तीय विद्वानों ने काशी में निवास कर इसे अपनाया तथा विभिन्न शास्त्रों में अपनी रचनाओं द्वारा संस्कृत के भण्डार को अधिकाधिक समृद्ध किया। संस्कृत-वाङ्मय की ऐसी कोई शाखा नहीं है, जो काशी में पुष्पित-पल्लवित न हुयी हो। इसी क्रम में ललित काव्यों की सर्जना एवं उसकी समालोचना-समीक्षण के प्रति काशी के पण्डितों की अभिरुचि कथमपि न्यून नहीं रही है। साहित्य एवं काव्यशास्त्र के क्षेत्र में काशी का अवदान अखिल भारतीय स्तर पर विख्यात है। अपने प्रौढ तार्किक विवेचन तथा गम्भीर समालोचना के कारण काव्यशास्त्र के इतिहास में काशी का अनुपम स्थान महत्त्वपूर्ण है।

इसी क्रम में सर्वविद्या की राजधानी शिवपुरी काशी के आचार्यों ने संस्कृत-साहित्य काव्यशास्त्र के संवर्द्धन एवं संरक्षण में अपनी महती भूमिका का निर्वाह किया है। इस प्रकार काशिकेय साहित्याचार्यों की एक समृद्धशालिनी-परम्परा पुष्पित एवं पल्लवित होती रही है। इस क्रम में काशी के विद्वानों की कई श्रेणियाँ दिखायी देती हैं- प्रथम वे जिनकी जन्मभूमि, विद्याभूमि एवं कार्यस्थली भी काशी ही रही। द्वितीय काशी में जन्म या विद्याप्राप्त किन्तु बाहर प्रव्रजित कर गये। तृतीय बाहर से आकर काशी को विद्याभूमि एवं कार्यस्थली के रूप में स्वीकार करने वाले विद्वान्। ऐसे भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आकर काशी में रच-बस गये आचार्यों की परम्परा का अपना एक समृद्ध इतिहास है। इन मनीषियों के अन्तःकरण में काशीवास की एक उत्कट अभिलाषा सन्निहित रही है, जो सुदूर से इन्हें यहाँ खींच लायी-

असारे खलु संसारे सारमेतच्चतुष्टयम्।

काश्यां वासः सतां सङ्गो गङ्गाम्भः शिवपूजनम्।।

इन आचार्यों में काव्यशास्त्र के नदीष्ण विद्वान् रहे हैं।

ज्ञातसूत्रों के अनुसार काशी में काव्यशास्त्र की परम्परा का क्रान्तिकारी सूत्रपात मध्यकाल में पण्डितराज जगन्नाथ से होता दीख पड़ता है। द्वितीय कालखण्ड ब्रिटिशशासन का है, जब 'बनारस संस्कृत कॉलेज' से सम्बन्धित एवं स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाले काशिकेय विद्वानों का आकाशीय उल्कापात सा दृष्टिगोचर होता है। तृतीय कालखण्ड स्वातन्त्र्योत्तरकाल है, जो अद्यतन निरन्तर प्रवहमान है। इन तीनों ही कालखण्डों में ही काशिकेय काव्यशास्त्रियों के उल्लेखनीय अवदान अखिल भारतीय स्तर पर हैं।

इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि अधिसंख्य लोग पण्डितराज जगन्नाथ के बाद काव्यशास्त्रीय चिन्तन की गति को अवरुद्ध अथवा समाप्त मान लेते हैं। परन्तु ऐसा किसी प्रकार से उचित नहीं कहा जा सकता है, न तो अखिल भारतीय स्तर और न ही काशी के सन्दर्भ में। पण्डितराज के उपरान्त भले ही कोई क्रान्तिकारी उन्मेष न हुआ हो, कोई नूतन प्रस्थान भले ही न प्रतिष्ठित हुआ हो, परन्तु यह सत्य है कि काव्यशास्त्रीय-चिन्तन की धारा सतत प्रवहमान रही है। काशी में शास्त्रैकचाक्षुष् विद्वानों द्वारा नित्य नूतन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे जाते रहे।

साहित्यशास्त्रीय 'योगदान' का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि कोई आचार्य किसी नवीन काव्यशास्त्रीय तत्त्व की सृष्टि करता है, अथवा कोई नवीन व्याख्या प्रस्तुत करता है। यह तो प्रथम कोटि का अवदान है, जो पण्डितराजोत्तर आचार्यों में अत्यल्प मात्रा में उपलब्ध है। सभी आचार्य अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से अधिकांशतः कुछ न कुछ ग्रहण करते हैं। इस दृष्टि से यदि हम अर्वाचीन आचार्यों को देखें तो प्रायः सभी आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से लक्षण एवं उदाहरण निःसंकोच ग्रहण किया है, किन्तु उस पर विचार करके विषय को विशद एवं सरलतर रुप में प्रस्तुत किया है। अनेक ने टीका, व्याख्या, भाष्य, प्रवचनादि के द्वारा काव्यशास्त्रीय अवदान

किये गये। इस क्रम में अनेक आचार्यों ने नव्यसिद्धान्त भी प्रस्तुत किये।

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी जी के 'ग्रन्थ' 'संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास' में काव्यशास्त्रीय परम्परा का स्थानभेद से चतुर्धा विभाजन प्राप्त होता है, जिसे वे धाम कहते हैं-

काञ्चीधाम, शारदाधाम (कश्मीर), महाकालेश्वरधाम (धारानगरी), विश्वेश्वरधाम (काशी)।

काव्यशास्त्रीय विद्वानों को देशभेद से आप इन चार धामों में वर्गीकृत करते हैं।

आप विश्वेश्वरधाम काशी में अप्पयदीक्षित, मधुसूदन सरस्वती, पण्डितराज जगन्नाथ, धर्मसूरि, करपात्री जी इत्यादि आचार्यों को रखते हैं-

वन्देऽहं भारतं वर्षं चतुर्धामप्रतिष्ठितम्।

वन्दे साहित्यशास्त्रं च चतुर्धामप्रतिष्ठितम्॥

धामसु प्रथमं काञ्ची यत्र दण्डी बभूव वै।

तत्रैव क्वचनासीद् वै भरतोऽपि महामुनिः॥

द्वितीयं शारदाधाम कश्मीरेषु प्रतिष्ठितम्।

यत्र भामह इत्याद्या अभूवन् काव्यशास्त्रिणः॥

तृतीयं तु महाकालधाम धारापुरीस्थितम्।

यत्रासीद् धनिकः श्रीमान् भोजराजश्च शास्त्रकृत्॥

चतुर्थं धाम काशी वै श्रीविश्वेश-विहार भूः।

अप्पय्यदीक्षितः श्रीमानाचार्योऽत्र व्यराजत॥[3]

काव्यशास्त्र में काशी के अमूल्य अवदान को रेखाङ्कित करने के क्रम में आचार्य वायुनन्दन पाण्डेय का नाम उल्लेखनीय है। प्रकृत लेख में आचार्यप्रवर के साहित्य एवं काव्यशास्त्रीय अवदान पर चर्चा अपेक्षित है।

आप काशीस्थ साहित्यशास्त्रीय संस्कृत पण्डितों की पङ्क्ति के पुरोधा आचार्य हैं। साँवला रंग, इकहरा बदन, लम्बी कद-काठी, सौम्य चेहरा, शान्त व्यक्तित्व, मितभाषी उन मनीषीप्रवर का नाम है; डॉ0 वायुनन्दन पाण्डेय। सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय के साहित्यविभाग से सेवानिवृत्त डॉ0 पाण्डेय ऐसे आचार्य रहे हैं; जो बाह्याडम्बर से दूर अहर्निश पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन में संलग्न रहे। नित्य प्रातःकाल जागना, स्नान-ध्यान, सन्ध्यावन्दनादि कार्यों से निवृत्त होकर पूजन करना फिर प्रायः 9.00 या 9.30 बजे से 1.00 बजे पर्यन्त घर पर आये विद्यार्थियों को पढ़ाना, दोपहर में भोजनादि से निवृत्त होकर तनिक विश्राम कर फिर अपराह्न 3 बजे से साढ़े आठ या नौ बजे तक पढ़ाना उनकी दैनन्दिन चर्या थी। सच्चे अर्थों में वे आचार्य थे। अध्यापन ही उनका चरम लक्ष्य था। विद्यार्थियों तक शास्त्र की कठिन पंक्तियाँ कैसे आत्मसात् हो जायें; इस ओर उनका पर्याप्त बल रहता था। उनकी शिक्षाशैली अत्यन्त सरल, सरस एवं उद्वेग से रहित थी। प्रायः देखा जाता है, कि छात्रों को जब कुछ समझने में कठिनाई होती है, एवं बारम्बार समझाने पर भी समझ नहीं आता तो गुरुजन झुंझला उठते हैं; परन्तु पाण्डेय जी इसका प्रतिवाद थे। कोई छात्र कितनी ही बार क्यों न पूछे उनके चेहरे पर उद्वेग, अकुलाहट, झुंझलाहट का कोई चिह्न नहीं दिखायी देता। हँसते, मुस्कुराते वे फिर से उस विषय को समझाने हेतु प्रतिबद्ध हो जाते थे। इसी गुण के कारण वे विद्यार्थियों में अत्यन्त लोकप्रिय थे। उनमें शील, संस्कार व वैदुष्य का समानुपातिक सम्बन्ध था। वस्तुतः ऐसे ही मनीषियों के लिये कहा गया है-

हरति न चेतांसि कस्य मनुजस्य।

काञ्चनमणिसंयोगो नो जनयति कस्य लोचनानन्दम्॥

दुरूह से दुरूह स्थलों एवं पंक्तियों का सरलता से अर्थ लगा लेना उनका वैशिष्टय था। उनके घर पर ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण एवं रसगङ्गाधर जैसे साहित्यशास्त्र विषय के मानकग्रन्थों का पाठ निरन्तर चलता रहता था। इन ग्रन्थों के अध्यापन में अनेक ऐसे स्थल आते थे; जहाँ अर्थनिर्धारण या तात्पर्यनिर्णय कठिन था परन्तु आचार्यप्रवर का यह ज्ञानगाम्भीर्य था कि वे उन स्थलों का सरलता से भी मार्गदर्शन कर देते थे-

अर्थाहरणकौशल्यं किं स्तुमः शास्त्रवादिनाम्।

अव्ययेभ्योऽपि ये चार्थान्निष्कर्षन्ति सहस्त्रशः॥

साहित्य के अतिरिक्त वे व्याकरण, ज्योतिष एवं कर्मकाण्ड में भी निष्णात थे। प्रायः विद्यार्थियों एवं अन्यान्य आचार्यों की ज्योतिष विषयक जिज्ञासाओं का वे समाधान किया करते थे। अनेक सद्गृहस्थ उनसे अपने विविध कष्टों एवं समस्याओं के निवारण के निमित्त आपसे परामर्श लेने आते रहते थे। वे उनकी कुण्डली देखते एवं ग्रहस्थिति के अनुसार परामर्श देते थे। श्रीमद्भागवत की वैदुष्यपूर्ण कथा के वे प्रवाचक भी थे। प्रख्यात विद्वान् पण्डित विद्यानिवास मिश्र जी ने उनसे भागवत का प्रवचन सुना था।

आचार्य वायुनन्दन पाण्डेय जी व्याकरणशास्त्र के भी विशिष्ट ज्ञाता थे। उनके घर पर सिद्धान्तकौमुदी एवं लघुसिद्धान्तकौमुदी का पाठ नियत पाठन सत्रों में चलता रहता था। क्रमशः अगला क्रम व्याकरण की पुस्तकों का होता। पठन-पाठन का यह क्रम 9 बजे रात्रि तक चलता जब तक कि गुरुजी की पुत्री, पौत्र या पौत्री उन्हें ऊपरी मंजिल से आवाज़ देकर भोजन हेतु बुलाने न लगते।

आचार्यप्रवर का यह दृष्टान्त काशी के उन संस्कृतज्ञ आचार्यों का साक्षात् निदर्शन है, जो किसी प्रतिष्ठा, किसी सम्मान या किसी से परे होकर मात्र अध्ययन-अध्यापन एवं ज्ञानसंवर्द्धन को ही शिव

का साक्षात् आराधन समझते रहे हैं। पण्डित वायुनन्दन पाण्डेय जी का जन्म 15 अक्टूबर 1927 ई0 को सम्भ्रान्त एवं समृद्ध सरयूपारीण ब्राह्मणकुल में मलाँव ग्राम, गोरखपुर जनपद में हुआ था। पिता श्री शीतला प्रसाद पाण्डेय एवं माँ श्रीमती राजी पाण्डेय की सन्तान के रूप में आपका जन्म हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम में ही हुयी। तदुपरान्त आपने संस्कृत को ही अपने अध्ययन का मुख्य विषय बनाया। आपने नव्यव्याकरण एवं साहित्य विषय में आचार्य की उपाधि प्राप्त की। विद्यावारिधि (पीएच0डी0) की उपाधि सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय से साहित्य विषय में रही। आपके अध्यापन से अनेक संस्थायें गौरवान्वित हुयी। आपने 1952 ई0 से 1962 ई0 पर्यन्त श्री दयालु संस्कृत महाविद्यालय में प्रधानाचार्य के दायित्व का निर्वाह किया। तदनन्तर 1962 ई0 से नवम्बर 1974 ई0 पर्यन्त श्री विश्वनाथगुरुकुलसंस्कृतमहाविद्यालय, कर्णघण्टा, वाराणसी में साहित्यविभाग के प्राध्यापक के रूप में अपने कर्तव्यों का अनुपालन किया। इसके अनन्तर आप नवम्बर 1980 ई0 से अक्टूबर 1987 ई0 पर्यन्त साहित्यविभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में उपाचार्य पद पर कार्यरत रहे। 15 अक्टूबर 1987 ई0 में औपचारिक सेवानिवृत्ति होने पर भी आप अनौपचारिक रूप से अध्ययन-अध्यापन में संलग्न रहे। यह आपका वैदुष्य ही था कि आप साहित्यविभाग में ही शास्त्रचूडामणि आचार्य पद पर तीन वर्षों तक शोभायमान रहे। तदनन्तर शास्त्रप्रौढियोजना में वर्षद्वयपर्यन्त आपने वहीं अध्यापन किया। आपके निर्देशन में अनेक छात्रों ने शोधाध्ययन सम्पन्न कर विद्यावारिधि की उपाधि प्राप्त की।

आचार्य वायुनन्दन पाण्डेय जी के कुशल निर्देशन में अनेक महत्त्वपूर्ण शोधकार्य सम्पन्न हुये हैं जिनके विवरण इस प्रकार है-

1.	(भामहकृत) काव्यालङ्कार-काव्यादर्शयोः समीक्षात्मकमध्ययनम्।	श्रीविवेकानन्द मिश्र
2.	श्रीमद्रामानन्दस्य व्यक्तित्वं कृतित्वं च।	श्रीअरविन्दकुमारतिवारी
3.	काव्यप्रकाशस्यदीपिकाटीकायाः समीक्षात्मकमध्ययनम्।	श्रीजगदम्बाप्रसादपाण्डेय
4.	उदाहरणचन्द्रिकायाः समीक्षात्मकमध्ययनम्	श्रीरविकान्तमणि
5.	बुद्धचरितनैषधीयचरितयोः दार्शनिकचिन्तनम्	श्रीअवधेशकुमारपाण्डेय
6.	वाग्भटानन्दस्य समीक्षात्मकमध्ययनम्	श्रीअजयराजतिवारी
7.	बृहत्त्रय्यां दार्शनिकचिन्तनम्	श्रीगिरीशचन्द्रपाण्डेय
8.	विविधदर्शनदृष्ट्या रसनिरुपत्तिविमर्शः	श्रीमनमोहनतिवारी
9.	संस्कृतकथासाहित्ये राजनीतिविमर्शः	कु0 अर्चनात्रिपाठी
10.	तीजीनिधि महाकाव्येषु संस्कारतत्त्वविमर्शः	श्रीरामगुलाब
11.	संस्कृतकाव्येषु व्यवसायः	श्रीअमरनाथ उपाध्याय
12.	रसगङ्गाधरसिद्धान्तानां दार्शनिकचिन्तनम्	श्रीसतीशतिवारी
13.	रसमञ्जरीरसिकजीवनयोः समीक्षात्मकमध्ययनम्	श्रीआदित्यनारायणपाण्डेय
14.	अभिनवभारती दृष्ट्या प्रथमद्वितीयाध्यागत नाट्यसूत्राणां समीक्षात्मकमध्ययनम्	श्रीराजीवदूबे
15.	वामनकृतकाव्यालङ्कारसूत्रकाव्यप्रकाश-योस्तुलनात्मकमध्ययनम्	श्रीऋषीश्वर अधिकारी
16.	ध्वन्यालोकस्यदर्शनदृष्ट्याध्ययनम्	श्रीदिनेशचन्द्रजोशी
17.	रसगङ्गाधरोक्तानाम् अप्पयदीक्षित-समालोचनानां विवेचनम्	श्रीशिवानन्दशुक्ल
18.	ध्वन्यालोकस्य दार्शनिकमनुशीलनम्	श्रीरमाकान्तपटैरिया

आचार्यप्रवर वायुनन्दन पाण्डेय जी द्वारा शिक्षाप्राप्त अनेक छात्र-छात्रायें आज विभिन्न महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में आचार्य पद पर सुशोभित हैं। स्वयं संस्कृतविभाग, कलासंकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय को लें तो इस विभाग में संस्कृतविभागाध्यक्षा के दायित्व का गौरवपूर्णरीति से नेतृत्व कर चुकीं साहित्य की विदुषी प्रो0 मनुलता शर्मा महिलामहाविद्यालय (काशीहिन्दूविश्वविद्यालय) में संस्कृत की प्रोफेसर डॉ0 विभारानी दुबे, वसन्तकन्या महाविद्यालय वाराणसी की पूर्व संस्कृतविभागाध्यक्षा प्रो0 कमला पाण्डेय, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय (काशीहिन्दूविश्वविद्यालय) के पूर्व साहित्यविभागाध्यक्ष प्रो0 (डॉ0) कौशलेन्द्र पाण्डेय, संस्कृतविभाग, कलासंकाय के आचार्य प्रो0 उपेन्द्र पाण्डेय, डॉ0 शरदिन्दु कुमार तिवारी, संस्कृतविभाग कुमाऊँ विश्वविद्यालय में असिस्टेण्ट प्रोफेसर डॉ0 लज्जा भट्ट, संस्कृतविभाग, जम्मू विश्वविद्यालय की पूर्व अध्यक्षा प्रो0 वेदकुमारी घई, इसी विभाग में कार्यरत प्रो0 रामप्रताप वेदालङ्कार, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय के मीमांसादर्शन के आचार्य प्रो0 कमलाकान्त त्रिपाठी, पी0जी0 कॉलेज, घोसी मऊ के एसोसिएट प्रो0 त्रिलोकीनाथ द्विवेदी ने आपसे साहित्य, काव्यशास्त्र में अनेकशः मार्गदर्शन प्राप्त किया है।

आपने अपना समग्र जीवन ब्राह्मणत्व के प्रधानलक्षण अध्ययन एवं अध्यापन की रक्षा में ही समर्पित कर दिया। आपकी प्रकृति बद्धमुष्टि थी। आपने अध्यापन अधिक और लेखन पर कम

बल दिया है, किन्तु आपके जो भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उन ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है-

(क) श्रीमम्मटपण्डितराजसिद्धान्तमीमांसा- यह मौलिक साहित्यशास्त्रविषयिणी कृति आपकी लेखनी से प्रसूत हुयी हैं। इस ग्रन्थ में आचार्य मम्मट एवं पण्डितराज जगन्नाथ के विविध शास्त्रीय मतभेदों का अनुसन्धानात्मक परिशीलन किया गया है। ग्रन्थ सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय से प्रकाशित है।

(ख) अप्पयदीक्षितप्रणीत 'वृत्तिवार्तिकम्' का विस्तृत भूमिका के साथ समालोचनात्मक सम्पादन किया गया है। ग्रन्थ के सम्पादक आप स्वयं हैं एवं इसके प्रधान-सम्पादक प्रो0 भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीशशास्त्री' हैं यह ग्रन्थ 1979 ई0 में सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय से प्रकाशित है।

(ग) नैषधीयचरितम् (सम्पादन एवं व्याख्या)

(घ) 'कालविजयम्' एवं **'इन्दिरास्मृति'** नामक काव्यद्वय

(ङ) 'संस्कृतवाङ्मय का बृहद् इतिहास' जिसके प्रधान सम्पादक पं0 बलदेव उपाध्याय जी हैं। आप इस ग्रन्थ के सहसम्पादक रहे। यह ग्रन्थ उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ से प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक आचार्य करुणापति त्रिपाठी जी हैं।

(च) आपने उ0प्र0 संस्कृत संस्थान से प्रकाशित संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास (पुराणखण्ड) त्रयोदशखण्ड जिसके प्रधान सम्पादक आचार्य बलदेव उपाध्याय एवं सम्पादक प्रो0 गंगाधर पण्डा हैं, इस ग्रन्थ में पुराणों के स्वरूप परिचय के क्रम में आपने 'वायुपुराण' का अंश लेखन किया है।

आचार्य पाण्डेय जी की मातृसंस्था सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित प्रतिष्ठित शोधपत्रिका 'सारस्वती-सुषमा' में अनेक प्रौढ़ साहित्यशास्त्रीय लेख प्रकाशित हुये हैं, जिनके विवरण इस प्रकार हैं-

'अपि दीपकं तुल्ययोगिता भेदः', तात्पर्यवृत्तिविमर्शः, ध्वनिप्रसादनम्, 'रुपके लक्षणामूलम्', 'शक्तिमीमांसा', 'शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनिविमर्शः', सम्भविनो लक्षणाभेदाः काव्ये तदुपयोगश्च, सर्ववेदपारिषदं हीदं साहित्यशास्त्रम्' कियन्तो वाक्यार्थवादः, शक्तिस्वरूपविमर्शः।'

आचार्य वायुनन्दन पाण्डेय जी की कवित्वशक्ति का अनुमान डॉ0 चन्द्रमौलिद्विवेदिवर्य के खण्डकाव्य 'भारतजीवनम्' पर लिखी गयी शुभाशंसा में किया जा सकता है-

गङ्गामघौघशमनीं कमनीयमूर्तिं
गौरीं गिरीशतनयामखिलार्थपूर्तिम्।
कोऽन्योऽप्रमेयगुणमण्डितशूलिमौलिं,
स्तोतुं क्षमो भुवि विना कविचन्द्रमौलिम्॥
गङ्गा शिरस्युरसि यो गिरिराजकन्यां
वाणीमनन्यसुलभां वदने वदान्याम्।
धत्तेऽत उद्गिरति सूक्तिरसालवल्लीं
चञ्चच्चमत्कृतिमयीमिहचन्द्रमौलिः॥
व्युत्पन्नमानसमनोज्ञमरालिकेयं
श्रीचन्द्रमौलिरचिता शतकत्रयीयम्।
गूढार्थिका स्फुटपदा सुमनोभिरम्या
मोदं तनोतु सुधियां कुधियामगम्या॥
शुभ्रा स्वभावतः क्रमा गङ्गा गौरी स्वतन्त्रता
मधुधारां स्तवन्त्यन्तर्नाममात्रात् सचेतसाम्।
सनाद्यन्तप्रयोगेण गाम्भीरं काव्यगुम्फनम्,
कठोरबन्धमप्याग्रं स्वदते स्वादुलोलुपाः॥

संयोग से इन पंक्तियों के लेखक को सन् 2008 ई0 में संस्कृतदिवस के अवसर पर संस्कृतविभाग (काशीहिन्दूविश्वविद्यालय) में आपके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

डॉ0 वायुनन्दन पाण्डेय जी की अध्ययन-अध्यापनमयी इस जीवनशैली को देखकर सहसा अध्यापकों की एक दूसरी श्रेणी पर दृष्टि चली जाती है जो अनेकानेक कृतियों के रचयिता हैं। अनेक शोधपत्रों के लेखक व पाठक हैं, अनेक शोध संगोष्ठियों में जाते हैं, स्वयं उन पर शोधकार्य होते हैं, वे गर्वपूर्वक इसका उल्लेख भी करते हैं, परन्तु उनमें से किसी में अध्यापन की यह निष्ठा नहीं दिखायी देती, अगली पीढ़ी में श्रेष्ठ आचार्य उत्पन्न करने की यह ललक नहीं दृष्टिगत होती। आत्मोपलब्धि व आत्मप्रचार के लिये लोगों में जो जुनून देखा जाता है, डॉ0 पाण्डेय उसका अपवाद थे। अध्ययन-अध्यापन ही उनके लिये भगवदाराधन था, शास्त्रसपर्या ही उनके लिए भगवत्पूजा थी, श्रेष्ठ विद्यार्थियों की सुदृढ पङ्क्ति का निर्माण करना ही उनका सङ्कल्प था और जीवनोद्देश्य भी। ऐसे आचार्यप्रवर के प्रति सादर भावाञ्जलि समर्पणपूर्वक यह कहना उचित होगा-

अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्ति-
रन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम्।
लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरङ्गहृद्या
विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः॥[4]

आचार्य डॉ0 वायुनन्दन पाण्डेय के वैदुष्य के सम्बन्ध में प्रो0 श्रीकिशोर मिश्र (पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृतविभाग, कलासङ्काय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय) की यह अधोलिखित पंक्ति ध्यातव्य है-

श्रीमन्मम्मटपण्डितेन्द्रमतयोर्विद्वत्समाराध्ययोर्योयं हन्त
मुदा विधाय च तयोरुग्रां समीक्षामसौ॥
काशीपण्डितमण्डलीषु नितरामस्थापयत् स्वं मतं
सोऽयं राजति वायुनन्दनकृती स्त्रीयैरत्नल्पैर्गुणैः॥
योऽयं शान्तमनास्समेत्य समये श्रीविश्वविद्यालयं
तत्र स्वासन एव काव्यमतिभिश्छात्रैस्समस्तैर्वृतः।
धन्योऽसौ किल वायुनन्दनकृति साहित्यमासेवत
छन्दोलङ्कृतिरीतिभावसहितध्वन्येकलीलास्पदम्॥
काव्यझरीझणितासु महाकविनिर्मितिषु श्रुतिपेयरसानां
शास्त्रसुधाचावकेषुगुणादिविवेकनयेनसमाकलितानाम्।
शिष्यगणेऽमृतसारघनं वितरीतुमहो गुरुरुपसुरास्ते
वायुसमञ्चितनन्दनचन्दनचर्चितनामधना नतिभाजः॥

सहायकग्रन्थसूची

1. अलबरूनी का भारत अनुवादक- श्री रजनीकान्त शर्मा, एम0ए0, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद, 1960 ई0.
2. डॉ0 बर्नियर की भारतयात्रा, अनुवादक- गंगा प्रसाद गुप्त, पिलग्रिम्स पब्लिशिंग, वाराणसी, 2006. ई0.
3. काशी की पाण्डित्य परम्परा, पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, 1994 ई0, (द्वि0सं0).
4. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास (काव्यशास्त्र खण्ड), प्रधान सम्पादक- आचार्य बलदेव उपाध्याय, सम्पादक- आचार्य करुणापति त्रिपाठी, सहसम्पादक- डॉ0 वायुनन्दन पाण्डेय, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ (उ0प्र0).
5. वृत्तिवार्तिकम्, प्रधान सम्पादक- प्रो0 भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, 'वागीश शास्त्री', सम्पादक- डॉ0 वायुनन्दन पाण्डेय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1979 ई0.
6. सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, सम्पा0 नारायण राम आचार्य, 'काव्यतीर्थ', चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, सन् 2014. ई0.
7. भारतजीवनम्, रचयिता- डॉ0 चन्द्रमौलि द्विवेदी, सम्पादक- शशिकान्त द्विवेदी, शारदा संस्कृत संस्थानम्, सन् 2000 ई0.
8. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः, सम्पादक- प्रो0 रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रो0 सदाशिव कुमार द्विवेदी, डॉ0 शोभा मिश्रा, प्रकाशकम्- कालिदाससंस्थानम्, 2014 ई0.

●

जगत्सृष्टिनिरूपणम्

डॉ. **मिताली देव***

जगच्छब्दार्थः

गच्छतीति जगत्। गम्धातोः ''अन्येभ्योऽपि दृश्यते''[1] इति सूत्रेण क्विप्प्रत्यये ''द्युतिगामि जुहोतीनां द्वे च'' इति वार्तिकेन गम्धातोर्द्वित्वे अभ्यासकार्ये जगम् इत्यवस्थायामनुनासिकलोपे तुगागमे च 'जगत्' शब्दो निष्पाद्यते। गच्छति संसरति अवस्थान्तरं प्रतिपद्यते यत्तज्जगदुच्यते। अनादिकालादेव इदं प्रत्यक्षादिप्रमाणेन सन्निधापितं प्रतिनियतदेशकालफलाश्रयं मनसापि अचिन्त्यरचनारूपम् उत्पत्तिस्थितिलयादिषड्विधविकारवत् प्रवर्तमानं दृश्यते जगत्। तदेतत् किंकृतं किं प्रयोजनमित्यादि सर्वं यथाशास्त्रं विचार्यते।

जगतः कार्यत्वम् :

एतद् जगत् कार्यं निष्पाद्यम्। प्रत्यक्षत एव शरीरादि उत्पद्यमानं विलीयमानञ्च दृश्यते पृथिव्यादिजगत् कार्यं सावयवत्वाद् घटादिवदित्याद्यनुमानेनापि अस्य कार्यत्वं सिध्यति।

''तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः'' इत्यादि श्रुतेः मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरमित्यादि स्मृतेश्च जगतः कार्यत्वं निर्धायते। न च जगतः न कार्यत्वमुत्पत्तिविनाशरहितत्वात् आत्मवदित्याद्यनुमानात् अस्याकार्यत्वसिद्धिः, उत्पत्तिविनाशस्य प्रमाणसिद्धत्वात्। न च पृथिव्यादेः 'जगतोऽनन्तपर्यायत्वात् नोत्पत्तिविनाशौ, अपितु भिन्न-भिन्न-रूपेण पर्यायः (परिणामः) एवास्तु। अन्यथा तस्य प्रागभावः सर्वथा प्रध्वंसश्च स्यातामिति वाच्यम्। पर्यायरूपपरिणामादिस्वीकारेऽपि उत्पत्तिविनाशयोः सम्भवात्। अवस्थान्तरापत्तिः परिणामः पर्यायो वा स्यात् पूर्वावस्थायाः नाशः उत्तरावस्थाप्राप्तिरेव परिणामः। एवञ्चोत्पत्तिविनाशौ वस्तुनः सिद्धावेव। नहि अवस्था वस्तुनस्तदतिरिक्ता। ननु उत्पत्तिस्थितिविनाशाः उत्पत्तिनाशौ वा जगतः सतः सन्तु कार्यत्वं मास्तु। कार्यत्वं नाम कृतिजन्यत्वम्। जगच्च कस्य कर्तुः कृत्या जन्यं स्यात्। घटपटादेः कुलालादिकृतिजन्यत्वेऽपि पृथिव्यादेः कस्यापि कृतिजन्यत्वाभावात् तस्य कार्यत्वं दुर्घटमेव। न च सावयवत्वादेव कार्यत्वमिति वाच्यम्। सावयवत्वस्य उत्पत्त्यादिव्याप्यत्वेऽपि नियमतः कार्यत्वव्याप्यत्वाभावात्। न च कर्तारं विना उत्पत्त्याद्यपि कथं वस्तुनः स्यादिति वाच्यम्। उत्पत्त्यादेः परिणामपर्यायरूपत्वात् प्रकृतिस्वभावादपि सिद्धेः। अनीश्वरवादिनां मते स्वभावतः एव प्रकृतिपरिणामरूपस्योत्पत्त्यादेः सम्भावात्। तस्मान्न पृथिव्यादेः कार्यत्वमिति चेन्न सावयवत्त्वपरत् उत्पादविनाशशालित्वादेव पृथिव्यादेरपि कार्यत्वसिद्धेः। सावयवत्वकार्यत्वयोः व्याप्यव्यापकभावस्तावद् घटादौ सिद्धः। तथा च पृथिव्यादेरपि कार्यत्वम्। न च पृथिव्यादेः सावयवत्वे विवादः। किञ्च उत्पत्तिविनाशादयोऽपि न प्रकृत्यैव स्वतः सिध्यति। न चेतननिरपेक्षं जडं स्वतः प्रवर्तमानं दृष्टम्। अन्यथा रथादेरपि स्वतः गमनादि प्रसज्येत। अतः यावत् परिणामः चेतनासापेक्षः उत्पत्त्यादिपरिणामोऽपि समर्थचेतनसापेक्षः। अतः यदुत्पत्त्यादिमत् तत् कार्यमिति घटादौ व्याप्तिग्रहात् सर्वं यद् यद् उत्पत्त्यादिमत् तत् कार्यम्। यत् कार्यं तत् कृतकमनित्यम्। आकाशादि तु केषाञ्चिन्मते नित्यं नोत्पादविनाशशालित्वम्। केषाञ्चिन्मते आकाशादिसर्वप्रपञ्चः ब्रह्मातिरिक्तोऽनित्यः कार्यः उत्पादविनाशशालीति। एवञ्चात्र जगच्छब्देव यत् कार्यमनित्यम् उत्पादविनाशशालि तत् गृह्यते। यच्च नित्यं तस्य सृष्टेरभावात् प्रयोजनादिचिन्तनं व्यर्थम्।

जगत्कर्तृत्वविमर्शः

कार्यस्य जगतः कः कर्ता किञ्चोपादानं किं निमित्तमिति विचार्यते। तत्र कार्यं जगत् पृथिव्यादि स्वतः परिणामि न कश्चित् चेतनोऽचेतनो वा कर्तेति चार्वाकाः। क्षणिकं सर्वं जगत् निःस्वभावं संस्कृतं प्रतिक्षणमुत्पादविनाशशालि न स्थितिमत् न तस्य कश्चित् कर्ता अपितु प्रतीत्य-समुत्पन्नमिति बौद्धाः। उत्पत्तिस्थितिविनाशवत् सत् अनेकपर्यायम् अविच्छिन्नं जगत् नेश्वरकर्तृकमिति जैनाः। आत्मदिग्कालाकाशपरमाण्वण्वतिरिक्तं पृथिव्यादि कार्यभूतं जगत् परमात्मकृतम्। परमाणवः समवायिकारणमीश्वरोऽदृष्टादि च निमित्तं कारणं, कार्यं जगत् उत्पत्तिस्थितिनाशवदत एवानित्यं प्रागभावप्रतियोगिध्वंसप्रतियोगीति नैयायिका वैशेषिकाश्च। प्रकृतिः स्वयमेव गुणपरिणामवैषम्यात् महदादिरुपेण परिणमतीति सांख्याः वदन्ति।

अस्ति परमात्मा सर्वैश्वर्यसम्पन्नः यत्प्रणिधानाद् योगसिद्धिः, प्रणववाच्यः किन्तु आप्तकामत्वात् प्रयोजनाभावात् स न जगत्कर्ता। जगत्तु प्रकृतिपरिणामभूतमेवेति योगविदो वदन्ति। ब्रह्मैव मायोपहितं सर्वजगदभिन्ननिमित्तोपादानभूतं प्राणिनादृष्टनिमित्तं जगत् रचयति रक्षति नाशयतीति वेदान्तिनः एवञ्च जगत्सृष्टिः स्वतः प्रवृत्ता ईश्वरेण कृतेति मतद्वयं विचारमर्हति। तत्र ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये अन्यत्र च न्यायादिशास्त्रे सप्रमाणं सयुक्तिकं चेतनकर्तृकं जगद् इति विस्तरेण प्रतिपादितम्। संक्षेपार्थस्तु- अचेतनं प्रधानादि न स्वतः चेतननिरपेक्षं जगद् आरब्धुं तद्रूपेण परिणन्तुं परिणमयितुं का समर्थ क्वचिद् दृष्टम्। न हि चेतनसहायमनपेक्ष्य स्थादि गतिं कुरुते। न च वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्याचेतनस्य प्रवृत्तिरुपलभ्यते तद्वद् प्रधानस्याप्यचेतनस्य पुरुषभोगापवर्गसिद्धये । प्रवृत्तिर्नाप्रामाणिकीति वाच्यम्। तत्रापि

* प्रोफेसर, संस्कृत संभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

चेतनस्य गोः वत्सस्य गोचारकस्य न चेतनस्य प्रवर्तकत्वदर्शनात्। यः प्रभूतं दुग्धमिच्छति स प्रभूतं संप्रभूतं गाश्चारयति। न च वत्सादिचोषणं विना गोपालप्रयत्नानपेक्षं दुग्धक्षरणं दृश्यते। न च मृतायाः गोर्दुग्धप्रवृत्तिरस्ति ईश्वरवादिनां तु सर्वत्रैव जडप्रवृत्तौ नित्येश्वरज्ञानेच्छाकृतिरूपस्यापेक्षास्तीति न चेतनमनपेक्ष्य अचेतने क्वापि प्रवृत्तिः सम्भवति। अतः प्रधानस्यापि परिणामानुकूलकृत्यादिमान् कश्चित् समर्थश्चेतनः कर्ता मन्तव्यः। स च नास्मदादिः असामर्थ्यात्। घटादीनां सृष्टौ जीवात्मनां सामर्थ्येऽपि क्षित्यङ्कुरादीनां प्रजनने सामर्थ्याभावात्। तच्च सामर्थ्यमुपादानपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं न जीवात्मनाम्। अत एव जगत्कर्तृत्वान्यथानुपत्त्या ईश्वरोऽपि सिद्धो भवति। क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटवदित्यनुमानेन पारिशेष्याद् ईश्वरः जगत्कर्ता सिध्यति।

भगवत्पादैः श्रीशङ्कराचार्यैरपि जन्माद्यस्य यतः[2] सूत्रे- अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति''[3] इत्यादिरूपेण तथा ईक्षतेर्नाशब्दम्[4] इति सूत्रेऽपि विस्तारेण प्रधानस्य जगत्कर्तृत्वं प्रत्याख्यातम्। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रत्यन्त्यभिसंविशन्ति[5] ''तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद् वायुः[6]। आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीत् नान्यात् किंचनमिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत''[7]

''सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत एकोऽहं बहुस्यामिति तत्तेजोऽसृजत[8] ''द्यावाभूमिः जनयन् देव एकः'' इत्यादिश्रुतिशतैः ईक्षतिसत्सर्वशक्तिसर्वज्ञज्ञानसम्पन्नः ईश्वरो जगत्कर्तेति प्रतिपादितम्।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्[9] इति सूत्रेऽपि भाष्ये भगवत्पादैः प्रधानाद्यचेतनकर्तृत्वं जगतो युक्तिभिर्निराकृतमिति विस्तरभयान्नात्रोल्लेखः क्रियते। एवञ्च श्रुतिस्मृतितीहासपुराणादिप्रमाणैः युक्तिमतैश्च ईश्वरकर्तृकं जगदिति इति सिद्धम्।

ईश्वरस्याभिन्ननिमित्तोपादानत्वम्ः

ईश्वरो जगन्निमित्तिकारणं नोपादानकारणमिति नैयायिकादयः। लोके उपाददाननिमित्तयोर्भेददर्शनाद्। घटस्य मृदुपादानं कुलालादि-निमित्तम्। पटस्य च तन्तव उपादानं कुविन्दतूरीवेमादयो निमित्तमिति कार्यमात्रं प्रति उभयोर्भेदो दृष्टः। तथा जगद्रूपकार्यस्यापि उपादानमन्यद् यस्मिन् समवायेन वा कार्यमुत्पद्यते, यद् वा कार्यरुपेण परिणमति तत् परमाणवो वा प्रधानप्रकृतिर्वेति निमित्तमन्यद्। यद् सहकरोति तत् सहकारिकारणम् ईश्वरोऽदृष्टं देशकालाद्यन्यदेव स्यात्। न तु यदेवोपादानं तदेव सहकारीति दृष्टचरम्। यद्यप्येवं दृष्टं तथापि शास्त्रेण ईश्वरस्य जगत्कार्यं प्रति निमित्तमुपादानञ्चोभयं प्रतिपद्यते। ''सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति[10]। स एकधा भवति त्रिधा भवति।[11] स स्वयमेवात्मानमकुरुत।'' सच्चत्यच्चाभवत् निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च[12]।

गीतायामपि भूमिरापोऽनलोवायुरित्यादिनाऽपरां प्रकृतिं स्वामुक्त्वा जीवभूतां परां प्रकृतिं निर्दिशति सप्तमेऽध्याये भगवान्। अतः शास्त्रप्रामाण्याद् ब्रह्मैवोपादानं निमित्तं जगतः सिध्यति। नहि लोकदृष्टिः शास्त्रदृष्टिमपवदति। लोकेऽपि लूताजन्तुः स्वसूत्रं प्रति निमित्तमुपादानञ्च दृष्टः किञ्चाभिन्ननिमित्तोपादानपक्षेऽपि उभयोर्भेद उपाधिभेदेन नोपपादयितुं शक्यते। यथा शरीरप्रधान्येन ऊर्णनाभिः उपादानं चैतन्यप्रधानेन निमित्तं तथा प्रकृतेऽपि ब्रह्म चैतन्यप्रधानतया निमित्तं स्वप्रकृतिमायाप्रधानतयोपादानमिति ईश्वरस्य जगत्कार्यं प्रति अभिन्ननिमित्तोपादानत्वं सिध्यति।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. पा0सू0 3-2-178
2. प्र.सू. 1-1-2
3. शां. भाष्य 1-1-2
4. ब्र.सू. 1-1-5
5. वै. 3-1
6. तै 2-1
7. ऐ. 1-1-1
8. छा. 16-2-1
9. ब्र. सू. 2-2-1
10. तै. 2/6
11. छा 7-26-2
12. तै. 2-6-1

बौद्ध-वैदिक परम्परयोः कर्मसिद्धान्तविवेचनम्

डॉ. सरोज कुमार पाढ़ी* *एवम्* **रम्बुक्कन अमितानन्द थेरो****

लोकेऽपि तावद् दृश्यत एवानुपदं लोका कर्माकर्मनिर्धारणे मोहमुपयान्त्येव। भारतीयपरम्परायां कर्मसिद्धान्तस्य महत्वं सर्वोपरि राजते। अतस्तद्विज्ञायात्र दिङ्निर्देशः क्रियते कर्मणां सम्बधानेकजन्मभिः सह जायतेऽथवैकेन जन्मना सह? जीवनेऽस्मिन् पूर्वजन्मकृतकर्मणां फलागमो जायतेऽथवास्यैव जन्मकृतकर्मणः? समये समये बहुभिश्चिन्तकैः अस्य प्रश्नस्य समुचितोत्तरान्वेषणाय यत्ना अप्यनुष्ठीयन्ते, परमिदानीं यावत् सर्वमान्यं निर्दुष्टं समाधानं नासादितमिति मन्यन्ते विचारकः सम्प्रत्यपि।

कर्मफलसम्बन्धे चार्वाक-जैन-बौद्ध-सांख्ययोग-न्यायवैशेषिक-पूर्वोत्तरमीमांसादिषु वैशद्येन विवेचितं वर्तते। प्रस्तुतोऽस्मिँल्लेखे भारतीयदर्शनानां बौद्ध-वैदिकदर्शनाञ्च पृष्ठभूमिमनुश्रुत्य कर्मसिद्धान्तों लोकव्यवस्था चेति विषयाः विवेचयिष्यन्ते।

एतदर्थं भारतीयदर्शनानां अवलोकनं क्रियतेऽत्र। लोकव्यवहारोऽयं यदि पूर्वकर्मनियत्रितो वर्तत इति स्वीक्रियते तदापि बहवोऽनुत्तरणीयप्रश्नाः जाग्रति परितः। पूर्वशरीरपातानन्तं किं तत्त्वमवशिष्यत? यद् व्यवस्थामिमां सञ्चालयति? प्रश्नास्यास्य समाधाने नैकमत्यं बिभ्रति भारतीयदर्शनानि। कुत्रचित् प्रकृतिः कुत्रचिदीश्वरः स्वयं कर्मैव व्यवस्थापकत्वेनापि स्वीकृतम् । आत्मवादिदर्शनेषु व्यवस्थेयं सारल्येन सञ्चलति, परमनात्मवादिनो बोद्धा अपि कर्मफलव्यवस्थामङ्गीकुर्वन्ति। यद्धि बौद्धदर्शनं वेदेश्वरात्मादिपूर्वस्वीकृतविषयान् न स्वीकरोति, तदपि कर्ममहत्वं स्पष्टतया स्वीकरोति।

बौद्धधर्मः मनोवैज्ञानिकधर्मः वर्तते। मनोविज्ञानस्य आधारशीलायां सः प्राणी जगति कम्मदायाद्, कम्मस्ससक, कम्मयोनि एवं कम्मपठिसरणमित्युक्तम्।[1] बौद्धधर्मस्य अयं कर्मवादिना तस्य बुद्धिवादिनः परिणाममस्ति। बौद्ध विचारकापि कर्मशब्दस्य प्रयोगं कृतं। शरीरिक वाचिक एवञ्च मानसिकक्रियां कर्ममिति कथ्यते। यः स्वनैतिकशुभाशुभप्रवृत्तिनां कुशलाकुशलकर्ममिति कथ्यते। भगवान् बुद्धेनापि कर्मशब्दस्य प्रयोगं बहुव्यापकरूपेण कृतम्। ते चेतनायाः अपर इति मन्यन्ते।

चेतनाहं भिक्खवे कम्मं वदामि चेतयित्वा कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा वा।''[2]

बौद्धदर्शने चेतना इति कर्ममित्युच्यते। परञ्च अस्यार्थः इदमेव नस्ति यत् अपर कर्मणां निरसनम्भवति।

द्विविधं कर्म चेतनाकर्म चेतयित्वाकर्मञ्च चित्तकर्मं (मानसिक कार्यं) चेतयित्वाकर्ममिति कथ्यते।[3] कर्मणि क्रियायाः उद्देश्यं क्रियाञ्च एवं तस्य फलविपाकं त्रैविधमर्थं स्वीक्रियन्ते।

बौद्धकर्मविचारणायां कर्मणां भिन्नैः प्रकारैः विभाजनं कृतम्। कर्मविपाकस्य परम्परां संसारोऽयं चक्रसदृशं परिवर्तनं भवति। भगवान् बुद्धेनोक्तं यत् कर्मणा विपाकस्य परिवर्तनं भवति। एवञ्च विपाकेन कर्म जायते। कर्मणा पुनर्जन्म भवति, एवञ्च इदृशी जगतः परिवर्तनं भवति।[4] एवं दृष्टिकोणे सामान्यतः नियमः वर्तते, यत् कर्म स्वकीयमिति, यत् कर्म करोति। तदेव फलं प्राप्यते। इदृशं बौद्ध विचारकः केवलमेव कर्माणां विपाके नियतता स्वीक्रियते अपितु व्याख्यायते इति।

कर्मवादस्य दार्शनिक एवं नैतिकपक्षस्यातिरिक्तं भगवान् बुद्धः तस्य सामाजिकपक्षेऽपि विश्वासंम् अकरोत्। सामाजिकक्षेत्रे ते जन्मतः वर्णव्यवस्थायां कथमपि विश्वासं न कुर्वन्ति स्म। तेषां मते कोऽपि वर्णव्यवस्थां जन्मस्य आधारे न स्वीकर्तुं शक्यते। कर्म मानवेषु भेदं न करोति। पुण्यकर्मणा आयुर्वर्धते।[5] तात्पर्यमस्ति यत् सम्पूर्णं जगत् कर्मप्रधानमस्ति।

समस्तभातीयदर्शनानां परमोद्देश्यं दुःखनिवृत्तिर्मोक्षावाप्तिश्चास्ति, तथापि प्रसङ्गतोऽत्र कर्मफलसम्बन्धे लोकव्यवस्थाविषये च बहुविवेचितमस्ति। निष्कर्षतः कर्माणि बन्धनकारकाणि भवन्तीति मतं सर्वैः मन्यन्ते। कर्मविवेचकगीताशास्त्रे प्रतिपादितम् -

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥[6]

एवमेव ज्ञानेन कर्मक्षयो जायते कर्मक्षयाच्च मोक्षेऽधिगम्यत इति मतं प्रकटितं श्रीमद्भागवते-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥[7]

इत्थं कर्म मोक्षमार्गस्य बाधकत्वेन सर्वत्रोपस्थापितम्। एवमेवेश्वर-पुनर्जन्म-वेदप्रामाण्याधरेणास्तिकनास्तिकानां विभाजनं कृतं वर्तते। ईश्वराधारेण चर्वाक-जैन-बौद्ध-सांख्य- पूर्वमीमांसादर्शनानि नास्तिकानि भवन्ति। कर्माधारेण तु केवलं चार्वाकदर्शनमेव नास्तिकत्वं भजते। अपराणि तु कर्मफलस्वीकारात् पुनर्जनस्वीकाराच्चास्तिकानि भवन्ति। एतेषु दर्शनेषु पूर्वमीमांसादर्शनं कर्मसिद्धान्तविवेचनप्रसङ्गे

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, वैदिकदर्शनविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी।

** शोधच्छात्रः, वैदिकदर्शनविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी।

महत्वपूर्णम् । मीमांसायां कार्यकारणसम्बन्धविषये शक्तिसिद्धान्तः स्वीक्रियते।

अनेन विवेचनेनेदं निर्गलितं यत् कर्मसिद्धान्तप्रतिष्ठापनाय जीवनप्रवाहनित्यताङ्गीकर्तव्या जीवनप्रवाहनित्यतां विना कर्मवादस्य न किमपि युक्तियुक्तातात्पर्यमभिव्यज्यते। किं नित्यात्मनोऽस्तित्वं विनापि जीवनप्रवाहनित्यता सम्भाव्यते? वैदिकदर्शनदृष्ट्यात्वात्मनो नित्यत्वात् स एवातीतवर्तमानभविष्यज्जीवनानामधिष्ठानभूतः, परं बौद्धसिद्धान्ते नित्यात्मनोऽस्तित्वाभावाज्जीवनप्रवाहनित्यताव्यवस्था कठिनतरा प्रतीयते, किन्तु बौद्धसिद्धान्ते आत्मनो नित्यास्तित्वं विनापि जीवनप्रवाहनित्यता व्यवस्थाप्यते। तद्दृष्ट्या जीवनमिदं तृष्णामूलकमस्ति। अतो मनुष्यः स्वकीययेव वासनया परिभावितः सन् भवचक्रमाध्यमेन जन्ममृत्योः परिवर्तनशीलचक्रे पतितो जायते। ईश्वरवादिनोऽपि प्राय एवमेव मतं प्रकटीकुर्वन्ति यदीश्वरः केवलं जीवकर्माधारण तदनुकूलजन्मादिकार्याणि सञ्चालयति न तु स्वपक्षतः किमपि शुभमशुभं वा करोति।

सृष्टौ वर्तमानाः सर्वेऽपि पदार्थाः परस्परसम्बद्धा भवन्ति। अतो निरपेक्षरूपेण केवलमेकस्य वस्तुनो व्याख्या रहस्योद्घाटनं वा न कर्तुं शक्यते। अतो हेतोः सम्यकरूपेण कर्मसिद्धान्तावबोधाय पुनर्जन्म-आत्मा-ईश्वर-लोक-परलोक-धर्माधर्मकुशलाकुशलादिविषयाणां सम्यग्ज्ञानमावश्यकमस्ति।

एवमेव कर्मणापि भवन्ति बहुविधा विभेदाः। ऐच्छिकमनैच्छिकं स्वाभाविकमिति कर्मणां मुख्यतया भेदत्रयं स्वीक्रियते। तत्र केवलमैच्छिककर्माण्येव शुभाशुभफलव्यवस्थापकानि भवन्ति, न तु स्वाभाविकानि, अनैच्छिकानि वा। स्वाभाविककर्माण्युद्दिश्यैवाह श्रीकृष्णः-

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥[8]

एवमेव-

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥[9]

इत्थं वैदिकः बौद्धाश्च समभावेन कर्ममहत्वं स्वीकुर्वन्ति। गौतमबुद्धोऽपि स्पष्टमाह सुत्तनिपाते।

न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो। कम्मुना वसलो होति कम्मुना होति ब्राह्मणो।''॥[10]

एतद्विवेचनाधारेणेदं वक्तुं शक्यते यत् संसारे सर्वैः, मानवैः अवश्यमेव स्वकर्माश्चरणं विधेयं। इहलोके परलोके च कर्मणः प्राधान्यम् अविच्छिन्नरूपेण राजते। पूर्वजन्मकर्मैवाद्य भाग्यरूपेणा स्माकं पुरस्तात् समुपैति। यद्यपि भारतीयदर्शनेषु भक्तिज्ञानकर्मणां सम्बन्धे परस्परं निरूद्धमतानि सन्ति तथापि सूक्ष्मेक्षिकया तदनुशीलने कृते सति एवं ज्ञायते यत् **''एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति''** इति निष्कर्षः समासाधते।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. मज्झिमनिकाय, चूलकम्मविभंग सुत्त, 3/4/5
2. संयुक्त निकाय (रो) जिल्द 4, पृ0 39-40, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ0 84
3. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ0 249
4. मज्झिमनिकाय (कित्तिसुत्त, 3/1/3)
5. चक्कवति, सीहनाद सुत्त (दीघनिकाय, 3/3)
6. गीता, 4/14
7. श्रीमद्भागवते, 2/21
8. गीता, 3/5
9. तत्रैव, 3/20
10. वसलसूत्र/अग्गिक भारतद्वाज सुत्त (सुत्तनिपात)

●

सत्यव्रतशास्त्रिविरचितं श्रीबोधिसत्त्वचरितस्य- समीक्षात्मकम् अध्ययनम्

*डॉ. शिप्रा-रायाँ**

संस्कृत-साहित्ये बहवः रससिद्धाः निष्णाताः कवयः सम्बभूवुः। तेषु भूयांसो कवयः स्वरचना-माध्यमेन अद्यापि इह जगति जीवन्ति। कथितमस्ति भर्तृहरिणा-

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।।

साम्प्रतिक-संस्कृतसाहित्यजगति आचार्यसत्यव्रतशास्त्रिवर्यः समुज्ज्वलव्यक्ति-रूपेण चकास्ति। स दिल्लीविश्वविद्यालये प्राध्यापकः, तत्रैव विभागाध्यक्षपदमलङ्करोत्। अतः परं पुरीस्थिते जगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य कुलपति-पदं जगाम। त्रिंशत्यधिकनवदशशततमख्रीष्टाब्दस्य ऊनत्रिंशतदिवसे स जन्म लेभे। तस्य पितुर्नाम आसीत् पण्डितचारुदेवशास्त्री। सोऽपि महान् वैयाकरणोऽभूत्। स पितुरधीने स्वीयम् अध्ययनमारब्धवान्। अतः परं संस्कृतविषये बी0ए0 साम्मानिकपरीक्षायां कृतित्वेन सह उत्तीर्णोऽभवत्। पाञ्जाबविश्वविद्यालयतः संस्कृतविषये एम0ए0 परीक्षायां प्रथमश्रेण्यां प्रथमस्थानमलभत्। ततः परं काशीहिन्दूविश्वविद्यालयतः गवेषणाकार्यं परिसमाप्य पीएच0डी0 इति उपाधिमलभत्। संस्कृतसाहित्यस्य परम्परागतसह आधुनिकपद्धतिविषये तस्य अभिज्ञतासीत्। अनेकाभिः महत्त्वपूर्णाभिः संस्थाभिः स पुरस्कृतः यथा राष्ट्रपतिपुरस्कारेण, पद्मभूषणसम्मानेन च अन्यैश्च बहुविधैः प्रतिष्ठितैः पुरस्कारैः स सम्मानितोऽभवत्। नवाधिकमद्विसहस्रतमे वर्षे स देशस्य सर्वप्रतिष्ठितेन साहित्यपुरस्कारेण ज्ञानपीठसम्मानेन विभूषितोऽभवत्। स बहून् ग्रन्थान् अरचयत्। बहवो ग्रन्थाः तस्य प्रकाशिता जाता तेषु अतीव प्रसिद्धः 'इन्दिरागान्धिचरितं' नामकं पञ्चविंशतिसर्गात्मकं महाकाव्यम्। थाइल्याण्डदेशीया रामकथामाश्रित्य तेन रचितं 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' नाम सर्वातिशायिनी रचना। गौतमबुद्धस्य विविधान् प्राक्तनजन्मविवरणान् वर्णयन् स 'श्रीबोधिसत्त्वचरितं' नामकं महाकाव्यमरचयत्। 'शर्मण्यदेशः सुतरां विभातीति रचना जर्मनराष्ट्रस्य वर्णनाधारितं वर्तते। तथा च 'थाईदेशविलासः' थाईभूमेः ऐश्वर्यवर्णनाधारितं काव्यमस्ति।' 'थाइदेशविलासम्' यात्रा-साहित्यं अरचयत्। सिक्खपरम्परायाः दशमगुरु-गुरुगोविन्दसिंहस्य चरितमाश्रित्य 'श्रीगुरुगोविन्दसिंह-चरितं' नामकं प्रबन्धकाव्यमरचयत्। पुनः 'पत्रकाव्यम्' इति नाम्ना पत्रसङ्कलनं रचितवान्। 'सुभाषितसाहस्री' नाम्नी रचना तस्य व्यापिनी सङ्कलनकृतिः। एतत् विहाय बहवः गवेषणामूलकग्रन्थाः तेन रचिता। 'वृहत्तरं भारतम्' इति नाम्ना शतककाव्यम् स अरचयत्। समये-समये विदेशेष्वनेकेषु विश्वविद्यालयेषु अतिथि-प्राध्यापकरूपेण कार्यमकरोत्। दीर्घकालावधि पर्यन्तं सः थाईलैण्डदेशे न्यवसत्। बैङ्काकस्थिते शिल्पाकार्नविश्वविद्यालये संस्कृतविभागे सः प्राध्यापकः आसीत्। थाईदेशस्य राजतनया सुश्री महाचक्री सिरन्धोर्न तस्य शिष्या अस्ति। शास्त्रिवर्यात् तया संस्कृतविद्या अधीता। स भारतस्य सांस्कृतिकदूतरूपेण विख्यातो जातः। संस्कृतसाहित्ये जीवन्त-महापुरुषरूपेण प्रसिद्धः अयं विद्वान् संस्कृतस्य गौरवभूतः वर्तते। इदानीमपि तस्य सारस्वतसाधना प्रचलितेव दरीदृश्यते। देशविदेशेषु अनेकैः सम्मानैः पण्डितप्रवरः विभूषितः सः सर्वेषां कृते अनुकरणीयः।

श्रीबोधिसत्वचरितं तस्य महत्त्वपूर्णा रचना स्वीक्रियते। साहित्ये रचनेयं बौद्धकाव्यरुपेण परिगण्यते। स 'श्रीबोधिसत्त्वचरितं' नामकं महाकाव्यं बुद्धस्य प्राक्तन-जन्मनः वृत्तान्तं वर्णयन् रचितवान्। चतुर्दशसर्गात्मकमिदं महाकाव्यम्। पालिभाषया रचितं सुत्तपिटकान्तर्गतं खुद्दकनिकायस्य दशमग्रन्थरूपेण जातकः ख्यातः। बुद्धस्य बोधिसत्त्वावस्थायां जन्मान्तरस्य वर्णनं जातके समुपलभ्यते। बुद्धः पूर्वबोधिसत्त्वरूपेण पुनर्पुनर्जन्मग्रहणमकरोति। इयमस्ति महायान-बौद्धमान्यता। कदाचित् वणिक्-गृहे, कदाचित् राजवंशे पुनरपि कदापि विप्रवंशे एवंविधभावेन स मुहुर्मुहुः जन्मग्रहणं करोति स्म। जातकग्रन्थस्य वृत्तान्तं स काव्येऽस्मिन् सम्यक् भावेन चित्रितवान्। अस्य काव्यस्य अङ्गीरसौ वीरशृङ्गारौ।

ग्रन्थस्य आदौ सत्यव्रतशास्त्रिवर्येण रचनाया उद्देश्यं स्पष्टीकृतम्-

शास्तेति नाम्ना प्रथितो महात्मा

बुद्धः प्रबुद्धो जनताहिताय।

प्राक्जन्मवृत्तान्तकथास्तदीया

गीर्वाणवाण्या समुदीरयामि।।[1]

प्रथमसर्गे बोधिसत्त्वः वणिक्रूपेण वर्णितः। यदा वणिजः गोशकटेन यात्रां करोति स्म तदा भूतप्रेतयुक्तशक्तिः बाधां अजनयत्। परन्तु बोधिसत्त्वः स्वप्रतिभावलेन बाधायाः प्रतीकारं अकरोत्।

अतः परं कवि वर्णयति यत् बोधिसत्त्वः एकदा वैश्यपरिवारे जन्मग्रहणमकरोत् तद्यथा-

---

* उपाचार्या, अध्यक्षा च, संस्कृतविभागः, त्रिपुराविश्वविद्यालयः, त्रिपुरा

श्रीबोधिसत्त्वो भगवान् महात्मा

वैश्यस्य कस्यापि गृहे प्रजज्ञे।

यज्जन्मना सर्वदिशः प्रसेदु-

र्ववुः सुखा गन्धवहाश्च भूयः॥[2]

द्वितीयसर्गे बोधिसत्त्वः काशीनरेशरूपेण उल्लिखितः। प्रजापालनं कथं करणीयम् इत्यस्मिन् विषये प्रतिपादयति एवंविधभावेन-

निर्णयं प्रकुरुते स्म भूपतिः, शास्त्रतो न खलु कामचारतः।

सत्यशान्तिकरुणाक्षमार्जवैरन्वरञ्यदसौ निजाः प्रजाः॥[3]

अष्टमे सर्गे चत्वारि आर्यसत्यानि अर्थात् दुःखं, दुःखसमुदयः, दुःखनिरोधः, दुःखनिरोधमार्गाः इत्यादयः विषयाः वर्णिताः खलुः।

प्रोवाच सेनापतिरार्य! सत्यं व्यज्ञायि यक्षैरपि वृत्तमेतत्।

यदुन्मदन्तीं प्रति बद्धरागो भवन् भवानत्यवसीदतीति॥[4]

एकादशसर्गे बोधिसत्त्वः भिक्षुकरूपेण वर्णितः। राणीमल्ली तस्मै अर्घ्यं प्रददाति। कवि वर्णयति एवंविधभावेन-

महात्मन्! बुद्धोऽसि तवमिह शरणं मेऽति बलवद्

दुरुच्छेदं दुःखं सपदि समुदच्छेदि भवता।

यदादिष्टं तत्तत् सकलमपि कर्तास्मि भगवन्

जुषाणा भर्तारं पदमहमवाप्तास्मि परमम्॥[5]

द्वादशसर्गे बोधिसत्त्वः जन्मं लेभे विप्रवंशे। कवि उल्लेखयति एवंविधभावेन-

प्राज्यं स्वराज्यमधिकृत्य नराधिनाथे

तस्मिन् प्रशासति महीं सुयशः सनाथे।

ग्रामे क्वचिज्जनिमलब्ध कुले द्विजानां

बुद्धः वयं स भगवान् महितः प्रजानाम्॥[6]

बुद्धः ममता सरलता, दया इत्यादिभिः षड्गुणैः विभूषित आसीत्-

जातः क्रमेण ववृधे वयसाऽभिरूपः

सत्यक्षमार्जवदयादिगुणैः सुरूपः।

सद्योऽनवद्याविविधागमलब्धविद्यः

कृष्यादिकर्मनिपुणः शुशुभे स हृद्यः॥[7]

त्रयोदशसर्गे बोधिसत्त्वः वणिक्रूपेण वर्णितः। व्यापारे तस्य हानिः जाता। अतः स साहाय्यार्थं मित्रस्य सकाशं जगाम। बोधिसत्त्वः पूर्वे यस्मिन् कस्मिन्नपि काले तस्य साहाय्यं कृतवान् आसीत् किन्तु स बोधिसत्त्वस्य साहाय्यं नैवाकरोत्। तस्य दुर्व्यवहारेण तेन दुःखं नन्वभवत्। अयमेव विषयः कविना अतीव उत्तमतया वर्णितः-

मगधजनपदस्थे प्राक् पुरे राजगेहे

नृपतिरभवदेकः सावधानः स्वदेहे।

विमलमतिरुदारः कीर्तिमान् यो वदान्यः

समुचितमचकासीत् पुण्यवान् सर्वमान्यः॥

वसतिमकृत दैवात् पत्तने तत्र बुद्धः

सकरुणहृदयः श्रीबोधिसत्त्वः प्रबुद्धः।

दधदभिनवशोभां शङ्खनाम्ना प्रसिद्धः

प्रचुरधनसमृद्धः श्रेष्ठिमुख्यः समिद्धः॥[8]

सर्गेऽस्मिन् पिलियश्रेष्ठी-जातककथा-विषयवस्तु वर्णितमस्ति। बोधिसत्त्वस्य एकं मित्रमासीत्। यस्य निवासस्थानमासीत् वाराणस्याम् तस्य नामासीत् पिलियः। स अशीतिकोटिरूप्यकाणाम् अधिपति आसीत्। एकदा दैवदुर्विपाकात् कष्टापन्नः पिलियः बोधिसत्त्वस्य समीपमगच्छत्। तदा बोधिसत्वः तस्मै चत्वारिंशत्कोटिपरिमितस्वर्णमुद्रान् अददत्। किन्तु यदा बोधिसत्वः तस्य विपदि पिलियं निकषा गतः तस्मिन् काले पिलियः तस्य साहाय्यं न कृतवान्। इयमेव विषयमधिकृत्य वर्णयति कविः-

पीलियेन यदशीलमशीलि

तत्र येन नयनं सममीलि।

दुर्धियः समुद्लङ्घि न रंहः

सोऽनिशं जगति दीव्यतु सङ्गः॥[9]

चतुर्दशसर्गे बोधिसत्त्व अध्यायकरूपेण वर्णितः। तस्यान्तिके बहवः छात्राः पठन्ति स्म। छात्राणां मध्ये पापक नाम्नः एकः छात्रः आसीत्। सः स्व-अभिधान- परिवर्तनमिच्छति स्म। अध्यापकः तं अवदत् – सर्वत्र अन्वेषणं कृत्वा यत् सुन्दरं अभिधानं प्रतिभाति तदेव स्वीक्रियताम्। सर्वत्र भ्रमित्वा नामविषये अभिज्ञतामनुभूय सः गुरोः समीपम् आगत्य वदति – नाम तु केवलमात्रं संज्ञा मात्रमेव भवति मूलं हि कर्मम्। सृष्टिरेषा कर्मप्रधाना। नामजातिवर्गानि इत्यादयः गौण-विषयाः-

तच्छिष्यस्य वचो निशम्य भगवान् बुद्धो विशुद्धोदयः

प्रीत्या बोधयितुं तमेवमवदत् प्रेयन्। मुधा मा तमः।

नाम्नो नास्ति महत्त्वमत्र भुवने कर्मैव मुख्यं मतं

किं नाम्ना, यदि सद्गुणास्त्वयि परां शोभां स्फुटं बिभ्रति॥[10]

कर्मणः गुरुत्वप्रसङ्गे अस्मिन् महाकाव्ये कवि वर्णितवान् एवं प्रकारेण-

कर्म श्रेष्ठं विमलमतिभिः सर्वदा कार्यमार्यैः।

सर्वत्रास्मिन् जगति कथिता कर्मणैवाऽर्थसिद्धिः॥[11]

गौतमबुद्धस्य बहूनि प्राक्तनजन्मानि व्यतीतानि। बुद्धस्य सर्वाणि जन्मवृत्तान्तानि जातके प्राप्यन्ते। यः परमज्ञानेन स्वमुक्तिलाभाय अचेष्टयन् सर्वजीवानां दुःखं अपाकर्तुं मुक्तिसाधनार्थं चेष्टयति स हि बोधिसत्त्वरूपेण परिचितः। यद्यपि मूलबौद्धसिद्धान्ते जन्मान्तरवादः न स्वीक्रियते। किन्तु तथापि प्राक्तनकर्मफलम् अनुभूय अस्मिन् जन्मनि कार्य करणीयम्। बौद्धमते मृत्योःपश्चात् नरस्य शरीरं नश्यति। किन्तु कामनाः तद्वत् तिष्ठन्ति। यद्यपि जातकस्य जन्मान्तरकथा-विषये बौद्धदर्शने मतद्वैधं दृश्यते।

अस्मिन् महाकाव्ये उपमादृष्टान्तयमकादयः अलंकाराः प्रामुख्येन विनिवेशिताः सन्ति। अन्त्यानुप्रासालङ्कारस्य सुष्ठु प्रयोगं काव्ये सङ्गीतात्मकप्रभावः जनयति। विशेषतया द्वादशे त्रयोदशे सर्गे च परिलक्ष्यति। कवेः अस्याः सफलतायाः मूलकारणं तस्य संस्कृतभाषायां अकुण्ठिताधिकारकारणात्। बहुविध छन्दसामपि उपयोगः कवेः छन्दशास्त्रज्ञानं ज्ञापयति। कविना अनुष्टुप् इति लघुछन्दसः तथा च शार्दूलविक्रीडितेति बृहच्छन्दसः काव्येऽस्मिन् समरूपेण प्रयोगः कृतः। किन्तु मध्यकोटिक-छन्दसि तस्य विशिष्टः आग्रहः दृश्यते यथा उपजातिः (प्रथमः, द्वितीयः ६५-७ षष्ठतः नवम, एकादशः २०-३, द्वादशः ९१-२, चतुर्दश ३९-४४), रथोद्धता (द्वितीयः सर्गः) भुजङ्गप्रयातः (पञ्चमः सर्गः) अन्यानि छन्दांसि अपि प्रयुक्तानि यथा शिखरिणी (दशमः, एकादशः) वसन्ततिलका (नवम ५२-४, द्वादशः सर्गः) मालिनी (द्वितीय ६१-४, पञ्चमः ३७, त्रयोदशः सर्गः)। तथैव महाकवेः दर्शनज्ञानं व्याकरणज्ञानं वेदज्ञानञ्च अस्मात् महाकाव्यात् अभिलक्ष्यते। व्याकरणे प्रयुक्ताः कतिपयाः विशिष्टाः नियमाः भाषायाः सुष्ठु प्रयोगश्च हृदयमावर्जकः यथा- अतिसंष्ठुल (१/२५), विशङ्कट (१/३४), कुमारश्रमण (६/३) आढ्कंरण (८/३) अक्षशौण्ड (८/४७) पून (९/४०) बौद्धदर्शनस्य सिद्धान्ताः अपि काव्यमाध्यमेन अवगन्तुं शक्यन्ते। महाकाव्यलक्षणदृष्ट्याऽपि काव्यमिदं महाकाव्यं मन्यते। कवेः पाण्डित्यलक्षणमपि अस्मात् महाकाव्यात् परितुष्यति। तस्मादेव अस्य महाकाव्यस्य अध्ययनं भवेदिति धिया मया अस्य संक्षेपेण परिचयः प्रस्तुतः। समासेन कथ्यते यत् – श्रीबोधिसत्त्वचरित-महाकाव्ये सत्यव्रतशास्त्रिमहोदयः सम्यक्भावेन जातकगल्पं वर्णयन् अर्वाचीनसंस्कृत-साहित्यजगति गुरुत्वपूर्णस्थानम् अलभत्।

अन्त्यटीका

1. श्रीबोधिसत्वचरितम् 1/1
2. तदेव, 1/5
3. तदेव, 2/11
4. तदेव, 8/106
5. तदेव, 11/18
6. तदेव, 12/2
7. तदेव, 12/4
8. तदेव, 13/1-2
9. तदेव, 13/100
10. तदेव, 14/6
11. तदेव, 14/38

सहायका-ग्रन्थाः

1. जातकसमग्र, ग्रन्थिक, कोलकाता- 9, प्रथमप्रकाश, कोलकाता बइमेला, 2003 ई0
2. बौद्धदर्शनेर प्रासङ्गिकभावना, साधनकमलचौधुरी, करुणा प्रकाशनी, कलिकाता- 9, 2017 ई0 (प्र0सं0)
3. श्रीबोधिसत्त्वचरितम्, सत्यव्रतशास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मनदास प्रकाशन, दिल्ली, 1960 ई0
4. सत्यव्रतवाङ्मयसमीक्षा, सि0 उपेन्द्र राव सम्पादित ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2012 ई0 (प्र0सं0)

●

MEDICAL HUMANITIES:LANGUAGE AND LITERATURE IN MEDICAL PROFESSION

ARTI NIRMAL*

Hippocrates rightly said, 'whenever the art of Medicine is loved, there is also a love of Humanity'. The role of doctors in the medical profession is not just to diagnose the illness and prescribe medicines but also to 'treat' them with 'deep understanding to humane healthcare'.[1] Yes, the treatment aspect in a deeper sense has drawn great attention of the scholars in last few decades. It has often been observed that at times a doctor with clinical expertise fails to be a good doctor in the eyes of his patients, whereas some of them excel because they have good counseling ability and can care for their patient's subjectivity too. One of the possible reasons is the bridge, the rapport and the empathy formed between the two, which proves symbiotically fruitful. In India, it is not uncommon to see doctors going on strike or cases of aggressive behavior on the part of the patients' attendants toward the medical professionals. It is also not unusual to hear about people questioning medical ethics in practice. Therefore, it is necessary to consider the importance of medical humanities and narrative medicine in order to strengthen our services in the health sector.

The plausible reasons for uneven relations between doctors and patients or the aggressive behavior of the latter towards the former lie *inter alia* in the following factors: a) state of illness and poor physical and mental framework when patients visit doctors; b) lack of proper education in patients at times; c) emotionally charged and disturbed psyche of the patient's attendants; and d) non fulfillment of high expectations of patients from their doctors. For this reason, the ability of the doctor, who is otherwise, learned and experienced in his field, to engage with the patients in a cordial and sympathetic manner is indispensable to make him/her a successful doctor in medical practice. To fulfill this need, there is an obvious requirement to include courses on medical humanities, medical ethics, and humanistic care of patients in the medical syllabus. It is true that "in a formal medical syllabus, it is difficult to provide an opportunity for the discussion of broader cultural, philosophical and personal issues. Time, utilitarian demands, faculty requirements and the 'scientific-objective' approach, all conspire to subvert the ideal of a General education for doctors".[2] But time has now come when medical humanities should also be taught to medical students so that they not only become an expert in their profession but also a humane and compassionate human beings as well as a noble and kind doctors. This kind of education is not only necessary to meet the needs and expectations of patients but also to equip the doctors with skills necessary to overcome the stress they very often feel in the course of treatment and care of patients. Fortunately, the attention of the medical educators has gone to the need to impart lessons in medical humanities to undergraduate medical students and to equip them with humane and humanitarian qualities laced with kindness, compassion, and empathy. To enable them to develop a better rapport with patients while diagnosing and treating them, the Medical Commission of India (formerly Medical Council of India) has provisioned the study of communication and other humanistic skills in the MBBS program for the new entrants. This initiative appears to be an attempt to introduce Medical Humanities in the study of medical sciences in India.

The importance of medical ethics has always been recognized by the medical colleges in India and students are taught to adopt medical ethics in the diagnosis, treatment, and care of patients. But the existing discourse on medical ethics is far from satisfactory, and therefore, needs to be informed and complemented by the medical humanities and ethics of care in order to achieve the goal of a kind, humane and compassionate medical education. Against this background, an attempt has been made in this paper to address these issues in the light of available literature and inputs obtained from the oral interactions made with the Undergraduate medical students while teaching in the class specially organized for this purpose at the Institute of Medical Sciences, Banaras

* Senior Assistant Professor, Department of English, Banaras Hindu University, Varanasi

† 'The teller of an illness needs a listener.' Charon, Rita. "Narrative Medicine: Attention, Representation, Affiliation".

Hindu University and discussions made with some of the doctors serving the government or the private hospitals. The study centers around some fundamental questions such as what is medical humanities? How is it relevant to medical education? What is the role of narrative medicine in medical education? And what communication and interaction skills doctors need to become effective caregivers to their patients?

Medical Humanities- Narrative Medicine

"The rationale behind introducing medical humanities is to enhance understanding of human condition".[3]The term, Medical Humanities "stems from a desire to situate the significance of medicine as a product of culture".[4]The phrase was for the first time coined by George Sarton, the historian of science, in the 1940s. Since then, there have been many milestones achieved in the journey of this discourse on medical humanities, but it received a significant currency when the Institute of Medical Humanities was founded at the University of Texas in 1973; and after, Anne Hudson Jones joined it in 1979 as the first literature professor to teach the medical students. As 'medical humanities' is an interdisciplinary subject, it is both natural and logical that it is situated at an intersection of many disciplines simultaneously such as literature, arts, social sciences, health policy, medical education, and ethics and seeks its application in the medical profession. For obvious reasons, medicine has a more intimate and fruitful relationship with language and literature than other disciplines.

Before we proceed further, it needs to be mentioned here that the expression 'medical humanities' is composed of two terms 'medical' and 'humanities'. While the term 'medical' denotes 'an examination to assess a person's state of physical health or fitness' or something 'relating to the science or practice of medicine', 'humanities' as a discipline refers to 'the branches of learning that investigate human constructs and concerns as opposed to natural processes and social relations.[5] The importance of humanities as a discipline lies in the fact of understanding others through their languages, histories, and cultures to make a moral, spiritual, and intellectual sense of the world. Therefore, 'medical humanities' is a newly emerging branch of humanities, the purpose of which is to make medical students aware of their surroundings and develop human consciousness in their minds so that while treating patients, they consider them as human beings and not merely a case or number and to recognize and respect the dignity of all those with whom they come in contact with during their medical profession. The view of David Pilgrim may be cited here to understand the objective of medical humanities when he says, "Medical humanities explore how the humanities, traditionally concerned with recording and exploring human experience, engage with specific experiences of patients, doctors, health, illness, and suffering".[6]'Medical humanities', in fact, aims to provide a kind of level playing in the situation of unequal power relations between doctors and patients. One may comprehend this point well through the remarks of Antony R. Moore when he says, "Occasionally the patients' rights infringe on the doctor's rights. But the doctor's decisions will influence the patients to a much greater degree because the patient is not in the same position of power in relation to the doctor. It is the patient who needs protection".[7] The inclusion of "Medical Humanities in medical education and practice can support integrating the humanistic with the scientific, ideally optimizing wellbeing of both patients and professional caregivers.'[8] Therefore, the teaching of medical humanities in medical colleges or institutes should also be understood as an endeavor that focuses on the task of comprehending science in general and medicine in particular across the cultures and periods through a discipline that studies its working methods and assumptions in view of language, literature, and philosophy.

Now turning to Narrative Medicine, it is "a clinical cousin"[9] of medical humanities. It is important to mention here that narrative medicine in its present form as a discipline emerged as a concept about 30 years ago. Rita Charon, who used this expression as an alternative to medical humanities, writes, "the clinical and scholarly movement to honor the central role of story in healthcare".[10]She shares, how after listening to the narratives of those patients, she discovered unexpected causes behind ailments which biomedical diagnosis failed to reveal. Charon's doctoral dissertation on Henry James's late works which included *The Wings of the Dove*, with an ill woman as a central character, motivated her at large to think to conduct in-depth research on medical narratives. Moreover, her experiences with the patients led to great insights into Charon. She coined the phrase 'narrative medicine' after her long, intimate and passionate relationship with patients during her profession as a medical practitioner. A known critic Judith Butler, while underlining the importance of

narrative (which may be applied to the medical profession too), says, "I do not merely communicate something about my past….. I also enact the self I am trying to describe; the narrative 'I' is reconstituted at every moment. It is involved in the narrative itself".[11]

The key objective behind establishing the relation between medicine and narrative is "to improve the relationship between physicians and patients using literature and writing. The goal is to make doctors more empathetic by getting them to articulate and deal with what they feel and to develop sophisticated listening skills, ears for the revelations hidden in imagery and subtext".[12]The scholars and researchers of narrative medicine consider that literary narratives in the form of novels, poems, and short stories develop such skills that strengthen both the cognitive as well as affective domains of an individual's personality. Scholars such as Speigel and Charon also noticed that the 'literary skills of close reading and reflective writing were found to help both patients and clear notions in their confrontations with illness and loss'.[13] For example, a close reading of Kafka's *Metamorphosis* or Sylvia Plath's *The Bell Jar,* or Indra Sinha's *Animal's People* can offer remarkable insight to gain ennobling qualities useful not only for medical practice but for understanding the feelings and sentiments of others in a better manner. The prime concern of the theory of narrative medicine is that the patients consciously or unconsciously frame stories about their lives as well as illness, which may prove beneficial in understanding their socio-cultural and bodily conditions. As Franz and Murphy have righty said, "when persons speak, they expect others to listen, and both physicians and patients are no exception".[14]It is true that "understanding the narrative context of illness provides a framework for approaching a patient's problems holistically, as well as revealing diagnostic and therapeutic options".[15]

In this postmodern age, there should not be any place for compartmentalisation of knowledge, which was the product of modernity and enlightenment, particularly when the current trend is to integrate all branches of known knowledge in a holistic and composite manner. Such divisions and segregations should be discouraged, and such an environment should be created where diverse disciplines of knowledge, for example, humanities and science, literature and medicine, and others may be allowed to come together and shape the world holistically. Ashley Montagu highlights the advantages of this confluence of disciplines of knowledge in these words: "The department of English literature in our educational institutions can do most to bring what no one should ever have allowed to have been put asunder together again. This should be done in the light of the belief that a liberal education is one in which Science and Humanities are combined, in which science becomes one of the Humanities in which they emphasise upon culture and not upon techniques, upon education not instruction..."[16] Inculcation of values is the need of the hour, and humanities has its own place in the framework of every academic pedagogy because 'when the institution itself violates the professional values it attempts to teach its students, relegating awareness of this irony to the 'hidden curriculum' undermines efforts to teach ethics, humanities, and professionalism'.[17]

The first professor of literature Anne Hudson Jones who joined the Institute of Medical Humanities, University of Texas, to teach the students of medicine, encourages such connections between medicine and literary narratives because such stories, in his opinion, play a remarkable role in strengthening medical ethics. He adds that it plays this role in three major ways: firstly, 'as case example for the teaching of principle based professional ethics, which has been the dominant form of medical ethics in the Western world; secondly, as moral guides to living a good life, not just in the practice of medicine but in all aspects of one's life, and thirdly, as narratives of witness that, with their experiential truth and passion, compel re-examination of accepted medical practices and ethical precepts'.[18]Regarding the first principle, Jones mentions the narratives of William Carlos Williams' "The Use of Force" and Selzer's "Brute", which talk about the occasional abuse of power by doctors. The second way coincides with the views of Coles[19], who believes that reading novels such as George Eliot's *Middlemarch*, Lewis's *Arrowsmith*, Fitzgerald's *Tender is the Night*, and Percy's *Love in the Ruins* works better than studying analytical ethics; and lastly, autobiographical accounts shared by the patients or their relatives can play a beneficial role in nurturing the medical ethics.[20]

Medical Humanities: Role of Language and Literature in Medical Profession

Medical humanities *vis a vis* narrative medicine stresses at large on 'generating empathy', which Roy Schafer defines as "the inner experience of sharing in and comprehending the momentary psychological

state of another person… experiencing in some fashion the feelings of another person".[21] Humanities in general and literature in particular plays its part in medical set up in two ways: *firstly*, reading such literary texts which narrate content related to the field of medicine such as Leo Tolstoy's "The Death of Ivan Ilych"; Chekhov's "Ward Number Six" and "Misery"; Kafka's "A Country Doctor"; Hemingway's "A Clean, Well Lighted Place"; Adgar Alan Poe's "The Telltale Heart"; Thomas Mann's *The Magic Mountain*; Janice Galloway's *The Trick is to Keep Breathing*; Sylvia Plath's *The Bell Jar*; C.S. Lewis' *A Grief Observed*; Dostoyevsky's *Notes from the Underground*; Antony Doerr's *All the Light We Cannot See*; Gert Hofmann's *The Parable of the Blind*; Jose Saramaso's *Blindness*; Rupert Thomson's *The Insult*; Vladimir Nobakov's *Laughter in the Dark*; Bi Feiyu's *Message*; Dan Gutman's *The Million Dollar Putt*; Nathan Filer's *The Shock of the Fall*; Rebecca Brown's *The Gifts of the Body*; Bryce Courtenay's *April Fool's Day*; Riyu Murakami's *Kyoyo*; Paulo Cohelo's *The Alchemist*; Rohinton Mistry's *Such a Long Journey*; Indra Sinha's *Animal's People*; Firdaus Kanga's *Trying to Grow*; or Philip Larkin's poems "Ambulances" etc. and help in developing better understanding of human situations and sentiments. *Secondly*, learning soft skills such as communication, which may be beneficial in clinical setups. Teaching history, philosophy, and visual arts can also impart useful skills and reinforce "medical aesthetics", says Alan Bleakley.[22] If the goal is to create patient-friendly doctors, then the medical curriculum is essentially required to be designed in such a way that it can produce doctors "with the understanding, assisted by interpretive ability and insight, and governed by ethical sensitivity, to apply his scientific evidence and skills to the individual patient". [23]

Though the emphasis of narrative medicine is more on written narratives, yet the importance of oral and gestural communication for building immediate connection with the patients cannot be overlooked. There is a need to give a patient hearing to the "clinical telling", i.e. "a patient conveys in one way or another what he or she experiences in illness and the doctor watches and listens, hoping to absorb and interpret and honour what is heard or beheld. Sometimes the "telling" is in action and not words. That is to say, our "tellings" are performative tellings, not only unfolding in linear prose, but in gesture, movement, happenings in time, and changes in body".[24] Listening to illness or disability narratives must also acknowledge silence-that which is not said, that which remains unsayable.[25] For this, acknowledgement, narration, art, and communication (verbal, non verbal, para verbal) play a significant role. In the book, *Teaching Literature and Medicine*[26], the need for interaction between literary narratives, communicative art, and healthcare has been convincingly highlighted. It has unlimited advantages for a medical practitioner to have a humane and humanitarian touch in communication with the patients. It not only helps them in building a trustworthy relationship with their patients and understanding their problems better but also reduces possible conflicts and stress, which may sometimes arise due to the lack of communication or misinterpretation. The patients see a doctor mainly in the state of sickness, and emergency and when they are not attended to and treated properly, they may feel discontented. Hence, a thorough listening of a health problem or a mere touch of assurance and care by the doctors and medical staff instills great relief and faith in them. 'Many experts concur that such careful listening can lead to better diagnosis and approaches'.[27]At the same time, if the doctors too are given a conducive and rewarding atmosphere to work, then they also are motivated to perform better and communicate cordially. Their well being is also important as it ensures harmonized relation with not only the patients but colleagues and other staff members too because a stressed and fatigued doctor is bound to pay less attention. Sometimes there are linguistic barriers also which hinder the building of rapport between the two parties. And the biggest challenge before the clinicians in India is that they have to attend to a huge number of patients coming from different geographical and linguistic backgrounds, particularly in government hospitals in India.

W.W. Benjamin in "Healing by the Fundamental" says that for thousands of years, the doctor's basic toolkit consisted of "the herb, the knife and the word"[28] and the concept of medical humanities also believes that 'healing is brought about not just by medicine. It's not just treatment that cures you, but all that encompasses the human touch. A smile means more than an antibiotic injection, a hug means more than a platelet transfusion'.[29] These views are sufficient to remind us that the 'language and referents must be clearly, unambiguously aligned. When these connections are clear, understanding is possible'.[30] People are unfailingly moved by language because it

carries sentiments that cannot be overlooked, and it is for this reason that language can never be fully objective. The famous modern critic Roland Barthes also considers that there is no such aspect of language where objectivity resides.[31] This subjective nature of language has to be recognized, honoured, and practiced while treating the patients in order to achieve the goals set by medical humanities. Wearing a gentle smile on the face while meeting the patients; making the patient and his/her relatives feel comfortable; engaging in non-clinical talk for a while (with non-critical OPD patients) to ease the patients; centering the medical interview on patients; showing interest in what the patient is saying with amicable gestures and mannerism (e.g. nodding of the head to show that he/she is being heard); making careful interruptions while listening to the narration of the patient without showing the sign of disgust; respecting the confidentiality and privacy of the patients; maintaining eye contact and touching the patient's wrist or forehead or feeling the heartbeats with stethoscope; noticing both the verbal and non verbal signs of the patient; minding one's own verbal, gestural and para verbal clues; not setting unrealistic goals or raising expectations of the patients; and most importantly, discussing the nature and course of diagnosis, expenses involved, and medical procedure of the treatment with the patient or his/her family in detail as far as permissible can help in enriching the doctor-patient interactive experience. 'Explaining the known risks involved in the treatment procedures works well in minimiging the possibility of discontentment and unruly behaviour on the part of patient's attendants', says Dr. Prashant Kumar.[32] He adds that in government hospitals in India, the number of patients is too much to be satisfied easily, and therefore, we need to strengthen our healthcare sector because the equation between demands of medical services and delivery is still not up to the mark. It should be expanded to meet the needs of a large number of patients in countries like India.

The central government should also make provisions to ensure that doctors are not coerced, intimidated, or assaulted by irresponsible people. The need is to restructure the legal provisions of medical ethics to check the incidents of medical negligence. The current law relating to medical negligence also demands that all risks involved in the treatment should be disclosed to the patient before the doctor initiates any invasive medical procedure.[33]Medical Humanities, thus, concerns not only with the interaction between medical personnel and patients but also looks at it from a broader perspective. Therefore, the role of attendants, family, and relatives of the patient is also very important. In case of the medical emergency, the persons around the patient, to a great extent, decide his/her fate and survival. Therefore, the awareness, alertness, and social background of the patient and his relatives, and other factors too need to be taken into consideration while treating the patients. It has to be acknowledged by the people (patients and others) also that the job of the doctors is full of challenges, as in the medical profession, human 'life' has to be taken care of. Handling critical patients and fatal diseases is a daunting task for doctors too, because chances of mortality are high in such cases. Therefore, the interactive space between both the doctors and the patients should be maintained cordial, rewarding and harmonious in the larger interest. The need for this interactive space has been recognized by Pellegrino while saying, "medicine connects technical and moral questions in its clinical decisions: it is required to be both objective and compassionate. It sits between the sciences and the humanities being exclusively neither one not the other but having some of the qualities of both."[34]

Conclusion

What is the goal of human life? And, what importance 'knowledge' has for human society? These are such fundamental questions with which man is grappling since time immemorial. There has always been this thought that scientific and technological advances make human life easy and luxurious, but in this process, there is also the peril of losing human values, ethics, and morality. As Michael J. Sandel rightly says, 'in past three decades or so, we have allowed our society to change from one with a market economy to a market society'.[35]Humanities (one of the oldest knowledge domains), as an academic discipline has high goals to achieve, i.e., to inculcate and strengthen the humanly qualities in people so that there remains coordination among head, hand, and heart. It is to keep reminding us that before being doctors, engineers, lawyers, teachers, and other things, we are at first human beings, and therefore, care should be taken that while teaching, training, and practicing any knowledge or skill, we remain human beings in the real sense of the term. Hence, in the past few years, an emphasis has been made to encourage the teaching and learning of humanities and social

sciences not only in the curriculum of liberal arts and social sciences but also in professional and technical courses.

It is true that 'medical humanities' is a burgeoning area of human knowledge, particularly in a country like India. In countries like America, UK, and Canada, Medical Humanities as an academic program has already been included in the study of medicine with topics such as reflective practice, empathy, cultural humility, tolerance, literature and medicine, narrative writing etc. but in India, its scope and content is still hazy and fussy, but its need is urgent and significance is far reaching. It is instructive that new researches should be done in this area to establish it in mainstream academics. Likewise, for the development of its course curriculum, teaching material, and appropriate pedagogy, the interaction between doctors and experts of humanities as well as medical sciences should be encouraged. Keeping in view the Indian scenario, the syllabus should be designed after the organisation of workshops involving all stakeholders. In view of the foregoing, one can understand the role medical humanities can play in facilitating the output of medical practice. The role of humanities and social sciences have long been ignored even in IITs, NITs, and other technical colleges in India. However, in the past few years, its importance has been realised, and in such academic institutions too provisions have been made for the teaching of humanities and social sciences. In the field of medical science in India, humanities as an academic discipline has succeeded in seeking entrance, but it is still on the periphery. After the Medical Commission of India's initiative, the Institute of Medical Sciences, Banaras Hindu University (India) is perhaps the first university to introduce it in the academic programme of MBBS in India. If taught properly, it will not only make medical students socially conscious and professionally competent, but it will also make the medical profession more dignified and graceful than before. Lastly, we should remember that doctors too are human beings not God; dedicating their service to humanity.

References:

1. Downie, R.S., *The Healing Arts: An Oxford Illustrated Anthology* (Ed.), London (UK): OUP, 1994.
2. Moore, Anthony R., "Medical Humanities: An Aid to Ethical Discussions", *Journal of Medical Ethics*, Vol. 3, no.1 (March 1977), pp. 26-32 at 26, www.jstor.org/stable/27715609.
3. Grant, V.J., "Making room for medical humanities", *J. Med Ethics: Medical Humanities*, Vol. 28, 2002, pp. 45-48.
4. Hurwitz, Brian, "Medical Humanities: lineage, excursionary sketch and rationale", *Journal of Medical Ethic*s, Vol. 39, no. 11, 2013, pp. 672-674 at p. 672.
5. marriam-webster.com
6. Pilgrim, David, "Exploring the Medical Humanities", *British Medical Journal*, Vol. 319, no. 7219, 6 Nov 1999, p. 1216, www.jstor.org/stable/25186274
7. Moore, p. 28.
8. Wald, Hedy S. Jonathan McFarland and Irlina Markovina, "Medical humanities in medical education and practice", *Medical Teacher*, Vol. 41, no. 5, 2019, pp. 492-496, at 492
9. Charon, Rita, "Narrative Medicine: Attention, Representation, Affiliation". *Narrative,* Vol. 13, no. 3, 2005, pp. 261-70, at 262.
10. [1]Dasgupta, Sayantani, "Narrative Medicine, Narrative Humility: listening to the streams of stories", *Creative Nonfiction*, Vol. 52, 2014, pp. 6-7, at p. 6
11. Butler, Judith,*Giving an Account of Oneself.* NY: Fordham UP, 2005, p.66
12. Holloway, Marguerite, "When Medicine Meets Literature", *Scientific American*, Vol.292, no. 5 (May 2005), pp. 38-39, at 38
13. Speigel, Maura and Rita Charon, "Editing and Interdisciplinarity: Literature, Medicine, and Narrative Medicine", *Profession*, 2009, pp. 132-137, at 133.
14. Franz, Berkeley and John W. Murphy, "Reconsidering the role of language in medicine", *Philosophy, Ethics, and Humanities in Medicine*, vol 13, no. 5, 2018, p.2
15. Greenhalgh, Trisha and Brian Hurwitz,"Narrative Based Medicine: Why Study Narrative?", *British Medical Journal*, Vol. 318, no. 7175, 1999, pp. 48-50, at p. 49. www.jstor.org/stable/25181430.
16. Ashley Montagu, as quoted in Greenhalgh and Hurwitz,"Narrative Based Medicine: Why Study Narrative". See also, Brian Hurwitz, "Medical Humanities and Medical Alterity in Fiction and in Life", *Journal of Medical Ethics*, Vol. 41, no. 1, 2015, pp. 64-67, www.jstor.org/stable/43283227; Brian Hurwitz's "Medical Humanities: Lineage, Excursionary Sketch and Rationale", *Journal of Medical Ethic*s, Vol. 39, no. 11, 2013, pp. 672-674, jstor.
17. Brody, Howard. "Evaluating the Humanities", *Academe*, Vol. 99, no.1, 2013, *The Art of Education*, pp. 19-23, at p. 22, www.jstor.org/stable/23414649
18. Jones, Anne Hudson, "Narrative Based Medicine: Narrative in Medical Ethics", *British Medical Journal*, Vol. 318, no. 7178, (23 Jan 1999), pp.253-56 at 253-54
19. Cole, Thomas R., Nathan S. Carlin, Ronald A. Carson, *Medical Humanities: An Introduction*, NY: Cambridge University Press, 2015
20. Jones, Anne Hudson, p. 254

21. Roy, Schafer, "Generative Empathy in the Treatment Situation", *Psychoanalytic Quarterly*, Vol. 28, 1959, pp. 343-373 at p. 345

22. Bleakley, Alan, *Medical Humanities and Medical Education: How the Medical Humanities Can Shape Better Doctors*. NY: Routledge, 2015, at p. 105.

23. Downie, R.S. and J. Macnaughton, *Clinical Judgement: evidence in practice*, Oxford Univ. Press, 2000.

24. Charon, Rita, "Narrative Medicine: Attention, Representation, Affiliation". *Narrative,* Vol. 13, no. 3, 2005, pp. 261-70, at 262

25. Dasgupta, Sayantani, p. 2

26. Hunsaker, Anne Hawkins and Marilyn C McEntyre (Eds.), *Teaching Literature and Medicine*, Modern Language Association, 2000.

27. Holloway, p. 39

28. Benjamin, W. W., "Healing by the fundamentals", *New England Journal of Medicine*, Vol. 311, 1984, pp. 595-7, Doi:10.1056/NEJM198412203112518

29. Petrone, Michele A., "The Healing Tough", *Medical Humanities: A Practical Introduction*. Deborah Kirklin & Ruth Richardson, UK: Royal College of Physicians of London, 2001, pp. 32-36, at 32.

30. Franz and Murphy, p. 2

31. Barthes, Roland, *The Grain of the Voice*, NY: Wang and Hill, 1985.

32. Cardiologist at Rajendra Institute of Medical Science, Ranchi.

33. *Montegomery v Lanarkshire Health Board*, U.K. Supreme Court. UKSC1, 2015 as cited in Albert Lee's article "'Bolam to Montegomery' is result of evolutionary change of medical practice towards 'patient-centred care", Postgrad Med J, Vol. 93, 2017, pp. 46-50. Doi:10.1136/postgradmedj-2016-134236.

34. Pellegrino, E., "The humanities in medical education: entering the post- evangelical era". *Theor Med.* Vol.5, 1984, pp. 253-266

35. Sandel, Michael J.,*What Money Can't Buy: The Moral Limits of Market*, UK: Penguin,2012*;* See also, Martha Nussbaum's *Not for Profit: Why Democracy Needs the Humanities*, 2010.

Acknowledgement:

I sincerely acknowledge the contribution of Prof. B. C. Nirmal, Former Vice Chancellor, NUSRL, Ranchi and former Dean, Law School, BHU in the writing of this paper with his reflective suggestions and inputs on medical ethics and medical humanities.

●

RESEARCH PRODUCTIVITY OF BANARAS HINDU UNIVERSITY DURING 2012-2019: A BIBLIOMETRIC STUDY

*ASHWIN KUMAR KUSHWAHA *AND AJAY P. SINGH ***

Commitment towards scholarly activities which leads to the production of ideas and knowledge is the distinguishing characteristic of a university[1]. Productivity is the classical indicator to measure the efficiency in any production system and recently it has become a norm in bibliometrics study to outline research productivity [2]. However, the definition of research productivity varies depending upon a person's position in the university [3]. In nutshell, scholarly publications largely account for the measure of research productivity of a university system. India is the third-largest Higher education system in the world following China and the United States of America. According to UGC annual report for the year 2018, there are 851 universities and 39,527 colleges spread throughout the country [4]. One of the important function of any higher educational system is its productive research and development (R&D) support. All the faculty members of higher educational intitutions (HEIs) produce a lot of knowledge and information, which is shared through their research publications. Majority of HEIs are funded by the government through various channels and hence their performance evaluation is required for varied reasons. In recent years, there is tremendous growth in bibliometrics and scientometrics based studies due to various reasons like system evaluation, policy-making, etc.

2. LITERATURE REVIEW

In the past, many studies based on bibliometrics and scientometrics have been performed to analyze various aspects of the target area of this study. Such past studies have motivated the research team for conducting the present study. Some of these studies and their results are described below.

Surulinathi, Balasubramani & Kalisdha[5] analyzed continent wise growth and development of Green Computing research during 1956-2011 indexed in Web of Science (WoS) database. Ranganathan & Balasubramani[6] performed a scientometric study on Green Chemistry research in India. Records for the period 1999-2013 were collected from the Scopus database. Balasubramani & Parameswaran[7] studied the research productivity of BHU for a period of 12 years from 2000-2011. Data were extracted from the WoS database and the record count was 6943. They found gradual growth in the literature during the specific period of study. The research output of BHU was 578 records per year and was fairly collaborative. Another study on BHU was performed by Gautam & Mishra [8]based on Indian Citation Index (ICI) database and retrieved 1041 records for the period 2004-2013. They used collaborative coefficient (CC) to measure the collaboration among researchers. Singh[9] used both primary and secondary indicators to measure the research competitiveness of BHU.

Various similar studies on technical, research and academic organizations have been performed to analyze productivity, trends and relevance of the publications in a chosen field of study[10, 11, 12, 13]. Leydesdorff & Meyer[14] in their study tried to find the relationship among triple helix formed by University (knowledge producer) – Industry – Government with the help of scientometric study.

3. OBJECTIVE

The main objectives of this study are as follows:

- To examine year-wise growth of publication in BHU from 2012-2019
- To identify prolific authors, authorship pattern and nature of collaborative research
- To identify the journal titles based on researchers choice
- To analyse the major research areas of BHU
- To study the collaboration pattern of various institutions and countries with BHU
- To study various types of publications published by the researchers

* Junior Research Fellow, Department of Library and Information Science, Banaras Hindu University, Varanasi
** Professor, Department of Library and Information Science, Banaras Hindu University, Varanasi

4. METHODOLOGY

This study aims to assess the scholarly literature of BHU indexed in Web of Science (WoS) database. The required data is collected from the WoS database covering Science Citation Index Expanded (SCI-EXPANDED), Social Sciences Citation Index (SSCI) and Arts & Humanities Citation Index (A&HCI) for a period of 2012-2019. The query executed at WoS website to download the target data was as: [OO=(BANARAS HINDU UNIVERSITY); Timespan=2012-2019; Language=English; Document types=All document types]. Total 9290 documents were retrieved and all records were downloaded in 'Tab-delimited (Win)' file format with 'Full record and Cited reference' record content. Extracted data was refined and analyzed with the help of 'Bibexcel' and 'MS Excel' software.

4.1 Collaboration coefficient

The magnitude of collaboration that arises through human interaction between collaborators cannot be easily captured by quantitative tools [15]. Ajiferuke, Burell & Tague [16] proposed Collaboration Coefficient (CC) which is a single measure of the degree of collaboration in research. Mathematically expressed as:

$$CC = 1 - \frac{\sum_{j=1}^{k}(1/j)f_j}{N}$$

where,

CC = Collaboration coefficient

f_j = number of j-authored research papers published during a certain period of time

N = total number of research papers published during a certain period of time

k = the greatest number of authors per paper

j = number of author(s) in research paper

Further, Ajiferuke et al.[16] added:

1) $0 \leq CC \geq 1$;

2) $CC \rightarrow 0$ as single author paper dominates;

3) $CC \rightarrow 1 - 1/j$ as j-authored paper dominates.

So, the higher the value of CC, the higher the probability of multi or many authored papers.

5. RESULT AND DISCUSSION

5.1 Growth of Publication

Figure 1 presents that 9290 records were included in the WoS database during the period 2012 to 2019 from BHU. Every year more than 1000 papers are published with an average of 1161 papers per year. There is a gradual increase in a publication from the year 2012 to 2015 but declined after that till 2017 and then further increased in 2018 & 2019. The highest number of publications were published in the year 2019 with 1272 (13.69%) records and the least count of publications was published in the year 2012 with 1027 (11.05%) records. Figure 1 shows that the growth of publications during a given span of time is gradual and no abrupt changes have been recorded except between the year 2015 to 2017 where the gradual decline was recorded.

5.2 Authorship and Collaboration pattern

Nowadays there is a common practice among researchers to carry out research in a group rather alone. Therefore, extracted data were analyzed to know the authorship and global collaboration pattern among the researchers and faculty members of BHU. It is evident from Figure 2 that papers with three authors hold the first position in terms of a total count of publications with a share of 21.26% (1975 publications). Papers with two and four authors hold second and third position respectively with a share of 18.87% (1753 publications) and 18.64% (1732 publications). Papers with single, five, six, seven, eight, nine andten authors hold eighth, fourth, fifth, sixth, seventh, ninth and tenth position respectively. On the basis of figure 2, it is quite expressive that the research output of the authors of BHU is fairly collaborative in nature.

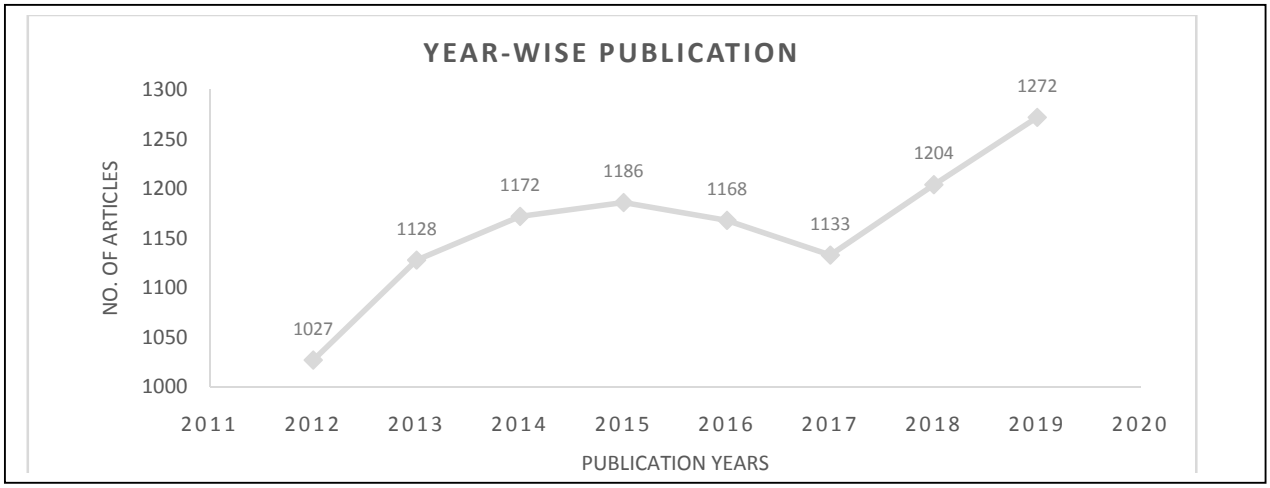

Figure 1: Year-wise growth of publications from 2012-2019

Table 1 indicates that during the period of study single, double, three, multi and many authored paper were highest in the year 2012, 2014, 2013, 2019 and 2018 respectively, which represents that the pattern of the publication is shifting from single-authored papers to multi and many authored papers. Further, we may find that CC is lowest in the year 2012 (0.67) and highest in the year 2019 (0.74) with an average CC of 0.70. There is a gradual growth in the CC during the period of study which indicates that the collaborative research among the researchers of BHU is increasing continuously from 2012-2019, except in the year 2014 where it was constant.

5.3 Types of publications

Table 2 includes the list of top 15 journal titles in which BHU researchersprefer to publish their research publications. Titles are arranged in decreasing order of record count. The table indicates that RSC Advances is on the top of the list with a record count of 243 (2.615%), followed by Current Science and PLOS one on second and third position respectively. So, the most preferred journal-title for research publication among the researchers of BHU is RSC Advances. Other preferred titles are displayed in table 2.

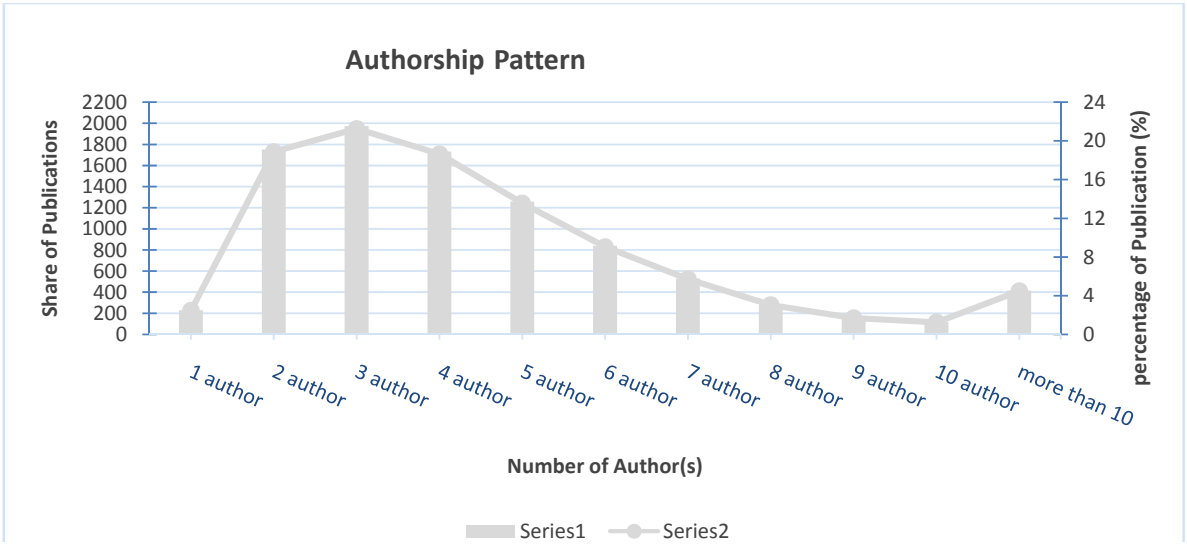

Figure 2: Authorship pattern of BHU from 2012-2019

Figure 3 displays the various forms of literature published by the researchers of BHU. Out of 9290 publications, 8182 are journal articles, 490 were review papers, 313 were meeting abstracts, 125 were editorial papers, 119 were proceeding materials and 61 were other types of publications. Authors of BHU published most of their research findings in the form of journal articles, which means that the research performed here is quite meaningful, new and authentic.

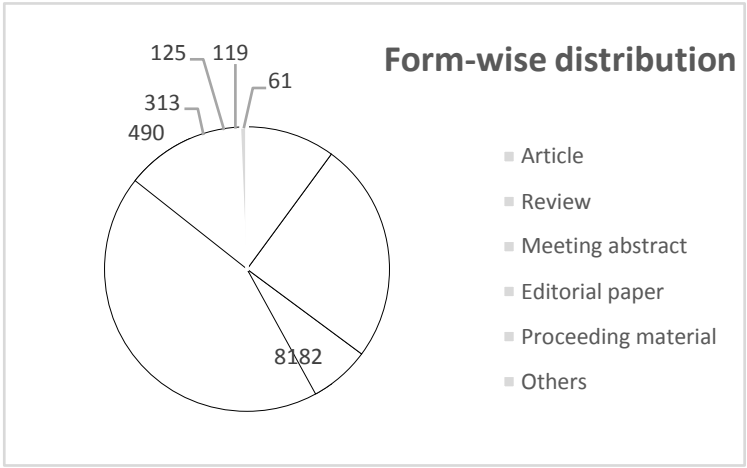

Figure 3: Various forms of publications of BHU in 2012-2019

Year	Single author	Double author	Three authors	Multi-author*	Many authors**	Total	CC
2012	43	248	239	306	191	1027	0.67
2013	28	215	285	376	224	1128	0.69
2014	20	251	257	379	265	1172	0.69
2015	25	240	238	392	291	1186	0.70
2016	28	186	257	386	311	1168	0.71
2017	23	178	230	370	332	1133	0.72
2018	31	195	227	374	377	1204	0.73
2019	31	240	242	408	351	1272	0.74
Total	229	1753	1975	2991	2342	9290	0.70

* Multi-authors (papers with 4 & 5 authors); **Many authors (papers with >5 authors)

Table 1: Collaborative Coefficient during 2012-2019

5.4 Research area-wise distribution of publications

It is interesting to know about BHU researchers that which research areas attract them the most. Toinvestigate major areas of research, we divided it according to WoS categorization. Table 3 represents the top 15 research areas to which BHU researchers have contributed. According to the data shown in the table it is clearly understood that Chemistry is one of the most prolific fields of research areas in BHU with a share of 20.194% and a record count of 1876. While Physics and Material science with a share of

Sr no	Journal title	Record count	% of records
1	RSC Advances	243	2.615
2	Current Science	111	1.195
3	PLOS One	95	1.023
4	Physical Review C	72	0.775
5	Journal of Alloys and Compounds	69	0.743
6	ChemistrySelect	67	0.721
7	Spectrochimica Acta Part A Molecular and Biomolecular Spectroscopy	64	0.689
8	International Journal of Electrochemical Science	54	0.581
9	Journal of the Geological Society of India	54	0.581
10	Sensors and Actuators B Chemical	54	0.581
11	Dalton Transactions	53	0.570
12	International Journal ff Hydrogen Energy	51	0.549
13	Environmental Science and Pollution Research	49	0.527
14	Indian Journal of Agricultural Sciences	49	0.527
15	Physical Review D	47	0.506

Table 2: Scattering of articles in various journal titles

Sr no	Research area	Number of publications	% of total publications
1	Chemistry	1876	20.194
2	Physics	1258	13.541
3	Materials science	971	10.452
4	Engineering	653	7.029
5	Science technology	635	6.835
6	Biochemistry molecular biology	501	5.392
7	Environmental sciences ecology	491	5.285
8	Pharmacology pharmacy	448	4.822
9	Plant Sciences	402	4.327
10	Agriculture	358	3.854
11	Biotechnology applied microbiology	341	3.671
12	Electrochemistry	306	3.294
13	Mathematics	256	2.756
14	Geology	244	2.626
15	Cell biology	211	2.271

Table 3: Top 15 research areas of BHU in terms of publication

1258 (13.541%) and 971 (10.452%) respectively are the second and third prolific fields which attract researchers of BHU.

5.5 Collaboration with other national and international organizations

Table 4 shows the top 15 collaborative organizations with BHU. Highest number of papers have collaborations with Bhabha Atomic Research Center i.e. 212 (2.282%) followed by the University of Delhi i.e. 169 (1.819%), then CSIR i.e. 163 (1.754%), IIT i.e. 160 (1.722%), Korea University i.e. 115 (1.238%), University of Tokyo i.e. 113 (1.216%), and followed by others.

From the table, it can be interpreted that among top 15 collaborative organization, 5 are national and 10 are of international origin. Further, it is also noted that in table 4, the top four positions are held by national organizations and the rest are held by foreign organizations. It is interesting to know from table 4 that among top 15 collaborative organization, 812 publications have collaboration with Indian organizations while 1090 publications have collaboration with foreign organizations.

Sr no	Organization	Number of records	% of records	Origin
1	Bhabha Atomic Research Center	212	2.282	National
2	University of Delhi	169	1.819	National
3	CSIR	163	1.754	National
4	Indian Institute of Technology	160	1.722	National
5	Korea University	115	1.238	Foreign
6	University of Tokyo	113	1.216	Foreign
7	Columbia University	112	1.205	Foreign
8	Russian Academy of Science	111	1.195	Foreign
9	Lund University	110	1.184	Foreign
10	University of Allahabad	108	1.162	National
11	University of Tennessee	108	1.162	Foreign
12	Kyoto University	106	1.141	Foreign
13	North-West University	105	1.130	Foreign
14	Seoul National University	105	1.130	Foreign
15	Yonsei University	105	1.130	Foreign

Table 4: Top 15 participating institutions in collaboration with BHU

5.6 Distribution of collaborative publications with other countries

Table 5 presents that out of total 9290, 2586 publications (27.84%) have collaborations with 10 different countries of the world. The maximum collaborations reflected through research publications are with the USA, with a count of 587 (6.319%) records. South Korea with 295 (3.175%), Germany with 291 (3.132%), China with 265 (2.852%) and Japan with 126 (2.433%) records are other most prolific collaborative countries after the USA. Among the top 10 collaborative countries, four are from Europe, three are from Asia and one each from North America, South America and Africa.

Sr no	Country	Number of records	% of records
1	USA	587	6.319
2	South Korea	295	3.175
3	Germany	291	3.132
4	Peoples R China	265	2.852
5	Japan	226	2.433
6	England	220	2.368
7	Sweden	214	2.304
8	France	192	2.067
9	Brazil	148	1.593
10	South Africa	148	1.593

Table 5: Top 10 participating countries in collaboration with BHU

CONCLUSION

This study attempts to analyze the research productivity of Banaras Hindu University with the data extracted from the WoS database. The findings of this study indicate that there is a gradual growth in the research publications, the collaboration among researchers is increasing although it is fair in nature with an average collaboration coefficient of 0.70. RSC Advances is one of the most preferred titles for publication of research articles. Chemistry, Physics and Material sciences are the most prolific areas of research among the researchers. A prominent form of publication is Journal articles with a share of 88.07%. Among the top 15 collaborative organizations, 10 are of international origin and the most collaborative country is the USA. In reality, research productivity of BHU is higher than what we measured in this paper because at present there are many peer-reviewed journals which are yet not indexed in WoS database. This paper will guide the national funding bodies, various organizational heads and also the researchers to interpret and analyse the collaboration pattern of BHU with other organizations.

REFERENCES

1. Ramsden P. Research productivity and scholarly accomplishment of college teachers as related to their instructional effectiveness: A review and exploration. *Res*
2. Abramo G, D'Angelo CA. How do you define and measure research productivity? *Scientometrics*. 2014; 101 (2): 1129-1144. doi:10.1007/s11192-014-1269-8
3. Ross SM, Donnellan LM. Defining Research Productivity: It Depends Upon Who You Are. *J Appl Commun*. 1994; 78 (1): 1-9. doi:10.4148/1051-0834.1394
4. University Grants Commission. *Annual Report 2017-2018*.; 2018. Accessed January 19, 2019. www.ugc.ac.in
5. Surulinathi M, Balasubramani R, Kalisdha. Continent wise analysis of Green Computing Research: A Scientometric Study. *J Adv Libr Inf Sci*. 2013; 2 (1): 39-44. www.jalis.in
6. Ranganathan C, Balasubramani R. Mapping of Green Chemistry Research in India- A Scientometric Analysis. *J Adv Libr Inf Sci*. 2013; 2 (4): 221-229. www.jalis.in
7. Balasubramani R, Parameswaran R. Mapping the research productivity of Banaras Hindu University: A scientometric study. *J Theor Appl Inf Technol*. 2014; 59 (2): 367-371. www.jatit.org
8. Gautam VK, Mishra R. Scholarly research trend of Banaras Hindu University during 2004-2013: A scientometric study based on Indian citation index. *DESIDOC J Libr Inf Technol*. 2015; 35 (2): 75-81. doi:10.14429/djlit.35.2.8021
9. Singh VK. Measuring the research competitiveness of Banaras Hindu University. *Indian J Sci Res*. 2015; 11 (2): 13-16.
10. Schwarz AW, Schwarz S, Tijssen RJW. Research and research impact of a technical university—A bibliometric study. *Scientometrics*. 1998; 41 (3): 371-388. doi:10.1007/BF02459052
11. Gumpenberger C, Wieland M, Gorraiz J. Bibliometric practices and activities at the University of Vienna. *Libr Manag*. 2012; 33 (3): 174-183. doi:10.1108/01435121211217199
12. Hanumappa A kumar, Desai A, Dora M. A Bibliometrics Profile of Gujarat University, Ahmedabad during 2004-2013. *DESIDOC J Libr Inf Technol*. 2015; 35 (1):9-16. doi:10.14429/djlit.35.1.7699

13. Kyvik S. Changing trends in publishing behaviour among university faculty, 1980-2000. *Scientometrics*. 2003; 58 (1): 35-48. doi:10.1023/A:1025475423482

14. Leydesdorff L, Meyer M. The scientometrics of a Triple Helix of university-industry-government relations: Introduction to the topical issue. *Scientometrics*. 2007; 70 (2): 207-222. doi:10.1007/s11192-007-0200-y

15. Savanur K, Srikanth R. Modified collaborative coefficient: a new measre for quantifying degree of reseach collaboration. *Scientometrics*. 2010; 84 (2): 365-371. https://link.springer.com/article/10.1007/s11192-009-0100-4

16. Ajiferuke I, Burell Q, Tague J. Collaborative coefficient: A single measure of the degree of collaboration in research. *Scientometrics*. 1988; 14 (5-6): 421-433. doi:10.1007/BF02017100

●

A SMART CITY IN INDIAN CONTEXT: CONSTRAINTS AND ASPIRATIONS FROM VARANASI CITY.

U. K. BANERJEE* PROF. G. S. SINGH** AND PROF. DEVENDRA MOHAN***

Smart City Mission is an Urban Renewal and Retrofitting Programme launched by the Government of India on 25 June, 2015. Its mission is to develop 100 cities across the country making them citizen-friendly and sustainable. Out of the above targeted objective of smart cities Varanasi is also qualified to be one. Outlay for this flagship mission will be about Rs.48,000 crores (by Centre) spread over five years to promote progressive urban planning , improve governance and strengthen economic and , social and infrastructure to the finally identified cities, further State/UT and ULB will contribute another same amount as matching grant, so total expenditure in five years will be about one lakh crores.

Ministry of Housing and Urban Affairs outlines the selection procedure. Each aspiring city competes for selection as a smart city in what is called a 'City Challenge'. There are two stages in the selection process. Such as:

a). As a first step, all states will apply standardized criteria for selection of their Cities for the competition. Total 100 cities will participate in competition. Using a strategy of Area based development. This captures the spirit of "competitive and collaborative federalism "Then the cities judged to have the best proposals will receive funding. This is the first stage of Intra-State competition that is short listing of cities by states.

b). At this stage All-India competition begins. The challenge round of selection. SCP of all the potential competing cities are evaluated by a panel of experts after each potential smart city prepares its proposal assisted by consultant and a hand-holding external agency. At this stage competing cities must clearly select a model, its future outcome payback period of financial borrowings, revenue model for the private participation, employment generation, new firms attracted etc.

Selected cities declared round one- Smart Cities. Selected cities set up SPVs and start implementing their SCPs. Preparations of DPRs, Tenders etc. Other cities to improve their proposals for the next round of challenge.

The mission will cover 100 cities and in duration of five years (FY2015-16 to FY2019-20)

Varanasi has been selected under the Smart City Mission amongst winning Cities in second round.

Bloomberg Philanthropies is the official knowledge partner for the India Smart Cities Challenge.

Introduction

India is undergoing rapid urbanization. Major Indian cities are heavily polluted. Many metro cities are facing essential resource- shortages. It is reported that Bangalore is approaching fast towards black day due to excessive exploitation of ground water. This paper aims to fill the gap in research found at various levels and specific and appropriate smart initiative needed for city like Varanasi .Varanasi being one of the oldest, densely populated and dense cities of India with very poor infrastructure. It needs close co-ordinations amongst many governmental and non-governmental entities. The paper aims at identifying doable areas, where city planners can super- impose such development works with the minimum relocation of its existing facilities in initial phases. Varanasi has its own strength and weaknesses in its personality. A model for this city must be inclusive in nature taking care of its most disadvantaged and marginalized groups and accommodative of its diverse professions, craftsmanship's, handicrafts, artisans, tourism religious and social life.

Varanasi is a City gifted with the most life giving resource in the form of rivers Ganga, Varuna and Assi. Much of the City life moves around these rivers, most importantly, supply of drinking water and water for other needs are met by these rivers in all seasons.

* Executive Engineer, University Works Department, Banaras Hindu University, Varanasi
** Professor, Institute of Environment And Sustainable Development, Banaras Hindu University, Varanasi
*** Professor, Department of Civil Engineering, Indian Institute of Technology, Banaras Hindu University, Varanasi

As per the Indian mythology Varanasi is very old city. However recent study By IIT Kharagpur using GPS tools (geo exploration method) indicate that this holy city has remained populated continuously since the days of Indus valley Civilization, around 6000 years ago (Project funded by Ministry of Human Resources Development).

Uttar Pradesh has been allocated 13 Cities (for smart city) based on urban population and number of statutory towns which is highest in India.

Smart City: Concept and Definition

Does a standard smart city definition exist in India?. The answer is "No", such definition is not available which may be acceptable to all universally. Instead, for a specific city like Varanasi standard guidelines based on aspirations of the inhabitants and feasible smart facilities preserving the heritage status needs to be consolidated and worked upon. Aspiration towards a smart city for a Resident of Bangalore or New Delhi may be different from a resident of Varanasi in their existing situation. From this point of view certainly aspiration of residents of large European cities and North American Cities are quite different.

Expectations from a smart city must be clear to the residents of that city at least regarding infrastructure and services required for making life safe, easier, comfortable, healthier, including opportunities for the employment and education , safe and cheaper transport facility, recreation, digital connectivity like online access to various services, smart response systems etc. These requirements also depend on individual level of expectations and economic status.

Centralized planning and control of urban eco-system with convenient public grievance redressal facility regarding malfunctioning or break -down of services or physical infrastructure, adequate and effective service providing institutions, quick response as well as feedback systems are desired advance components.

Implementation of smartness could be done gradually in phases through short and long term planning. Prioritizing the infrastructure related need to be done comprehensively, so that the developed physical infrastructures can help further development of basic needs of urban life must be given priority.

Sustainable development, pollution free living conditions and inclusive development for all sections of the society are essential for any smart city at present due to dense population and very large number of fossil fuel based motor vehicles causing air pollution.

In respect of the present context, due to excessive pollution and unhealthy living conditions in most of the Indian cities, following infrastructural developments shall be assigned on priority:-

1). Safe water supply as per the National Standards

2). Assured power supply to support smart city not only for domestic, recreational purposes but also to meet the growth objectives in future.

3). Liquid and solid waste management – Wealth from Waste scheme may be linked to upliftment of the poor.

4). fully developed sanitary condition monitoring system.

5). Adequate public transport system, preferably run on non- polluting fuel system.

6). Safety systems, like road safety, fire safety, general security especially for handicapped, children and women.

7). Mass housing assuring at least the minimum facilities for poor and marginal sections of society.

8). Digital connectivity, and easy access to centralized system

9). Participatory city governance with regard to smart infrastructure and service facilities.

10. Easy access to medical and schooling facilities.

11. Robust pollution monitoring system.

12. Disaster control and rescue department.

13. Promote Collaborative partnership at all functional areas among governments and stakeholders at all levels.

14. Improving overall livability conditions for the citizens, parks and play grounds for children and youths. Walk ways for aged peoples, social infrastructures for women etc.

As per the Ministry of Housing and Urban Affairs following are the main objectives. :

1). To promote sustainable and inclusive cities that provide core infrastructure and give a decent quality of life to its citizens, a clean and sustainable environment, and application of "smart" solutions .

2). To focus on sustainable and inclusive development, the idea to look at the compact areas, create a replicable model, which can act as a light -house to other aspiring cities. The Smart City Mission is meant to set examples that can be replicated both within and outside the Smart City catalyzing creation of similar smart cities in various regions of the country.

3). Some core infrastructure elements in a Smart City would include adequate water supply, sanitation including solid waste management, efficient urban mobility and public transport, affordable housing especially for the poor, robust IT connectivity and digitalization, good governance especially e-governance and citizen participation, sustainable environment and safety and security of citizens specially for women, children's, elderly and their health and education.

4). Strategic components of Smart City Mission are city improvement (retrofitting), city renewal (redevelopment), and city extension (Greenfield Development) plus a pan-city initiative in which smart solutions can be applied covering larger parts of the city.

5). Area based development will transform existing areas (retrofit and redevelop) including slums into better planned human settlements, thereby, improving livability of the whole city. Development of well planned and fully serviced new areas (green fields) will be encouraged around cities in order to accommodate the rapidly expanding population in urban areas. Application of smart solutions will enable cities to use technology to improve infrastructure and services.

6). Comprehensive development in this way will improve quality of life, create employment and enhance incomes for all, especially the poor and disadvantaged, leading to an inclusive city development.

Smart Approaches and Methodology

Varanasi being large and fast growing city on one hand and on the other it is a heritage city with its living history of thousands of years. In last census, 2011 its population of the Varanasi district was 3682194. decadal growth of the population was 17.1% (year 2001-2011), Varanasi district has a population density of 2395 persons per sqkm which is more than the state average 829 persons per sqkm. Varanasi city is graded at B1 city Rank. Its total population is 11,98,491 as per census 2011 and 10,91,918 as per the census 2001. The total area of Varanasi Nagar Nigam at present is 82.10 sqkm. the population density of the city as per the census 2011 is 14598 persons per sqkm. The city administration is actively implementing the nationwide schemes like **a**. Swachh Bharat Mission **b**. Hriday Yojana **c**.Amrit Yojana

(Web site of Varanasi Nagar Nigam and Varanasi.nic.in). Under the back drop of such information extensive literature survey was done books referred from disciplinary domains, relevant government and other authentic web sites were checked and experiences of other cities noted to extract and consolidate most suitable options for making City like Varanasi as smart city.

Following smart methods need to be adopted.

Central digital command of services, e-governance, e- health records etc.

1). Public Information portal, online grievance redressal monitoring.

2). Online service delivery information system

3). Promoting green buildings

4) Public digital class rooms and telemedicine

5). Smart social infrastructure which could be connected to the cities common digital information portal.

6). Digital land mapping and linking of landed properties to individual identification system.

7). Online digital monitoring of legal services, so that city dwellers wealth and time is not wasted in getting the services and they are not harassed in the process.

Solid Waste Management

The following considerations may be made in this connection for different components and type of solid wastes:

1). Using select wastes as fuel

2). Bio-wastes to be composted to produce manure

3). Wastes to be sent for recycling such as glass pieces, plastics etc.

4). Wastes to be buried in as land fill like building debris etc.

5). GPS tracking of containers carrying wastes, sensors on dustbins, Mobile App for Citizen.

Liquid Waste Management

1). Waste water Categorization and treatment for discharge in natural stream

2). Waste water treatment and reuse for specific purposes like gardening, agriculture, Industrial use etc.

Out of the about 400mld sewage water generation in the city, the installed sewage treatment plants have not yet equipped to cater more than 300 mld, rest quantity are finding its way to the rover Ganag.

Water Supply Management

1). Consumer -end monitoring through smart water meter system.

2). Pipeline health monitoring and leakage identification

3). Rain water conservation and efficient harvesting

Out of the eight blocks of the Varanasi city, from the ground water resource point of view 2 blocks (Araji Line, Harhuan) have already become over exploited blocks along with the city of Varanasi, 1 number of block have become critical and rest five blocks (Badagaon, Chirai Gaon, Cholapur, Kashi vidyapeeth, and Sewapuri) have become semi critical blocks. This is an alarming situation need immediate smart solution as resources are limited.

Air Quality Management

Varanasi city air quality has been extremely poor and highly hazardous to health. It often reaches to the threshold limit of 400 ppm mark.

Air quality sensors like cctv cameras should be installed atleast in “Anchor Institution”. Buzz around smart cities has been building as policy makers seek to harness information technology to improve the delivery of services and the welfare of the residents. Enter the concept of the “anchor Institution” (e.g. University, Library, hospitals). The idea that these institutions are necessary partners in urban development has been circulating in the planning literature for decades.

These institutions can effectively bring awareness and caution to the public domain under their reach.

Energy Management

1). Installation of digital smart meters for each consumer

2). Developing area specific alternative source in Local energy grid, like bio-mass based, wind based, Solar Based etc.

3). Efficient lighting, fans (BEE approved) etc.

Transport System Management

1). Vehicle tracking and movement control system

2). Smart traffic management system (ITS / IVHS)

3). Integrated multi modal transport system.

4). Development of non-motorized walk ways, under passes, over passes, safe road crossings, Signal Management, e-challan, CCTV Surveillance for Traffic, Public Address System

5). since introduction of automatic traffic control system in Varanasi traffic congestion reduced to great extent.

Employment Generation

1) Development of start-up Incubation Centres.

2) Development of business infrastructure, Trade Facility Centre

3) Skill development facilities with respect to specific characteristic of the city.

4) Care centers for golden ages / oldsters.

City Surveillance Through CCTV and Radio Analytics

1) Monitoring of City Surveillance on IOT platform

Smart Light Management System

1). Smart street lights in ABD area, remotely and Centrally operated with luminance regulation.

Smart Parking Management System

1). Sensor based, movement control, parking space allotment, electronic fee collection, CCTV surveillance, mobile Apps for updating status of parking space availability.

Smart Environment Monitoring

1). Environment sensors for the to measure air quality index, gas leakage, abrupt variation of air composition, alarm system.

2). Water quality monitoring stations at intake-supply sources and at common delivery points.

3). Soil health monitoring stations, and guidance system.

Capacity Building

A series of comprehensive training programmes to various stakeholders need to be conducted. This shall encompass the following steps:

1). Interacting and learning from leading urban experts and practitioners.

2) Developing skills to help the city in moving forward in the domain of sustainability. Skills that will help the City to move forward in the domain of sustainability.

3). Creating knowledge repositories from actual experts for smart cities around the world, like cities excelling in specific functional areas, generate more revenues etc.

4). To attract public investment and support for the urgent needs of city

5). Public engagement to reduce conflicts amongst the stake holders like financers, Investors, promoters, etc.

To achieve the Mission objectives a comprehensive capacity building programme is being implemented, broadly structured under three components: (Annual Report 2016-17, Ministry of Urban Development)

1). Individual Capacity Building

2). Institutional Capacity Building

3). Solutions Exchange (Smart Net).

Individual Capacity Building

Purpose and Scope: The purpose of Individual training is to enhance the functional knowledge, improve job related skills, and change the attitude of Municipal functionaries. Based on training needs analysis (TNA) conducted under CBUD programme, trainings are organized around four functional categories namely:

a) Finance and Revenue: Financial Planning and Management, Revenue Mobilization

b) Engineering and Public Health: Water, Sanitation, Drainage, SWM etc.

c) Town Planning Urban Planning , including pro poor planning approaches, and

d) Administration : E-governance, Computer and Soft skills,

Institutional Capacity Building

Purpose: The Aim is to improve the institutional outcomes (E.g. Accountability and transparency, service delivery, citizen empowerment, resource mobilization) by providing support to ULB (Urban Local Bodies) through external experts and professionals.

SOLUTIONS EXCHANGE (SMARTNET)

Ministry of Housing and Urban Affairs has launched 6 key Flagship Missions: Smart Cities Mission, AMRUT, HRIDAY, Swachh Bharat, Pradhan Mantri Awas Yojana - Housing for All (Urban) and National Urban Livelihoods Mission

Smartnet is rich online knowledge repository developed for the urban sector providing access to model documents, Case Studies, policies and guidelines, vendors and industries etc. SMARTNET has been established to support the development of cities across India through knowledge and experience exchange between cities, practitioners, academia, researchers and technologies.

Example for Varanasi: Request for Proposal of Selection of the Project Management Consultant (PMC) To Design, Develop, Manage and Implement Smart City Projects Under Smart City Mission (SCM) In Varanasi Uttar Pradesh During December 2016. After short listing and finalization of the Consultants a formal agreement was executed between VARANASI SMART CITY LIMITED & PROJECT MANAGEMENT CONSULTANTS- on 24th May, 2017, using Smartnet.

Consortium of three consultants were selected Namely REPL, Grant Thorton and ANB. The Consortium is to assist the Varanasi Smart City Ltd., in various phases of project implementation which will include activities such as preparation of DPR, Co-ordination with various appointed consultants, project prioritization and phasing, preparing capital

investment plan, implementation road map, conducting feasibility study, bid process management for selection of implementing agencies, overall project management etc.

At the national level Bloomberg Philanthropies Partnered with the Government of India initially during selection of 100 Probable and Competing cities for Smart City Mission of Government of India.

Organizational Arrangement for Execution and Implementation of Smart city

Since the financial investment involved in creation / development of smart cities are quite heavy , which are in order of about 400 crores, central government assistance about 100 crores per city per year for five years a proper mechanism must be in place to complete all its objectives. MoUD in its guidelines provided such mechanism in the form of **SPECIAL PURPOSE VEHICLE** whose functioning has been detailed very elaborately.

The implementation of the mission at the city level will be done by special purpose vehicle created for the purpose. The SPV will manage the Smart City development projects. Each Smart City will have a SPV and will be headed by a full time CEO and will have nominees of Central government, state government and ULB in its board. The SPV will be a limited company incorporated under the Companies Act, 2013 at the city level in which State /UT and the ULB will be promoters having 50:50 equity share holding. Private sector or financial institution could be considered for taking equity stake in the SPV, provided the share holding pattern of 50:50 percentage of the State/UT and the ULB is maintained and the State /UT and the ULB together has the equity share holding in majority and control of the SPV.

Convergence with government Schemes:

Ministry of Urban Development in its guidelines in June 2015 suggests the aspiring cities for the selection as Smart City to adopt or integrate various sectoral schemes of government. There are strong complementarities between the Atal Mission for Rejuvenation and Urban Transformation (AMRUT) and Smart City Mission in achieving urban transformation. While AMRUT follows a project–based approach, the Smart City Mission follows an area- based strategy.

Similarly benefits can be derived by adopting other Central and State Government Programmes Schemes with the Smart Cities Mission. At the planning stage itself, cities must seek convergence in SCP with AMRUT, Swachh Bharat Mission (SBM), National Heritage City Development and Augmentation Yojana (HRIDAY), Digital India, Skill Development, Housing for all, Construction of Museum funded by Culture Department and other programmes connected to social infrastructure such as Health, Education, and Culture.

Commitments

All smart cities have certain committed objectives to fulfill. These commitments are given at the highest bureaucratic level of particular state. Based on these commitments in the proposal these projects are approved. Therefore efficient functioning of the SPV is very important and sensitive. Further it is expected that SCPs will include large number of infrastructure services and smart solutions, such as assured electricity supply to the elements proposed in the schemes with at least 10% of the smart cities energy requirement comes from solar, adequate water supply including waste water recycling, storm water reuse, rain water harvesting etc. in case of Redevelopment and Greenfield models of the smart cities at least 80% building should be energy efficient and green buildings. Further out of the total housing provided in the Greenfield development there should be at least 15% in the affordable housing category. It is expected that a number of schemes will be taken up as PPP model and SPVs have to accomplish that.

Present Scenario of the urban population of India especially on the Gangetic plain which is most densely populated region:

If the Census 2011 is taken as bench mark nearly 31% of India's population lives in urban areas and contribute 63% of India's GDP. With increase in urbanization 40% of the country's population is expected to live in urban areas and GDP contribution by them will be about 75% by the year 2030. Average population density in Ganga River basin is 712 persons per square kilometer as compared to 382 for India (Census-2011).Varanasi being the one of the largest city after Kanpur sitting on the Banks of Ganga in Uttar Pradesh. The Largest city in India being Kolkata (west Bengal). Along the bank of the river 29 megacities, 23 small cities, 70 towns and thousands of villages contribute to Ganga River pollution [6]

Smart City as a system

All smart city programmes and projects pursue many common goals including sustainable development, better efficiency, resilience, safety and wide support for citizens engagement and participation however each individual city tends to follow its own approach in smart city programmes and projects. It is not surprising that numerous technology activists are very vocal on various Smart Cities forums even though cities cannot be reduced to just "BIG DATA" and "IOT". [7]. This is very pertinent for the case of old city like Varanasi because its nature of city like narrow streets, Ganga River and mostly inhabited by traditional people who are not exposed to such high technologies.

Global Experiences

MK Smart Project of England in 1967- In this project of Milton Keynes, the central idea of the project was to creation of a state-of the art" MK Datahub" which was planned to support the acquisition and management of vast amount of data relevant to city systems from a variety of data sources. These will include data about energy and water consumption, transport data. Data acquired through satellite technology, social and economic data sets and crowd sourced data from social media or specialized apps. [10]

The smart city subject lies at the border of several domains such as urban planning, architecture or business. In 2014, IESE Business School, University of Navarra, launched The City in Motion Index (CIMI) in order to evaluate the performances of the world's smartest cities. Since then, the Spanish business school has published yearly report on CIMI, which assess the city by taking into account 10 important dimensions (human capital, governance, urban planning, public management, the environment, technology, international outreach, social cohesion, mobility, and transportation, and economy) and 68 indicators. In 2014 Tokyo scored highest marks i.e. 100.00. [10]

Japanese smart cities: Prime Minister of India and Prime Minister of Japan announced Kyoto Varanasi Partner City. On December 3, 2014 the Press Information Bureau (PIB) of government of India's Ministry of Housing and Urban Affairs notified that Urban Development Ministry has set up a 11-member Steering Committee to operationalize the "Partner City affiliation Agreement "between the cities of Varanasi and Kyoto, Japan. The Partner City Affiliation Agreement between Varanasi and Kyoto was signed during the visit of Prime Minister Sri Narendra Modi to Japan during August – September, 2014. This agreement referred to culture, art, academics, heritage conservation and city modernization as potential areas of co-operation. The Steering committee will facilitate actions pertaining to:

1. Modernization of Varanasi, including up gradation of water management and sewage facilities, waste management, urban transportation etc., drawing upon the Japan's expertise and technologies;

2). Application of Japanese practices, techniques and management for conservation of rich heritage of Varanasi;

And

3). Exchanges between Kyoto University and Banaras Hindu University, as well as religious organizations. [12]

Japan developed many smart cities prominently Tokyo, Yokohama, Osaka, and Kyoto. The strategy for smart initiatives was decided based on the specific character and needs of these cities individually for example Tokyo for energy efficiency, Yokohama for energy management system, community energy management system etc. Kyoto for more wakable and cyclable environment; Osaka low carbon city, carbon reduction techniques.

Conclusion

Most Indian Cities are very large and dense from the point of view of population and population density. None of the Indian cities were built smart city from scratch.

Smart city must largely improve health and economic conditions, happiness and overall wellbeing of the citizens. Using latest technologies and scalable tools, sector by sector, replicable development needs to be done from part to whole approach. The main objective of the smart city is to provide overall living conditions where city dwellers derive benefits from inclusive development. Many features help in these aspects. Appropriate land use planning, zoning, reduction in travel distances, traffic jams, providing walking pathways, and cycling lanes along the roads, garbage collection bins with proper identification

markings, open area ensuring green and shaded road sides and parks and mitigating urban heat island effect through comprehensive planning and cohesive planning. Cities must have provisions for inclusion of new technologies in mobility plans like electric vehicles, charging stations, easy and safe battery disposal facility, flexi engine vehicles, ethanol based vehicles. These types of vehicles reduce city pollution to large extent. However these require certain infrastructural facilities to be built at the government initiatives.

Local governance must be user friendly and quick but at the same time responsible to the aspect such as unauthorized change in land use plan. Blatant change of land use, encroachment of river catchments had resulted in great Chennai flood in 2015. Massive construction in the river beds were ignored by the local authorities for long time, resulting constriction of the river flow the horizontal spread of water deluded the city areas.

References:

1). Ministry of Housing And Urban Affairs, Government of India web site

2). Sustainable Development Goal Report by United Nations – 2018

3) National Water Policy (2012) – Government of India, Ministry of Water Resources

4). Web sites of Varanasi Nagar Nigam

5). Vision Document of Smart City Varanasi

6). Bureau of Indian Standards: Pre-Standardization Study Report Unified Secure and Resilient ICT Frame Work for Smart Infrastructure

7). varanasi.nic.in

8). nnvns.org

9). Aquin d' Mathieu et al. "dealing with Diversity in a Smart-City Datahub" open University United Kingdom-mathieeu.daquin@open.ac.uk

10). Sorin Toma et. al University of Bucharest, Faculty of Administration and Business," ovidius" University Annals, Economic Sciences Series , Volume XVIII,issue 1/2018

11). Goodman Ellen P, "Smart Cities Meet "Anchor Institutions": The Case for Broadband and the Public Library. Fordham Urban Law Journal, Number 5 Symposium- Smart Law for Smart Cities: Regulation, Technology and Future of Cities, article 6, march 2016.

12). Press Information Bureau, Government of India, Ministry of Housing and Urban Affairs 03-12-2014

13). Fietkiewicz K J, Stock W G:" How smart are Japanese Cities? An Empirical Investigation of Infrastructures and Government Programs in Tokyo, Yokohama, Osaka, and Kyoto. IEEE.org/IEEE Xplore Digital Library/ IEEE-SA/ IEEE Spectrum, 30-03-2015, DOI:10.1109/HICSS.2015.282

●

MEDIA AND NATIONALISM: A PARTNERSHIP THAT'S ENDED

DR. SUSMITA SINGH*AND NEELAKSH PITHAURIA**

After the world war II, several attempts have been made by the historians and political scientist to describe what is Nationalism, such as Rabindranath Tagore (1917), Ernest Gellner (1983), E.J. Hobsbawm (1990), Ashutosh Varshney (2003), Anthony Smith (2009), naming a few. But to initiate our conversation, precisely, Benedict Anderson's Print Capitalism (Anderson, 1983) is the most convincing in establishing the relationship between media and nationalism. According to him, for a nation to create in the imagination of the people, a sense of commonality, unity and belongingness is needed, which can be a common history or shared myth, ethnicity or religion, language or ideology, race or territory. But a sewing thread that joins imaginaries of the people, spread throughout the perceived geographical space on how they imagine themselves being a part of a country regarding an identity of a country is print media[1], such as, newspaper, pamphlets, magazines, journals.

Print media is used to disseminate the belief, connect the people and construct a common identity. It could be said in criticism of nationalism as a notion that it is modern and Eurocentric, and it was widely and bloodily practised in Europe which shaped their geography and identity (Sohn, 2018; Sutherland, 2012). But, when it comes to Asian or African context, Anderson pointed that the emergence of the nationalism in third world countries was relied on the taste of the prominent and influential leaders in colonial times, who selected their preferred type of nationalism from western nationalisms discourse. But to Partha Chatterjee, Anderson's thoughts were itself influenced by the 'colonial imagination' or 'a script written by colonialiser' (Chatterjee, 1991), especially when he was thinking on the nationalism in colonial countries. He argued Indian or Asian & African nationalism was anti-colonial; they created their personal space for, and of, nationalistic feeling and expressions where they can exclude the colonial state from interfering into their private domain and nurture their national culture outside of colonial dominated public space (Chatterjee, 1991), example, in 1893, the Indian freedom fighter Lokmanya Bal Gangadhar Tilak called for the annual celebration of Ganesha Utsav (Ganesha Festival), but interestingly the call for mass gathering for Utsav was on his newspaper '*Kesari*', and Kajri Jain (2007) describes that the Indian "Calendar Art" is distributed all over the Indian subcontinent according to the preferences of the many religions, regions and ethnically different communities, it basically connects people. Indian "Calendar Art" is a colour printed images featuring gods and goddesses, movie stars, landscapes and Indian people (Kajri Jain, 2007).

Mainstream media, a conglomerate which includes newspapers and broadcast media, is an immitigable factor in Indian political timeline. It is regarded as the Fourth pillar or power of democracy after legislature, executive and judiciary (Aparna Shekhawat, 2017). It's itself a journey travelled by media, on how Media was used "for" Nationalism to how, nowadays, media is being used "by" nationalism which shaped her role, helped her to spread her wings, and took her to the present context where she is struggling to get out of the room which she has no key. So, to retain her freedom and the sacred duty of being the fourth pillar of democracy, she has to restore herself to the universal moral and ethical standards of media and information.

Media in Colonial times

The discourse of Indian anti-colonial freedom struggle is incomplete without mentioning media. Most of the prominent Indian freedom movement leaders were the owner of newspapers, and also, brilliant writers, journalists, and editors. The ground for the print media in India was laid by the former officials[2]of East India Company who rather preferred to express their grievances and interests through media. However, the content of newspapers was irrelevant for the educated native Indian newspaper readers. These "Colonial" newspapers, apart from being critical, were downplaying the Indians in whichever way. To counter the narrative of the

* Assistant Professor, Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi
** Research Scholar, Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi

coloniser and upfront the actual issues of Indians, many locals started their newspapers, such as Raja Ram Mohan cRoy, who started first Indian newspaper 'Samvad Kaumudi', a Bengali weekly: 'Atmiya Sabha' an English weekly: and 'Miratul-Akbar' a Persian newspaper, to restore dignity and self-respect, and propagate liberal and rational thoughts among Indians. The Indian press, in its role, was playing a social reformer, educator, emancipator, conscious-raiser, active debater and opinion maker on political issues, which raised the eyebrows of the coloniser (Iyenger, 2001).

The period from 1825 to 1857 was lenient for the press, as the colonial rulers were not interfering much into the matter of the freedom of the press.[3] But, the 1857 mutiny was a turning point, which immediately led to regulations for the press, known as 'Gagging Act' by then Governor-General, Lord Canning (Sonwalkar, 2015), to control and diminish the native publications' content. Further on, in 1878, the Britishers came up with the *Vernacular Press Act* which would allow the government to prosecute the press under "sedition and defamation" charges. But Indian Press found ways to resist desist and grow. They defied censorship and control. They worked tirelessly to inform the Indians on freedom struggles happened pan India, which helped in creating a sense of emotional attachment among the fellow Indians for the common cause- such as, in 1857, 'Payam-e-Azadi, Samachar Sudhavarshan, Doorbeen and Sultan-ul-Akhbar' were some of the newspapers which inspired people to partake in the fight against Britishers. They were politically vocal and unputdownable (Radhika Iyengar, 2017).

As we have already said above that many prominent leaders were editors or journalists, and were running newspapers on a mission to awaken people's social and political consciousness like Rast Goftar edited by Dadabhai Naoroji and in the effect of 1861's Indian council act, Surendranath Banerjee brought *Bengalee*, Harishchandra Mukherjee's *Hindu Patriot*, Sishir Kumar Ghosh's *Amrit Bazar Patrika*, Aurobindo Ghosh's *Bande Mataram*, Bal Gangadhar Tilak's *Mahratta and Kesari*, Mahadev Govind Ranade's *Indu Prakash* naming a few. Indian leaders realised that writing and publicising in vernacular languages, such as Hindi and Urdu, could help them to reach the vast number of individuals and increase awareness regarding their birth-right, that is, swaraj (self-rule). These languages are cross-sectional and have unifying factors. This strategies pressed the panic button for colonial empire and forced them to promulgate *'The Vernacular Press Act'* in 1878 to muzzle the writer's pen (Tripathi, 2018). Throughout this tussle, the press community and leaders realised that the freedom of the press is of utmost importance for nationalism to evolve and needs to be protected at all cost. Another point here is that the Indian industrialists supported and funded political leaders and their parties and newspapers, directly or indirectly for whatever their reasons. This "Nationalist" press was with people in their anti-colonial struggle and remained so even after the independence, for quite some time.

Media and Post-Independent India

The media, after independence, were supportive of the government, that is, under the prime ministership of Jawaharlal Nehru; assuming they were playing a decisive role in nation-building. The newly independent country started with the task of keeping people together, under one umbrella of constitutional guarantee of security, freedom and right. The media was embedded with the power to influence the opinion of Indian people (Naire, 1971), which they used up to the hilt and extended to the verge of diverting itself from the role of watchdog of the state. Despite the small room for manoeuvring for media (centralized control, rigid administration, and prescribed emphasis on national development), it grew, and remained liberated enough to practice their freedom of opinion and views. Credit must be given to the Nehru, that he respected media and their critical views, and upheld the importance of media in national integration, constitutionalism and democratic discourse.

Now, another key player entered in the frame of media was television, that is, in 1959, when the first television transmission was introduced in India. Television media came at a time when the rules were already defined and laid by the government for print media, under whose contour, the new visual media would also move. But, the most difficult phase for the media arose under the leadership of Indira Gandhi.

Media, Indira and Emergency

After the death of the Nehru and after the 1960s, the relation between media and government changed. The media was feeling the burn due to the criticism of the government's policies and its corrupt working. Indira Gandhi, after winning the election of 1967, wanted to control media's independent thoughts and

opinions regarding her government and leadership. She brought 'Monopoly and Restrictive Trade Practices (MRTP) Act (1969)' to regulate or restrict the circulation and the number of newsprints, and reporting on national or international matters; the will of the government reigned over the freedom of the press. But soon, the political turbulence unearthed. The Jayaprakash Narayan lead movement against the government, forced Indira to bring emergency in India, which lasted for 21 months. This was covered with great zeal by media.

To target the media, the government used the Article 19 (2), which specifies that in the case of "public order", "security of the state", "sovereignty and integrity of the state", a state can restrict the freedom of speech and expression (The Prevention of Publication of Objectionable Matters Act, 1976). There was a centralised control of the government through finance, advertisement support, and other basic resources like electricity, which could be withdrawn or sparsely distributed to choke print media (J. Ghosh, 2017). Other than these, the government used other illegal means to twist the arm of the print press, like threats of imprisonment of publishers and their immediate families, or with false defamation charges, or threats of cut-off power supply to the Press. They banned 36 foreign correspondents from entering India, withdrew the license of more than 46 reporters, and arrested 258 journalists. The English, Hindi and Urdu print media were targeted because of their outreach and the power they wielded to change the political perception and opinion of middle-class gentry living in urban and rural outskirts. Government dared media not to publish about any anti-government protest or criticism.

But, unexpectedly, media, like bureaucracy, when asked by Indira to bend to the will of the government, they crawled, showed its hitherto hidden "grey side". Industrialist or Business houses were the owner or investors of the leading newspaper, and they don't want to open the third eye of the government and ruin their businesses- this is prime amongst many reasons why media crawls even today. Most of the print press stopped their fight for being critical and toed-in the line of official diktat. For examples, the giants The Hindustan Times, The Times of India etc. surrendered their objectivity; The Hindu was cautious of its writings; Editors didn't want to lose their jobs and their printing press; Regional newspaper couldn't handle their financial crunch. But, press and journals like The Indian Express, The Statesman and Himmat stood to their feet in gusty winds of Indira's dictum, concretely (B. Ravi, 2018). Emergency did end, but it was the most disappointing on a part of Indian media's history. This phase changed media and its working style forever.

Media and Privatisation

Media's ownership or its function is supported & funded by the business houses or industrialist so, the market has/had become a determining factor for their survival. It is not clear whether these capitalist owners were feeling the heat from the government for their press businesses before the emergency or after. We, also, don't know explicitly as to what was their motive in supporting the nationalist press at the time of Indian freedom struggle. But it is much clear to us that they have realised the scope of the print market in India after independence, and also, most importantly, that the media doesn't need to hold a key to the power but it is itself a power. After the emergency phase, the questions were looming large over the media, that is, who controls media or does media have the freedom to act freely without interference from the government or corporates.

The liberalisation was introduced in India in the 1990. It ended the exclusive hold of the government over media. It cleared the path for private media but also blurred the line between the ethics of media and practices of businesses. Liberalisation not only freed media from the clutches of the state but also created a new space for stiff competition, huge markets and its untouched resources. Suddenly, the people were turned into consumers for privatised media. Hundreds of print publications, television broadcasting channels including news channels, at both national and state level, bloomed out of the effect of the sudden change in the state's economic policy (Naregal, 2000). At this time, the television media (news channels) was taking precedence over the print media because of its visual impact (Malik, 2016), increased purchasing capacity of people, and accessibility to electronic devices.

But liberalisation was also establishing a monopoly of a few over the private media[4]. At first, it was a threat from the government which is quite evident, but now, it looks like the next suppression comes from the media owners who restrict the journalist's and editors' freedom to write or to state facts. These owners have political linkages to their

preferred political parties ("A Delicate Handshake Media Ownership," 2019). They wait for the benefits that come after their preferred political leaders reached the governing position in the state. Privatisation made media hungry for profit, TRP (television rating point in the case of television media), and information. Media itself turned into an authoritarian holder of the information creating a challenge to Indian democracy.

Media and 21st century Nationalism

It is not a hidden fact that some media companies have received patronage or benefited from the government for their ideological leaning (Sahana Udupa, 2015). The content of their news is, more or less, biased; and helped the government to target the government's political opponents and non-political criticisers.

But, with the onset of globalisation and internet, a huge pandora's box of information opened for media: and it's the only media who can interpret or control and disseminates the information to the public, and can help or try to manipulate their opinions. These changes were creating a monopoly over information, simultaneously creating a doubt on the working practices of the media. Cut throat competitions for viewership and sponsorships made them profit-seeker and slave to the market. Cases of malpractices for generating news; paid news, blackmailing and threating; selective or preferred or even neglect broadcast of the pressing issues of time, has raised questions on media' credibility[5]. Previous to 2014 national elections, media showed that they could make someone worse and other a hero or a saviour, but after the 2014, media has found something new in the age-old topic of nationalism. Bhartiya Janata Party (BJP) won 2014 election not just only on anti-incumbency against the Indian National Congress but also on decisive use of traditional media and social media (internet-based digital media), along with renewed discourse on nationalism (Berglund, 2015).

We have discussed so far, on how media helped in shaping Indian national identity during the anti-colonial struggle and after the independence in integrating and creating a sense of oneness among Indians, and how media fought and even submitted to the dictum of the powerful leader during an emergency. These three points were the historic moments of how media was interacting with the anti-colonial nationalism to developmental and secular nationalism to the constitutional nationalism. But, after liberalisation, the media turned into advertising companies rather than practising journalism for people (Raksha Kumar, 2019). After 2014 election, Modi government used the two-pronged strategy with respect to media, first, it has made a strong presence over the internet, that is, social media, and relied less on the traditional media; second, it restarted the debate on nationalism but this time it is quite different from what was imagined before; mostly concerning national security and citizenship. Media were left in a lurch without any direct or even indirect access to the new prime minister of India, and with a kind of nationalism which it had not yet encountered. The media, again, forced to realign their priorities, this time to the compulsions of the market, the mood of the nation, mammoth information, and the behaviour of the new government.[6]

At the national level, during the 2014 election, Bhartiya Janata Party[7] sensed the mood of the public who was frustrated from coalition government politics and rampant corruption and were demanding a leader with strong "nationalist" personality. A new version of nationalism popped-out to address 21st-century anxiety, which includes issues like terrorism, immigration, and respect for national symbols, culture and ancient histories. Media was looking to the development of this exclusive 21st-century nationalism and wasted no time to use it for commercialising or TRP-ising (sensationalised news) it.

This 21st-century nationalism[8] has brought competition among the different type of nationalism for people's loyalty and support. It targets nationalism which has dominated the Indian political philosophy for a long-time including notions of liberal ethics, multi-culturalism, etc. It also instigated a new kind of genre in media, especially in television media, where the editors, journalist, and news anchors are equipped with jingoistic writing and speaking style. It is of no importance if we talk about how and in which way media has started its part in the role of using the nationalism, but what matters to us is what it has become now.

Earlier, the media's ideological position or political affiliation was not limpid, but now, it is more or less blatant. Media from the very first day of the new government were begging for the information, dialogue and access to the central officials, ruling leaders and politicians. This created a sense of anxiety in them that they are delegitimised by the government[9].This resulted in self-censorship and

posture in a pro-government stance by the media to gain their lost privileges. It is complicated to say whether media was forced to sing in chorus, in support of the government to suppress the political opposition and ideological opponents, or was doing this willingly because of its political affiliation or ideological leaning, but it is very clear that it is undermining its "assumed role"[10]of the fourth pillar of democracy and betraying the ethics of journalism, that is, freedom of the press and fair and factual reporting.

Nowadays, Indian Media has lost its credibility among the people and also in its own eyes. Reporters without Borders, an international platform, measured Indian media on various parameters. Indian Media failed drastically, got one of the lowest-rank[11]on world press freedom index. Media did not question the government policies and working and passed personal judgements under the blanket of factual opinion; where there is no accountability (paid news or corruption); selective and biased reporting for gaining political patronage or government's advertisements; irresponsible reporting; sensationalising news by manipulating the words that could create law and order problem (Meghnad S, 2020). It extended the boundary of the journalism ethics where the primacy of being critical is of utmost importance, and blur out the line between a responsible rational journalist and a maniac calling out war on undefined 'public enemy,' when there is an obvious standard and procedure established by the law and knowledge and experiences on the part of the state to address any national emergency or issues (Bhatia, 2019; Jha, 2016).

But to blame only the media is quite unfair. The discourse of 21st-century nationalism started the loyalty test among the Indians, promoted, supported and reaffirmed by the ruling government and also, by the people who supported them or follow their ideology. The situation for media, today, is like it is just an end-user. But, the challenge to the traditional media is coming from the public itself whom it betrays.

Alternate Media and Information

Internet, like press, connects the people but with lightning speed in a short period to millions of people all over the globe. It initiated a dialectical process where new ideas, alternative opinions or views are generated in contrast to dominating constructions. It widens the scope of participatory democracy (Tynan, 2017; Fuchs, 2010). It brings people closer to the information in real-time, unlike traditional approaches like newspaper.

For the interpretation and knowledge dissemination to the public, the traditional media were once responsible but they have become arrogant, behaving like a sole holder of the information. Internet generate an enormous amount of data which traditional media carelessly managed and interpreted. But the internet or social media[12] brought the lost power of the people, of having factual and rational information, back to their hand. However, the internet have its own set of problems. It is not regulated or sensitive like how traditional media is monitored. It allows emotions to merge with facts which creates a situation of, like, misleading information, hateful sentiments against other groups. Its huge data created pit holes of fake news for the traditional media, both print and visual, to fall in when it is already in amnesia; but it is, somehow, addressed by voluntary efforts of the alternate media, such as Alt news, SMHoaxSlayer, where news gets verified (Anubhav, 2019).

Internet restored the media pluralism where people can bypass the corporate media and its obsession with making money. People through Alt-Media can express unhindered, and generate counter-narrative or argument (Dutta, 2019; P. Ghosh, 2016). It exposes people to multiple interpretations like citizens journalism where people take the initiative to bring the truth to the public.

There is a need to rethink not over the role of the media in democracy but on its ethical standards if it wants to remain or to be called as the fourth pillar of democracy in the wave of 21st-century nationalism.

Media and Ethics

Mahatma Gandhi once said that the sole aim of journalism is to serve people; the newspaper press [or media] is equipped with great power, but an uncontrolled pen can cause destruction apart from serving; If there is a need to control the power of the media it should be from within, otherwise, control from the outside will eventually choke her to death.

Ethics[13]are important for a healthy and controlled life. If we could try to put the ethics for the media, we could ask for–opinion and information

related to the public matter in a fair, unbiased and decent manner and expressions (Ray, 2010), to dissuade itself from avarice and TRP-ising news, Media neutrality to give a proper representation of views/ opinions to viewers, a "Lakshman Rekha or Moral Line" dividing the matter of journalistic values and unethical practices.

Constitutional democracy can flourish under the hawk eyes of the media and for that function, independent, impartial, humanist, and accountable media is the need of the hour. There should be a media which can work, think, speak, and ask the questions without fear of the government, freely and democratically. The journalist/ anchors should be honest, morally responsible, discipline, educated and enlightened so that media can serve better to the people with information.

We acknowledge the overburden of the information and responsibility but media can't compromise its obligation and duties, no matter how hard it is to survive in this neo-capitalist world. It has to struggle for her autonomy and right to access to information.

In a democracy, people are supreme and the trust of the people is of utmost importance. To maintain their democratic right, the media have to maintain their credibility and uphold the truth as objectively as possible. An internal mechanism must be developed- for strict adherence to the moral and ethical standards which can be conveyed by any agency such as Media Council, Media Watch Groups, internal ombudsman, who can keep an eye over the wrongs committed by the management, journalists or any media person.

However, there should be no arbitrariness inethical codes; it should be flexible and synchronised with constitutional law.

Conclusion

When journalism or media fails to practice the balance between nationalism and the duty bestowed upon them by the people, then the citizens are the main victim; they lost contact with truth and a hawk-eye over the running democracy. Also, there is a greater onus on the part of the readers who must demand transparency and accountability from the media[15].

We know the media came in the picture "for nationalism," at the time of freedom struggle, as a partner. But now, it should remain at arm's distance from the shadow of nationalism because the things have changed. States are now more complex, the horror of the 2nd world war and holocaust are the grim reminder of uncontrolled nationalism, and globalisation and interconnected world (which is not going anywhere), continue to challenge the state's nationalism or any version of it. Media partnership can only be restored with the state only when she realises her sacred duty and responsibility.

Citation

A Delicate Handshake Media Ownership - Politics of Convenience. (2019). Reporters Without Borders Retrieved from https://india.mom-rsf.org/en/findings/politicalaffiliations/

Ansari, H. (2019, March 10). *Journalism and the Media's Crisis of Credibility in an Age of Strident Nationalism.* The Wire. In. https://thewire.in/media/india-media-nationalism

Anubhav. (2019, August 27). *Democratization of Information : The age of alternate media.* Opindia News. https://www.opindia.com/2018/08/democratization-of-information-the-age-of-alternate-media/

Berglund, H. (2015). Media and Nationalism in India: Reflections on the Narendra Modi Government.*Asian Politics and Policy, 7(3), 502–505*. https://doi.org/10.1111/aspp.12194

Bhatia, S. (2019, February 28). *Indian TV Media' s Blatant Endorsement of Hyper- Nationalism Is Shameful*. Thewire. In. https://thewire.in/media/indian-tv-medias-blatant-endorsement-of-hyper-nationalism-is-shameful

Chatterjee, P. (1991). Whose Imagined Community? *Millennium - Journal of International Studies*. https://doi.org/10.1177/03058298910200030601

Dutta, A. N. (2019, March 31). *Indian media controlled by a few, a risk to press freedom and pluralism : Study.* Theprint. In. https://theprint.in/india/indian-media-controlled-by-a-few-a-risk-to-press-freedom-and-pluralism-study/243285/

Ghosh, J. (2017). Indira Gandhi'S Call of Emergency and Press Censorship in India: the Ethical Parameters Revisited.*Global Media Journal, June edition, 1–15*.

Ghosh, P. (2016, April 25). *Alternative media's changing rules of the game, but is it enough ?* Hindustantimes.Com.https://www.hindustanties.com/india/alternative-media-changing-rules-of-the-game-but-is-it-enough/story 6eoy1bUszsRG4CCXDKz7IM.html

Iyengar, R. (2017, May 3). *A pre-Independence history of press freedom in India*. TheIndianExpress.com. https://indianexpress.com/article/research/a-pre-independence-history-of-press-freedom-in-india/

Jain K. (2007). *Gods in the Bazaar: The Economies of Indian Calendar Art*. Duke University Press Books

Jha, R. S. (2016, June 22). *India's free press problem: politics and corporate interests invade journalism*. Www.Cjfe.Org. https://www.cjfe.org/indias_free_press_problem

Kumar, R. (2019, August 2). *India's Media Can't Speak Truth to Power*. ForeignPolicy.com. https://foreignpolicy.com/2019/08/02/indias-media-cant-speak-truth-to-power-modi-bjp-journalism/

Malik, A. (2016, May 16). *25 years after liberalisation, what' s happened to Indian media ?* Newslaundry.Com. https://www.newslaundry.com/2016/05/16/25-years-after-liberalisation-whats-happened-to-indian-media

Meghnad. (2020, Mar 13). *Bloodlust TV: Sudhir Chaudhary's campaign of hate, powered by Sensodyne*. Newslaundry.com. https://www.newslaundry.com/2020/03/13/bloodlust-tv-sudhir-chaudharys-campaign-of-hate-powered-by-sensodyne

Ray, G. (2010, January 10). *THE CHANGING FACE OF INDIAN MEDIA*. The Tribune.

Shekhawat, A. (2017). The Crucial Role of Media in Strengthening Democracy - Analysis of New Media's Roles, Responsibilities and Challenges in the World's Largest Democracy.*IISUniversity, JOA - Journal of Arts, Vol.6 (1), 27-39*http://iisjoa.org/sites/default/files/iisjoa/2017/PDF/4.%20Aparna%20Shekhawat.pdf

Sohn, P. J. (2018, Nov 16). *What Is Nationalism ? A Nation ? A Nationalist ?* E-Ir.Info. https://www.e-ir.info/2018/11/16/what-is-nationalism-a-nation-a-nationalist/

Sonwalkar, P. (2015). Indian Journalism in the Colonial Crucible: A nineteenth-century story of political protest. *Journalism Studies*. https://doi.org/10.1080/1461670X.2015.1054159

SUTHERLAND, C. (2012, Jan 17). *Nationalism in the 21st Century*. E-Ir.Info. https://www.e-ir.info/2012/01/17/nationalism-in-the-21st-century/

Tripathi, P. (2018). Mini Chandran, The Writer, the Reader and the State: Literary Censorship in India. *Literature & History*. https://doi.org/10.1177/0306197318795798n

Udupa, S. (2015). *Making News in Global India: Media, Publics, Politics*. Cambridge: Cambridge University Press. doi:10.1017/CBO9781316163023

References and Endnote

1. Benedict Anderson talked about the print capitalism in the context of the historical development of the nationalism.
2. The India's first newspaper was started by James Augustus Hicky called Hicky's Bengal Gazette, on January 29, 1780.
3. There were 16 regional languages and 33 English language publications by the year 1830.
4. See, Madan A. (2019). "India's Not-So-Free Media." thediplomat.com [Website], Jan 23. https://thediplomat.com/2019/01/indias-not-so-free-media/
5. See, Kant R. (2018). "Collective hypocrisy or selective bias: Why Indian media reports the way it does?" medium.com[Website], May 11. https://medium.com/@LegalKant/collective-hypocrisy-or-selective-bias-why-indian-media-reports-the-way-it-does-3df91f39e2c5
6. See, Thussu D. (2019). "Why is Indian journalism not an influential voice in global media (and how can it be one)?" scroll.in [Website], Jun 06. https://scroll.in/article/925977/why-is-indian-journalism-not-an-influential-voice-in-global-media-and-how-can-it-be-one
7. See, Jaimine. (2019). "Impact of Hindu Nationalism on Media Freedom and Freedom of Speech." Youth Ki Awaaz[website].https://www.youthkiawaaz.com/2019/04/impact-of-hindu-nationazism-nationalism-on-media-freedom-and-freedom-of-speech/
8. See, Sharma K. (2019). "The Readers' Editor writes: After Pulwama, IAF strike, media did not ask even the obvious questions." scroll.in [Website], Mar 01. https://scroll.in/article/914956/the-readers-editor-writes-after-pulwama-iaf-strike-media-did-not-ask-even-the-obvious-questions

9. See, Ninan S. (2019). "How India's Media Landscape Changed Over Five Years." The India Forum [website], JUNE 7. https://www.theindiaforum.in/article/how-indias-media-landscape-changed-over-five-years
10. Assumed role because it is nowhere mentioned in the constitution of India about the duties or the obligation of media as the 4th pillar of democracy, but it is just universaliter acceptos.
11. See, https://rsf.org/en/ranking_table (reporters without Borders)
12. See, Ram, N. (2001). "The Great Indian Media Bazaar: Emerging Trends and Issues for the Future- Another Millennium?" New Delhi: Penguin Books
13. See, Justice G.N. Ray addressed Press Council of India on "Media Ethics," on 18th January 2007 at IIMC, Dhenkanal, Orissa.
14. See, Poojitha V. (2010). "Present Day Media and Ethics." YouthkiAwaaz.com [Website], Dec. https://www.youthkiawaaz.com/2010/12/media-and-ethics/
15. See, Kant R. (2018). "Collective hypocrisy or selective bias: Why Indian media reports the way it does?" medium.com [Website], May 11. https://medium.com/@LegalKant/collective-hypocrisy-or-selective-bias-why-indian-media-reports-the-way-it-does-3df91f39e2c5

●

DIGITAL COMPANIONSHIP AND ALONE-TOGETHER – A NEW DEMOGRAPHIC INDULGENCE

DR. NEHA PANDEY*

The ability to communicate has always been an exciting area of research and analysis. The technological advancements have given new tentacles making it more fascinating and challenging both. The navigation rules have been adjusted and adapted according to real-time and screen-time needs. Cyberspace as described by William Gibson is a consensual hallucination and digital devices the means to reach there.

Digital citizens/digital natives prefer the company of digital devices as a close and preferable all-inclusive useful object/companions. It has vehemently entered the private space of our homes and even more, minds. As mind is the social organ of our body, it can be said that digital-devices has provided a new kind of digital-substitute for human beings, to some extent, in McLuhan phraseology.

Communication as a social process has camouflaged into a digital social process whereby the prosumers are alone-together in this communication meta-ecology. In today's society, what does it mean to be human, is the bigger, deeper question. This opens a whole domain of speculation on disembodied rationality, virtual sphere, identity multiplicity, social exclusion and alone-together. [1]

On one side newer generalization of uses and gratification theory rules supreme but also interesting tenets can be filtered out and rebuilt to reposition the McLuhan argument of communication technology as extensions of man. The latest addition being that of digital-dialogue companions. Past research suggests the digital companionship provides an alternative account of the extensive usage of our smartphones and the range of resulting behaviours: not in terms of addictive and pathological behaviour, but as a multifaceted, meaningful relationship. Hence, researchers agree with the idea of devices to be extensions of ourselves or our cognitive capacity.[2]

In an increasingly technology-textured environment, smart, intelligent and responsive technology has enthused onto the body of many individuals. Mobile phones, smart watches, and wearable activity trackers (WATs) are some of the technologies that are guiding, nudging, monitoring, and reminding individuals in their day-to-day lives. These devices are intended to enhance and support their human users, however, there is a lack of attention to the unintended consequences, the technology non-neutrality and the darker sides of becoming human-tech hybrids.[3]

Smartphone Addiction

Recent studies have pointed that extensive usage of mobile phones is not only a habitual mistake but a growing concern and an evolving health threat of magnanimous proportions.

Nomophobia is a projected name for the phobia of being out of mobile phone contact. It has been considered as a warning sign or syndrome of problematic digital media use in mental health.[4]

While a smartphone, tablet, laptop or computer can be an incredibly productive tool, compulsive use of these devices can hinder with work, school, and disrupt relationships. When one spends more time on social media or playing games than on interacting with people in real world, or can't stop oneself from repeatedly checking texts, emails, or apps—even when it has negative consequences—it may be time to reassess and evaluate one's technology use.[5]While one needs technology to survive in a modern social world, a severe over reliance on technology—or an addiction to certain facets of its use—can also be socially devastating.[6]

Smartphone addiction or "nomophobia" (fear of being without a mobile phone), is often fueled by an Internet overuse problem or Internet addiction disorder. After all, it's rarely the phone or tablet itself that creates the compulsion, but rather the games, apps, sea of hypertexts and links, ads, videos and online worlds it connects to. It is like the complete set of attributes and their summative gains that make these technologies more lucrative and harder to keep at bay.

* Assistant Professor, Deptt. Of Journalism & Mass Communication, Banaras Hindu University, Varanasi

Other clinical characteristics of nomophobia are a considerably decreased number of face-to-face interactions with humans, replaced by a growing preference for communication through technological interfaces, keeping the device in reach when sleeping and never turned off, and looking at the phone screen frequently to avoid missing any message, phone call, or notification (also called ringxiety).[7] Nomophobia can also lead to an increase of debt due to the excessive use of data and the different devices the person can have. Nomophobia may also lead to physical issues such as sore elbows, hands, and necks due to repetitive use. **77%** of United States teens are nomophobic, making it the biggest phobia effecting teens.[8]

Any addiction has its hard-hitting consequences which seems harmless and invisible to the users. Smartphone addiction includes a variety of impulse-control problems, including virtual relationships**,** addiction to social networking, dating apps, texting, and messaging and can extend to the point where virtual, online friends become more important than real-life associations.

The Petit Jardin restaurant in the quiet village of Saint-Guilhem-le-Désert in southern France has been in the news for banning mobile phone use according a report published in The Local fr titled 'French restaurant bans mobile phones at the table… and ketchup and Coca-Cola'.[9] The owner of a restaurant in the south of France has made the national headlines after he imposed a ban on diners using their mobile phones in a bid to make the atmosphere more convivial. It is a healthy experiment. It is an annoying trend whereby people sitting together in a restaurant ignore each other and engage with their smartphones instead.

Another concern is relationship-substitution. While the Internet can be a great place to meet new people, reconnect with old friends, or even begin romantic relationships, online relationships are not a healthy substitute for real-life interactions. Advocates of online relationships find online friendships appealing as they tend to exist in a bubble, not subject to the same demands or stresses as messy, real-world relationships.

Information overload and lack of authentic knowledge-base, web of fake news are other pivotal concerns. Compulsive web surfing, watching videos, surveillance, playing games, or checking news feeds can lead to lower productivity at work or school and isolate one for hours at a time. Compulsive use of the internet and smartphone apps can become a fertile ground to neglect other aspects of life, from real-world relationships to hobbies and social pursuits.

Compulsive use of Internet pornography, sexting, or adult messaging services can impact negatively overall emotional health. The Internet makes it more accessible, relatively anonymous, and very convenient. A whole lot of cybercrimes including cyber stalking, trolling, etc. are already on a rise raising new alarms related to safety and security of men, women and children alike.

Online compulsions**,** such as gaming, gambling, stock trading, online shopping, or bidding on auction sites like eBay can often lead to financial and job-related problems. While gambling addiction has been a well-documented problem for years, the availability of Internet gambling has made gambling far more accessible. Compulsive stock trading or online shopping can be just as financially and socially damaging. eBay addicts may wake up at strange hours in order to be online for the last remaining minutes of an auction. This in turn makes one vulnerable to a whole new set of financial scams and hacks if one is not vigilant and security expert.

Causes and effects of Smartphone and Internet addiction

While one experiences impulse-control problems with a laptop or desktop computer, the size and convenience of smartphones and tablets provides an easily accessible bridge to gratify compulsions at any time. Like the use of drugs and alcohol, mobile use triggers the release of the brain chemical dopamine and alters mood. It has both social and bio-chemical repercussions. Gradually, the human body gets attuned to build up tolerance so that it takes more and more time in front of these screens to derive the same pleasurable reward.

Heavy smartphone use can often be symptomatic of other underlying problems, such as stress, anxiety, depression, or loneliness. At the same time, it can also exacerbate these problems. Smartphone is used as a "security blanket" to relieve feelings of anxiety, loneliness, or awkwardness in social situations. Staring at your phone denies the face-to-face interactions that can help to cultivate and is often the first step towards a meaningfully connectedness, and also alleviates anxiety and even makes it worse.

This debate has other positive sides too. Mobile communication can be considered as an extension of human communicative competencies as it resolves the constraints of time and collocation. Thus, mobile communication enables constant contact with family and friends, thereby increasing social connectedness and contributing to the gratification of fundamental human needs and allowing for multi-faceted ways of interacting, smartphones seem to fulfil the requirements of asocial actor to an even higher degree.

Aim

The study aims to highlight users' perception about the meanings which they assign to these digital companions and whether context-dependency is building up new digital relationships.

Objectives

The objectives of the study were:

- To map out the usage trends of mobile phones among users;
- To explore the relationship between users and devices;
- To elaborate the psycho-social reasons for digital usage, interactions, addiction and companionship; and
- To suggest combat mechanisms for digital natives.

Method

A mixed research methodology has been used as the present study involved collecting, analyzing and integrating quantitative and qualitative research. An online survey was carried out among the digital users in India (790) to map out the overall pattern of mobile-phone usage. It included self-report measures on preferential positioning of devices, family members, friends; thereby assessing the closeness to technical devices and human beings.

Also, a semi-structured interview was conducted on 40 subjects of Banaras Hindu University to gain a deeper understanding of the meaning of digital addiction versus companionship. Also, expert interview was scheduled to delve deeper into the reasons for such usage. Secondary research material was also used to highlight certain trends.

Observation/Findings

- **Usage Trends and Companionship**

72% of the respondents accepted that they spent more than five hours on their mobile phones, 18% said usage was almost 1-5 hours and 10% used it for an hour or less. The frequency and duration of staring the digital screen revealed some astonishing facts. People accepted taking a glance on and off their phones every few minutes. 67% of respondents slept with their mobile phones keeping it at an approachable distance and checked it the first thing in the morning, even before exchanging morning greetings with family. Not only this, they checked it three-four times whenever they woke up, calling it as mobile-calling.

This utopian device has multiplicity of usages, whether it is texting, email, music, browsing, or navigation. Smartphones are technological devices offering a wealth of functions supporting their users in everyday lives and thus acting as their companions.

Even the new additions like Siri, Alexa have given them a lot of space. Respondents argued talking with them is very rewarding as voice is always pleasant and soft to the years. Artificial intelligence and unexpected answers at times, keep people hooked to these devices. Audio books help them to extend their ears and many soft skills are also sharpened by YouTube videos. The links and the related comments become the starting point for next level of interaction and closeness.

Online gaming and chat options have increased mobile-phone dependency by providing a dual reward of satisfaction and companionship. Some respondents even reported anxiety and restlessness at the incidents of loss of their handsets and compared it to a period of frustration, gloom and sadness.

For adults(35-50 years), Smartphones serve as the role of digital assistant, whether it is navigation, banking, keeping notes, reminder-settings, cooking videos, online education, courses, watching on the go, tickets booking, bills payment, travel packages, and so on. They are aware about the harmful pool in which young children drown themselves in the veil of online games like blue whale challenge, pass out challenge, salt and ice challenge to name a few. For them, monitoring and surveillance is best way to keep children under control. Coming to the social events, digital devices for sure are not a substitute for real-time acquaintances. On the other hand, it helps them keeping connected with those with whom they could not interact on real-time.

Also, video calling is the most adorable usage as parents of all ages love to see their child and relatives and group calls are an icing on the cake.

- **Reasons for digital dependency**

It cannot be denied that digital dependency is the new street and real-time attention the biggest currency. It has a solid justification which cannot be brushed aside. By incorporating a variety of features, which previously had been distributed over a range of devices, smartphone distribution as well as usage have increased sharply. This all-inclusive feature is the biggest attraction towards attainment and satisfaction.

According to displacement theory, the smartphone outperforms the older, less efficient devices, and replaces their functionalities resulting in an increase in the time of usage. Thus, intensive usage seems to be rather a consequence of displacement than a proof of addiction, at first. However, current research tends to stress problematic and addictive phone use just as it has been done with regard to the Internet in general or specific online services (particularly Facebook).[10]

The present study has a mix of both the tenets of dependency and displacement as well as addiction and companionship. Smartphones are able to accompany their users throughout the day and performing many functions for them from education to entertainment, banking to taxing, shopping to linking, chatting to video calling, secret messages to narcissistic posts and the list seems endless.

According to experts, these functions can be traced and linked to underlying fundamental psychological needs resulting in our basic postulate of the smartphone to be to its owner not mere technical equipment but rather a "digital companion". This virtual empowerment adds to a sense of self-containment, self-surveillance and self-sufficiency.[11]

Conclusions

In today's digital ecology, it can be deduced that identities can be composed, created and experimented with. The exhilaration of virtual existence and experience comes from the sense of transcendence and liberation from the real realities. The boundaries of self are defined through numerous filters, content as well as tech-supportive apps and software. New identities, mobile identities and exploratory identities are created every day. It leads to crisis of self-identity at times affecting man's relationship with self and society in general. In this front, there is dissociation and disengagement, withdrawal and solipsism. The technological domain readily becomes a world of its own, dissociated from the gravity, demands and complexity of the real world.

Undoubtedly, modern smartphones meet requirements of a "social actor" to an even greater extent: Ubiquitous in everyday life, they offer more varied opportunities of interactions and a multitude of cues (vocal and visual signals, sounds, vibrations, and notifications).

This all have a multiplier effect when parents, friends, families and colleagues are all hooked with their own digital companions forcing other to repeat. WhatsApp status, Instagram posts come to define our real time and virtual status.

Sharp contrast among the assigned usages of digital companionship was reported which again questions the viability of digital relationships and its different implications for different people across socio-cultural milieu.

A cautious and conscious use of mind and logic is the base of any relationship. The same holds true for digital companionship. Use it for its virtues and stay human in this digital space. Self-surveillance is the cue to identity reconstruction. Screen life is an addition and not a substitute to our existence and real identity.

References

1. Turkle S, Alone Together, Basic Books Inc, New York, 2011, pp. 33-40
2. Turkle S, The Second Self: Computers and the Human Spirit, MIT Press, London, 20th ed 2005, pp 35-70
3. https://www.frontiersin.org/articles/10.3389/fpsyg.2018.01432/full
4. https://www.researchgate.net/publication/332674191_NOMOPHOBIA_NO_MObile_PHone_PhoBIA
5. https://www.helpguide.org/articles/addictions/smartphone-addiction.htm
6. https://www.hazeldenbettyford.org/articles/fcd/teen-technology-addiction
7. Bragazzi, N. L., & G. D. Puenete (2014). A proposal for including nomophobia in the new DSM-V. Psychology Research and Behavior Management 7. 155-160.
8. https://www.rawhide.org/blog/infographics/teen-smartphone-addiction/
9. https://www.thelocal.fr/20171003/french-restaurant-bans-mobile-phones-and-ketchup-and-coca-cola
10. http://irep.ntu.ac.uk/id/eprint/35216/1/12773_Binder.pdf
11. Reid J Allan, The Smartphone Paradox, Palgrave Macmillan, Switzerland, 1st ed. 2018, pp 71-75

RELATED RESEARCHES ON EDUCATIONAL ASPIRATION: A REVIEW

*KHUSHABOO VERMA*AND G.C. BHATTACHARYA***

Education defined in Big Indonesian Dictionary (1991) as "A learning process for the individual to attain knowledge and understanding of the higher specific objects and specific. The knowledge gained formally resulting individual has a pattern of thought and behavior in accordance with the education they have gained."[1]. According to Marriam-Webster Dictionary-"Aspiration is an intense desire to achieve something to high or great."[2] Education is an important variable in forming students' aspirations and help students to become more knowledgeable about the world. "Some possible determinants of educational aspirations are background factors, personal factors and environmental factors. Background factors comprised of social and demographic attributes such as age, gender, socio-economic status and family structure. The personal factors are psychological in nature which is composed of an individual's personal attitude towards education, school and work. The environmental factors include aspects of social support as parental involvement, affecting the individual".[3]

Educational aspirations have been studied exhaustively in different disciplines while data on educational aspirations is comparatively easily accessible; there is no common agreement as to how the concept should be measured. Most commonly, survey participants are asked to choose between different educational alternatives in response to questions asked to collect information on their idealistic and realistic aspirations.[4]

It is supposed that western culture has a more or less influence on the aims, ideals, teaching methods and the whole education system in India. Thus, the studies reviewed have been classified into two broad categories i.e. studies conducted in India and outside India to get relevant clues pertaining to the present variable.

Studies conducted in India

These recent studies may help us to analyse and examine taking into account the variable selected.

Sharma & Kaushik (2008)[5] studied on distant learners' educational aspiration and their home condition. They found that male distant learners had high level of aspiration as compared to female counterpart whereas the female distant learners had better home conditions. Another study based on gender showed that girls become more panic in the condition of stress and feel lot of pressure to achieve good marks in the exams though there was an insignificant gender difference in educational and vocational aspirations of the students (D Souza, 2011).[6]

Kaur, (2012)[7] studied educational aspiration of the secondary school students with their intelligence level. Study revealed that increasing intelligence level leads to the higher educational aspiration. Study also revealed that there is not much influence of gender and school type on the educational aspiration of the secondary school students.

Mishra, (2013)[8] studied on science attitude as a determinant to educational aspiration and found that there was a positive low correlation between science attitude and educational aspiration. The study also concluded that in relation to gender there was no significant difference in science attitude and educational aspiration.

Income level or background of the family does not matter while determining students' educational aspiration. It was also revealed by this study and parents need to be made aware of the various positive and negative reinforcement mechanisms that can be helpful in enhancing educational aspirations of their children.(Rajesh & Chandrasekaran, 2014).[9]

Another study revealed that UP Board students showed higher educational aspiration than CBSE Board students. The study also explored that how the personality traits, adjustment and educational aspiration are correlated to create appropriate environment for the study further the study sets that all dimensions of environment play important role to

∗ Research Scholar, Faculty of Education(K), Banaras Hindu University, Varanasi
∗∗ Professor (Retd.), Faculty of Education(K), Banaras Hindu University, Varanasi

provide experiences necessary to generate personality traits, adjustment and varied levels of aspirations including educational aspiration (Gihar & Sharma, 2015).[10]

Lenka & Kant (2016)[11] conducted a study on 'Educational Aspiration of Special Needs Students in Relation to Some Factors'. They found that level of educational aspirations is higher in case of visually challenged children who were studying in regular schools than in special schools. Study also emphasize that special schools play important role because they provide special study environment and teaching techniques for special needs students.

Study of self efficacy with the variables educational aspiration and academic achievement showed that there was a positive correlation between these variables. The study also depicted that girls scored higher than boys (Ahuja, 2016).[12] There was significant difference between school environment of rural and urban secondary school students and positive significant relationship was reported between educational aspiration of secondary school students with their school environment (Bashir & Kaur, 2017).[13] Another study depicted about theoretical approaches and development of techniques for raising high aspirations in students. It explored how the educational aspirations motivate students to work harder and achieve more. Contribution of aspirations was very high for achievement and enhanced outcomes.(Sarita& Kumari, 2017).[14] Educational and occupational aspiration of students of two different boards varied significantly (Yadav, 2017).[15] Children with special need aspire to study science but this subject was found difficult for them due to their sensory restriction. They showed positive attitude towards science. "There are some specific difficulties that are faced only by SWD, such as, drawing and visualizing diagrams, revision, doing practicals, lack of laboratory facilities, lack of knowledge of English, disturbance due to medical treatment, doing activities that need locomotion or prolonged sitting, and responding verbally."(Sharma & Chunawala).[16]

Educational aspiration plays an important role in determining the academic achievement of the students. Study suggested that academic achievement of the urban students differs significantly from rural students and gender does not play important role in educational attainment of students (Ali, 2018).[17] In a research study done by Salgotra and Roma (2018)[18], two variables, educational aspirations and socioeconomic status were taken for conducting the study. The study was conducted on secondary school students. Educational aspirations were found to be highly influenced by parental socioeconomic status and they found that educational aspiration and socioeconomic status were directly related to each other.

A study conducted on home science university students revealed that majority of the undergraduate students wanted to do master of home science (MHSc) while post graduate students wanted to do PhD and PhD students wanted to do postgraduate diploma (Neog & Nityashree, 2018)[19].

Studies conducted outside India

A Study on Educational Aspirations of Students in Rural America done by Haas, Toni, (1992)[20] reported on comparison between young rural American students and other students and suggested that communities should work together for betterment of the students. Study also explored the aspiration and its related factors like schooling outcome, poverty and dropping out of school. Rural students are prone to poor schooling outcomes and lower educational aspirations. A study on gifted adolescents' educational aspiration revealed that most of the students want to pursue bachelor's degree. Study further stated that vocational counseling of gifted students can be done by knowing their educational aspiration (McWhirter, et.al,1996).[21]

Garg, Kauppi, Lewko, Urajnik (2002)[22] presented a Structural Model of Educational Aspirations which depicted that student's personal aspects like marks achieved in school and educational opportunity provided by the parents had a great influence on educational aspirations of the students. Study conducted by Seginer & Vermulst (2002)[23] on family background, perceived parental support and demandingness, educational aspirations, and academic achievement was based on four-step hierarchical Model of academic achievement. The study was conducted for two cultural settings which suggested that family background had direct and indirect effects on the academic achievement of the Arab students but Jewish students did not show such kind of effect. Specific dimensions of personality and interests were jointly predict the educational aspiration of college students which may relate to aspiring higher levels of education (Gasser, Larson & Borgen (2004).[24]

Salami, (2008)[25] studied various determinants of Educational Aspirations like roles of personality,

vocational interests, academic achievement and some socio-cultural factors in secondary school students and concluded that higher value of all the above mentioned determinants are responsible for higher levels of educational aspirations. A Study on educational satisfaction and aspiration among mental health clients was undertaken which revealed that higher educational aspiration was found in those clients who expressed a desire for more education while more educated mental health clients showed higher educational satisfaction (Rich & Delgado, 2010).[26] At lower level, correlation of Educational Aspiration of students' with their mother's education was more strong than father's education while at higher level it was more associated with father's education. Social support from the mother and friends was not related with educational aspiration. The study also explores the connection between socioeconomic environment, school-related factors and educational aspirations among adolescents. Using survey data taken from secondary school students, there was an association established between health, socioeconomic background, school-related factors, social support and adolescents' sense of coherence and educational aspirations among adolescents from different educational tracks (Geckova et al ,2010).[27] Another study explored the family and community factor which influence the educational aspiration of students at micro and macro level. The study also suggested the interventional strategies to increase educational aspirations and educational achievement among students (Nichols et al, 2010).[28] The study done by Kintrea, Clair & Houston (2011)[29] investigated to determine how the parents attitude, school environment, surrounding and poverty impart a great effect in shaping the Educational Aspiration in students. The study also suggested that interventional strategies should be reconsidered.

Lewis et al (2011)[30] explored that how parental expectations play an important role in determining the educational aspiration in adolescents. The study reveals that up to some extent educational aspiration of the adolescents can be predicted by parental expectations. The study done by Mora & Oreopoulos (2011)[31] revealed the peers influence on dropout intentions by estimating the effects of education aspirations of non-reciprocating friends on students' own education aspirations. How the birth order effects educational attainment and educational aspiration in adolescents, it was explored by this study. There was no direct effect of birth order on the educational attainment but indirect effect was seen easily which was higher in females. Bu, Feifei (2014).[32]

Moreland (2015)[33] conducted a study on the teachers who teach science to Visually Impaired Students. The study explores the teacher's training to use the assistive technology, teacher's attitude and perception towards Visually Impaired Students. The study also implies that there is need of more training of the teachers regarding use of assistive technology for the betterment of visually impaired students. There was a study based on minority adolescents which examined the educational aspiration in relation to school climate and academic achievement. Study reported that there was no positive association between teacher-rated school climate and educational features examined by the researcher (Dimitrova, et al, 2018).[34]

The major concern of Essex (2018)[35] study was on science outreach program, inclusion and special education need students. The study suggested that although there is policy reform in UK, but still science plays a great role for SEN students to succeed in career. There was a study which explored the differences between young non adopted and adopted young from the public care system or living with birth/step-parents on psychological well-being, educational aspiration and desired occupation. Adopted young people showed higher difficulties scores than non adopted population. Adopted children were intended to seek full-time work at the end of compulsory schooling. (Brown, et al, 2019).[36]

Conclusion

After analysis of the findings of these studies, it is obvious to conclude that in Indian context most of the early studies were focused on comparison of adolescent boys and girls educational aspiration in relation to their socio-economic background and intelligence. Some studies had taken into consideration of educational aspiration of special children also. Personality traits and locality of the schools were also found as important determinants for educational aspiration. In foreign studies, lot of work has been done, in various studies and major determining factors were family and parental attitude while subsequently main concern of studies were school atmosphere and peer group as important factors. Studies conducted in the present decade is more concerned with the students

with special educational need. This emerging trend was observed specially during the past few years.

References

1. https://www.google.com/search?ei=bAovXaqTGduS9QPt_IOYDA&q=definition+of+education+by+big+indonesian+dictionary+%281991%29&oq=definition+of+education+by+big+indo&gs_l=psy-ab.3.0.33i22i29i30.49913.62841..67849...0.0..0.553.3644.-6j5j0j1.....0....1..gws-wiz.....0i71j0j0i67j0i22i30j33i160.FlBUJ7k5ta4
2. https://psychology.wikia.org/wiki/Educational_aspirations
3. Chawla, M. (2018). A Study of Educational Aspirations of Secondary School Students in relation to their Achievement Scores. International Journal of Research in Social Sciences, 8(*4*),1-9.
4. Trebbels, M. (2014). The Concepts of Educational Aspiration. The Transition At The End Of Compulsory Full-Time Education. Chapter 1, pp. 37-45.
5. Sharma, P. & Kaushik,N. (2008). Level of Aspirations and Home Conditions of Distant Learners In The Context Of Their Sex. *Gyanodaya*, 1(*1*),34-38.
6. D Souza, G.(2011). Gender differences in stress, academic achievement, educational and vocational aspirations in students of standard X. Educational Quest 2 (3): 2011 : 369-373.
7. Kaur,P.(2012). Educational Aspirations Of Adolescents In Relation To Their Level of Intelligence. *International Multidisciplinary e-Journal*, 1(8), 37-43.
8. Savita Mishra, (2013). Science Attitude as a Determinant to Educational Aspiration in Students. *International Journal of Engineering Inventions*, 2*(9)*,29-33.
9. Rajesh & Chandrasekaran, (2014). Educational Aspirations of High School Students. *Indian Journal Of Applied Research, 4(12),4-6.*
10. Gihar & Sharma,2015.Impact Of Personality Traits On Adjustment And Education Aspiration Of Secondary Students. *Scholarly Research Journal For Humanity Science & English Language,* 2(*8*) pp.2[1]46-2154.
11. Lenka,S.K. & Kant, R.(2016). A Study of Educational Aspiration of Special Needs Students in Relation to Some Factors. Global Journal of Human-Social Science,16(*5*)1-6.
12. Ahuja, A. (2016). A Study of Self-Efficacy among Secondary School Students in relation to Educational Aspiration and Academic Achievement. *Educational Quest: An Int. J. of Education and Applied Social Sciences*, 7(3), 275-283.
13. Bashir & Kaur, (2017). A Study on Interrelation of Educational Aspiration with School Environment of Secondary School Students. *Educational Quest: An Int. J. of Education and Applied Social Science:* Vol. 8, Special Issue, pp. 269-275
14. Sarita & Kumari, N.(2017).Enhancing Better Outcomes of Student's Learning Through Educational Aspirations.
15. Yadav. C.(2017). Educational and Occupational Aspiration of C.B.S.E and B.S.E.B Students of Gaya. *Indian Journal of Human Relations*, 51 (*1*), 87-94.
16. Sharma & Chunawala, Students with Disabilities and Their Aspirations in Science.
17. Ali, I. (2018). Study Of Educational Aspiration And Academic Achievement Of Senior Secondary School Students In Relation To Gender And Area. *ZENITH International Journal of Multidisciplinary Research*, 8(*4*),34-38.
18. Salgotra, A.K. &Roma,K,(2018). Educational Aspiration and Socio-Economic Status among Secondary School Students. *IOSR Journal of Humanities And Social Science.23(3)*25-29.
19. Neog, J. & Nityashree,D.(2018). Educational aspirations of the home science students of University of Agricultural Sciences, Dharwad, Karnataka. *International Journal of Farm Science*, 8(*2*), 99-103.
20. Haas, Toni, (1992). What Can I Become: Educational Aspirations of Students in Rural America.
21. McWhirter,E.H. , Larson,L.M., Daniels, J,A.(1996). Predictors of Educational Aspirations Among Adolescent Gifted Student Of Color. *Journal Of Career Development*, 23(2).
22. Garg, Kauppi, Lewko, Urajnik (2002). A Structural Model of Educational Aspirations *Journal of Career Development.* 29(*2*), 87-108.
23. Seginer &Vermulst, (2002). Family Environment, Educational Aspirations, And Academic Achievement In Two Cultural Settings. Journ*al Of Cross-Cultural Psychology*, Vol. 33(*6*), 540-558.
24. Gasser C.E., Larson, L.M. & Borgen, F.H.(2004). Contributions of Personality and Interests to Explaining the Educational Aspirations of College Students. *Journal Of Career Assessment*, 12 (4), 347–365.
25. Salami,S. O. (2008). Roles of personality, vocational interests, academic achievement and socio-cultural factors in educational aspirations of secondary school adolescents in southwestern Nigeria. *Career Development International,* 13(7), 630-647
26. Rich & Delgado,(2010). Measurement of Vocational and Educational Aspiration and Satisfaction among Mental Health Clients. *International Journal of Psychosocial Rehabilitation.*15 *(2),*91-98.
27. GeckovA, A., Tavel P., Dijk, J. , Abel T., Reijneveld, S. (2010). Factors associated with educational aspirations among adolescents: cues to counteract socioeconomic differences?. *BMC Public Health. pp.*1-9.
28. Nichols, T.M., Kotchick, B.A., Barry, C.Mc.N., Haskins, D.G. (2010). Understanding the Educational Aspirations of African American Adolescents: Child, Family, and

Community Factors. Journal Of Black Psychology, 36(*1*), 25-48.

29. Kintrea, Clair & Houston,(2011).The influence of parents, places and poverty on educational attitudes and aspirations.

30. R. K. Lewis, Kirk C.M., Nilsen C. & Colvin D.Q.(2011).The role of parent expectations on adolescent educational aspirations. *Educational Studies,* 37(1), 89–99.

31. Mora & Oreopoulos, (2011). Peer effects on high school aspirations: Evidence from a sample of close and not-so-close friends. Economics of Education Review. 30(*4*), 575-581.

32. Bu, Feifei (2014).Sibling configurations, educational aspiration and attainment. ISER Working Paper Series, No. 2014-11.

33. Moreland, L.M.,(2015). Science for Visually Impaired Students and Accessible Technology. Marshall Digital Scholar.pp.1-45.

34. Dimitrova, R., Wreder, L. & Ahlen, J.(2018). School Climate, Academic Achievement And Educational Aspirations In Roma Minority And Bulgarian Majority Adolescents. *Child Youth Care Forum,* 47, *645-658.*

35. Essex J. (2018). Why 'science for all' is only an aspiration: staff views of science for learners with Special Educational Needs and Disabilities. Support for Learning, 33(*1*),52-72.

36. Brown, A., Water's C.S. & Shelton K.H. (2019). The educational aspirations and psychological well-being of adopted young people in the UK. *Adoption & Fostering,* 43(*1*), 46–59.

●

AN ESSAY ON THE HISTORY, ORIGIN AND FLUIDITY OF THE TERM GENDER.

DR. SEEMA TIWARI*

The word Gender has become a much discussed term in public and academic discourse. However there is a lack of understanding about the origin and history of this term. Generally by the term gender we assume it to mean the male or female. Hence there is a need to look at this term in depth to gain a better understanding. The following is a humble attempt to do so.

History [1]

The word Gender has its origin in the days of the Greek Philosophers. According to Aristotle the word Gender was first used by the Greek Philosopher "Protagoras" as a grammatical concept for assigning specific categories to Nouns i.e. masculine gender, feminine gender and neuter gender.[1] (Aristotle (2004) Rhetoric. Translated by Roberts, William Rhys. (2004) "A fourth rule is to observe Protagoras' classification of nouns into male, female and inanimate.). Indeed during most of human history, in fact, as late as early 20th Century it was used merely as a grammatical concept. In 1926, Henry Watson Fowler stated "Gender....is a grammatical term only. To talk of persons.....of the masculine or feminine gender, meaning of the male or female sex is either a jocularity or a blunder".[1] (Fowler's Modern English Usage, 1926: p. 211.)

It was only in the recent modern times around 1950s and 1960s that it began to be used in a cultural construct. In 1955, the sexologist, John Money defined Gender, "all those things that a person says or does to disclose himself as having the status of boy or man, girl or woman"[1] (Money, John; Hampson, Joan G; Hampson, John (October 1955). "An Examination of Some Basic Sexual Concepts: The Evidence of Human Hermaphroditism".)

The modern academic use of Gender as referring to social roles of men and women began in 1945. During the Feminist movement of the 1970s the word become popular as Feminism theory argued that human nature is basically epicene and that Gender as a social distinction based on sex are carelessly constructed social concepts.[1]

Another modern usage of the word Gender is as an alternative to Sex. In recent times attempts are made to maintain the difference between sex and Gender as in the following sentences[1]

a. The effectiveness of the medication appears to depend on the sex (not gender) of the patient.

b. In peasant societies, gender (not sex) roles are likely to be more clearly defined. (The American Heritage Dictionary of the English Language, 4th.Ed.2000).)

Meaning[5]

The word Gender immediately brings to mind the words "male - female", "boy-girl" and "man-women". We have taken these definitions of Gender for granted and use it freely in our day to day lives. It will thus be a surprise to most of us that the word Gender has no relations to the natural sex organs we are born with as individuals. While sex refers to the genitals or sex organs and their naturally occurring difference, Gender is a whole set of terms, terminology, attitudes, norms etc created around, given to and imposed on the genitals by society. While genitals are natural, Gender is artificial. While genitals serve separate natural functions Gender is a whole set of socially constructed bias created around the genitals.

Origin[6]

Gender is an aspect of Socialisation and Social Constructionism. It is a socially created identity based on certain standards or norms (Gender norms) which redefines a natural biological difference. The genital difference occurring naturally at birth is given separate specific identity, standard, quality, value and role to confirm to prevalent cultural attitudes and biases. Human Beings are social animals who live together as a society, interact within communities and between communities, using language to create social identities

* Associate Professor, Deptt. of Geography, Mahila MahaVidyalay, Banaras Hindu University, Varanasi

and norms. Particular objects and events are given meanings, notions or connotations (social constructs) by the society which is then adopted by members of that society to view or deal with that object or event. Using language to create norms and using these norms to build a perceived reality is identified in sociology as social Constructionism. Thus human realities, assumptions and beliefs are the artefacts/patterns fashioned by society through socially constructed discourses. The behaviour of the Individual in a society is influenced by what is regarded as acceptable or normal by the society and language is an important medium for this. Such social constructs are widely accepted as natural by the society and taught to and learnt by the next generation. This process whereby individuals in the society learn and teach the social and cultural norms of the society to ensure its continuity is termed in sociology as socialisation. It is a natural trait of Humans for learning their culture and to survive through social experiences by internalising the norms and ideologies of the society they are born into. It is a lifelong process and exercises a powerful influence on the behaviour, beliefs and actions of children and adults. Socialisation and social Constructionism therefore are important tools for the growth and development of Society. Gender norms are similarly created social constructs based on entrenched cultural norms of the society. Gender norms specify what is appropriate for either sex, declares one as being superior to the other, defines the right form of interaction between the two etc. These socially acceptable ways of gender behaviour are learnt from birth through childhood.[6]

A growing child learns about what is expected of its gender at home from its parents, at school from its teachers and friends and through religious and cultural teachings, from the media and other different social institutions. By the time the Child reaches adulthood it understands and accepts masculinity as appropriate behaviour for a man and femininity as appropriate behaviour for a woman, which in turn influence identity and social practices. This gender order also shapes the self perception of an individual determining how it feels and does. [6]

So to be born a man or a woman in any society is more than a simple biological fact-it is a biological fact with social consequences and implications. When a Baby is born, society categorises it into a "boy" or "girl" based on the baby's sexual organ or genital. Henceforth the baby is dressed and adorned in such a way that its category is fully displayed and others need not ask if the baby is a boy or girl. Thus a sex category becomes a gender difference through naming, dress and other gender markers. Once the baby's gender is known, people treat those babies belonging to one gender differently from those in the other gender. Gradually babies respond to the different treatment by feeling different and behaving differently. When they learn to talk they start referring to themselves as belonging to or being member of any one of the gender.[6]

A child has no notion of sex till it reaches puberty but by that time sexual feelings, desires and practices have become shaped by gendered norms and expectations.

Gender therefore is an artificial construct. It refers to those patterns of social relations based on the reproductive organ giving rise to the set of practices that bring the reproductive distinctions between bodies into the social processes. In other words, gender concerns the way human society deals with human bodies resulting in many consequences affecting our personal lives and our collective fate.

Gender therefore can be defined as a concept which describes

i. How society determines and manages sex categories.

ii. The cultural meanings attached to men and women's roles.

iii. How individuals understand their identities

Fluidity[1]

Apart from being an artificial concept based on biased and false perception, another important argument against the terminology and concept of Gender is that it has no universally accepted meaning and application. Societies all over the World create sets of social expectations around the biological differences between male and female which declare certain behaviours as right or wrong for men and women. However what is right or wrong for men or women varies from society to society. What is considered proper for female in one society may be considered improper in another. There is no common behaviour across all societies applicable for men or women. This shows that gender differences are arbitrary based on existing norms and perceptions of a particular society. (*Gender Outlaw – On Men, Women*

and the rest of us by Bornstein, Kate (1995). pp. 51–52)

Gender classification is based on types of identifications, feminine and masculine. However in reality there are also others identifications which cannot be classified into the traditional masculine and feminine category.-

a. Sex typed i.e. Males identifying with masculine traits and females identifying with female traits.

b. Cross sex –typed i.e. Males identifying with feminine traits and females identifying with male traits.

c. Androgynous i.e. either male or female who identify with both masculine and feminine traits.

d. Undifferentiated i.e. either male or female who identify with very little masculine and feminine traits

Thirdly humans have been biologically categorised into Male and Female. However the Author, Ms. Ann Fausto-sterling, in her book "The Five Sexes: why Male and Female are not enough" identifies, apart from male and female, at least four more human sex types as detailed below: [3]

a. Hermaphrodite i.e. individuals having both male and female sex organs and other characteristics.

b. Female pseudo-hermaphrodites i.e. individuals who have ovaries and some male genitalia but lack testes.

c. Male pseudo-hermaphrodites i.e. individuals who have testes and some female genitalia but lack ovaries.

d. There are many more categories of hermaphrodites with varying degrees and levels of genitalia development.

It is therefore very clear that norms and stereotypes derived from term and concept of Gender are not based on reality. Its very foundation is false, rests on faulty perception and biased attitudes.

Implications of Gendering[7, 8]

Women represent a distinct social group comprising almost 50% of the society. Individual women have shown their expertise in various fields proving to be no less capable than their male counterparts. Presented with equal opportunities to freely express their talents, women have shown mental and physical abilities that are at par with men, negating the Gender stereotype that their character and capabilities are related to their so called feminine nature. Nevertheless these achievements challenging Gender Stereotypes are trivialised and disregarded as individual exceptions.

Consequently the gender stereotype as a false narrative has continued unabated. Basically there are four fundamental kinds of gender stereotypes:-

a. Personality traits — one of the fundamental ideas of gender role is the belief that certain personality traits are associated with biological gender. So women are submissive, emotional while Men are aggressive, assertive and should learn to control their emotions. Because these are expected of them, one is forced to comply, otherwise invite ridicule from members of your social group. These create an internal conflict and leads to unhappiness with one's situation, depression, anxiety and low self-esteem. Also the idea that men are aggressive conditions women into accepting "relationship abuse" as normal.

b. Domestic behaviours — Women are expected to take care of children, cook, and clean the home, while men take care of finances, work on the car, and do the home repairs.

c. Occupations — it is a belief in society that people employed in some kind of jobs are required to be caring, comforting and have a serving behaviours and that Women by nature are more suited for this. Thus typically in such jobs we do not find a large number of male employments as for example Nursing and Flight Attendants. On the other hand Construction work and Police duties which require physical strength and toughness are more male dominated. Women also experience less pay, occupational segregation, denial of promotion to leadership, glass ceiling in different profession, and lower levels of equation and work opportunities.

d. Physical appearance — For example, women are expected to be thin and graceful, while men are expected to be tall and muscular. Men and women are also expected to dress and groom in ways that are stereotypical to their gender (men wearing pants and short hairstyles, women wearing dresses and make-up.

Gender stereotypes have resulted in a gendered social order in society, creating and establishing a power relationship between the two sexes. This in turn has shaped and is shaping:-

a. The relationship and behaviour between the two sexes

b. The behaviour of Society towards each sex.

c. How each sex feels about itself in comparison to the other.

In a male to female relationship, a sense of superiority exists in the male over the female and the female in many ways feels and is made to feel inferior to the male. The male always has an upper hand and tends to dominate both public and private space. At the work place male colleagues and superiors tend to regard females as mere sex objects. Many males avoid eye to eye contact when talking to their female counterparts or employees. Female staffs are often expected to do similar domestic chores as pouring and serving tea, removing plates and cups from the table, take care of decorations and wait upon male superiors. At home wives, even working wives are expected to attend to all domestic chores while the husband relaxes from a hard day's work. Even in public space it is considered normal for males to stare, pass comments, and stalk women. In all the above examples women accept and carry out their assigned gender roles indicating either acceptance of or powerlessness against or succumbing to, male gender superiority.

Society treats Males and Females differently and considers masculinity to be superior to femininity. Males are expected to dominate almost every field of public activity and women are relegated to a secondary place. Males are expected to protect and Females are expected to be dependent. Consequently an independent female is considered loose or free who can be intimidated or sexually exploited.

Males often feel a sense of superiority towards females and may appear patronising. Females also feel themselves to be inferior to Males and hold themselves back.

Challenging Gender Stereotypes[8,9]

There are many steps one can take to fight these gender stereotypes and enable everyone feel equal and valued as people irrespective of their individual gender.

i. As enlightened members of the society we must look out and identify gender stereotypes in our daily life, in our homes, in schools, work place, in the streets, in Magazines, TV, and Film etc. We should discuss these gender stereotypes with our family members, our schoolmates and friends, our colleagues and help them understand why this wrong. One should write to the concerned authorities and request them to take action. Educational Institutions can cultivate gender equality among young children and make them see and treat both genders as equals.

ii. Each one of us must be an example of Gender Equality and a role model. Each of us should practice respecting people regardless of gender identity.

iii. If some individual express her true quality regardless of what society's gender stereotypes and expectations are, then support her by not staring.

iv. If you yourself want to do something that is not normally expected from you by society and gender stereotype, if you feel it safe, then go ahead and give it a try.

Conclusion:-

From the above discussion it is clear that the term Gender is a misnomer that has come into daily use out of habit based on biased perception, misunderstanding and ignorance. Gender therefore is an artificial structure and is different from the biological difference. While biological difference may cause a female to hesitate from taking up a "man's job" she can do so if she has the interest and motivation as has been proved by many females. Similarly men can perform as well as women if not better in jobs considered as Women's turf. In today's world where majority of the population are Youths attitudes are changing. Gender stereotypes are considered old fashion and outdated. With better understanding of the background and history of "Gender" more and more people are discarding such attitudes. In times to come, Gender Stereotypes may come to be regarded as another of those behaviour types which after long use had become a habit that need to be given up. Hopefully this essay will contribute to the further dismantling of Gender stereotypes.

References:-

1. https://en.wikipedia.org/wiki/Gender
2. https://en.wikipedia.org/wiki/Gender_role
3. "The Five Sexes: why Male and Female are not enough" by Ms. Ann Fausto-sterling
4. https://en.wikipedia.org/wiki/Gender_identity
5. https://courses.lumenlearning.com/atd-hostos-childdevelopment/chapter/defining-sex-gender-and-sexuality/
6. https://www.researchgate.net/publication/ 283547838_AN_INTRODUCTION_TO_SOCIAL_CONS -TRUCTIONISM
7. https://othersociologist.com/sociology-of-gender/
8. https://www.tolerance.org/classroom-resources/tolerance-lessons/what-are-gender-stereotypes
9. https://www.unilever.com/sustainable-living/enhancing-livelihoods/opportunities-for-women/Challenging-harmful-gender-norms/

Further Reading.

I. https://en.wikipedia.org/wiki/Gender_history

II. http://employees.oneonta.edu/farberas/arth/arth200/gender.html

III. https://en.wikipedia.org/wiki/Gender_schema_theory

IV. https://www.history.ac.uk/ihr/Focus/Gender/articles.html

V. https://en.wikipedia.org/wiki/Gender

VI. https://www.plannedparenthood.org/learn/sexua-orientation-gender/gender-gender identity/whats-intersex

VII. http://www.asanet.org/news-events/asa-news/effects-gendered-occupational-roles-mens-and-womens-workplace-authority

●

OBSERVATIONAL STUDY OF RESPIRATORY DISEASE THROUGH RADIO-DIAGNOSTIC W.S.R TO PRANAVAHASROTAS

DR. A. K. DWIVEDI* DR. S.S. MISHRA ** DR. A. K. SINGH ***AND DR. P. MISHRA****

Chest radiography are still acquired with conventional film screen radiography systems that provide, at low cost, good image quality and high spatial resolution. Screening mean when X- ray pass through patient it form image on fluorescent screen[1]. However, the disadvantage of film-screen radiography are a limited exposure range, a relatively high retake rate and inflexibility of image display and manipulation. As computer technology increases and storage capacities have developed over recent year. The considerable advantage of digital imaging system have become increasingly. As a result, digital imaging system are now commonly used in radiology department. One of the most important advantages over conventional radiography is the wide dynamic range or latitude of the image plate-consequently, exposure errors are reduced and the need for repeat examinations is reduced. International Respiratory societies explain relation of pulmonary disease with air pollutant of environment like burning fuel, radon, industrial pollutant, tobacco. About 3 million of people die every year out of 65 million suffering from pulmonary disease.334 million people world wide suffer from asthma which contribute 14% in children .Pneumonia affect mainly children below 5 yr and result in death. Yearly out of 10 million people 1.4 million die due to tuberculosis. Lung carcinogen occur mainly due to smoke in the form of tobacco 1 billion, indoor 2 billion, 1 billion outdoor pollutant. Asthma occur mainly in lower socio economic group due to use of kerosene, firewood for cooking food[2]**.** WHO has set a goel to decrease mortality of non communicable disease to 30% by 2030.According to world health report 2010 every year approximately 100 million public trap into poverty due to excessive expenditure on health care[3]. Approximately 30% of death in low income group at the age of 60 yr due to non communicable disease whereas it is only 13 % in higher income group**.** A survey data from 2002-2007 say that children between age 13 to 15 yr among these 50% child suffer from asthma due to tobacco smoke. Also a survey from 1997- 2006 say that pulmonary disease contribute 12% infant death. Global status report 2010 propose a map though which reversing from non communicable disease by strength global and national by reducing risk factor like smoke pollutant , tobacco etc[4]. One among every fourth family borrow money for treatment and cough in poverty due to this NCD by selling property and asset[5].In India approximately one third income of a person spend on treatment of NCD[6]**.** If non communicable disease grow 10 % it lead to 0.5 % reduce the annual economic growth[7]. From 2005 to 2015 India lose I$ 237 billion mean 1.5 % of GDP on non communicable disease[8]**.** Radiological approach toward pulmonary disease mainly by four way firstly collapse or atelectasis in this condition loss of air produce radio opacity due to loss of volume second consolidation in this condition air space filling mean air replace by fluid radiologically radio opacity of ill define may be diffuse. Thirdly Nodule radio opacity may be single or multiple. Fourthly Interstitial in this reticular opacity or nodules may be coarse or fine type. The X-ray which we are using are electromagnetic radiation which behave as particle as well as wave[9]. Computed radiography or digital imaging use photo stimulable phosphor receptor plate. This phosphor plate store energy of x ray in the form of latent image. During scanning this plate with laser beam latent energy emit as light and detected by photomultiplier to convert it into digital signal. currently digital amorphous silicon X-ray detector radiography based on amorphous and caesium iodide commercially used also called as Direct Radiography are in use. Benefit of technology is high detection efficiency and fast image display. This photo stimulable phosphor based plate is reusable controlled digitally for specific anatomical part selected. It has wide latitude and range of imaging plate result in less error and repeated examination.

* Asstt. professor, Deptt. of ShalyaTantra , Faculty of Ayurveda, Institute of Medical Sciences, Banaras Hindu University, Varanasi
** Professor & Head Department of ShalyaTantra ,Faculty of Ayurveda,Institute of Medical Sciences, Banaras Hindu University, Varanasi
*** Medical officer(Indian Medicine), Section of Radiology (Indian Medicine), Sir Sunderlal Hospital, Banaras Hindu University, Varanasi
**** Jr III, Department of AgadTantra, VaidhyayagyaDutta Sharma Ayurveda Mahavidyalaya, Khurja

Aim: To asses the common type of Respiratory Disease With Special Reference to Pranavahasrotas through radio-Diagnostic (X-ray).

Material & Methods:-

The following procedure was adopted in all selected cases-on a special proforma patient name, age, sex and address was noted along with chief complain of the patient were noted along with duration, history of present illness, the mode of onset and the sequential changes, taking place in the illness were noted.. The past history was required to rule out the concurrence of any specific disease such as diabetes, syphilis, tuberculosis etc.

Radiographic examination of the lungs is performed for a wide variety of medical conditions including primary lung disease and pulmonary effects of disease in the other organ system. Such effect produce significant changes in the appearance of the lung parenchyma and may vary over time depending on the nature and extent of the disease.

Patient undergoing chest x-ray were advised to remove all metallic thing then the patient were positioned according to need.

In this study we have taken 100 cases which are come for investigation in section of Radiology (Indian medicine), sir sunder lal hospital.

Inclusion criteria – Patient having complain of Respiratory disease symptom were randomly selected irrespective of age and sex etc.

Exclusive criteria – Patient with uncontrolled diabetic, hypertension, tuberculosis etc

Observation and Result:-

1. Grouping the Patient based on sex

Male	Female
64	36

Among the selected 100 patient 64% were male & 36% were female. Chest disorder to be effected the male patient more compare to female.

2. Grouping the patients based on locality

Rural	Urban
56	44

Among the selected patients 56% were from the Rural area whereas 44% were from urban area. Respiratory disease appear to be affecting more patient from the rural area then compare to urban area.

3. Grouping the Patients based on Symptom

1.	Cough	34	34%
2.	Wet cough	20	20%
3.	Chest Pain	16	16%
4.	Breathlessness	14	14%
5.	Fever	16	16%

Among the selected patient majority of the patient come with the presenting symptom of cough without sputum and second major group was of patient with wet cough.

4. Grouping the Patients based on Radiological finding

1.	Prominent Bronchovascular Marking	56	56%
2.	Consolidation	16	16%
3.	Pleural Effusion	14	14%
4.	Cavitation	04	04%
5.	Growth	04	04%
6.	Cardiomegaly	06	06%

Among the selected patient majority of were prominent bronchovascular marking, consolidation constituted the next major group

5. Incidence of addiction in the Patients

Addiction	No. of Patients	Percentage
Smoking	24	24%
Alcohol	14	14%
Smoking + Alcohol	26	26%
No addiction	36	36%

Discussion & Conclusion:-

It was observed that compare to women, men are most commonly affected by the respiratory disorder this may be because of more exposure to the environment pollution, addition & other various factors.

Among the examined patients most common finding present was prominent bronchovascular

marking this presentation was common in almost all patient with respiratory disorders.

The respiratory disorder being most common and frequent in the society are the most common to be neglected, the environmental factors play a very important role in the manifestation of the disease. X-ray examination plays key role in the early diagnosis and planning of better treatment of the patient.

Reference :-

1. Sutton. D, Radiology And Imaging For Medical Student seventh edition reprinted 2013 chapter 2;23-25
2. Kumar P, Ram .U, Patterns factor associated and morbidity burden of asthma in India Plos one 2017;12
3. The World Health Report 2010-Healthsystem financing: The path to universal coverage Geneva World Health Organisation 2010: chapter 2.
4. World Health Organization publication date april 2011 ISBN 9789241564229 page 176
5. Kruk. M, E, Goldman . E.Galena.S ; Borrowing and selling to pay for health care in low and middle income countries Health Affair 2009;28:1056-1066.
6. Ramchandra .A et al Increasing expenditure on health care incurred by diabetic subjects in a developing country a study from India 2007, 30:252-256.
7. Stuckler. D,: Population causes and consequences of leading chronic disease : a comparative analysis of prevailing explanation Milbank quarterly 2008 : 86 : 273-326.
8. Abegunde .D, Stanicole. A: An estimation of the economic impact of chronic non communicable disease in selected countries (working paper) Geneva World health organization 2006.
9. Bhargav. S.K, A Textbook of Radiology edition 2008; chap 5 :106

●

USE OF SOIL HEALTH CARD FOR CROP MANAGEMENT PRACTICE IN VARANASI DISTRICT OF UTTAR PRADESH, INDIA

DR. O. P. SINGH * DR. P. K. SINGH ** AND RAKESH MISHRA*

Soil health and soil fertility plays a vital role to ensure sustainable crop production[2]. Using optimal doses of fertiliser and cropping pattern as per scientific recommendation is the first step towards sustainable farming[5,12]. Soil testing helps farmers to obtain information regarding the deficiency of major and micro nutrients in the soil and application of recommended doses of major and minor nutrients helps farmers for judicious use of these nutrients[5]. The components of soil are minerals, organic matter, water, air and their availability in the soil affects plant growth. After introduction of green revolution technology, farmers were adding more and more chemical fertilisers to obtain higher crop yield. The fertiliser consumption in India is about 25.6 million tonnes. Out of this share of nitrogen, phosphorus and potassium fertilisers are 66.51, 23.44 and 10.05 per cent respectively[7]. The current NPK ratio is 6.7:2.7:1 which is highly skewed towards nitrogenous fertiliser as against ideal ratio of 4:2:1 and wide variation was observed in different states[7]. The negative consequences of unsustainable use of chemical fertilizer and absence of organic carbon in the soil results continued degradation of natural resources under intensive agriculture and also declining the soil productivity.

After introduction of mechanical power, chemical fertiliser and irrigation facility farmers are shifting from single crop to intensive farming which results in reduction of organic carbon contain in the soil. Absence of carbon contain in soil disturb the soil physical properties. The Indian Institute of Soil Science estimated that humus depletion in the top 0-15 cm soil is 50 per cent. The proper maintenance of physical, chemical and biological soil health is necessary for sustaining higher crop productivity[13]. The soil health card helps farmers to monitor and improve the soil health[11]. Soil testing programme in the country was started long back in 1955-56 with the setting up 16 soil testing laboratories to determine the soil fertility and fertiliser use[12].

Soil health is not a new concept, Greek and Roman philosopher was aware about importance of soil health over 2000 years ago on farm management[10]. Different soils exhibit different productivity potential. Efforts to define soil health in the context of multiple soil functions began in 1977, due to agricultural intensification, persistent use of conventional tillage with removal or burning of crop residues, soil degradation has been a matter of serious concern for the scientists, environmentalists and the planners at the global, regional and national levels. Considerable progress has been made in the front of identifying and quantifying the different soil attributes determined in the laboratory or field to evaluate soil health[4]. Plant-led strategy for fertilizing crops based on typical deficiency symptoms, comparing with leaf-colour charts and also remotely sensed spectral reflectance with accurate inferences validated by ground-truthing[9] and selection of indicators and specific strategies to enhance soil health[6]. Soil fertility is largely maintained by the application of compost and manure, but in recent years a decline in soil fertility has been reported[15].

Gujarat is the forerunner to introduce soil health cards and programme initiated in 2003-04 to measures the scientific soil health. In Gujarat, over 100 soil laboratories were set up and the result of the scheme was found quite satisfactory. The agricultural income of Gujarat rose from Rs. 14,000 crore in 2000-01 to staggeringly high of Rs.80,000 crore in 2010-11[1].

The massive Soil Health Card scheme was launched throughout the country in February 2015 by the Central Government of India with the objective to issue 140 million soil health cards to the farmers in the country over the next three years with total outlay of Rs 568.4 crore[14]. Soil Health Card is a complete appraisal of soil quality right from it functional characteristics to water and nutrients contain and other

* Associate Professor, Department of Agricultural Economics, Institute of Agricultural Sciences, Banaras Hindu University, Varanasi
** Assistant Professor, Department of Agricultural Economics, Institute of Agricultural Sciences, Banaras Hindu University, Varanasi
***MABM, Department of Agricultural Economics, Institute of Agricultural Sciences, Banaras Hindu University, Varanasi

biological properties. It helps farmers to get crop-wise recommendations of nutrients and fertiliser requirement for each type of soil[3]. The printed soil health card that is handed over to the farmers contains the status of his soil with respect to 12 parameters, namely N, P, K (Macronutrients); S (secondary-nutrient); Zn, Fe, Cu, Mn, Bo (micro - nutrients); and pH, EC, OC (Physical parameters). Keeping in view the importance of soil health card, present study was an attempt to study the awareness of soil health card among the farmers and difficulties faced by the farmers while adopting the recommendation of soil health card.

2.0 METHODOLOGY

Present study was based on primary data and data was collected from soil health card owners through personal interview using pre-tested schedule. Uttar Pradesh state was purposively selected for the present study. State consists of 75 districts, out of these districts, Varanasi district was purposively selected for data collection. The Varanasi district is divided into eight development block. Out of eight development block two blocks viz., Kashi Vidhya Peeth and Harhua were selected for present study. The selection of block was based on the highest number of farmers having soil health card. Eight villages from each selected development block were purposively selected. The criterion for selection of village was highest soil health card distributed among the farmers. From the 16 selected villages, 174 sample farmers were selected for collection of primary data. Present study used simple tabular analysis by using frequency and percentage.

3.0 RESULTS AND DISCUSSION

3.1 Socio-Economic Profile of sample farmers

The distribution of sample farmers is presented in Table 1. Total sample size for present study was 174. The age-wise distribution of sample farmers suggests that large number of soil health card holders belongs to middle age group (59.20 per cent) followed by young age-group (39.08 per cent) and lowest in old age group with 1.72 per cent. The gender-wise distribution of sample farmers suggests that only 15.52 per cent soil heath card holders belongs to female headed house hold and remaining soil health card holders were having the male headed household in the study area.

The classification of sample farmers according to their education-level reveals that 14.94 per cent soil health card holders were illiterate, while 17.82 per cent sample farmers can only read and write. The largest soil health card holders were having their education level up to high school. Only 12.07 and 4.02 per cent soil health card holders belonging to the education level of graduation and post-graduation level respectively.

Classification of soil health card holders as per their landholding size suggests that 23.56 and 24.15 per cent belongs to the category of marginal and small farmers respectively. Share of semi-medium and medium category of farmers was 25.86 and 22.41 per cent respectively. Only 4.02 per cent soil health card holders belongs to the group of large category of farmers.

3.2 Awareness about soil health card and sources of information

Table 2 represents the awareness regarding the soil health card and sources of information received by the respondents about soil health card. Out of total respondents, about 75 per cent respondents were aware about the soil health card and remaining nearly 25 per cent farmers were not aware about soil health card in the study area. Further, the respondents were asked to tell something about soil health card.

Table 2: Awareness Regarding Soil Health Card Scheme and Sources of Information

Sl. No.	Particulars	No. of Respondents	Percentage to total
1.	Do you know about Soil Health Card		
	a. Yea	131	75.28
	b. No	43	24.72
2.	Sources of Information about Soil Testing		
	a. State Agricultural Universities	26	19.84
	b. Private Companies	23	17.55
	c. Relatives & Friends	27	20.61
	d. Gram *Mitra*	10	7.63
	e. Gram *Sevak*	6	4.59
	f. Officials of Agricultural Department	6	4.59
	g. *Krishi Vigyan Kendra* Staff	33	25.19

Accordingly respondents were asked questions such as from where did they get the information about soil health card, do they have soil health card, when was your soil tested, name the nutrients for which you have tested your soil sample, do you know when the soil sample was taken from your field, who collected the soil sample from your field, have you availed the services of mobile soil testing van, do you understand what is written on soil health card, what do they understand by pH, what is the type of their soil and many such question. Responses to such questions were recorded qualitatively. After analysis of the data, it was found that out of 174 respondents, 75.28 per cent of the respondents were aware and 24.72 per cent were not aware about the utility of soil health card. Out of 131 respondents those are aware about the soil health card, major source of information received from Krishi Vigyan Kendra (KVK) followed by relatives and friends (20.61 per cent), state agricultural universities (19.84 per cent). There were some private company who told about soil health card to farmers (17.55 per cent), *gram mitra* and *gram sevak* also played an important role in disseminating information about soil health card to farmers with 7.63 per cent and 4.59 per cent respectively. And only 4.59 per cent farmers obtained least information directly from the agriculture department (Table 2).

3.3 Awareness about the conduct of soil test

During the field survey it was found that out of 131 sample farmers, 59.54 per cent farmers were aware that when sample was collected from their field and remaining 40.46 per cent sample respondents in the study area does not know when soil sample was taken for soil testing.

Table 3: Soil Sample collection by different agencies

S. No.	Soil sample taken by	Number of Respondent	Percentage
1	Self	16	20.61
2	Relatives and Friends	16	20.61
3	*Gram mitra*	07	8.39
4	*Gram sevak*	14	18.32
5	Agriculture Department	08	10.68
6	*Krishi Vigyan Kendra* Staffs	17	21.39
7	Total	78	100.00

The soil sample was collected by different agencies in the study area. Out of 78 respondent those who were aware about the sample collection, maximum soil sample was taken by the staffs of Krishi Vigyan Kendra (21.39 per cent) followed by famers himself (20.61 per cent), relative and friends (20.61 per cent), *gram sevek* (18.32 per cent), staffs of agricultural department (10.68 per cent) and lowest in case of *gram mitra* with 8.39 per cent (Table 3).

3.4 Understanding of information written in soil health card

Education plays an important role to know and understand what is written in soil health card. From the collected information, it was found that out of 174 respondents, only 15 per cent respondents were illiterate and nearly 85 per cent respondents were educated. It was observed from Table 4 that, only 10.68 per cent respondents do not understand what is written in soil health card and remaining 89.32 per cent respondents under stands about what is written in soil health card (Table 4).

Table 4: Understanding about what is written in Soil Health Card

S. No.	Do you understand what information is written in the soil health card	Number of Respondent	Percentage
1	Fully	34	25.95
2	Partially	40	30.55
3	To some extent	43	32.82
4	Nothing	14	10.68
5	Total	131	100.00

3.5 Reasons for soil testing and getting soil health card

Indian farmers are very traditional in nature and to avoid risk they do not adopt new methods of agriculture because large number of farmers are categorised as marginal and small and their main source of income is agriculture. However, medium and large category of farmers are highly adaptable to new technology. Therefore, while recommending new technology for crop production must be supported with strong motivation which can helps farmers to adopt technology to improve their socio-economic condition. Approximately 29.04 per cent card holders

were motivated to test their soil because they want to improve their soil health and they are not aware that how to know nutrient deficiency in the soil by using their own experiences resulting traditional knowledge trigger the lower production (Table 5).

Table 5: Reason for testing soil

S. No.	Reason for soil testing	Number of Respondent	Percentage
1	Soil testing facility was provided free of cost	25	19.08
2	For availing benefit under the subsidy scheme	24	18.32
3	To maintain better soil health	38	29.04
4	To increase crop yield	20	15.26
5	Motivation from village demonstration/ exposure visits	8	6.10
6	Peer farmers' group pressure	5	3.81
7	Since it was a new technological practice	11	8.39
8	Total	131	100

About 19.08 per cent farmers used this scheme because it is provided free of cost or at nominal cost, whereas 18.32 per cent card holders went for soil testing because it was available under a subsidy scheme. Nearly 15.26 per cent farmer think that after testing soil, it improves the crop yield, whereas only 3.81 per cent card holders gave the reason of farmer group pressure in adopting soil testing (Table 5).

3.5 Status of soil nutrients

The availability of nutrients in the soils of sample farmers in the study area is presented in Table 6.

Macro nutrient

The data regarding results of soil testing was obtained from the respondents' soil health card and it is presented in Table 6. It was observed that out of 131 sample farmers, very low nitrogen was observed for 98.5 per cent sample farmers whereas 1.5 per cent sample farmers having very low nitrogen in their soil. In case of phosphorus availability in the soil it was very low, low and medium was observed for 21.37, 58.78 and 25.19 per cent respondent respectively. In the case of potash availability in soil, it was observed that all the sampled farmers having a medium level of potash in their soil.

Table 6: Status of Soil Nutrients

S. No.	Nutrient	Moderately Alkaline	Deficient	Very Low	Low	High	Normal	Medium	Sufficient	Total
1.	N	-	-	129	2	-	-	-	-	131
2.	P	-	-	28	70	-	-	33	-	131
3.	K	-	-	-	-	-	-	131	-	131
4.	S	-	53	-	-	-	-	-	78	131
5.	Zn	-	71	-	-	-	-	-	60	131
6.	Fe	-	4	-	-	-	-	-	127	131
7.	Cu	-	-	-	-	-	-	-	131	131
8.	Mn	-	5	-	-	-	-	-	126	131
9.	B	-	101	-	-	-	-	-	30	131
10.	pH	131	-	-	-	-	-	-	-	131
11.	OC	-	-	27	95	2	-	7	-	131
12.	EC	-	-	-	-	-	131	-	-	131

Secondary nutrient

Secondary nutrient i.e. sulphur was rating in an ample manner in soil for 59.54 per cent respondents, whereas 40.46 per cent respondents' soil facing a paucity of sulphur in their soil (Table 6).

Micro nutrient

In the case of micronutrient, zinc availability in the soil was deficient in 54.20 per cent sample farmers. 3.05 per cent respondents' soil was facing iron deficiency. Out of 131 respondents, 77.10 per cent respondents' soil testing report was showing the deficiency of boron (Table 6).

Physical parameter

In case of pH, soil health card holder of all the sampled farmers showed moderately alkaline in nature, whereas organic carbon was low, very low and high for 72.52, 20.61 and 1.53 per cent sample farmers' soil respectively. The electric conductivity was found normal for all the sample farmers in the study area (Table 6).

3.6 Use of recommended doses of fertilizer

It is assumed that after obtaining the soil health card report and recommendations, farmers will adopt and apply the recommended doses of major and micro nutrients to the soil to get the desired crop yield. The reality on ground was also closer the assumption of soil health card. From Table 7, it is observed that about 91 per cent soil health card holders were applying recommended doses of micro and major nutrients into soil and remaining nine per cent sample soil card holders were not using the recommended doses of fertilizer.

Table 7: Application of recommended doses of fertilizer

S. No.	Do you use the recommended dose of fertilizer	Number of Respondent	Percentage
1	Yes	119	90.83
2	No	12	9.17
3	Total	131	100.00

During the field survey, respondent told that they are not going to adopt recommended doses of the major and micro nutrient. The reason behind not adoption of recommended doses of micro and major nutrients is presented in Table 8.

Table 8: Reason for not applying the recommended doses

S. No.	Reason for not applying the recommended doses	Number of Respondent	Percentage
1	Lack of money to purchase fertilizers	4	33.33
2	No technical advice on method and time of fertilizer application	3	25.00
3	Difficult to understand and follow the recommended doses	3	25.00
4	Trust on their own experiences/practices	2	16.67
	Total	12	100.00

Out of total respondents, 33.33 per cent respondents told that they don't have sufficient money to purchase the major and micro nutrient. The 25 per cent respondents told that no technical advices were given on method and time of nutrient application and it was difficult to understand and follow the recommended doses. About 16.67 per cent respondents told that they have trust on their own experience about applying fertilizer to the soil (Table 8).

3.7 Visible changes observed and benefits realized after the application of recommended doses

The visible changes were observed when respondents adopted the recommended doses of micro and major nutrient and it was presented in Table 9. After adoption of recommended doses of micro and major nutrients the maximum visible changes were observed by the sample farmers and it was increase in crop yield (15.96 per cent) followed by improvement in crop growth (12.60 per cent), improvement in soil texture and maintained better soil health (10.92 per cent), awareness level on agricultural practices and government programmes has increased (11.76 per cent) and the least changes in application of other inputs like seed and pesticide (3.36 per cent).

Table 9: Visible changes observed

S. No.	Visible change observed	Number of Respondents	Percentage
1	Increase in crop yield	19	15.96
2	Improvement in soil texture	13	10.92
3	Improvement in crop growth	15	12.60
4	Improvement in grain filling	11	9.24
5	Less incidence of pest and diseases	10	8.40
6	No change in seed and pesticide, etc	4	3.36
7	Expenditure on fertilizers has declined	7	5.88
8	Availed benefit under subsidy schemes	5	4.24
9	Adopted other modern agricultural practices	8	6.72
10	Visit of extension officers farmers has increased	13	10.92
11	Awareness level on agricultural practices and government programs has increased	14	11.76
12	Total	119	100.00

3.8 Constraints faced by farmers in use of soil health card

The constraints faced by the respondents on the part of application of recommended doses of micro and major nutrients are presented in Table 10. The maximum respondents were faced the problems in obtaining soil health card (29.79 per cent) followed by no subsidy was given by the government on micro nutrients (21.37 per cent), time gap between soil samples taken and issuing cards was too high (18.32 per cent), difficulty in calculating fertilizer doses on the basis of recommendation (9.92 per cent), received soil health card after crop harvest (9.92 per cent). Nearly 6.87 per cent respondents told that soil sample was not collected in presence of respondents and 3.81 per cent respondents told that irregularities of extension services in the study area.

Table 10: Constraint faced by soil health card holders

S. No.	Constraints	Number of Respondents	Percentage
1	Difficulty in calculating fertilizer dose on the basis of nutrient status of soil	13	9.92
2	No subsidy is given by government for micro nutrients	28	21.37
3	The time gap between soil samples taken and issuing cards was too high	24	18.32
4	Received soil health cards after crop harvest	13	9.92
5	Collection of soil sample was not done in the presence of farmers	9	6.87
6	Problem in making soil health card	39	29.79
7	Irregularity of extension services	5	3.81
8	Total	131	100.00

4.0 CONCLUSION AND POLICY IMPLICATION

Micro and macro nutrients availability in the soil helps better growth of the crops which leads to harness the potential of agricultural field by obtaining higher production and productivity of the crop. But due to unawareness, Indian farmers are applying only macro

nutrients (N, P and K) to the soil and farmers are unable to harness full potential of the soil. Resulting to this, farmers are getting lower crop yield over a period of time in different parts of county. To avoid further deterioration of soil and losses to farmers by lower crop production in long run and visualising positive impact of balanced nutrients, Government of India launched Soil Health Hard scheme in February 2015 in the country. The major findings of the present study are: [a] the education level of sample farmers was nearly 85 per cent in the study area, which help farmers to understand what information is given in the soil health card.; [b] nearly 75 per cent farmers in the study area was aware about the soil health card and major role was played by the *Krishi Vigyan Kendra*; [c] only 26 per cent farmers in the study area fully understand about what information is written in soil health card and 31 per cent partially understand; [d] one of the important factor for getting soil health card was to maintain better soil health; [e] in the study area it was found that all the farmers' field was found low nitrogen; [f] 91 per cent farmers were using recommended doses of nutrients after getting soil health card; [g] about 16 per cent farmers found that after adoption of recommended dose of nutrients, crop yield was increased. For the fully adoption of recommendations of soil health card by the farmers, government should provide training to farmers related to how they can calculate micro and major nutrients and place of availability of these nutrients as some farmers are illiterate.

REFERENCESs

1. Bordoloi, Jotin and Das Anup K. (2017), Impact of Soil Health Card Scheme on Production, Productivity and Soil Health In *Assam Agro-Economic Research Centre for North-East India Assam Agricultural University Jorhat* - 785 013, Assam.
2. Chaudhari, S.K. (2016), Soil Health in India: Retrospective and Perspective, *Bulletin of the Indian Society of Soil Science*, 30: 34-52.
3. Chouhan, R. S., Sharma H.O., Rathi D. and Niranjan H.K. (2017), Impact of Soil Health Card Scheme on Farmers' Income –A Case Study of Kharif Crops in Madhya Pradesh, *Madhya Pradesh Agricultural Economics Research Review*, 30: 139-141.
4. Chowdary K. Raghavendra and Theodore Ravi Kumar (2016), Soil Health Card Adoption Behaviour Among Beneficiaries of Bhoochetana Project in Andhra Pradesh, *Journal of Extension Education,*28 (1): 39-41.
5. Das S.K., Avasthe R.K., Sharma K., Singh M., Sharma P. (2017), Soil Fertility Assessment in Different Villages of East Sikkim District Indian, *Journal of Hill Farming*, 30(1): 14-16.
6. Doran J W, Sarrantonio M and Liebig MA (1996), Soil health and sustainability, *Advances in Agronomy*, 56:1-54.
7. Fertiliser Association of India (2017), *Fertiliser Statistics 2016-17*, The Fertiliser Association of India, New Delhi.
8. Katyal J.C., Datta S.P. and Golui D. (2016), Global Review on State of Soil Health, *Bulletin of the Indian Society of Soil Science*, 30: 1-33.
9. Mandal Biswapati, Basak Nirmalendu, Roy Satadeep Singha and Biswas Sunanda (2016), Soil Health Measurement Techniques, *Bulletin of the Indian Society of Soil Science*, 30: 53-65.
10. Mukati Anil, Bisht Kamini, Singh S P and Raghuwanshi Sheela (2018), Farmer's Perception Regarding Soil Health Card, *International Journal of Chemical Studies,* 6(6): 307-310.
11. Naik M. Rajeswar, Kumar B. Kranthi and Manasa K. (2017), Importance of Soil Health Card to Sustain the Living Dynamic System, *Asian Journal Soil Science*, 12 (1): 217-220.
12. Padmaja, B and JG Angadi (2019), Utilization of soil health card recommendations in organic manures and soil amendments application, *International Journal of Chemical Studies*, 7(1): 1975-1977.
13. Raj Aaryaa and Jahanara (2017), Profile of Farmers and Attitude Towards Soil Health Card Scheme: A Measure for the Maintenance of Soil Health, *International Journal of Research Culture Society*, 1(10): 1235-1240.
14. Shehrawat P. S., and Sharma Aditya Nidhi (2018), Usage of soil health card in crop management practices for doubling the farmers' income of Sirsa District (Haryana), India, *Journal of Applied and Natural Science,* 10 (4): 1314-1317.
15. Shrestha B, Maskey S L, Shrestha R K, Tripathi B P, Khadka Y G, Munankarmi R C, Bhattari E M and Shrestha S P (2000), Soil Fertility Management: Farmers' Practices and Perception in the Hills of Nepal, *Lumlle Technical Paper*, No. 2000/4.

●

BUDDHIST PILGRIMAGE IN INDIA: PROMOTING REGIONAL COOPERATION, HARMONY AND PEACE

DR. PRIYANKA SINGH*AND DR. PRAVIN SINGH RANA**

Principles of sustainable development have substantially curved the drives of economic expansion towards holistic approach. It allowed an insight for significant role of socio-cultural dimensions in achieving economic prosperity through adoption of creative livelihood actions. Religious places, which nestle broadly into frameworks of society and culture, have long been overlooked in economic development imperatives particularly in Indian tourism context. The places of religious and spiritual significance gained growing attention in national government's development policies and urban planning owing it tremendous potential to contribute in achieving economic prosperity.

Taking into account the prospective market of religious sites, the present study intends to recognize role of Buddhist circuits of India in enlargement of development opportunities in terms of employment generation, destination identity, regional cooperation and international economic market. It also highlights key challenges which need to be addressed in order to manage conflicts and make effective destination management plan.

Religion has been one of the strongest and oldest travel drives in human history and continued to be one of increasingly growing segment of tourism market (both domestic and international). The worldwide growth of religious tourism can be comprehended from the data presented by United Nations World Tourism Organization (UNWTO). According to UNWTO (2011) estimates, 300 to 330 million tourists visit the world's key religious sites every year, with approximately 600 million national and international religious voyages in the world.

The sacred landscape of India has long been a center of reverence, inspiration and faith for pilgrims and intellectuals alike. India, being the birth places of some of the most ancient religions of the world, is viewed as melting place of diverse religious doctrines and spiritual discourses and thus, forming a unique hub of pilgrim centers, living heritage, ancient monuments, spectacular religious festivals and other related cultural activities of religious nature.

Buddhism, one of the oldest religious disciplines emerged in India around 5th Cen. BC. Since then it was widely disseminated through Buddhist monks over 100 years across Asian continent and now its believers are found across almost every continent. About 488 million Buddhists worldwide represent 7% of the world's total population, making Buddhism the 14 largest religions in the world (PSPM, 2014)[1].

Buddhist historical and pilgrimage sites are spread over India and Asian countries (mostly South and South East countries). Fortunately, Indian sub-continent host most important sacred places directly related to life of Buddha starting from Lumbini (birth places, presently situated in Nepal), Bodhgaya (place of enlightenment, situated in Bihar, India), place of first sermon (Sarnath, India) and Kushinagar (place of great death i.e. *mahaparinirvana*, India) which are revered as supreme places of worship by domestic and international devotees bearing their association with the most significant events of Buddha's life and his teachings. It leads towards noticeable influx of visitors at Buddhist sacred places every year comprising of domestic and international arrivals. However, until recent time when Indian government identified tourism as key priority sector to boost national economy under strategic development drives, economic potential of religious tourism market in particular reference to Buddhist circuits was overlooked. Inception of Buddhist circuit development plans in tourism sector can be traced in policy draft of national commission on tourism in 1986. However, early efforts undertaken were not adequate to promote Buddhist circuits as mainstream tourism product. National tourism policy 2002 reemphasized on significant market size of pilgrim tourism and recognized Buddhist circuit as a key theme to build 'tourism clusters' to ensure efficient harnessing of rich religious resources. Since then a number of initiatives and ventures were undertaken to bring Buddhist circuit

∗ Asstt. Professor-Tourism Management-C/B (RGSC, Barkachha), Banaras Hindu University, Varanasi
∗∗ Asstt. Professor-Tourism Management (Faculty of Arts)Banaras Hindu University, Varanasi

in major tourism products of India. In view of existing global competitiveness of tourist destinations and rise of 'cultural economies' regional cooperation for tourism development is imperative to encourage trust, collaboration, networking and exchange of skills and resources for expansion of business sphere and swift pace of growth.

Brief Account of Buddhist Circuits

From Jammu, Kashmir & Leh to Tamil Nadu and from the western states of Gujarat and Maharashtra to the eastern most tip of Arunachal Pradesh, a rich plethora of Buddhist heritage extends across the entire country consisting of both tangible and intangible attributes. Around 15 sites are considered sacred seats in Buddhist pilgrimage bearing their direct association with the Buddha himself [2]. It includes, Nalanda, Sarnath, Kushinagar, Shravasti, Sankisa, Kapilavastu and Kaushambi, Lumbini, Rajgir, Bodhgaya, Kesariya and Vaishali, Gaya, Patna and Mathura.

The Buddhist Circuit is a route that follows in the historical footsteps of the Buddha from Lumbini (birth), Bodh Gaya (enlightenment), Sarnath (first preaching or sermon), and Kushinagar (*mahaparinirvana*, final release). The other four sites associated with the great miracles performed by the Buddha and accepted as places of pilgrimages are Rajagriha (Rajgir, in Bihar), where the Lord tamed a mad elephant; Vaishali (Bihar), where a monkey offered honey to him; Shravasti, where the Lord took his seat on a thousand petalled lotus and created multiple representations of himself, and Sankisa (Sankasya, in Uttar Pradesh), where he descended from the heaven. Altogether these groups of 8 holy places are called *Atthamahathanani* (eight great places).

In this list the later additions are the place of childhood (Kapilavastu), the place of several sermons in the 6th and 9th years of enlightenment (Kaushambi), and the place where the Buddha gave his begging bowl to the people (Kesariya). According to the Jatakas, the Buddha visited Nalanda several times. Altogether these twelve places have become the most revered places of Buddhist pilgrimage. Among these twelve places, Sarnath, Kushinagar, Shravasti, Sankisa, Kapilavastu and Kaushambi are in the state of Uttar Pradesh. Lumbini, is in Nepal at the border of the district of Siddharthnagar. Further, Kesariya and Vaishali are also easily accessible and interlinked with the Buddhist circuit of pilgrimage tourism, taking Varanasi as centre. In the pilgrimage circuit of the Buddha's footprints Gaya, Patna and Mathura are also sometimes included, because at these places also the Buddha passed some of his stays[3].

Development Prospects: *Identity, Employment and Collaboration*

'Religion makes itself the hard core of a community's identity'[4]. Though Buddhist sacred sites all over the Asian continent, Buddhist circuit of India holds a distinct identity, particularly Bodh Gaya, Sarnath and Kushinagar being the significant places where Buddha attained Enlightenment, delivered His first sermon and attained salvation respectively, the most marked events of his life[5]. Buddha's deep and close relationship with India is widely recognized. Therefore in spite of incredible diversity existing throughout the Buddhist world, Indian Buddhist circuits are still looked by many adherents as the symbolic center of the world[6]. This fact not only contributes in developing 'religious exclusivity' but also contributes significantly in designing strategic marketing tool for product differentiation, diversification and image building. National marketing campaign on themes of 'Buddhist Circuits' under *Incredible India* drive, with fascinating taglines such as *'walking with Buddha'*, and *'in the footsteps of Buddha*' are largely leveraging on this distinct identity. It not only contributes in better positioning in the Buddhist Circuit as a tourism product in the region and globally but also helps to integrate people by enhancing understanding of the value of these assets from a historic, religious and cultural perspective.

Most of the places under Buddhist pilgrimage sites are rural localities with limited accessibility and infrastructure. Recent progress in promotion of Buddhist circuits as national tourism product and growing investment ventures in infrastructure can enormously contribute to local community by generating diverse scope and scales of employment. Ongoing project on Buddhist circuits in Uttar Pradesh and Bihar estimate to create around 10,000 jobs for local community (PSPM, 2014)[1].

For the purpose of developing religious sites as international tourist destination, a regional approach that stimulates internal networking and connection across the territory can contribute significantly in developing cooperation for common benefits. Regional cooperation among proximate countries (on

geographic and economic scale) can potentially enhance competitiveness by reducing costs and enhancing efficiency in long term[7]. 'Collaboration enables resources and risks to be shared, facilitates coordinated policies, improves trust, confidence and mutual understanding and exploits commonalities and complementarities[8].

Regional cooperation within the nation is also crucial to gain 'collaborative advantages'. Asia and Pacific region is considered as the region of the world's greatest number of pilgrims and travellers for pilgrimage. It is estimated that there are approximately six hundred million national and international religious and spiritual voyages in the world, of which 40% take place in Europe and around half in Asia [9].

In this context, Buddhism can be one of the unifying factors that links India to the rest of South and Southeast Asia. Various sacred sites of Buddhist circuit establish a robust and profound historical, religious and trans-cultural connection of India with its neighboring countries as well as within its own states. These offer a viable background to develop inter-regional cooperation with and within a wide geographical area for facilitating effective cross-border mobility, knowledge exchange, marketing and promotional programmer and designing coherent tourism clusters to offer meaningful interconnection between various Buddhist heritage and quality visitor experience.

Building upon this strategy government of India launched 'Look East Policy' to facilitate trade and tourism exchange with neighboring nations through opening north-eastern gateway for economic growth. In order to attract desired investment in tourism infrastructure and achieve robust economic growth through encouraging integrated tourism development, Government of India collaborated with Ministry of Tourism, the State Governments of Bihar and Uttar Pradesh, the private sector, Buddhist monasteries and sects, and the World Bank Group to promote Bodh Gaya, Nalanda and Rajgir, Vaishali, Kapilvastu, Sarnath, Sravasti, Kausambi, and Kushinagar as the main attractions on the circuit. Under the project 'Investing in the Buddhist Circuit', International Finance Corporation, a wing of World Bank, will provide INR 180 lakh, Tourism Ministry would contribute INR 225 lakh and the contribution of Bihar and UP is INR 22.50 lakh each for the project (Yes Bank report, 2014) [10].

Buddhism is a religion practiced by an estimated 500 million (as in 2010) in the world representing about 7 % of the world's total population[11]. Majority of Buddhist population lies in Asia in which highest Buddhist percentage (96%) among total population is in Cambodia followed by Thailand (see Table 1). Surprisingly, the country which is regarded as land of origin of Buddhism i.e. India is having only 0.8% of Buddhist population but when we talk in terms of number of Buddhist in the country then India is positioned at second place after China where highest number of Buddhists live (Table 2).

(**Table 1: Percentage wise Buddhist Population in Top 20 countries of world.**

SN	***Country***	***Number of Buddhists***	***Buddhists (%)***	***Population (2018)***
1.	Cambodia	13,690,000	96.90	16,486,542
2.	Thailand	64,420,000	93.20	69,625,582
3.	Myanmar	38,410,000	87.90	54,045,420
4.	Bhutan	540,000	74.70	763,092
5.	Sri Lanka	14,450,000	69.30	21,323,733
6.	Laos	4,100,000	66.10	7,169,455
7.	Mongolia	1,520,000	55.10	3,225,167
8.	Japan	45,820,000	36.20	126,860,301
9.	Singapore	1,730,000	33.90	5,804,337
10.	South Korea	11,050,000	22.90	51,225,308
11.	Taiwan	4,950,000	21.30	23,773,876
12.	Malaysia	5,010,000	19.80	31,949,777
13.	China	244,130,000	18.20	1,433,783,686
14.	Macau	90,000	17.30	640,445
15.	Vietnam	14,380,000	16.40	96,462,106
16.	Hong Kong	930,000	13.20	7,436,154
17.	N. Mariana Islands	10,000	10.60	57,216
18.	Nepal	3,080,000	10.30	28,608,710
19.	Brunei	30,000	8.60	433,285
20.	**India**	**9,250,000**	**0.80**	**1,366,417,754**

(Source:https://www.buddhanet.net/e-learning/history/bstatt10.htm)

There will be natural movement of Buddhist adherents to India (origin place of Buddhism) from all parts of the world especially Asian region and particularly East Asian and South East Asian countries like Cambodia, Thailand, Myanmar, Sri Lanka, Bhutan and China. Such movement by SAARC, ASEAN, SASEC, BRICS countries due to Buddhist interest will strengthen not only economy but also help in bringing peace and harmony among different cultures and societies.

Challenges*: limitations, exposure and vulnerabilities*

Religious sites across the globe in general and Buddhist circuits in particular reference are now considered to be few of the highly visited destinations and appreciated widely for their sacred (association to divinity) and secular (exemplary architecture, distinguishes cultural/natural environment, historical significance, unique art form etc.) attributes collectively and therefore extending the profile of visitors of these sites from the adherents of a particular faith or religious affiliation to the tourists belonging to other faiths[12,13].

Table 2: Buddhist Population (number wise) in Top 20 countries of world

SN	*Country*	*Number of Buddhists*	*Buddhists (%)*	*Population (2018)*
1.	China	244,130,000	18.20	1,433,783,686
2.	**India**	**9,250,000**	**0.80**	**1,366,417,754**
3.	United States	3,570,000	1.20	329,064,917
4.	Indonesia	1,720,000	0.70	270,625,568
5.	Pakistan	20,000	0.10	216,565,318
6.	Brazil	250,000	0.10	211,049,527
7.	Nigeria	10,000	0.10	200,963,599
8.	Bangladesh	720,000	0.50	163,046,161
9.	Russia	170,000	0.10	145,872,256
10.	Mexico	10,000	0.10	127,575,529
11.	Japan	45,820,000	36.20	126,860,301
12.	Ethiopia	10,000	0.10	112,078,730
13.	Philippines	80,000	0.10	108,116,615
14.	Egypt	10,000	0.10	100,388,073
15.	Vietnam	14,380,000	16.40	96,462,106
16.	Dr Congo	10,000	0.10	86,790,567
17.	Germany	210,000	0.30	83,517,045
18.	Turkey	40,000	0.10	83,429,615
19.	Iran	10,000	0.10	82,913,906
20.	Thailand	64,420,000	93.20%	69,625,582

(Source:https://www.buddhanet.net/e-learning/history/bstatt10.htm)

While monks and devotees constitute key segment of visitors at sites of Buddhist Circuit, number of visitors for secular motivations such as interest in cultural or architectural heritage, history, art and craft or just novelty seeking is also increasing. These 'experience seekers' look for a range of diverse, multiple and (sometimes) complex and overlapping set of experiences during their visit to sacred sites. This phenomenon emphasises on broadening historical context and landscape provision of physical and interpretive connection of place with other sites, insightful learning points or offering experience 'beyond pilgrimage' in order to stimulate demand, promote longer stay and motivate visit to other sites. However, such recreational consumption poses a critical challenge on destination managers to establish a fine balance between consumption and conservation needs essential to ensure sustainable development.

Religious sites bear an inherent association with the places where it is located and deeply rooted religious sentiments and emotions of local community, religious beliefs and complex structural nature and thus represents a highly vulnerable area to promote international tourism. If not managed discerningly international tourism can cause issues of conflict at vulnerable Buddhist sites.

Another challenge associated with some of the Buddhist sites is lack of understanding in local community. Buddhist sites set in Hindu and Muslim dominated communities may dilute Buddhist character and experience. Therefore, a wider communal integrity and awareness is sought to involve local community participation in conservation and development.

Conclusion

The notion of pilgrimage in Buddhism is intrinsic that inspires to get more closer interconnectedness with enlightened nature where once the Buddha passed his time, or gave sermons, and later some sacred items (ashes) of the Buddha manifested there. Buddhist trails embodied the messages of compassion, peace and human service. The middle path and eight fold path shown by Buddha is one thing which is attracting people from all parts of the world especially developed world like America and Europe. Religious tourism is in continuous growth, regarded globally as a tool for economic and regional development. Governments of several nations are investing in infrastructure and creation / or improvement of accommodation structures and reinforcing full-scale tourism policies to promote their sacred heritage destinations internationally[14,15], making vital contributions towards broadening the mutual cross-cultural understanding, tolerance and respect for the religious disparities[16]. Buddhist circuits of India in this context provide desired resource to promote international tourism by offering world class experience achieved through regional cooperation and efficient destination management strategies at the same contribute significantly to local community in their economic and socio - cultural upliftment.

References:

1. Public and Social Policies management (PSPM) group (2014). *Towards Sustainable Spiritualism: Buddhist Linking Cultures, Creating Livelihoods*, YES Bank Ltd. & ASSOCHAM
2. Singh, Rana P.B. (2003). *Where the Buddha Walked*. A Companion to the Buddhist Places of India. Updated and reprint in 2009. Indica Books, Varanasi.
3. Cook, Elizabeth (1994). *Holy Places of the Buddha.* (Tarthang Tulku, ed) Berkeley, CA: Dharma Publ., 1994.
4. Bandyopadhyay, R. Morais, D.B., Chick, G. (2008). Religion And Identity In India's Heritage Tourism, *Annals of Tourism Research*, 35 (3) pp. 790-808
5. Singh, R.P.B and Rana, Pravin S. (2011) Mythic Landscape of Buddhist Places of Pilgrimages in India; *In*, Singh, Rana P.B. (ed.) *Sacredscapes and Pilgrimage Landscapes*, Shubhi Publications, New Delhi.
6. Geary, D. (2018) India's Buddhist circuit(s): A Growing Investment Market for a "Rising" Asia, *International Journal of Religious Tourism and Pilgrimage*, 6(1) pp. 47-57
7. Rasul, G. and Manandhar, P. (2009) Prospects and problems in promoting tourism in South Asia: a regional perspective. *South Asia Economic Journal* 10 (1), pp.187–207.
8. Choe, J. and O'Regan, M. (2015) Religious tourism experience in south east Asia, *In*: Raj, R., Griffin, K. (Ed.) *Religious Tourism and Pilgrimage Management: An International Perspective*, CABI. pp. 191-204
9. UNWTO (2011) *Religious Tourism in Asia and the Pacific*. United Nations World Tourism Organization, Madrid.
10. Towards Sustainable Spiritualism: (2014), *Buddhist Tourism* - Linking Cultures, Creating Livelihoods (accessed on 5 Dec 2019, https://www.yesbank.in/pdf/buddhist_tourism_linking_cultures.pdf
11. Harvey, Peter (2013). *An Introduction to Buddhism: Teachings*, History and Practices (2nd ed.). Cambridge, UK: Cambridge University Press.
12. Kaelber, L. (2006) Paradigms of travel: from religious pilgrimage to postmodern tourism. *In*: Timothy, D.J. and Olsen, D.H. (eds) *Tourism, Religion, and Spiritual Journeys*. Routledge, London, pp. 49–63.
13. Nyaupane, Gyan P. (2009). Heritage complexity and tourism: the case of Lumbini, Nepal. *Journal of Heritage Tourism*, 4 (2), May: pp.157-171
14. Timothy, D. and Olsen, D. (Eds.) (2006). *Tourism, Religion and Spiritual Journeys*, London: Routledge.
15. Hughes, K., Bond, N. and Ballantyne, R. (2013) Designing religious tourism experiences: an exploration of visitors' reactions to interpretation at Canterbury Cathedral. *Tourism Management* 36, pp.210–220.
16. Matthew, A. A. (2013) Role of religious tourism in conflict resolution. *In*: Kar, M. (ed.) Proceedings Book of International Conference on Religious Tourism and Tolerance. Aybil Yayınları, Konya, Turkey, pp. 179–184.

●

BED-TIME STORIES, THE PRINCESS AND THE PRINCE: GENDER ROLE SOCIALIZATION

BITHIKA DAS *AND DR. SUSMITA SINGH **

The bed-time stories are an important part of children's literature that are primarily responsible for gender-roles socialization among children. Taylor[1] (2003) states that children literature is the cultural and learning resource, it has the power to influence a child's identity by making inferences about gender. Within society, various agents (like parents, peer group) and institutions (like family, marriage) cooperate with society in socializing children in which bed-time stories (as instruments) are important because these make social learning as well as expectations of society more clear, as what traits will be appreciated or condemned by society. There are various factors which affect the process of learning among children first, the story itself (what kind of morals and values it depicts in its description), second is the storyteller (the experiences and understanding which s/he owns), and third is the listener (the receptiveness; comprehensiveness s/he possesses). But our paper deals only with the first factors mentioned above, that is, the story- what kind of knowledge is produced by stories, which values are reinforced and what ideas can be constructed about gender roles.

The process of socialization begins to a toddler, since birth. A biological being, is developed into a social human being, by learning, imitating, and re-learning all the processes, which are under the broad umbrella of socialization. It is not just 'an act of action' rather it's an 'act of learning and imitating' by using all our sense organs. Socialization is a process that takes place in our unconscious, conscious or even in our subconscious mind, which is based on expectations and acceptance of norms and values of the society in which we live. Most importantly human being becomes gendered; men and women through the process of socialization, that directs gender roles.

Lorber Judith in 'The Social Construction of Gender' (1990) and 'Paradoxes of Gender' [2] (1994) focuses on the social construction of gender roles which are carried out by the socialization process. She argues that socialization is highly influenced by gender role performance in our day-to-day life. She held gender central to all debates and considered it as a social institution. Children are gendered from their societal environment, taught to be accustomed to it. Lorber Judith in 'Night To His Days: The Social Construction Of Gender'[3] (2005) argued that masculinity and feminity are considered to be inborn, but actually, they are taught traits (socialized by the society) performed through various ways (talking, eating, walking, behaving).

Origin of fairytales is not possible to trace; it is believed to be an art evolved with human development and society. Recalling the story from childhood, one basic outline structure of stories present a prince who is handsome, brave, philanthropist, overcomes almost all hurdles, equipped with weapons of the era and also owns at least one horse (it represents material ownership). And, a princess, who is beautiful, Angelique, loving, very domestic. For the leading female character, love is the only weapon, waiting for the prince who will end all her misery by marrying her, and live together ever-after.

Mem fox [4] (1993) states that everything read by us constructs and develops, as who we are, by presenting our mirror image as girl and boy or women and men. Albert[5] (1988) said that children learn various gender-stereotypical features like girls learn to like dolls; boys learn to like trucks, through various forms of influential guidance and directions from the external environment. Trepanier-Street, M.L., & Romatowski, J.A.[6] (1999) found that children's literature and related activities are responsible for determining gender attitude of the children.

On a deeper level, if we see, the stories are not as simple as depicted, beyond entertainment these also contribute to the process of socialization during childhood. Stories, apart from giving direction to a child's fantasy it also directs role learning, personality creation, and most importantly, embed the character to the child's day-to-day life as what society expects it to be and accepts it as normal routine. Every infant, born

* Research Scholar, Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi
** Asstt. Professor, Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi

(biological being) becomes social (social being) through the process of routinization of role. It is basically internalization of societal accepted and expected norms, behavior and values to be carried, which is also prescribed by the gender role. Temple[7] (1993), found that boys mostly have interest to the role of fighter, adventures and rescuers whereas girls have more passive roles of caretakers, mothers. Rudman[8] (1995) and kramer[9] (2001) found that feminine features nurtured characters; depicted as helpers at kitchen, nurses or mothers. Manajari Singh[10] (1998) found that prime roles and features in male and female characters in the children literature are presented stereotypically, and in most cases, girls are more often presented in lower status than boys. According to Ernst[11] (1995) girls are featured as sweet, naive, conforming and dependent, whereas in contrast, boys are aggressive, physically strong, possess a sense of adventure and independence.

The storybooks and characters embedded in it are presented as role models to society and also, norms and values to which one should adopt to become a part of it. Norms and rules which bind people together in society, are at the nucleus of society's social dimension, whereas gender is one among the different essential dimensions working in society. The imitation of role or the vicarious reinforcement is a resultant of reward (acceptance) or punishment (criticism) to the role model. Imitation and modeling appear to be spontaneous among children, but through reinforcement, a pattern of behavior developes which becomes eventually habitual. Witts[12] (1997) study reveals that parents expect their infants born to behave differently as per gender as early as 24 hours after their birth. Before becoming an active member of society, a huge training period is carried out by various means, and at childhood, stories and their respective characters play a great role from where they learn which types of clothes to wear, the ways to behave, the colors to choose. for instance, stories to boys always depict a prince who is just like him, grows to become a great Warrior, brave person, a handsome man and, in contrast, stories to girls have a girl like her, who grows up to be beautiful, shy, kind, homely, motherly. Kortenhaus and Demarest[13] (1993) reveal through their work that 'males are typically presented as competent and achievement-oriented but females are limited in what they can do and are less competent in their ability to accomplish'. Interest for stories and characters further leads to learning and adapting the roles, as they identify their favorite characters as their role model and help in identity formation.

Gendered character of feminine and masculine nature through which the prince and princess of our childhood fantasies had been embedded in our subconscious mind, becomes nature and trait, like a birth trait. The focus regarding gender norms (shame, bravery) get internalized within the child in a way that it becomes normal for the society like the act of shyness for girls and act of bravery for boys.

We have so far discussed gender role socialization through bed-time stories as a part of the childhood socialization process which takes place within the family.

Purpose of the study

The purpose of the study is to focus on the gender role socialization to children through the bed-time stories of the prince and the princess which are internalized by the child since childhood. The paper works on the role-building nature of the stories based on gender-typing. The study will also reveal whether the roles of prince and princesses are free or bound by gender prescriptions of society. The study will also serve the purpose to see whether there is any alignment drawn across gender roles depicted in the stories to the gender role prescribed in societies. Therefore, the study aims to see what are the features that characters of the stories reveal and is it simply constructed as it seems to be, that is, does it only serve the purpose of entertainment or there is any certain trait which society routinizes from generation to generation since the childhood.

Methodology

Individual Case Study is a technique used in the paper to analyze the feminine and masculine specific traits that stories have embedded.

The paper revolves around 3 perennial famous childhood stories of bed-time (Rapunzel, Cinderella, and Snow White) focusing on gendered content of stories. The stories are randomly picked up from brother Grimm's (Jakob and Wilhelm) collection of the folklore of past times. Grimms' fairy tales, originally known as named as 'Kinder-und Hausmärchen'[14] in German language known as 'Children and Household Tales' in English (listed by UNESCO in its '*memory of world registry*'), translated by Margret Hunt (1884) called "Grimm's Household

Tales" then again revised by D.L.Ashliman (2000-2002).

Little Snow-White

Background: The Story Of Snow-White[15]

First published in 1812 in Germany, Fairytale features such elements as the magic mirror, the poisoned apple, the glass coffin, Evil Queen, Seven Dwarfs, Snow White and the prince.

Storyline

The story revolves around the snow-white (heroine) and her stepmother (evil queen) who was jealous of Snow white's beauty. The Queen had a mirror, possessed with magical power which identified snow white as the most beautiful girl in the world on which the queen became jealous. She attempted to murder her through conspiracy several times, but somehow she runs away and gets rescued and helped by the seven dwarfs whom she met in the jungle. The queen with a poisoned Apple poisons Snow White but somehow the Prince reaches to her and rescues her life out of the poisoned apple and the evil queen. The story ends with her marriage with the prince and they lived 'happily-ever-after'.

Feature

Beautiful like no one else, fairest of all like a white-snow, very soft-hearted, soft-spoken, sweet voiced, hair as black as ebony, lips as Red as Rose, animals are her only friend. Loved by almost all creatures except her evil mother, gentle, sweet and cheerful, generous helpful, sensitive, somehow detached from her real mother who was dead.

Values (gender construction of story)

From the above features the analysis of Snow While's is character can be drawn She is the typical traditional girl who is beautiful, very sweet voiced, kind-hearted, who loved almost all creatures of the world. She lived with dwarfs; it also implies that she easily trusted people, making no fun of anyone. She was sensitive to the problems and the grief of others. She was obedient, followed all commands asked to be done. All these characters would bind up together to be a good girl like snow-white and her followers should maintain such traits to be like her.

Cinderella

Background: the story of Cinderella [16]

It is a romantic story emerging out of the sufferings. The tale features Cinderella the heroine, her two step-sisters, her step-mother, Prince Charming and a fairy godmother.

Storyline

The story of Cinderella begins with her misery after her real mother dies, how her step-mother and step-sisters torture her. She works in the house like a servant all day. One fine day the king in the town invites all the ladies to the ball-night where the Prince Charming is the charm to attract. Everyone except her goes to the ball. She remains back home working and crying and suddenly god-mother appears to make her ready for the ball with her spells which would work till midnight. Cinderella catches the eyes of all along with the Prince Charming. She spends her time at the ball till the clock strikes midnight, and runs away after. Her lost slipper made her path to get identified by the prince and marry her to live 'happily-ever-after' in the castle.

Features

Fair complexion, blonde hair, soft-spoken, soft-hearted, innocent, kind, gentle, animals are her only friend, sweet, and sensitive. She takes all pains and works in a very calm manner, never aggressive or angry, respects everyone, loving and caring in nature, nurtures others even being in pain, homely.

Values (gender construction of story)

Analyzing the story it is the most basic romantic story-line with a girl who marries a Prince Charming to get away from all her problems and sufferings in her life as if the only solution to the problems were to marry the Prince. The story throughout, depicts gender prescribed roles and explanations of society to look most beautiful and work at home in the most dutiful manner. She suffers from great torture and misery by her relatives but she is all-time good to them, she is a hardworking lady working all day at home yet manages to look the most beautiful at the ball.

Rapunzel

Background: The Story Of Rapunzel [17]

Published in 1812 as a German Fairytale. Rapunzel story revolves around very few characters; Rapunzel her long hair, evil-witch, prince.

Storyline

The story starts with the carpenter and his pregnant wife who fell in the greed of lettuce garden

owned by evil-witch who demanded the daughter as a fine to Steal lettuce from her garden. The couple to protect their child after birth kept her in a tower in the jungle but knew nothing that the witch had kept her eye on them through her magic-ball. She spelled the couple to a long sleep and took their place in the tower to their daughter, kept her captured in the tower, till prince came and rescued, later married and 'happily-lived ever-after'.

Features

A traditional girl who is known among stories for her long hair, had so long that she used her hair to make exit and entrance for anyone in the tower, tortured, separated from her parents, animals were only her friend till she met Prince, was good in singing, sad, detained from whole world, Prince came and saved her, remained in home all day long obviously had no one else so she would work all at home, easily controllable and suppressible as was done by the witch.

Values (gender construction of story)

Analyzing the story of Rapunzel we againcome across the same pattern as above two stories where the princess was living in misery till prince came to save her, Rupunzel is homely, lives in the home, loves to sing and marries at the end to live happily-ever-after.

Conclusion

Similarities among the three heroines of the stories

The three stories of Little snow-white, Cinderella and Rapunzel have basically a common storyline. The stories reveal the following ideas from gender perspectives.

Common feature and traits of the Heroes:

All the three hero characters are described as, prince (it reveals that all of them were rich), charming, handsome, helped a stranger girl with whom they fell in love with, brave and well versed with fighting equipment of the time, independent to decide even their marriage, belief on themselves more than any magic or spell, the prince is the rescuer. Although the stories are titled keeping central the female characters the charm in stories comes by the arrival of the prince, when they saved them and married.

Common feature and traits of the Heroines:

All the three heroine characters are described as damsel-in-distress, victimized ladies rescued by a respective prince and married. They had a very normal appearance in the story as normal living girls with problems all around, kind-hearted, soft, generous, loved animals, homely, motherly, nurturing, fearful, crying in crisis, submissive in nature. From the initial phase, till rescued by the prince they were living a life full of misery but marrying the prince ends the story living happily-ever-after. They believe more in magic and spell; they are surrounded by different magic and spell. They are dependent, need protection, have no knowledge of equipment like male characters. Even being the central character in the story they are dependent characters. All three ladies are tortured by their own family members but got help from a person who came from nowhere and became so important in their life. All the three characters had one special attribute which made them special and attractive for the prince (Cinderella had her shoes, Snow-White was known for her beauty and Rapunzel had long hairs).

Gender Role and Expectations of Society

Stories present a structured analysis of the expectation of society based on gender belonging. Male characters represent a dominant role in all the three stories where they are presented to be protector, brave, well equipped. Any feature depicting them as weak is not written as their trait, for instance, the emotional status of the prince is not discussed whereas in the case of female characters their emotional status is described all along in the stories, depicting that females are more emotionally presentable than men.

In the representation of characters from stories, male characters are presented in a manner that an image of strongest can be depicted whereas for girls features are more inclined to be developed as soft and delicate. Stories depict a line of the presence of magic and spell in the life of female characters which helped them at times of need but for male characters, it is always their heroism which helped.

All the three special attractions owned by the female characters are very girly in nature, it could have been anything than any person could have owned irrespective of gender.

All three stories end with rescue by the prince and marriage, living happily-ever-after, presenting an image that marriage is the ultimate salvation for girls as well as the only goal, without the attainment of which they cannot live happily.

Presenting an outline of torture by own family members and rescue by a stranger who suddenly

becomes the most important character in the life of female character harms the mind of children who listen to the stories not just for the sake of entertainment.

From the above description of all the princess in the story of Cinderella, Snow White and Rapunzel we can see that the characters are natured along the traits and features as accepted by society to be feminine and masculine. How a man should be developed in society and how a female should be raised depends on others in society. Masculine characters shown in the stories have the least role to play but are the most essential roles because they help these damsel-in-distress ladies to get a good life by marrying them.

All these three characters (ladies) have nothing to do with Independence, freedom, weapons, and revolution rather they live silently in-home and suffer from all the tortures but never revolt back. This also explains a very thin line of socialization of gender in character, that is a woman should always be kind and soft. Even after all the misery in her life she should not be unkind and harmful to other people. She is made to love everyone all the time despite ugly conditions she is facing in her life whereas the brave male characters in the stories who helped these ladies are from nowhere in their life but bold and rebellious in nature who help their ladies by saving them and protecting throughout by marrying them.

It also presents gender stereotypical role of masculinity and feminity, one rescuer other getting rescued, one brave and confident other is shy, fearful and lacks in confidence, one can take his life decisions himself other depends on the other for her freedom, one is extrovert and outward other is introvert and homely. Seeing minutely it can also be observed that the characters in the stories have similar gendered-features as expected by the society being a member of society born in the masculine or feminine gender.

References :

1. Taylor, F. (2003). Content analysis and gender stereotypes in children's books. *Teaching Sociology, 31*(3), 300-311.
2. Lorber, Judith. (1994). *Paradoxes of Gender*. New Haven: Yale University Press.
3. Lorber, Judith (2005). "Night To His Days: The Social Construction Of Gender". In The Spirit Of Sociology: A Reader, Ed. R. Matson, 292-305. *New York :Penguin.*
4. Fox, Mem. (1993). "Men who weep, boys who dance: The gender agenda between the lines in children's literature." Language Arts, 70 (2), 84-88.
5. Albert, A. (1988). Children's gender-role stereotypes: A sociological investigation of psychological models. *Sociological Forum,* 3 (2), 184-210
6. Trepanier-Street, M.L., & Romatowski, J.A. (1999). The influence of children's literature on gender role perceptions: A reexamination. *Early Childhood Education Journal, 26*(3),155-159.
7. Temple, C. (1993). What if 'Beauty' had been ugly? Reading against the grain of gender bias in children's books. *Language Arts, 70* (2), 89-93.
8. Rudman, M. (1995). *Children's literature: An issues approach* (3rd edition). New York: Longman.
9. Kramer, M.A. (2001). *Sex-role stereotyping in children's literature*. Unpublished master's thesis, Pennsylvania State University, University Park, PA.
10. Singh, Manjari (1998, November). Gender issues in children's literature. *ERIC,* Identifier: ED424591. Retrieved July 11, 2011, from http://www.indiana.edu/~reading/ieo/digests/d135.html
11. Ernst, S.B. (1995). Gender issues in books for children and young adults. In S. Lehr (Ed.), *Battling dragons: Issues and controversy in children's literature* (pp. 66-78). Portsmouth, NH: Heinemann.
12. Witt, S.D. (1997). Parental influence on children's socialization to gender roles. *Adolescence,* 32 (126), 253-260.
13. Kortenhaus, C.M., & Demarest, J. (1993). Gender role stereotyping in children's literature: An update. *Sex Roles, 28*(3), 219-232.
14. https://www.neh.gov/humanities/2015/marchapril/feature/how-the-grimm-brothers-saved-the-fairy-tales
15. https://www.pitt.edu/~dash/grimm053.html ; 'Grimm 053: Little Snow-White'
16. https://www.pitt.edu/~dash/grimm021.html; 'Grimm 021: Cinderella'
17. https://www.pitt.edu/~dash/grimm012.html ; 'Grimm 012: Rapunzel'

KĀMA PURUṢĀRTHA, A PHILOSOPHICAL REAPPRAISAL

DR. JAI SINGH *

The Hindu value system is represented by the term *puruṣārtha*. *Puruṣārtha* means values which are ultimately aimed by *puruṣa* (conscious being) पुरुषः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः। *Āpastamba sūtra* says that these ends or ultimate goals of life are four: *dharma*, *artha*, *Kāma* and *mokṣa*. These terms may be roughly rendered by 'duty or virtue', 'wealth or material well being', 'pleasure and aesthetic satisfaction of desires' and 'final release or salvation'. These four have intrinsic value in them, i.e., they are means to no other end; they are end in themselves. These are the four basic pursuits which each person searches for, according to his nature, temperament and requirement.

Each of these areas has been the subject matter of ample discussion in ancient Indian literature. Investigation, special treatment and study of these are acknowledged as *Śāstra*. These *Śāstras* (in the form of systematic study of tradition) are known as *Dharma Śāstra, Artha Śāstra, Kāma Śāstra* and *Mokṣa Śāstra*. *What* is *śāstra? शास्त्रं इति शासनोपायं – a Śāstra* is an instrument to create order within an area of human concern. It is a tool which provides lawful administration/arrangement and also provides protection to the people. A *Śāstra* defines what success is, how to measure the same and how one can succeed in that field. Every *Śāstra* is written with a *prayojana* (purpose) in mind, for a *kalā* or *vidhyā*. It investigates a continuous process of achievement in its chosen field. They are written for the practitioner with the purpose of making *prayoga* (practice) reliable. *Śāstras* usually do not prescribe things; in most cases they are descriptive. They don't stand for all ages. They need to be adapted and can be rewritten according to the need of time and change.

Kāma –

Word *Kāma* means desire.[1] Desire and attraction together constitute the root of this entire universe. Science has proved that every substance in this world attracts another substance so this *Kāma* is in the root of every substance. *Amarkosha,* places *Kāma* under the category of Mental feeling. In *Rigveda, Kāma* is equated with seed of mind.[2] In India *Kāma* was not seen as a solitary pursuit in itself but a part of a totality. Vatsyayana's *Kāmasūtra* begins with the benediction *dharmarthakamebhyo namaḥ*- I bow down to the purusharthas *dharma, artha* and *Kāma* (in that order). Vatsyayana defines *Kāma* as a *pravṛtti*– an outgoing of the five senses, the mind, the instruments of action *(karmendriya)* and active enjoyment through these.[3] Neither mere sensory titillation nor pure Platonic love qualifies as *Kāma* by this definition. Here, Vatsyayan is very clear in defining *Kāma.* He doesn't equate *Kāma* with physical pleasure alone and by definition it is very clear that *Kāma* is not limited to lust. *Kāma* had a beautiful place in the Indian tradition. It is seen there as natural, social and desirable. There is a clear justification of why humans need *Kāmaśāstra*. The commentator argues that humans, unlike animals, have social structures, mental complexes and psychological backgrounds. Further, humans have been ruined by excessive desire like *Kīchaka* in the *Mahābhārata.* Limited and lawful *Kāma* brings stability, peace and protection in the society. It also curbs illicit adultery as well as corruption while unlimited *Kāma* results into the degradation of a person, then family and consequently entire society, leading to pain, sorrow, and disorder. *Bhagvadgītā* echoes the same – *Kāma* rooted in *Adharma* yields mixed progeny which destroys first *Kula,* then *Jāti* and then entire society.[4]

Vatsayayana in Kāmasūtra has given two definitions of Kāma, first similar to the above, calling it as sāmānya Kāma*,and second definition as sensuous and sexual pleasure, specifically Kāma or viśesaKāma. There are two types of *Kāma* – Normal and Divine. Normal one contains mainly desires including pleasure while divine one contains desire to do great deeds and at times desires of deities as well. Thus the Kāma could be described as sexual pleasure, procreative urge, man's appetites, aesthetic enjoyment and all the pleasures derived from mental faculty. However, in general the very first meaning associated with

*"Srotratvak cakshurjivhaghranamatmasaumkaten manasadhisthitanam svesu svesu visayesu anukulatah pravrtti kamah". - **Kamasutram** I.2.11-12

∗ Assistant Professor, Philosophy, MMV, Banaras Hindu University, Varanasi

Kāma is 'to desire', as we find in its Sanskrit origination as - *'Kāmyate iti Kāma'*. As a matter of fact this lies at the root of any activity. Even it has been positioned as the first cause of creation.

Desire is a prime psychological fact. We desire for things, but only desire cannot produce result or object; for this we require to have a kind of means to fulfill or actualize it and here the relation of *artha* and *Kāma* becomes evident. *Artha* plays the role to satisfy the desire and this is its instrumentality, usefulness and *arthattva* of *artha*. Further question comes is the fulfillment of *Kāma purusartha* for the sake of itself? or do we seek any other end through it? At the first sight its answer is 'no' because satisfaction of desire could be an end in itself. Therefore, *Kāma* in this way is considered as an end value. But there are some problems associated with the *Kāma purusartha*, for example, one may think to fulfill that desire or that *Kāma*, which is against the welfare of others, for example, one person may desire another person to be his servant forever. So under the realm of *Kāma* the nature of desire or *Kāmanā* can be infinite and even against the person itself because the *Kāma* as delirious cupidity when pursued with single devotion makes the agent headless to profit and pain and at the peak of it the agent loses all the sense of proportions and balance. Therefore, here comes the need for the higher guiding principles, which can obviate and adjudicate the conflict among the desires or we can say that which can guide or regulate the *Kāma*. For the purpose of this, Indian thinkers conceived *dharma*.

Reason of the creation of this universe is *Kāma* as per Rigveda[5] which means emergence of *Kāma* is divine. To fulfill the earthly purposes, humans take birth by this *Kāma*. The same has been said in Upanishad too.

सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेत। तैत्तिरीयोपनिषद् 2.6

In *Bhagvadgeeta,* Shree Krishna says – I am this *Dharma* based *Kāma* in all entities of this world.[6] In *Pauraṇika* literature and in classical literature (Literature of *Kālidasa*, *Māgha* etc.), *Kāma* attains the stature of a deity and also finds place in *Nātyaśāstram. Kāma* finds space in Hindu sculptures and architecture as well. In four *Purusharthas, Kāma* finds place just before *Moksha* which shows the utility and importance of *Kāma* before a normal person can concentrate on *Moksha. Kāma* is ultimately a supporting tool for a normal human to reach to *Moksha* and not an obstacle to it.

There are sixteen traditional *Samskaras* (Ceremonies) in Bharatiya society which are rooted in the scriptures. Among them are *Garbhadhān*, *puṁsavan* and *Vivāh* in which importance of *Kāma* can be seen. *Vivāh* is termed as the prime *Saṁskāra* among all in *Grihasthāshrama*. *Vivāh* is called a *Yajña* in Vaidik literature.[7] One of the main objectives of *Vivāh* is to obtain progeny for which conduct of *Kāma* rooted in *Dharma* is vital.

Here, understanding of two common terms are essential – *Kāma* and *Yauna* यौन.

- If the physical relation gets established to obtain progeny as per *Dharma,* then it is *Kāma* and such relation is called *Kāma Sambandha.*
- If the physical relation gets established out of pleasure then it is *Yauna* and called *Yauna Sambandha.*

Meaning of *Kāma* is not only limited to physical pleasure or lust. Divine *Kāma,* narrated in *Vaidika Śāstras*, is a reason of the creation of both – universe and all beings, and attains the status of a deity in *Pauraṇik* literature. Further, it finds proper place in classical literature as well as in art forms. Thus, it also has a positive place in all aspects of human society. *Kāma* has been understood as the complementing factor for other three *Purusharthas* and also been given prime importance in sixteen ceremonial rites in Hindu culture. Thus, it is clear that *Kāma* rooted in *Dharma* was always an important facet of our society.

In the last and final aphorism, Vatsyayan has made it very clear that whoever will read this scripture keeping sensual pleasure alone in mind will never gain anything out of it but the one who will study it with *Vivek* (Wisdom) will receive the nectar.[8]

In short, the scope of the *śāstra* is not limited to enunciating sexual positions alone, but is actually aimed at providing a nuanced and enriching

understanding of man-woman relationship so that a harmonious society could be established.

Vatsyayan: *Kāmasūtram* is the perfect tool to make the married life complete.

सा चोपायप्रतिपत्तिः कामसूत्रादिति वात्स्यायनः ।। कामसूत्र 1.2.19

To acquire pleasure and comforts in life is not irreligious as majority of religions propound today. According to them only a sacrificing person, who is detached from worldly, mundane pleasure is fit to attain perfection and supreme state. This is but a false notion, for all the great spiritual giants of the bygone times always gave some prominent is to pleasures and rich comforts in their lives, along with meditation, worship and *sādhanās*. They have always maintained that only through a perfect equilibrium between materialism and spiritualism can a person attain totality.

Why we seek sensual gratification! Why is *Kāma* so pleasing? Actually our aim is *ānanda* and not *sukha*. Through sensual gratification we seek pleasure which is short lived, temporary and shadow of the permanent, immortal *ānanda* of the Self. It's just like the drop of water which originates from ocean and falls on Himalaya and through river, after a long journey it is eager to meet its source, ocean. Similarly it is search of the Self by the Self; and no worldly pleasure can satiate it. The Ultimate desire that brings contentment is union with the beloved; this is equally true in both worldly and transcendental sense. Hence saints have compared sexual pleasure with *Brahmānanda*. Sensual pleasures hint towards the immortal, permanent perennial bliss of *Brahmanānda*.

Śri Raman Maharṣi told that even the path of Knowledge is based on love since one seeks after only that what he loves. So if one wants self-realization then it is because he loves himself *ātmarati.*

Bharata Muni believes the *Kāma* to be the foundation of all other emotions

प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते। स चेच्छागुणसम्पन्नो बहुधा काम इष्यते।।

धर्मकामाऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च। स्त्रींपुसयोस्तु संयोगः यः कामः स तु स्मृतः।।

यः स्त्रीपुरुषसंयोगे रतिसंयोगकारकः। स शृंगार इति ज्ञेय उपचारकृतः शुभः।।[9]

Similar ideas are found in *Bhāgavata Purāṇa* where it describes the four *puruṣārthas* as four *Kāmas*. यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामाः भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति। [10]

Similarly the Bhāgavata Gītā also denotes a *nivṛtta* man as having '*Ātma-Rati* i.e. 'love for self:

यस्त्वात्मरतिरेव स्याद् आत्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते।।[11]

It is the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* which declared boldly and explicitly: "None, O beloved, loves the husband for the husband's sake, but for the Self that is in the husband; none, O beloved, ever loves the wife for the wife's sake, but for the Self that is in the wife…… None ever loves anything else, except for the Self."

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। .....न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।[12]

Similar views are found in the *Bhāgavata Purāṇa*. *Śri Sukadeva* addresses to *Parikṣita* "O King for all beings in the world it is one's own Self that is dearest; one loves his children, wealth etc. because these are loved by one's Self".

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः। इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि।।[13]

Raghavana observes that, the "Ego-consciousness *Ahaṁkāra* is the first germ from which is every other emotion born. It is the *Ātman's* love for itself, *Ātma -Rati* and *Ātma -Kāma*. Hence it is that the *Veda* says:

'कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।' 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति।' " [14]

Raghavana notes that ".....finally every kind of love is a kind of love of *Ātman*....."

From the above discussion it follows that the locus of love is none but Self. This love manifests itself in two dimensions, as the sufi-saints call *Iṣka majāji* (worldly love) and *Iṣka hakīki* (Divine love). Swami Vivekanand says that "we cannot conceive of any higher enjoyment than that of love, but this word love has different meanings. It does not mean the ordinary selfish love of the world; it is blasphemy to call that love. The love for our children and our wives is mere animal love; that love which is perfectly

unselfish is the only love, and that is of God. Actually the barbarians, savage races have much stronger sensual faculties than the civilized Races. Those who desire to have only sense-enjoyments degrade themselves to the brute state. But he believes that though this lower ideal be followed for a time, it will also in course of time change, each man will find that there is something higher, of which he did not know, and so this clinging to life and to things of the senses will gradually die away."[15]

Vivekananda gives the reason that no one in this world can really love anything but God. Human love is but all hollow. He believes that all the love of the world is hypocrisy and hollowness. Actually neither a finite subject can love, nor a finite object be loved. The only real love that can be is in God. The worldly loves are mere stages. He illustrates with the example of a couple. The wife loves her husband thinking that her whole soul is absorbed in him. Then comes a baby and half of it goes to the baby. She herself feels that her love for her husband is not the same now. Similar is the case with husband. He further says that a child thinks that his dearest is his friend, father or mother, and then comes the life partner, and "immediately the old feeling disappears, and the new love becomes uppermost. One star arises, another bigger one comes and at last the sun comes, and all the lesser lights vanish. The sun is God (divine love) and the stars are the smaller loves" worldly love.[16] Actually love is not two, three or many; it is but one, (love divine) and all else are mere aspects of it.

Gopinātha Kavirāja notes, 'जो मैं हूँ वही तुम हो, फिर जो तुम हो वही जगत् है, इसलिए जिसे आत्मप्रेम कहते हैं, उसी का दूसरा पहलू भगवत्प्रेम है वैसे ही भगवत्प्रेम की दूसरी दिशा जीव और जगत् के प्रति प्रेम है। मूल वस्तु एक और अद्वितीय है।'[17]

S.K De observes that "the *Prīti* is the highest good can also be established by the ways of the world (*lokavyavahāra*). All beings are naturally inclined towards *Prīti* or love, for it is seen that life itself is sacrificed for the beloved object. A man seeks different objects of love in his childhood, youth and old age, but his search is never fully satisfied; for everyone desires to love that object which brings the highest and most enduring bliss, and such an object is unavailable in the phenomenal world. The *Bhagavat* alone as the source of such bliss is the highest object of love. Thus through cycles of birth, the *Jīva* never realises the proper and fully sufficient object of love rests. One who is full of *Prīti* towards the *Bhagavat* can have no love for any other object; even emancipation as such is insignificant to him. In saying, therefore, that *Prīti* is the highest good, one can only mean *Prīti* towards the *Bhagavat*."[18]

At the end I would like to conclude with a verse from the *Mahābhārata* which signifies *Kāma* by saying that the sages can't do away with the god love. If they kill him i.e. give away all the feelings, wishes etc. i.e. *Dharma*, *Artha* and *Kāma*, then also he will keep subsisting as *Kāma* for *mokṣa* i.e. *mumukṣā*.

यो मां प्रयतते हन्तुं मोक्षमास्थाय पण्डितः। तस्य मोक्षरतिस्थस्य नृत्यामि च हसामि च।।[19]

References:

1- अमरकोशः

2- कामः मनसः रेतः (ऋग्वेदः 10.129.3, नासदीयसूक्तम)

3- कामसूत्रम् 2.1.11

4- अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वाष्णेय जायते वर्णसङ्करः।। 1.41 ।।
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च पतन्ति ।। 1.42 ।।
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।। 1.43 ।।

5- ऋग्वेदः 10.129.4, नासदीयसूक्तम्

6- धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ, श्रीमद्भगवद्गीता 7.11

7- अयज्ञियो ह वा एष योऽपत्नीकः। (तैत्तिरीयब्राह्मणम् 2.2.2.6)

8- कामसूत्रम् 7.2.59

9. Bharat Muni: Nātyaśāstra, Nirnaya Sagar Press, Bombay, 1894, Ch.XXIV. 90-92

10. *Bhāgavata Purāṇa*, VIII. Gajendrastava

11. *Bhāgavata Gītā* III.17

12. *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*, II.4.V

13. *Bhāgavata Purāṇa*, X-A 14.50

14. Raghavana: Bhoja's Śṛṅgāra Prakāsa, Vol.II p. 441, Madras, 1978

15. Vivekanand: Religion of love, p.24

16. Ibid., p.27

17. *Gopinātha Kavirāja*, Bhāratīya saṁskṛti aur sādhanā Vol II, Bihar Rastrabhasa Parisad, Patna, 1977, p.310

18. Ibid., p. 384

19. *Mahābhārata*: *Aśvamedha parvaṁ*, Chapter, 13

UNDERSTANDING CRIME, GENDER AND SOCIETY

DR. BIBHA TRIPATHI*

The public's eyes are blind, their ears are deaf and their mouths have no words. We are almost extinct: China's investigating journalists silenced under XI (Zhanq Wenmin)[i]

"We (the Indian army) are conservative. We are neither modernized nor westernized. We will not follow the verdict on adultery and homosexuality.[ii]"

It has been an optimistic concomitant that twenty first century will be free from the constructed notion of gender and the society will be more egalitarian, where ratio of crime rate will decline, so on and so forth. Alas, the exactly contradictory situation is prevailing and the version of futurist criminologists are turning to the reality that as we are moving forward an unprecedented level of criminality is awaiting us.

Gender appears so closely linked to most forms of criminal activity. It has been called the best single predictor of criminality. The recent incidents of gender based crime[iii], instant (lynch) justice, creaking criminal justice system compels to pen down the thoughts obsessing the very function of critical and analytical thinking of a law teacher. The gap between the 'principles and the reality', between the 'is law and ought law' between the 'bookish knowledge and pragmatic approach' are perplexing those who have deep sensitivity and concern for the social problems. People are delivering lectures, writing books and completing researches without changing their own understanding, biases and prejudices. Therefore, the present paper attempts to discern the notion of crime, gender and society, so that we can move from grabbing headlines to getting solutions.

Society is discussed first because an occurrence of crime and responses against the same shows the characteristics of the then society and every society affects the interpersonal relationship. For today's generation the society may be an imaginary society or dreamy society or virtual society. In such societies the role of social media is playing havoc. Number of cyber offences is reported due to drugged culture of severe involvement in social media. As a matter of history, one has studied that societies are of following types; Feudal, Fascist, Capitalist, Consumerist, Patriarchal, Conservative, liberal or permissive. Here, a French sociologist Emile Durkheim becomes relevant in a sense that every society witnesses the existence of the preceding society too. Meaning thereby, the 21st century may acclaim it as a liberal, progressive and permissive society but certain instances relating to ghastly crimes establish that it is still Feudal, Fascist, Capitalist, Consumerist and Patriarchal, and is still prejudiced towards "the other.[iv]"

Women are known as "the other" not only for the predators but also for the executive and judicial agencies. Every step taken by them can be categorized either as formality or as face saving or as political vendetta. Those who are concerned with are blamed with.

Against this backdrop if one attempts to understand women, certainly undergoes with enormous and perplexing stratification and categories. This enormous Stratification is seen from the industrialist Neeta Ambani to the beggar cum singer Ranu Mandal. It is not only economic stratification rather socio-cultural too. It can be discerned on the basis of caste, creed, race and education etc. Here we can see the differential treatment to an unborn child. If it is sonographed as girl child then there is a very little chance that she takes birth. If at all she takes birth then the remaining crucial battle starts. The educated / uneducated / employed / unemployed / Married / unmarried / widow / Divorcee / Live in Relationship / rural / urban / refugee/ migrant /exiled/detained/ heterosexual / homosexual/ lesbian / criminal / victim/convicted/acquitted/ prostitute / Bar Dancer/ Cheer Leader/ Leader/ Divyang /scheduled caste/tribe/other backward class/ minority/persecuted or otherwise. Though the list of binary is endless but every single category needs uniform and differential treatment depending upon their personal and general needs.

The enormous stratification is not only witnessing women against women but also supporting

* Professor, Faculty of Law, Banaras Hindu University, Varanasi

a post truth phenomenon of misuse of law by women. Because women are not showing empathy towards other women rather they are analysing women according to their own status and position in the society. There are conflicts and contradictions among women in relation to different rights. The woman in favour of liberalised movement on abortion will never support the pro life movement for protecting the life of unborn foetuses. A married woman suffering from everyday incidents of domestic violence will criticise that woman who is in live in relationship. It is absolutely unpredictable that which woman is showing typical patriarchal characteristics at which point of time.

Different women different understanding (L.A.W)

Since there are different types and kinds of women so it can be understood in reference to their approach towards the law. First is of that group who neither knows nor understands the legal provisions and protections available under law. Second is of that group who not only knows the legal provisions but also having expertise of law. This group delivers lectures too but never applies any of the legal provision for its own protection. But, one group is certainly there who knows the provision and applies too. Apart from this, there is another group who has subjective perception of law and adopts different opinion in different situations.

Though the paper is written in the first month of the third decade of 21st century but certain examples of 2019 or even of some more back years shall be taken into account so that the paper successfully achieves its objectives. Last years international women's day was celebrated with the theme on balance for better. And the goggles' doodle had mentioned that never be limited by the other peoples limited imaginations. Meaning thereby a woman should not suffer from expectation hangover. In 2019 a book was published[v]and it was highlighted in the book that though we don't admit it publically but there is horrendous imbalance in power between men and women. Rights, laws, remedies are just hoax. We talk about paradoxes and we are in need of paradigm shift.

Status of women

Whenever we try to answer on the question of status of women we are bound to discuss the Legal status, Social status, Economic status and last but not the least the Family status of women should also be discussed. Because family is the very first unit from where every single dimension of a woman's life is decided. Since in patriarchal societies it is a bitter reality that the sufferings of wife is more than the suffering of daughter if it is the only daughter and gradually increases with the increasing number of daughters. In recent times, at least they are allowed to do study and pursue their career provided they are following all established norms. Though there are few fathers who have broken all the stereotypical thinking for the welfare of not only their daughters but also for their wives.

Shades of feminism and Shared version of feminists

Feminism is a method of study[vi]. Now it has travelled from feminism to feminisms from feminist to feminists. Feminism is a way of seeing the world it is not exactly a sexual orientation. To be a Feminist is to combine a Female Mental Perspective with Sensitivity for those social issues that influence primarily Woman[vii]. Feminists have consensus on Women Oppression but they differ on the quantum and standard of Women Liberation.

Understanding law

Understanding law means understanding not only the aspirations from law but also to understand the reality of law and perceptions of law. It is a sheer aspiration that the constructed notion of GENDER can be abolished through law. The reality is that the law is a site of struggle and not always a tool of struggle. It is also perceived that Law is male, Law is sexist, and Law is gendered[viii].

In the context of patriarchal state the role of law in question becomes relevant. It is said that the laws are the formulae in which the social state of a country is summed up, they are its mirror. Women as a dependent and subjected sex make no exception to this rule. The laws are negative and positive, negative in as much as they ignore the existence of women.

Domination: a known fact

Virtually every society of which we have knowledge practices some differentiation between women and men and patterns of gendered inequality and male domination. Judiciary in India is still locked into a traditional social and cultural context wherein women cannot walk into the public domain while men can.

Crimes against women

Although, women may be victims of all kinds of crime, be it cheating, murder, robbery etc. Yet the crimes in which only women are victims and which are directed specifically against them are characterized as "Crime against Women"

National Crime Record Bureau Report 2018

According to latest National Crime Record Bureau Report 2018, more women were killed after being raped in 2018 than in 2017[ix] and it shows 31% spurt in cases of rape with murder. An officer with the bureau of police record said that it is difficult to say why this may be happening. It is possible that inclusion of death penalty for punishment against rape encourages the perpetrator to kill the victim. But it cannot be said with much confidence.

Concept of crime and defining power of law

The defining power of law is very important because it is an established fact that an injury is not an injury until it had a legal name and definition. But defining is also criticized by the post modern thinkers that it makes your mind definite and excludes number of criminal activities which are similar in nature from the exclusive definition of particular offence only because it has been defined in a particular manner. Either it is a case of sexual harassment or domestic violence or it has been a case of stove bursts in mid 90s or a case of female feticide of late nineties.

There is no universal concept of crime. The notion of crime differs from society to society and a question emerges that whether the society changes the law or law changes the society? Its understanding depends sometimes on strict or liberal interpretation. Sometimes through the deconstruction only we can get the real meaning and some times the Post truth dynamics changes the perception. Sometime justice can be ensured only through differentiation not generalization.

Sexist bias of the Bench and the Bar

Women often are the most victimized group in any country. Text and context of discourse which very often treats men as husbands & women as wives only establishes patriarchy, prejudices and perceptions, right from the Supreme Court judge to an ordinary man. The judge's perception is highly affected with the background from which and socialization in which they have been. The sexist bias of the Bench and the Bar has historically prevented women from receiving equal justice. That is why a judge has held that kicking by mother in law to the daughter in law is not cruelty. Another case of a Retired High Court Judge in which he Allegedly Beats Daughter-in-law over dowry has been made viral on social media. It had 2,355 views till Sep 23, 2019. There were 19 LIKES and 5 UNLIKES. Now the question is of interpretation of likes and unlikes. The other infamous case was of a law student and Chinmayanand, known as Rape v. Extortion case. Increasing numbers of women's groups have, however, forced some courts in Asia to rethink important issues. But still the courts have a long way to go in redressing the grievances of women in the economic, social and cultural spheres.

Post truth politics on misuse of law by women

Recently women who try to take legal recourse for their sufferings are facing allegation of misuse on the basis of low conviction[x]. It is known fact that in all offences rate of conviction is lower than the rate of arrest. Number of cases has been decided over the role of police as to how they should proceed on arrest. In spite of looking into the police lawyer nexus the media- print and electronic is also playing a destructive role. Certain groups have formed Ngo like save the husbands union which is doing mockery on a serious issue.

Recent NCRB report says that access to criminal justice is often determined by how much money, power, and influence the complainant has, who the complainant is able to approach to register her complaint, therefore becomes important. 99% of complaints that are routed through a court are registered as FIR's. So far as online complaints are concerned, it has been shown in the data that only 3% of complaints filed online were converted to FIR's and complaint's made through dial 100 had only 1% success rate. It shows that what is projected through state for effective mechanism on crime control is only hoax.

Rape and the process of making of laws

From the very infamous case of Nirbhaya we are witnessing a continuous demand of strict punishment[xi] and the recent incident of Hyderabad rape cum murder of victim and death of accused persons in police encounter. Such incidents have compelled the concerned persons to pen down on such issues because

it is a known fact that neither the stringent punishment nor the encounters will prevent such offences from being committed unless we are back to basic.

Sentencing: a new site for stereotyping, and patriarchal structures

Now the time has come to decide that the haphazard and fuzzy sentencing can never achieve its avowed objectives. There should be no relation between marriage of the victim and sentencing or sexual history of the victim and sentencing.

Identification of victims

There are number of theories evolved for understanding the causes of victimization[xii]. Either it is routine activity theory or victim's precipitation theory or psychosocial coping theory. It is sometimes questionable that whether the theories have been evolved to provide justice to women victims or to question as to why only that particular woman became the victim and not the other one. Since such theories of victimization could not extend complete justice to women therefore, the United Nations has adopted a general declaration on victims of crime and abuse of power. The most important aspect of this declaration is that it provides provision for compensation to the victims even if the accused remains unidentified or could not be apprehended or remains unprosecuted or could not be convicted. Because in all such circumstances the one thing which cannot be denied is that the woman has suffered violence and thus is a victim.

Conclusion

The whole article strives for justice. Though Justice has a protean face but it has to be remembered that injustice anywhere is a threat to justice everywhere[xiii].

Suggestions

It seems necessary that a paradigm shift is to be captured in which not only the high profile but other cases should also be dealt with utmost sincerity and the aim of rape law should be to protect the bodily integrity of women and it should not be kept in patriarchal notion of honour and shame. Apart from this we should also engage men for gender equality with a sincere focus on adopting preventive measures and enhancing police patrolling. Neighbourhood vigilance should also be focussed. The paper ends with an observation that suggestions can never be exclusive and it is open to include all good suggestions.

Reference

i She was once one of China's most feared journalists, roaming the country uncovering stories about police brutality, wrongful convictions and environmental disasters. But these days she is struggling to be heard. The police intimidate Zhanq's sources. The authorities shut down her social media accounts.

ii Army chief general BIPIN RAVAT statement

iii Rape and murder of veterinarian doctor

iv Capitalism and Patriarchy are Two Headed Monsters

v Githanjali; The Rock that was not,

vi Mac Kinnon. C. A. Feminism, Marxism, Method, and the State: Toward Feminist Jurisprudence. Signs 8. no.4 (1983) 635-58

vii Ann Acales, The Emergence of Feminist Jurisprudence: An Essay(1986) 95 *Yale L J* 1373, cited in Akhilendra Kr. Pandey, "Feminist Versions And Law",*Ban.L.J*.2004, 87-104

viii Jane Freedman : *Feminism*, at 2, Viva Books Private Limited, New Delhi, First South Asian Edition, 2002 Caroline Ramazanoglu, *Feminism and the Contradictions of Oppression*, At 6, Routledge, London and New York 1989

ix The Indian Express, Saturday, January 11, 2020

x Bindu N. Doddahatti,The dangerous, false myth that women routinely misuse domestic cruelty laws, August 11, thewire.in, visited on 11th November 2017

xi Audrey D'Mello, Flavia Agnes, Persis Sidhva, The Making of a High Profile Rape Trial, Vol 49, Issue No 29, 19 Jul, 2014

xii James J. Gobert, Victim Precipitation, Columbia Law Review, Vol.77 No.4 (May1977),P-511-553 At 517

xiii Martin Luther King Jr.

●

KAUTILYA'S APPROACH TO AGRICULTURE AND INDUSTRY

PROF. A. P. PANDEY*

Kautilya also known as Chanakya and Vishnugupta was a highly distinguished personality of ancient India. He is known on account of his profound learning, tenacity, pragmatic approach and exemplary statesmanship. Kautilya was a revered teacher and prime minister of the king Chandragupta Maurya, who ruled from 325 B.C. to 273 B.C.[1] On the basis of epigraphical researches, Dr. Shamasastry opined that Chandragupta ruled between 321 B.C. to 296 B. C. and the famous book Arthasastra was written between 321 B.C. and 300 B.C. by Kautilya.[2] It may be concluded that the 'Arthasastra' might have been written around 300 B.C. by Kautilya.

The detail description of agriculture and industry of Kautilyan period has been given in the book, Arthasastra. In this regard Kautilya's prescriptions were based on the past experience of the country, on his superior intellect and practical wisdom. He visualized that sincere efforts of the government would be necessary to attain growth with stability in the sphere of national agricultural production. According to him the preservation and promotion of the territory and for the acquisition of new territory, prime role would be played by the revenue derived from agriculture. Such income was derived from maximum utilization of crown lands and others as well as proper collection of land revenue. For enriching the treasury, abundance of harvest was considered absolutely essential. As such the attainment of maximum national agricultural production was considered as the basic requirement for the welfare of the subjects and strengthening of the empire. Kautilya had classified agricultural lands on the basis of ownership management etc. as given below:

Crown Lands: Legally all lands belonged to the king. Crown lands were cultivated on behalf of the king. Cultivation was done under the direct supervision of the 'Superintendent of agriculture'. Obviously such lands have consisted of better fertility and location. It was necessary for the superintendent of agriculture to possess expertise and proficiency in the field of agriculture. At the same time he must have sufficient knowledge of statistics and tree plantation.

Help of slaves, prisoner's and hired labour were obtained to cultivate crown lands. As such the labour cost was to be provided with plough, bullocks, and other necessary instruments. Carpenters, blacksmiths, rope makers etc. were used to assist in the works of crown lands. Artisans were provided with wages and provision in proportion to the amount of work done by them. Kautilya examined the importance of rainfall for agricultural production. According to him when one third of the requisite quantity of rain falls both during the commencement and closing months of the rainy season and two thirds in the middle, then the rainfall is considered very even.

The seeds were to be sown in the lands after visualizing the possibility of rain. Kautilya was aware of the vagaries of rainfall and hence provision of irrigation facility was given special importance in the Arthasastra. He prescribed the imposition of fines for obstructing the flow of water meant for irrigation. He was of the view that seeds of the grains were to be exposed to heat and mist during seven consecutive nights.

The superintendent of Agriculture had to ascertain the availability of agricultural workers and water for irrigation and subsequently he had to grow winter crops, wet crops, and summer crops in the crown lands.

Possessed with knowledge of science of agriculture, water management and managing crops and trees, or assisted by who are trained in such sciences, the superintendent of agriculture shall in time collect the seeds of all kinds of grains, flowers, fruits, vegetables, bulbous roots, roots, fruits of creepers, fiber producing plants such as hibiscus and cotton. The superintendent must be sure that the farmers and labourers are not hampered in their activities and their work does not suffer. The work of the above men shall not suffer on account of any want in ploughs and other necessary implements or of bullocks. Nor shall there be any delay in procuring to them the assistance of blacksmiths, carpenters, basket sellers, rope makers as well as those who catch snakes, and similar persons.

* Former Head, Department of Economics, Banaras Hindu University, Varanasi

Any loss in production due to the above persons should invite fine equal to the loss.

Rice crops and the like are the best. Vegetables are intermediate and sugar cane is the worst (very difficult to grow) for it is subject to various evils and requires much attention and expenditure to reap.

As such he considered rice as the best crop, on the other hand sugar cane was considered by him as worst crop on account of various evils and requirement of much care and expenditure to reap them. However, at present we cannot consider sugar cane crops as the worst crops.

The seeds of grains are to be exposed to mist and heat for seven nights, the seed of kasi (Mung bean, black gram etc.) are treated similarly for three to five nights, the seed of sugarcane and like are plastered at the cut end with the mixture of honey, ghee and cow dung; seeds of bulbous roots with honey and ghee; cotton and hard seed with cow dung; and pits for trees are to be burnt and manured with bones and dung of cows on proper occasions.

Thus Kautilya's Arthasastra seems to be a treasure house of scientific information on variety of subjects which are relevant even to the present times.

After harvesting, crops would be collected and heaped in high piles, but the piles of the crops were to be kept separately in order to avoid risk of fire. Moreover, the threshing floors of different fields must be closely situated in order to avoid any danger. Workman in the fields shall always have water but no fire. Hence it is concluded that great precaution was prescribed for heaping up reaped crops and threshing them. The necessity of setting up strong grains go-downs on elevated places was visualized.

The superintendent of agriculture had to cultivate the crown lands. If some lands remained unsown due to non availability of workers, the superintendent had to let them to individuals.

Land and water were fully owned by the king and hence imposition of tax was considered justified. In traditional settled villages the farmers had to pay water tax at the prescribed rates.

Income from the crown lands was termed as 'Sita' which formed an important source of revenue of the government.

Agriculture in settled villages: The superintendent of agriculture had to supervise agricultural operations in settled villages. Cultivable lands were settled in such villages for life time of the farmers. Farmers had to pay land revenue regularly. On the other hand they were provided money, grain and cattle by officers on behalf of the king. There was the provision of remission of land revenue in case of the occurrence of drought, flood etc. However, care was taken so that remission might not deplete treasury.

Irrigation of the lands of farmers were paid pivotal importance. The king had the duty for constructing reservoirs and supplying materials to farmers for the construction of reservoirs (Setu) filled with water. The guide lines presented by Kautilya regarding irrigation was followed by the administration. According to Kautilya, agriculture was not only a means of livelihood but also a big source of revenue for the state. He has prescribed a mantra to be recited at the first sowing of all kinds of seeds, which reads as 'Salutation to Kashyapa, the lord of creation and to the God of rains. Always may the divine Sita (Agriculture) prosper in my seeds and my grains'.[3] The above reference give evidence that agriculture ranked at the highest position for livelihood, employment, state-exchequer and the national prosperity in that period. The whole nation was inclined to agriculture and our land was all well in all respects.

The technique of agriculture at that time seems to have been the same as in modern India. The field were furrowed with a plough pulled by a pair of oxen. Seeds were sown and when the crop ripened, harvesting was done. There were two harvest every year, the rabi crop and kharif crop. The tilted soil was known as sita. Only well timed rain (suversha) was conducive to excellent cultivation. Showers of rain were most welcome when the corn was half way to harvest.

Kautilya has pointed out the possibility of a good harvest when systematic rainfall rendered three turns of ploughing possible.[4] He has given indications for proper time of sowing different kinds of seeds, and has advised for proper ploughing and increasing fertility of the soil. He has advised that a Wiseman should not leave any thing in the field, not even husk after harvesting the crop. The walls and roof of the go-down should be high, and the tops should not be made very compact or very high. The heaps should be situated along the border of the circle of the threshing floor. At the threshing ground, workmen should not carry fire and should be provided with water.[5]

Kautilya has suggested that the superintendent of agriculture should grow wet crops, winter crops or summer crops according to the supply of workmen and water. Suggesting the best places for various crops, he adds that a region where the foam strikes the bank is suited for creeper fruits, region on the out skirt of overflow for pepper, grapes, and sugar cane; those on the border of the wells for vegetables and roots, those on the border of lakes for grasses, ridges for plants reaped by cutting such as perfume plants, medicinal herbs, etc. and on the lands suitable for each, should be raised such plants that grow on dry lands and that grow in wet lands.[6]

Irrigation: Watering was through natural and artificial means. A natural source means rains and rivers, and artificial sources means wells, tanks and other reservoirs. The seasonal rainfall primarily served the purpose of irrigation. The country witnessed two rains every year, which resulted in two crops a year.

It appears that some kinds of rain gauges to measure the rainfall were known. Kautilya explains that 16 drona is suitable amount of rain for agriculture in forest and dry lands, 24 drona in wet and moist land, 13-1/2 drona in mountain area and unlimited in snowy regions.[7] Kautilya has also said that among the four monsoon months (sravan to kartika i.e. normally August to November), one third of annual rain fall in the first and the last months together, and two thirds in the intervening two months, is the best proportion for agriculture.

Apart from rain, rivers constituted another natural source of irrigation. As a precaution against draught and famine, the significance of providing means of artificial irrigation facilities to the cultivators was well recognized by the state in ancient India. It was made a duty of the king to make proper provision for wells, tanks and other reservoirs.

The ancient Indians knew proper methods of manuring. Kautilya has discussed various types of manures including cow dung, bone, fish and vegetables. He says the soaking in due (by night) and drying in the heat (by day) for seven days and nights is the treatment in the case of seeds of grains, for three days and nights in the case of pulses, smearing at the cut with honey, ghee and pig's fat, mixed with cow dung in the case of stalks that serve as seeds, smearing with honey and ghee in the case of bulbous roots, smearing with cow dung in the case stone like seeds and in the case of trees, burning in the pit and fulfillment of the longing with cow bones and cow dung at the proper time. And when they have sprouted, they should be fed with fresh acrid fish along with the milk of snuhi plant.[8]

There was a need to protect standing crop from animals as well as robbers. Fencing was an important activity for the protection of crops from animals.

An officer called the superintendent of the store house supervised the accounts of agricultural produce out of the crown lands.

Thus, agriculture as the most important industry drew considerable attention from the state in its plan of socio-economic welfare. The needs of agriculture were planned and pursued by the state.

Industries:

Kautilya was of the view that opulence of Industrial production played pivotal role in the augmentation of royal treasury and general promotion of the economy. Main industries of that period may be classified into following four groups:

1. Metal based industries, like the production of articles of iron, gold and sugar.
2. Agro based industries like textile and sugar.
3. Forest based industries e.g. timber industry, manufacture of articles from skins of animals etc.
4. Miscellaneous like production of liquor, salt etc.

Iron and Steel Industry: The superintendent of metals (Lohadhykshah) was assigned the duties to arrange for the manufacture of iron wares also. Moreover, large number of arms were manufactured from iron and steel under the direct supervision of the superintendent of armory. The production of ironware was carried through on small scale. Smelting of iron was performed by adopting primitive methods. Charcoal may be given over iron smelting and lime kiln. The process of hardening of iron by combining with carbon or any other substance was known to the craftsmen.

The blacksmiths must have manufactured axes, spades, sickles, ploughshares, needles and other articles needed in farming and domestic works. The blacksmiths worked compulsorily in manufacturing implements required in cultivation of crown lands. Many articles of armory were manufactured with proficiency. To attain this iron axles must have been manufactured.

The superintendent of armory managed manufacture of different arms from iron as follows: [9]

- Nine immovable machines were manufactured of iron materials.
- Seventeen movable machines were manufactured. Iron parts were fitted in most of the movable machines.
- Eleven weapons containing edges like a ploughshare were manufactured. Heavy top made of iron was fixed in most of the weapons of this group.
- Generally edges of arrows were made of hardened iron.
- Three types of swords were made from hardened iron.
- First type of swords consisted of highly curved, upper portion.
- Second types of swords contained round slope in the upper portion.
- Third type of swords consisted of long size as well as very sharp edges.
- Seven type razor like weapons were manufactured of iron.
- Types of armor, mentioned in the 'Arthasastra'.

* A coat of iron was made so as to cover the whole body together with the head and arms.
* A coat of iron was made without cover for the arms.
* A coat of iron was made of detached pieces to cover the head, the trunk and the arms.
* Cover was made only for the hips and waist.
* Other varieties of armor consisted of cover for the head, neck, trunk, etc. Ornaments for elephant and horses as well as goods and hooks were made of superior iron.

The superintendent of weights and measures had to manage the manufacture of weights made of iron or of stones.

Gold and Silver Ornaments: The manufacture of gold and silver ornaments were managed by the superintendent of gold. Arthasastra mentions in order to manufacture gold and silver jewellery, each being kept apart, the superintendent of gold shall have a gold smith's office (akshasata) consisting of four rooms and one door.[10] The state gold smith was appointed by the superintendent of gold. He possessed skill and adequate training of the art of manufacturing ornaments. The state gold smith appointed required number of goldsmiths to manufacture ornaments to the full satisfaction of customers. Manufacture of ornaments, in any place other than the states goldsmith's office, was punishable offence.

Textile production: The 'Arthasastra' analysed various aspects of spinning and weaving of clothes. For the first time systematic description of the production of cotton, woolen and silk clothes were presented in the treatise. Effective guide lines were given for improved system of production. A separate post of the superintendent of weaving was prescribed, who was assigned the duties of the production of all sorts of clothes. The 'Arthasastra' prescribed " The superintendent of weaving shall employ qualified persons to manufacture threads (Sutra), coats (Varma), clothes (Vastra) and ropes". [11] Emphasis was given both on spinning and weaving.

Cotton was produced in the crown lands or lands of farmers or both. The 'Arthasastra' laid down guide lines for regular supply of threads in weaving establishments. It is concluded that:

- Spinning work was assigned only to fair sex of the society.
- Women belonging to affluent class did not participate in spinning.
- Courteous behaviour was maintained by the authority with women, who participated in spinning works. It may be inferred that in general, women possessed respectable position in the society.
- Women did not face competition from male in the field of spinning.
- Specific wages were not prescribed for spinning threads.

Weaving establishment: Weaving establishment were working under the direct control of the government. The superintendent of weaving employed qualified weavers to manufacture fixed amount of clothes in a fixed time at the fixed rate of wages. Non-pecuniary payments such as scents, garlands of flowers etc. were paid in addition to monetary payments to weavers who manufactured fine clothes like silk clothes, woolen clothes, raiments, cotton fabrics, fibrous clothes,

garments, blankets, curtains as well as mail armour were also manufactured by qualified artisans.

Cotton fabrics were manufactured in various establishments but production at certain places attained exceptional reputation. Arthasastra mentions cotton fabrics, those of Madhura (southern Madhura), of Aparanta (Konkana), western parts of Kalinga of Kasi, of Vanga and of Mahisha (Mahishimati) are the best.

The manufacture of woolen clothes occupied an important place in the economy. The sheep as well as deer were the sources of wool and the artisans attained proficiency in the manufacture of woolen clothes. The 'Arthasastra' mentions that woolen wrappers possessing fine and soft threads as well as uniform texture were the best. The 'Arthasastra' mentioned that fibres were obtained from trees, namely Nagavriksha (a tree), vata (Ficus Indica) and Likucha (Artocarpus lakucha).

Silken clothes were manufactured at Kasika (Varanasi) and at Paundraka. Cotton clothes were consumed by all sections of the society. Fine cotton clothes might have been largely consumed by rich persons and ordinary woolen clothes like ordinary blankets must have been consumed by common people. Costly woolen clothes as well as silken clothes were consumed by people belonging to affluent class. Large number of skilled and unskilled persons were employed in the industry.

Sugar Industry: According to Kautilya that land which were frequently over flown by water was suitable for the cultivation of sugar cane. He considered that the production of sugar cane was difficult and worst in agricultural production system. Hence it may be inferred that crown land must not be producing sugar cane. The production of sugar also must have been performed by private persons or parties. Producers of sugar must have been directed by the government to fix reasonable price in order to safe guard the interest of the consumer.

Milk Industry: Animal husbandry was complimentary source of income to farmers. They availed income by selling milk and ghee. The production of ghee must have been fulfilling the demand of general people on the occasion of festival and ceremonies and of persons belonging to affluent class throughout the year. Supply of milk and butter were depending on the quantity of fodder and water as well as on the nature of soil, where the animals were reared.

Timber Industry: Timber industry possessed pivotal importance in the economy. The industry consisted of the manufacture of chariots, wooden weapons, materials required in the construction of buildings, bridges, boats, ships etc. Fuel wood and small timber were obtained from the trees planted in the vicinity of human habitation.

Chariots: A separate post of the superintendent of chariots was prescribed. He was assigned the task to manage the construction of various kinds of chariots. Timbers were used partially of fully in the manufacture of some weapons, armours, forts etc. The manufacture of chariots, weapons, armours etc. must have provided job to a large number of carpenters. Other workers also must have been provided employment opportunity for cutting timber trees and subsequently for logging, seasoning as well as for transporting timbers near the site of construction. Strong timbers were utilized in big buildings particularly built in towns. The buildings of the government possessed strong wooden structures.

Timber were used for the construction of door and windows in brick built and other types of buildings. The use of several furniture must have increased rapidly. Timber were used in the construction of bridges. Strong timbers were required to construct boats and ships also. Timbers were required for strengthening the forts of the government. Timber was a source of revenue to the government. Moreover, it provided jobs to skilled and unskilled workers.

Leather Industry: Leather industry is based on the availability of skins of domestic as well as of wild animals and hence the industry may be considered as partially based on forest produce. Kautilya was of the view that skins "which is soft, smooth and hairy is the best". He described 15 types of skins. Efficiency was attained in tanning skins and in the production of goods of leather. Thus the manufacture of goods of leather was a source of revenue to the government. The superintendent of armoury managed to the production of some weapons and armours, which were partially of fully made of leather. Large number of skilled and unskilled workers must have been provided employment opportunity.

Liquor Industry: consumption of liquor was a common feature of the society. Hence post of the superintendent of liquor was prescribed. He had to manage the manufacture of liquor by appointing trained persons. He had also to mange the trade of

liquor in villages, cities and camps. He had to take concerted efforts to promote smooth functioning of the liquor industry. He had to manage the production of good quality liquor.

The government had monopoly in the production and trade of liquor. Decentralization in trade was allowed keeping in mind the frequent demand of the liquor.

Liquor was consumed by a large percent of population, particularly during the period of festivals, fairs and pilgrimage. Good liquor were only sold to the consumers. Costly liquor might have been generally consumed by the king and his family members, high functionaries of the government and persons belonging to the affluent class. The production and sale of liquor must have provided employment opportunities to a large number of population.

Salt Industry: The superintendent of salt was assigned the duties to manage the production and sale of salt. The production of salt must have been a good source of revenue to the government.

Internal production of salt was not sufficient to meet the total demand of the country. Hence government allowed the import of salt and from which import duty, toll were charged. Licensed persons were only allowed to manufacture salt. The salt industry fulfilled largely the need of entire population. Large number of persons must have been availing employment opportunity in it. Moreover, industry must have been a sustainable source of income to the government.

Miscellaneous Crafts: Earthen pots, baskets, rope etc. were manufactured in the villages. The carpenters and black smiths also manufactured small materials for the use of villagers.

Conclusion: Kautilya had prescribed that agriculture produces were to be sold at fixed places long ago. Fine was levied for non compliance of the rule. Such marketing arrangements had been gainful for the king for the point of view of revenue. The Arthasastra prescribed provisions of necessary inputs by the government to raise agricultural production. It considers the provision of irrigation facility absolutely essential for raising agricultural production. It prescribes for the regulated marketing system. Moreover, it prescribes that 15 percent annual interest should be charged for institutional (the king's) as well as private credit which are required by the farmers. Presently agricultural marketing boards have been set up in India to eliminate the exploitation of producer and consumer. Presently economists and agricultural scientists hold similar view regarding the provision of irrigation facility. Experts hold the view that our agriculture can be renovated by the provision of regulated marketing system and cheap credit. As such Kautilya must be credited for examining thoroughly many important problems of agriculture as well as for prescribing measures with an aim to attain stable and rapid growth in agricultural production. At the same time Industrial policy of Kautilyan period was also designed to play pivotal role in all round development within the territory of the government. Such comprehensive analysis was not presented anywhere in such early period of history.

Notes & Reference:

1. Vidyalankar, J., Bhartiya Itihas Ki Rooprekha, pp.55, Hindustan Academy, Allahabad,1912.
2. Jha, K.N.., and Jha, L.K., Chanakya the Pioneer Economist, pp.2, A.P.H. Publishing Corporation, New Delhi, 1997.
3. Kautilya Arthasastra 2/24/27.
4. Kautilya Arthasastra 2/24/10.
5. Kautilya Arthasastra 2/24/31-33
6. Kautilya Arthasastra 2/24/19-21.
7. Kautilya Arthasastra 2/24/5.
8. Kautilya Arthasastra 2/24/24-25.
9. Shamasastry, R., Kautilya's Arthasastra, pp.109-112, Weslayan Mission Press, Mysore, 1915.
10. Shamasastry, R., Kautilya's Arthasastra, pp.59, Weslayan Mission Press, Mysore, 1915.
11. Shamasastry, R., Kautilya's Arthasastra, pp.125, Weslayan Mission Press, Mysore, 1915.
12. Das, Arjun, Economic Philosophy of Ancient India, Agam Kala Prakashan, Delhi,1986.
13. Deepankar, Kautilaya Kalin Bharat, Uttar Pradesh Hindi Sansthan, Lucknow, 2003.
14. Rangarajan, L.N., Kautilya The Arthashastra, Penguin Books, Calcutta, 1987.
15. Sinha, B.P., Readings in Kautilya's Arthasastra, Agam Prakashan, Delhi, 1976.
16. Tripathi, Dr. Madhusudan, Kautilya Ka Arthik Chintan, Classic Publishing House, Delhi, 1994.

●

COVID 19: A MAJOR ROLE PLAYER IN CHANGING INDIAN OFFICE AND WORK CULTURE

DR. SHIVESH*

As many nations cautiously make their way toward relaxing Covid-19 lockdowns, many of us are starting to envision a time when we can stop working at our kitchen tables and return to the office. Yet, in the absence of a vaccine, aspects of modern workplaces will have to change if employees are to safely return to their desks. Experts suggest this could involve a combination of short-term fixes aimed at boosting worker confidence, reducing the number of staff in the office at any one time and longer-term design upgrades and modifications that put **hygiene at the heart of workplace planning.** Some private companies too have initiated steps to change their work culture in order to adapt to the pandemic. Tech giant Twitter, for example, was among the first global companies to allow employees to work from home.

Facebook CEO Mark Zuckerberg Thursday said in a live-streamed staff meeting that the company would allow many employees to work from home permanently. He said that as many as 45,000 Facebook employees could be working from home within the next decade. Microsoft has allowed employees to work from home till October, while Google has said the option was open until the end of this year.

How Covid-19 may change work culture

Due to Covid-19, it is likely that people would want to change their work environments, even after the pandemic. A Gallup poll found that three in five (59 per cent) US workers, who have been working from home during the pandemic, said they would prefer to continue even after restrictions are lifted. Over 41 per cent, meanwhile, said they would prefer to return to their workplace. At the time of this survey, 62 per cent of employed Americans said they worked from home during the pandemic.

Further, Covid-19 might also change the notion that creative work demands corporate campuses built by companies such as Facebook and Google, complete with free food, open office plans and ping pong tables, a report in the Associated Press said.

A shift in remote work could also lead to the movement of workers from big cities where the cost of living is higher. Significantly, if workers are given the option to work from anywhere, it may also affect their pay. If remote work becomes the norm, salaries may be pegged to cost of living, which may bring down salaries for employees who shift locations to smaller cities with lower costs of living.

Office Management Optimization

In many ways, office environments are like their own ecosystems. There's a natural flow to how things move and change, and the environment tends to grow over time. But one thing never changes: your workplace should enhance productivity.

Productivity is a function of how well employees can do their jobs. The main driver of productivity is the workplace. Whether it's a classic concept with individual offices or a modern amalgam of different workspaces, what matters is employee interaction. The workplace should be a support system—something that allows work to get done, no matter the circumstances (even a pandemic).

We are looking at empty office as a blank canvas, of sorts. What types of workspaces do employees need to do their best work? Consider not just types, but where workers spend the majority of their time. Is it easy to find a quiet place to work or a collaborative area to brainstorm with colleagues? This could change the existing design of Office and managing it.

Future Office Design

As we learn much from Covid -19 as it is not only pandemic but also game changer in existing office design technology there are some important points related to it

1. The socially distanced office

Home working will continue, but office life - in some form - will, too. The challenge lies in how to adapt workplaces. Global real estate company

* Post Doctoral, Fellow, ICSSR, Banaras Hindu University, Varanasi

Cushman & Wakefield has risen to the challenge with a new design.

It's called the Six Feet Office. It's a way of transforming existing offices into places where the six-feet distance rule - which governments may continue to mandate - can be observed.

2. Closed plan

Office fashion for decades has included open-plan working. But could COVID-19 reverse this mega-trend, leading to a closed-plan future? "I'm not suggesting we all go back to working in 1950s cellular cubicles, but I do think the density in offices will change,"

3. More Signs

Think road markings, but for offices. From squash-court-style lines in lobbies to standing spots in lifts, and from circles around desks to lanes in corridors, the floors and walls of our offices are likely to be covered in visual instructions. One possible approach is to encourage employees to walk clockwise, creating one-way flow to minimize transmission, as adopted by many hospitals during the current outbreak.

4. Contactless Technology

Companies may also need to invest in a new suite of contactless technologies to reduce disease transmission. There is a company in UAE working for Waste Management which can be a glimpse of future offices where contactless pathways', whereby employees rarely need to touch the building with their hands. Office doors open automatically using motion sensors and facial recognition, while lifts - and even a coffee - can be ordered from a smartphone.

5. Fresh Air

With good ventilation being key to preventing the spread of COVID-19, a big trend could be simply opening a window - if windows can be opened, that is, since many offices are now sealed controlled units. And where filtered air is the only option, it could be boom-time for high-end office climate control systems. China's mass adoption of this technology to address poor air quality is thought to have assisted its office workers to return to their desks more quickly.

Health Aspect

As there would be many drastic changes related with Health related matters too

Mandatory on the Job medical screening could become the Norm

Health and legal experts predict that on-the-job medical screening, such as temperature checks and antibody tests, will be a reality for those who return to work in the months ahead. And in many cases it's already happening: To combat the spread of coronavirus among essential workers, some of the biggest employers in the country, including Amazon, Walmart, Home Depot and Starbucks have begun taking the temperatures of their employees before they are allowed to work.

Change in Office and Work culture in Educational Institutes

Learning is the acquisition of knowledge, but it doesn't have to solely occur through age-old methods that do not utilize the highest potential of the brain. Instead of being taught, can students be given an experience that influences their learning?

Approaches like integrated learning and experiential learning, with greater implementation of technology, will power the future the education in schools. We have seen that Government is working on changes in Teaching learning methods and evaluation system by increasing online methods by virtual classroom and online evaluation system.

Conclusion

As we have seen from this paper that there will be drastic changes in many ongoing working habits as well as new technologies and working culture will include and try to make efficient working and work balance so that employees can still work freely and become as profitable for the concerned companies in long run. This paper also shows various changes in Health related aspect in upcoming decades which may change the work culture and Office Management to next level.

References

1. **Harry Kretchmer,2020, "COVID-19: Is this what the office of the future will look like?", Recode, https://www.vox.com/recode/2020/4/14/21211789/coronavirus-office-space-work-from-home-design-architecture-real-estate.**

2. Mark Pringle, 2020 , "How the post - COVID workplace will change business for the better" https:// www.weforum.org/agenda/2020/07/how-the-post-covid-workplace-will-change-business-for-the-better

3. Rani Molla , 2020, "This is the end of the office as we know it",https://www.vox.com/recode/2020/4/14/21211789/coronavirus-office-space-work-from-home-design-architecture-real-estate#

4. Sharma D D (2003), "Total Quality Management Principles, Practices and Cases", Reprint, Sultan Chand & Sons Publication.

5. Stephen P Robbins (2006), *Organizational Behavior*, 8th Edition,Publishing by Prentice Hall Pvt. Ltd.

6. Tondon B N (1994), *Manual of Office Management and Correspondence*, 2nd Revised Edition, S. Chand Publication,New Delhi.

7. Eyre E C (1984), *Office Administration Made Simple*, 1st Edition, Rupa Co. by Arrangement with Heinemann, London.

8. Gupta S K (2005), *Office Management*, 5th Edition, Published by Vishal Prakashan Mandir.

9. Arora S P (1985) *Office Organization and Management*, 2nd Edition, New Print India Pvt. Ltd. Publication, Sahibabad (UP), India.

10. Bhatia R C (2005), *Office Management*. Chopra R K (1985), *Office Management*, 4th Revised Edition, Himalaya Publishing House, Bombay.

●

DIMENSIONS OF SUSTAINABILITY OF RURAL LIVELIHOOD: A THEORETICAL PERSPECTIVE

*DHIRAJ KUMAR SHARMA*AND PROF. SUMAN SINGH***

This paper has been analysed a theoretical perspective on the Sustainable Rural Livelihood and its approaches that helps in understanding livelihood dimensions. livelihood comprise the capabilities, assets (including both material and social resources) and activities required for means of living a livelihood activity is sustainable when it can cope with the recover from stresses and shocks. Maintain or enhance its capabilities and assets whole not under mining the natural resource base (Chambers and Conway, 1992)[4]. We have conceptualized and used various approaches to understand the livelihoods and intervene through these the sustainable livelihood approaches adopted by UNDP, CARE and DFID.

Sustainable development is need of the hour in view of under pressure on the limited natural resources and for leaving a better future for the next generations. Long-term growth of a country is expected to depend on the strategies for the sustainable development. Hence, we talk of development. We should seriously consider its sustainability, which will ensure development at least at steady rate. Sustainability is the capacity of endures. The word sustainability ihas been derived from Latin sustinere (tenure, to hold, sus, up). Dictionaries provide more than ten meaning for sustain, the main ones being to 'maintain' support or 'endure'. However since the 1980, sustainability has been used more in meaning of human sustainability on earth and this has resulted in the most widely quoted definition of sustainability and sustainable development, that of the Brundtland commission of the United Nation on March 20,1987."Sustainable development is development that meets the needs of the present without compromising the ability of future generations to meet their own needs". Therefore, sustainability really means and how can you tell if yours community is sustainable. Sustainability is related to the quality of life in a community whether the economic, social and environmental systems that make up the communities are providing a healthy, productive, meaningful life for all community residents, present and future. Sustainable livelihood has been promoted as an integrated approach to address the multidimensional features of poverty in rural areas in more recent time positing a shift from earlier employment programmes. Besides being an overall developmental objective, sustainable livelihoods approaches were reflected as a set of principles regulatory development interventions and an analytical framework to enhance understanding on poverty (Farrington, 2001)[11].

Concept of Livelihoods

Livelihoods are the ways in which people satisfy their need a living (Chambers and Conway, 1992). How the rural people of any area make a living and whether their livelihood is secure or vulnerable over time. Livelihoods turn up from a variety of sources and activities, which vary over time. They comprise several different activities for each rural household more even within year. Concept of sustainable rural livelihood is increasingly central to the debate about rural development, poverty reduction and environment management. For policy practice, new concepts and analysis are needed. Implication includes personal environment balance sheets for the better off, and so far the lesser, policies and activities to enhance capabilities improve equity and increase social sustainability. livelihoods comprise the capabilities, assets (including both material and social resources) and activities required for means of living a livelihoods are sustainable when it can cope with the recover from stresses and shocks. Maintain or enhance its capabilities and assets whole not under mining the natural resource base (Chambers and Conway, 1992)[4]. Livelihood has defined as adequate stocks and flows of food and cash to meet basic needs. Household may gain sustainable livelihood option in many ways through ownership of land, livestock, rights to grazing, fishing, hunting or gathering through staple

∗ Research Scholar, Department of Geography, Institute of Science, Banaras Hindu University, Varanasi
∗∗ Professor, Department of Geography, Institute of Science, Banaras Hindu University, Varanasi

varied respective of activities. The livelihood is as a means of coping a living. It has summarized a reality, which comes into focus as being complex as its parts are found and named and its structural unravelled. Strategy to enable a particular group of people in rural area to gain for them and their children more of what they want to do and need, it has involved the pitiable to seek out livelihood in the rural areas to demand and control of the benefits of development (Chambers, 1983). Rural development is the improvement of the spatial and socio-economic environment of the individual's ability to care for and sustain his/her well-being (Madu, 2003).

Sustainable livelihood:A Theoretical Framework

"A livelihood comprises the capabilities, assets and activities required for a means of living. A livelihood is sustainable when it can cope with and recover from external stress and shocks, and maintain or enhance its capabilities and assets now and in the future". The Sustainable livelihood idea was first time introduced by the Brundt land Commission on Environment and Development as a way of linking socio-economic and ecological consideration in a cohesive policy relevant structure. The 1992 United Nation Conference on Environment and Development expandedthe concept, specially in the perspective of Agenda 21, and advocated for the achievement of sustainable livelihoods as a broad goal for poverty eradication. It stated that sustainable livelihoods could serve as an integrating factor that allows policies to address development, sustainable resource management and poverty eradication simultaneously'. Most of the discussion on sustainable livelihood so far has focused on rural areas and situation where people are farmers or make living from some kind of primary self-managed production. In a classic paper1992, "*Sustainable rural livelihoods: practical concepts for the 21st century*" Robert Chambers and Gordon Conway have proposed the following composite definition of a Sustainable rural livelihood: "*A livelihood comprises the capabilities, assets (stores, resources, claim and access) and activities required for a means of living: a livelihood is sustainable which can cope with and recover from stress and shocks, maintain or enhance it capabilities and assets, and provide sustainable livelihood opportunities for the next generation: and which contributors net benefits to other livelihoods at the local and global levels and in the short and long term".* This was mentioned by a number of studies on livelihoods, specially on the sustainable livelihood approaches over the last pair of decades (Bebbington, 1999; Ellis, 2000; Scoones, 1998). Ellis (2000) has emphasized livelihoods as something which seeks to convey the noneconomic aspects of survival that includes the social relationship and institutions that facilitate people's access to different assets and income[10]. Livelihoods are context specific. Disparate their counterparts in the West, rural livelihoods in developing countries are based on a mix of occupation from multiple sources that includes farming, wage earnings, remittances, livestock rearing (Conway, 2011). They do expand implementations. Scoones[6] (2009) shown that the recent decline of the livelihood perspectives is because of the failure to engage with processes of economic globalization, with debates about politics and governance, with the challenges of environmental sustainability and with the fundamental transformer shifts in rural economy. The presence of discussion on markets and their roles in livelihood development have been seen as an important gap in the conceptualization and use of the livelihood approach (Dorward et al., 2003). A new challenge appeared to be in the operationalization of the approach. Such as Scoones (2009) points out that it is not so easy to translate into practice, with congenital organizational forms, disciplinary prejudices and funding structures constructe around the assumptions and their ways of rational thinking. Leo de Haan[8] (2012) highlights that the methodological issues where the livelihood approaches have produced a information of studies presenting endless variations of local livelihoods without being able to present generalized trends. This generalization must go beyond poverty levels, welfare, well-being and apply to other livelihood issue similar to climate change, migration, quality of space and the basic power relation.

The Sustainable Livelihood Approach

Livelihoods approaches in general and the Sustainable Livelihoods Approach (SLA) in particular have a tendency do not to have a precise definition, but rather can be described as "a way of thinking about the objectives, scope and priorities for development in order to enhance progress in poverty elimination" (Ashley and Carney, 1999)[1]. The SLA is a way of beholding at development in a way that is concerned principally with people. The approach seeks to understand people's strengths, including their skills and possessions, and how they use of these assets to

improve the quality of their lives. Chambers and Conway (1991) have defined a livelihood as comprising the capabilities, assets (including both material and social resources) and activities required for a means of living. Livelihood is thereby sustainable when it can cope with and recover from stresses and shocks and maintain or enhance its capabilities and assets both now and in the future, while not deflation the natural resource base. The various interpretations and elaboration of the sustainable livelihood concepts have in one way of the number of development activities to apply what is now becoming known as Sustainable livelihood approach to poverty reduction. There is no integrated approach to applying the Sustainable Livelihood concept. Depending on agency it can be used primally as an analytical framework for programme planning and assessment or as a programme in itself. There are three basic features to most approaches. One is that the focus is on the livelihood of the poor. The secondary is that the approach rejects the standards process of conventional approach of taking as an entry point a exact sector such as agriculture, water and health. Finally is the Sustainable Livelihood approach places great emphasis on involving people in both the identification and implementation of activities where appropriate. In the many ways the Sustainable Livelihood approach is similar to the old integrated rural development approach. The basic difference is that the sustainable development approach does not necessary aim to address all aspects of the livelihoods of the poor. The sustainable livelihood approach can be seen as one of a number of analytical frameworks which deal with the dynamic dimensions of poverty and well being through establishing a typology of assets which poor individuals, households and communities deploy to maintain well-being under changing condition.

Approaches to study

Various agencies have conceptualized and used various approaches to understand the livelihoods and intervene. Of these the sustainable livelihood approaches adopted by UNDP, CARE and DFID[3]. All are adopted the same basic approach which is household adopt strategic to achieve livelihood outcome by using the capitals or resources that they can access and use. The extent of use and the extent to which the strategic result in livelihood outcomes depend on the contextual factors that the households find itself in. the difference among these approaches are in the manner in which is livelihood objectives are listed and the way in which contextual factor are presented.

UNDP

UNDP the sustainable livelihood approach serves primarily as a programming framework to device a set of integrated sustenance activities to improve the sustainability of livelihoods among poor and vulnerable group by strengthening the resilience their coping and adaptive strategies. Although this is in principle an open ended process, certain emphasis is the given to the introduction of improvement of technologies as well as social and economic investments. Policy and governance issues as they employ on people's likelihoods are addressed. The various support activities are organized as particular sustainable livelihood programme, usually implement at a district level with ramification at the community and household level.

DFID

The Department for International Development (DFID)[9], Government of United Kingdom, introduced a sustainable livelihood approach in 1998 as a tool to improve the understanding of livelihoods-particularly the livelihood of the poor. The approach presents the main factors that affect people livelihood, and typical relationships among these factors. This approach sketches out the way these factors link to each other, besides drawing attention to core influences and process. This approach identifies five types of capital or resources which are used by household to achieve the livelihood outcomes. The five capitals that are mentioned in the approach are Human, Natural, Financial, Physical and Social. The starting point is the vulnerability context within which people, including farmers, operate. The SLA identifies five classes of assets: human, social, natural, physical, and financial capital upon which people draw for their livelihoods (DFID, 2003). In this context, capital does not mean capital stocks in the strict economic sense of the term.

- **Natural capital** is the word used for the natural resource stocks such as vegetation, land, water, and air.
- **Social capital** reflects the patterns and systems of social organizations that facilitate or constrain co-operative enterprise and inter-household relations e.g. community-based organizations and religious groups.

- **Human capital** includes the levels of education, knowledge, and health that enable people to experiment, solve their own problems, and pursue different livelihood strategies.
- **Physical capital** comprises the basic infrastructure need to support livelihoods and includes: affordable transport; secure shelter and buildings; and adequate water supply.
- **Financial capital** is the financial resources that people use to achieve their livelihood objectives and includes access to credit, loans, savings, and remittances.

Sustainable livelihood development and poverty reduction depends not on advances in access to just one of the classes of assets but on systematic approaches to achieve an appropriate balance between these essential assets. Poor people can, therefore, be conceptualized as those that have few or low-productivity assets. Subsequently, it is difficult for them to accumulate or enhance their assets and hence to improve their livelihood outcomes. This traps them in a circle of poverty. Operationally SLA encourage a better understanding of the various capitals (natural, physical, social, human and financial) that need to be reflected for planning livelihood strategy Though there appear to be more studies using SLA in different area, Indian planners still cope with incorporating these ideas and framework in their plans in any region. Livelihoods are a recent addition to the rich repository of poverty allevia- tion programmes in Five Year Plan brochures. These programs are typically characterised as wage employment; self employment; minimum needs programme, and area development programme (Mahajan et al., 2008) and discussions on livelihoods in India often are fit within self-employment programmes[7].

CARE

It is an international non-profit organisation, articulates in its approaches outcome with the household as the focus on security of food, nutrition, health, water, shelter, education, community participation and personal safety. CARE's approach divides into production and income activities. The categories of assets include human, social and economic. It expressly recolonises that the ability to claim from relatives, the state or other actors is also important for the livelihood of the people. A difference is made between household's own resources or assets and common property. This approach highlights the intra household and inter household relationships, household relations with community institutions and other more immediate structure (local government, market organisation), and other external relations.

Conclusion

The sustainable livelihoods focus on the betterment of the poor through their institutional strategies and perspective in dealing with the multidimensional aspect of livelihoods. The sustainable livelihood approach enables to attention of policy makers and planners toward building asset, copping and capabilities of poor people to eradicate the poverty. Towards policy direction, there is need for a bridge the gap between understanding of sustainable livelihood approach and implementations of rural livelihood[5]. There is a scope for work on the factors hindering implementation and to understand reason behind these. Some acumens on this can be drawn from the works of researchers in the field of policy implementation like Pressman and Wildavsky (1979), Lipsky (1980), Winter (2006) and Ostrom (2007). The sustainable livelihood approachfocuses on SHGs network in Bihar formed by JEEViKA. She used the term 'Didi' means member of JEEViKA SGHs. JEEViKA SHG provides a platform for the bottom up approach to development. She discussed about social and economic empowerment of women in rural area of Bihar (Tiwari, 2010). has explained on the relationship between migration and development. His study is on the context of Saran and Bihar. On the basis of demographic data, he gave a detailed picture of the extent of migration from Saran. Migration from this district has been predominantly by men. He also explains the effects of migration on livelihoods in the article. He describe link between the underdevelopment and poverty in Bihar and its high rates of out-migration. Many scholars have been done work on various aspects of rural livelihood and its sustainability **(**Haan, 2010)[8].

Reference:

1. Ashley, C., & Carney, D., 1999. Sustainable livelihoods: Lessons from early experience. London: DFID.
2. Carney, D., 2002. Sustainable Livelihoods Approaches: Progress and Possibilities for Change, London.
3. Carney, D., Drinkwater, M., Rusinow, T., Neefjes, K., Wanmali, S., & Singh, N., 1999. Livelihoods Approach. A brief comparison of the livelihoods approaches of the UK. DFID.

4. Chambers, R., &Conway, G., 1992. Sustainable Rural Livelihoods: Practical Concepts for the 21st century, Brighton.

5. Chen, S., & Ravallion, M., 2008. The developing world is poorer than we thought, but no less successful in the fight against poverty. World Bank.

6. Conway, G., 2011. Exploring sustainable livelihoods. In A. Cornwal & I. Scoones (Eds), Revolutionizing development: Reflections on the work of Robert Chambers (pp. 85–92). London and Washington, DC.

7. Datta, S., Kandarpa, R., & Mahajan, V., 2014. Resource Book for livelihood promotion. Hyderabad.

8. De Haan, L., 2012. The livelihood approach: A critical exploration. *Erdkunde*, *66*(4), 345–357.

9. DFID, 1999. Sustainable livelihoods guidance sheets Policy reform. DFID sustainable livelihoods guidance sheets. DFID.

10. Ellis, F., & Biggs, S., 2001. Evolving themes in rural development 1950-2000s. Development Policy Review, 19(4), 437–448.

11. Farrington, J., 2001. Sustainable livelihoods, rights and the new architecture of aid. Natural Resource Perspectives, no 69. London.

●

KAUTILYA'S ARTHASHASTRA – THE DISAPPEARANCE AND RESURFACING

PROF. RACHNA SRIVASTAVA*

For almost 2300 years Arthashastra remained hidden from human race. It is believed to have been written somewhere between 3-4 centuries BC as guiding manual to *Chandragupta Maurya* whom Kautilya helped dethrone *Dhanananda* and establish a new empire. However it remained lost to public eye till 1905, when it resurfaced in South of India. The journey of the disappearance and re-appearance of Arthashastra needs to be traced and analyzed. There are a few questions to be answered –Why Arthashasta disappeared? How was Arthashastra preserved despite disappearance from public eye? What were the circumstances which brought it back to public view?

How Arthashastra was preserved – Popular legends

There are several legends popular about Kautilya, Arthashastra and Chandragupta for whom Arthashastra is supposed to have been written. One legend is that Kautilya was insulted by Dhanananda of *Nanda* dynasty and with the help of *Magadha* Prime Minister he escaped from Magadha. It is believed that during this time he met a twelve year old boy who was playing with other boys of his age. Kautilya was very much impressed by the way this boy, Chandragupta was conducting himself. Kautilya took Chandragupta to *Taxilla*, where he was a teacher. He got Chandragupta educated there. It is also said that Chandragupta was the son of a king of Nanda dynasty with his '*dasi*'. Chandragupta's mother belonged to *Muri* (tribe name) clan that is why Chandragupta is called Maurya. It is also said that Chandragupta and Kautilya had met Alexander who was on his world-victory mission and was somewhere in the north-west of India. But somehow Chandragupta angered Alexander.

It is necessary to mention all these legends because they form the context and reference of Arthashastra. Kautilya had seen how Dhanananda had become arrogant and apathetic towards the people he was ruling. Although Nanda Empire was vast, (they were ruling over the vast Gangetic plains) yet people were not happy under Dhanananda. This dissatisfaction of people with their King helped Chandragupta invade Magadha and after destroying Nanda Empire, establish a new rule. Kautilya could see that the reason for Chandragupta's victory was the dissatisfaction of the people with their King and this is why he was very particular about the duties and functions of the king. Kautilya advocated that in the happiness of the people lies the happiness of the king. After the establishment of Mauryan Empire, it is believed that Kautilya who was the prime minister, composed Arthashastra as a manual for not only Chandragupta but for all the kings. Kautilya had learnt from the mistakes of the past kings and did not want Chandragupta to repeat them and put his state in peril and hence Arthashastra was composed. It examines the knowledge of statecraft available at the time and then shows its agreement and disagreement with it. It is believed that before Kautilya five or six schools of political thought existed. Arthashastra acknowledges them. Kautilya wrote in an age when ritualism of Vedas was on the decline due to its cumbersomeness and Buddhism and Jainism were on the rise. Kautilya wrote a very real and practical handbook of administration in this background and it is believed that Chandragupta and his son and grandson ruled by this book. The account of their administration exemplifies this. However by 1st century AD this style of administration is mostly lost.

Kautilyan State-Arthashastra in practice

One way by which Arthashastra lived was the system of administration practiced by Chandragupta and subsequent kings. Although we find that the system was somewhat diluted in later years, causing Arthashastra's disappearance. Let us examine the administration during and after Kautilya period.

Normally in ancient India, states were monarchical, oligarchic or republican. They were unitary in character and king was the source of all power. Although administration was centralized but traditionally, states did not intervene in the autonomy

* Principal & Professor, (Political Science) Vasant Kanya Mahavidyalaya, Kamachha, Varanasi

of village *panchayats*, town councils and trade guilds. State had come into existence due to *Matsya-nyaya* (survival of the fittest or big fish swallowing smaller fish). It was a contract among people where King was given responsibility of protecting people - old, children, women from anarchy. As such, initially king was not all powerful. However, gradually he attained more power with people's increasing dependence on him. Hindu state follows the same pattern of evolution that western states had followed - family - clan- tribe-citystate and state as an organic unity. From *Vedic* times aim of the state was peace, order, security and justice. Around 4th century BC the influence of theology on the state began to decline. This was the time of Kautilya and his protégé, Chandragupta Maurya. Kautilya's Arthashastra spread in 15 books and six thousand verses covers a vast variety of subjects of state administration and interstate relations. It is read to be believed as to how extensive it is. It was a practical guide to Chandragupta's state.

Chandragupta was not only a conqueror but also a great administrator. The administrative machinery founded and organized by him worked well throughout the Mauryan period. It had civil, provincial and municipal administration. It had a daunting armed force which was efficiently maintained. Public offenders were severely punished. Kautilya prescribes death even for a petty theft by a government servant. These rigorous punishments ensured low rate of crime. Land revenue was the main source of state income. Dues from mines, forests, customs, tolls etc. were other sources of revenue. Part of revenue was used for public welfare. Regular courts were established throughout the length and breadth of the empire. The laws were very severe. The credit for the efficient running of the administration goes to the spy system of the Mauryas. The spies kept the king informed of everything going on in the kingdom as well as the neighboring states. They also kept the king informed of the public opinion on various important matters. All account of the administration of the Mauryas shows that their administration was as per Arthashastra. After Chandragupta, his grandson Asoka not only maintained but took Mauryan empire to new heights.[1] None of Asoka's sons succeeded him in *Patliputra*. The last king of the Mauryan empire was *Brihadratha*, who was assassinated by his commander in chief, *Pushyamitra Sunga*, who established a new dynasty named Sunga.[2]

In later Maurya period and also afterwards, Kautilyan state fell and Buddhism arose. In the opinion of some modern scholars Asoka must be held responsible for the downfall of the great empire. The empire was founded by a policy of blood and iron and could be maintained by following the same policy (Kautilyan Policy). But by eschewing all wars and abandoning the aggressive imperial policy, Asoka weakened the very foundations of the empire. There is no doubt that he could easily have completed the political unity of India by conquering the Tamil lands in the extreme south if he only cared to send a powerful army instead of Buddhist monasteries to that region. It is also urged that the lack of all military activities after the *Kalinga* war and the constant preaching of Ahimsa (Non - violence), exact opposite of what Kautilya had suggested, by the emperor, in person had a permanent effect, not only on the military organization of the state, but also on the martial qualities of the people in general. People and army became averse to war and lost to foreign invaders. Teachings of Kautilya were sidelined by the general masses and it started losing its earlier popularity. Mauryan Empire and practicality of Kautilyan principles came to an end within a decade of Asoka's death. However, there are some stray examples of Kautilyan administration or state in later period which kept Arthashastra alive. One is of *Kanishka* of *Kushana dynasty* (78 AD) who was a great administrator and warrior and was called second Asoka. He ruled like a despotic monarch but never ignored the welfare of his people. The same Kautilyan administration can be seen again in Gupta period in 3 AD and is to some extent reflected in *Chola*, *Pandya* and *Pallava* administration in the south of India, signifying the rise of Kautilyan School of statecraft in that era or at that place.[3]. However after Gupta period this style of administration is not evident in north India. Later period is marked more with idealism, morality and non-violence of Buddha than the realism of Kautilya.

400 AD onwards King had become stronger and republics disappeared. All three powers of state now rested in the king. Considerable pomp and prestige surrounded the king in later Vedic period. Kings were rich and prosperous. Whereas Arthashastra though describes king as Lord of riches, the chief of the people and the most prominent among the warriors, was directed to lead a tough and disciplined life.[4] Between 647-1200 AD (Rajput Period), the whole country was divided into small independent states that

were undermining their strength in mutual jealousness and quarrels. Army was weak and unorganized. State had moved away from the realism of Arthashastra. On the hindsight we can say that Kautilya's Arthashastra was a tough manual to follow. After Maurya period, it was in Gupta period when Kings were capable of following Arthashastra. But after that no such mention of strong monarchy is found in ancient India. Kings had gradually become more peaceful, complacent and comfort-loving. State and society were also mostly orderly and peaceful. However, we can say that Arthashastra had not disappeared totally till 700-800 AD. But afterwards Kautilya and his Arthashastra seem to have disappeared. May be due to the advent of Buddhism and Jainism which were vigorously promoted by Asoka and many other later kings; introduction of *Dhamma* (a variant of Dharma in Buddhism) and non violence as the way of life; no later king was strong enough to rule by Arthashastra; text of the compendium was in Sanskrit; and inefficiency of administration and monarchist policy. After the advent of foreign invaders and new forms of politics, Arthashastra was largely forgotten in later years. With the Islamic and Mughal invasions and rule over India, and the establishment of British rule in 18th century Arthashastra remained lost to public. It seems Arthashastra lived by practice and when monarchies stopped practicing it, Arthashastra was lost. In later years it seems it was preserved in two ways- later literature and by way of oral transmission of the text from the Guru to his disciple (Guru-Shishya Parampara).

Later literature

The political ideas of Kautilya expounded in Arthashastra, greatly influenced the writings of later period, extending from the time of *Kalidasa* (1st century BC) down to the time of *Banabhatta* (7th century AD). We see the impact of Arthashastra on *Kamandakiya Nitisara* (who pays a glowing homage to his guru Kautilya), on *Yajnavalkya*'s *Smriti* (150 AD), *Visakhadatta's Mudrarakshasa*, *Vatsyayana's Kamasutra* and so on. Bana describes Arthashastra as a science and art of diplomacy. The author of *Panchatantra*, *Vishnu Sharma*, mentions that the author of Arthashastra was one Brahmin named Chanakya.[5] Vishnu Sharma, as the legend goes was asked to teach princes and he created Panchatantra in which he teaches the intricacies of administration by way of simple stories with animals as central figures. Panchtantra stories carried Arthashastra forward with them and these stories are still popular. *Vatsyayana* and *Medhatithi* mention Arthashastra as a classical treatise on polity. Vishakhadatta's Mudrarakshasa portrays Kautilya as the Prime Minister of Chandragupta Maurya who was selfless Brahmin totally devoted and committed to Chandragupta Maurya and could go to any extent to ensure the safety of Chandragupta's rule.[6] Although in Mudrarakshasa, Kautilya is depicted as an evil, manipulating, scheming Brahmin Prime Minister yet he is kept alive in people's minds. *Dandin* in *Dashkumarcharita*, which he had written for the entertainment of royal women reports that a Vishnugupta composed a political treatise of six thousand shlokas for the benefit of modern rulers in the administration of the empire.[7] Dandin has liberally used Kautilya's Arthashastra to write the play in which he mostly makes fun of Kautilya. Yet Kautilya was kept alive in people's memory. Both Bana and Dandin refer to the study of Arthashastra especially by the princes. The Jain tradition, as recorded in the *Nandishastra* enumerates Arthashastra among the heretical books along with the Ramayana and Mahabharata. Even South Indian epigraphs describe skilled administrators and diplomats like king *Durvinita* and *Marashimha* (10th century) of the Ganga Dynasty as incarnations of Vishnugupta or Kautilya or as well versed in his state craft. The position of Arthashastra in the realm of literature on politics is analogous to that of *Panini*'s *Ashtadhyayi* in the field of grammar.

Later writings like *Barhaspati's Arthashastra* and Smritis deal with administration but their treatment is very cursory. The same can be said of the *Puranas* and of the Gupta and the post Gupta period. Some important works between 1000 - 1700 AD that touched upon politics or *Rajneeti* are *Yuktikalpatru* of *Bhoja* (1025 AD), *Rajnitikalpatru* of *LakshmiDhara* (1125 AD) *Amuktamalyada* of *King Krishnadeva Rai* of *Vijaynagara* dynasty (1525 AD). However all these works were written from theological point of view and not political. These works reflect how theology which was divorced from politics by Kautilya again became married to the state. Works which were written by the rulers themselves like, *Manollasa*, which was written by *Chalukya* king *Someshwara* (1125-1138 AD) deals more with king's luxuries, amusements and pastimes than with state administration. The book preaches how king should be moral and religious. Thus, in post - Kautilyan period as we proceed in time, we find kings becoming more used to the luxuries of life that a king should have. Also there was a dearth of a treatise on

political science and it seems that the manual writers of this period had hardly any genuine interest in the science of politics. We can see that the focus of the rulers, masses and writers and the poets shifted towards a secular literature, which obviously had an unwritten conflict with the Kautilyan principles. Moreover, while Kautilya had emphasized three goals of life, *Artha, Kama* and *Dharma* (Artha being the most significant), Buddhism and even Jainism were stressing over Moksha being the basic goal of life. Since they offered to the people that they could get rid of the cycle of birth and re-birth, it is certain that this offering acted as an allurement and thus, Kautilyan principles started shrinking from the minds of people. With time Arthashastra lost its influence on subsequent literature.

Moreover Sanskrit was no more a common language, it had already given way to *Prakrit* and *Kharoshthi* scripts. The Brahmin system prevented common people from learning and reading sanskrit to maintain their hold over society through exclusivity. This greatly harmed the prospect not only of Arthashastra but also of other literature in Sanskrit. However these manuscripts lived in folklore and by way of oral transmission and Guru Shishya Parampara.

Guru-Shishya Parampara

In Indian tradition, 'Guru - Shishya Parampara' has been followed and it was the duty of the Guru to transmit all his knowledge to the Shishya. Of course, this was done orally. The Shishya was expected to memorize all the *sutras* and *slokas*, replete with knowledge and day-to-day practical customs. It seems that post 500 AD, Arthashastra was transmitted in these two manners: one, by way of books or works inspired by Arthashastra, although, toned down or amended according to the time, as already described and, secondly Arthashastra was passed on orally.

Because of the tradition of passage of knowledge orally, not in written form, it is possible that Kautilya's pupils composed Arthashastra. This means that Kautilya′s pupils put his ideas on paper from their memory. The possibility that Kautilya's pupils wrote it, determines the pattern which is followed in Arthashastra, which is the mention of several earlier teachers whom Kautilya may have quoted before giving his own views regarding a subject. Kautilya's students must have had transmitted the Arthashastra to their pupils and so on. The text that was rediscovered may have been written by Kautilya's pupils or by those who received it orally. Which is why the manuscript which Samasastry received was not much older than about two hundred years, but the text was ancient.

Why did Arthashastra resurface in 1905?

British East India Company came to India for trade in the end of 17th century. However, the disunity among the people, led to the establishment of British Raj in India in 1857. For almost a century, Indians were subjugated on the basis of racial and intellectual superiority. This caused much heartburn to those Indians who believed in the cultural and intellectual heritage of the country. In the 19th century itself, the glory of India's past was revived. The dichotomy was that this task was pioneered by some Western Scholars like Max Muller, William Jones, Charles Wilkins etc. They translated several ancient Sanskrit text into English and tried to find out the past history and culture of India. Over the years and after many foreign invasions and alien governments, except *Ramayana* and *Mahabharata*, that had been reproduced in common man's language, ancient Indian scriptures had been lost to public. As such when western scholars translated the Sanskrit text into English, it inspired many Indian scholars to resurrect the lost Indian scriptures. Indian scholars like *Rakhal Das Banerjee, RD Bhandarkar, Haraprasad Shastri, Altekar, D D Kosambi, Radha Kumud Mukherjee* helped in reviving the past glory of India. This kind of revivalism helped develop a feeling of balanced nationalism and national awakening among the Indians.

Another simultaneous reawakening was happening among the Indians, which was political reawakening. This led to the birth of Indian National Congress in 1885. There may be several reasons behind the birth of Indian National Congress, but one important factor was the feeling of nationalism. Between 1885 and 1905, Indian National Congress was dominated by moderate leaders who actually had faith in the just and liberal nature of British government. Gradually the Indians, the Indian National Congress, and its leadership realized the true nature of British rule. In the meantime, social and religious awakening movements of the 19th Century had to some extent revived the faith of Indians in their country and culture. The leaders of this awakening who led Indians to the 20th century were *Lal, Bal and Pal.* These leaders developed the new political philosophy of Swarajya as a birthright, which could not be obtained but snatched. They realized that the

Indian population could recognize this only if it had faith and confidence in the idea of India and a strong political system as an alternative to British rule. Tilak said "We have lost our Glory, our independence, everything. Religion is the only treasure that we have: If we forsake it, we shall be like the foolish cock in Aesop's fables that threw away a jewel. In the world of today, anything that we have has to be displayed and shown to the best advantage."[8] *Aurbindo* declared that "Nationalism is a religion that comes from God."[9]

Partition of Bengal in 1904 was a trigger which launched the Swadeshi Movement in 1905, along with the idea of Boycott, National Education and Swarajya. The boycott and Swadeshi movement soon became very popular in Bengal. People stopped using foreign goods, foreign clothes were burnt and those who used foreign goods were socially boycotted. This became a mass movement, movement of common people. Soon, the movement spread to the other parts of country. The literature of that period bears a testimony to this. *Bankim Chandra's "Anand Math" Raja Rao's Kanthapuram* are examples of this. The partition of Bengal and the resultant boycott and Swadeshi movement brought about certain beneficial results in the long run. While passive resistance against the government and national education were certainly its offshoots, its greatest benefit was that it awakened the political consciousness of people.

The resurfacing of Arthashastra in 1905 coincides with this very moment. The British had long been asserting that Indians were not capable of ruling over themselves. History of the past 200 years was proving the British right. There were more than 500 princely states in India and the infighting among them was common. Moderates in Indian National Congress also firmly believed that British rule was in the interest of Indians because while Britain had a long tradition of monarchical democracy, India was nowhere near it. In these circumstances any self respecting Indian who possessed a scientific treatise of statecraft and interstate relations, like modern state constitution, was bound to come forward and bring the same to the light. And this is what happened when the manuscript was brought to R.Shamashastry, librarian of Mysore government Oriental library, in 1905 by a pandit. Resurfacing of Arthashastra in 1905 proved to be a matter of glory for India, which not only fueled the minds of nationalists but also made the common masses realize that they should divert their obsessions from western political systems to the one of a welfare state as given in the Arthashastra. The former National Security Adviser *Sri Shivshankar Menon* says that, "National movement needed the Arthashastra in order to find the reassurance of Indian statecraft to establish that we had an independent realist tradition of our own."[10]

The manuscript was a Sanskrit text, written across 168 folios in the *Grantha* script with commentary by *Bhattaswamin.*[11] It seemed to be no older than a century or two. But Samasastry realized that the text was older and represented a sophisticated and authoritative ancient work on statecraft. This is one interpretation which seems feasible of the resurfacing of Arthashastra in 1905, the period of intense national awakening. However it also may be a sheer coincidence that Arthashastra was found at such time when India was desperate to tell the world that they have been the champion of polity and administration since ancient times.

Till now Arthashastra was known through references to it in the works of Dandin, Bana, Vishnusharma, Vatsyayan, Mallinathasuri, Megasthenes etc. Now the original text established its authority in the realm of literature on Indian polity. Discovery of Arthashastra brought a change in the perception of scholars towards Indian thinking and administrative capabilities. So far it was believed that Indians were in no way capable of administering themselves and that ancient Indian empires were ruled on the basis of religious and mythological precepts. The discovery of the Arthashastra forced these scholars to rethink about their perception of ancient India. However the extreme realist flavor of the text shocked many people leading them to a state of denial, as so far India was known as a land of Buddha and Asoka.

Here I would like to bring this to the notice that Chandragupta at the age of forty-two took voluntary retirement after twenty-five years of reign. It is believed that Chandragupta adopted Jainism and became an ascetic under the Jain saint *Bhadrabahu*. He ended his days at *Sravana Belgola* (in present day Karnataka) by *Sallekhana* (death by fasting). And Arthashastra resurfaced in South India. Whereas Kautilya and his Arthashastra had their origins in the north and even Magadha empire did not extend up to Tanjore, it doesn't seem to be a coincidence that Arthashastra resurfaced in Tanjore. It resurfaced there because either it was orally communicated by

Chandragupta or his associates or the manuscript itself was taken by Chandragupta and which was then written and rewritten over time. Perhaps this is why the manuscript did not seem very old to Samasastry. Another fact that supports the travel of Arthashastra from Magadha in the north to south beyond Chandragupta's empire is the governance of *Cholas*, *Pandyas* and *Pallavas* in the south which history shows was very much in the line of the administration as given in Arthashastra.

Entire text in sanskrit was published in 1909 and its English translation was published in 1915. The book was translated into many languages. Outside India, Samasastry's discovery was much appreciated by Indologists and Orientalists alike, such as Sten Konow, Julius Jolly, Heinerich Zimmer, Moriz Winternitz, F.W. Thomas, Paul Pelliot, A B Keith, and others.

Has Arthashastra found a rightful place?

Irony was, that from its very rebirth, Arthashastra got embroiled in not only one controversy but in two. One was regarding its authorship and another it's time. The maker of modern India, *Jawaharlal Nehru*, recognized the significance of Arthashastra, evidence of which we find in his "Discovery of India". In it, Nehru delineates Arthashastra as an indicator of welfare state, where commitment of king toward his people is insured and Dharma and Artha are so integrated that the state becomes highly moral.[12] Despite all this, Arthashastra remained largely neglected. However it was practiced due to habitas.

The factors that caused its general neglect may be a few: the prevalence of Westphalian system at the time when Arthashastra resurfaced curbed the possibility of a Kautilyan state. Kautilya's Arthashastra talks of a conqueror that is always on march. His *Mandala* theory (Circle of States) and Six-fold policy did not have many takers. Kautilyan system was one in which states were continuously tilting balance of power in their favor. States today are sovereign, placed in a theoretically well-ordered international system. Conquest is no longer an option for consolidating empires and there is decline in inter-state wars. This, according to some historians, may be the reason for the lack of interest in Kautilya's foreign policy theories. As such, we find that the state that Kautilya preached in Arthashastra was ignored. However, can we say the same thing today i.e. post cold war and post globalization?

Another factor that worked against Kautilya's Arthashastra in early 20th century was the policy of non-violence adopted and propagated by *Gandhi* and Nehru. Kautilya advocates use of force while Gandhi advocated non-violence, when dealing with internal conflicts. Gandhi believed in empathy with opponents' worldview and dialogue as a mechanism to resolve the differences. The kind of non-violence which was propagated by both Gandhi and Nehru and most of the other freedom-fighters throughout the Indian freedom struggle, obviously had a contrasting difference with Kautilyan approach.

Another reason of its neglect may be that Arthashastra was not modern as it advocated monarchy while the ideals of western world were considered to be more democratic, libertarian and modern and so more acceptable Arthashastra does advocate monarchy but the King does not work alone. Kautilya establishes a vast system of administration. King works with the help of ministers. There are a number of departments that look after the various activities of the state. It has a well established system of justice and punishment. In modern times if the monarch is as replaced by an elected representative the rest of the system prescribed in Arthashastra will fit in place. Arthashastra needs to be researched in a new light to establish its contemporary relevance.

References Cited:

1. Majumdar, R. (1951). Age of Imperial Unity . (The History and Culture of Indian People). In A. P. Majumdar (Ed.). Mumbai: Bharti Vidya Bhawan. pg. 156
2. Division, A. R. (2013). Ancient History of India (up to 10th century AD). New Delhi: Atlantic Publications, p. 92.
3. ibid, pp 178 - 187.
4. ibid, pp 110-169.
5. Sharma, V. (2017). Panchtantra. (K. Sharma, Trans.) New Delhi: Anamika Publications.
6. Vishakhadatta, (1968). Mudrarakshasha (S.Singh, Trans.) Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series Office.
7. Dandin. (1948). Dashkumar Charitam. (T. Bhatt, Trans.) Varanasi: Jai Krishnadas Haridas Gupta Publications.
8. Bhagwat, A., & Pradhan, G. (2008). Lokamanya Tilak - A Biography. Mumbai: Jaico Publishing House, p.153.

9. Mother and Sri Aurobindo. (2019, June Four). Retrieved June Four, 2019, from Mother and Sri Aurobindo: www.motherandsriaurobindo.in

10. https:// idea.in /keyspeeches / shivshankar Menon Kautilya, accessed on 03.09.2019

11. Singh, U. (2018). A History of Ancient india and Early medieval India (From the stone age to the 12th century) (Vol. 13th). New Delhi: Pearson,p.321.

12. Nehru, J. L. (1946). The Discovery of India. New Delhi: Penguin Random House,p.127

●

MANAGEMENT EDUCATION NEED TO PREPARE STUDENTS WITH EMPLOYABILITY

DR.* SUBHASH PRATAP SINGH

This article has been written with an attempt to understand the significance and relevance of management education as the business around the world becoming more and more challenging to lead and manage. In India on one hand, sectors like agriculture, hospitality, tourism, travel and transport, textiles, logistics, e-commerce, banking and financial services, infrastructure and others observed as the growth indicator with the penetration of private investment. On other hand, this becomes productive only when the youth are well equipped with the relevant skills to ensure their employability. A recent press release by the Unicef lists the population percentage in each South Asian country who are on track to complete secondary education and also reach their learning benchmarks by 2030. Sadly, only 47% of the young students in India will get the right skills at the right time.[1] By integrating "Assemble in India for the world" into Make in India, India can create 4 crore well-paid jobs by 2025 and 8 crore by 2030.[2]

The sheer scale of the skills and employability crisis in India warrants a tectonic shift in how the problem is being addressed. 39% of employers say a skills shortage is the leading reason for vacancies in organizations. A large section of our graduates fails to match industry expectations. The current employability rate is at a mere 15% due to the gap between existent skill sets and required skill sets.[3]

But the question arises that whether we are really ready to leverage and also to what extent our students skilled enough to compete globally and be successful in getting those jobs. The present mismatch between well qualified for the given job and yet not employable due to required skills has become the evident fact, and also one of the biggest hurdles for our country as a whole. The endeavour here is to understand the gap and recommend the feasible measure to ensure employability at large.

Employability Meaning

The dictionary meaning of Employability is the skills and abilities that allow one to be employed.

Yorke & Knight (2003) define employability as a set of achievements skills, understandings and personal attributes that make graduates more likely to gain employment and be successful in their chosen occupations, which benefits themselves, the workforce, the community and the economy.

"Employability is having a set of skills, knowledge, understanding and personal attributes that make a person more likely to choose and secure occupations in which they can be satisfied and successful.[4]

Understanding the Gap

Every year, only about 60% of more than 3.50 lakh management graduates find management jobs, said Sethi. Around 360,000 MBA students graduate from 4,000 B-schools in India annually, according to data from AIMA. "Companies want to hire ready-to-lead managers whereas most of the B-Schools lack access to meaningful internships and placement opportunities," said Rekha Sethi, Director General, All India Management Association (AIMA), a national apex body of the management profession in India referring to the skill gap of B-school graduates in India.[5]

The emergence and impact of globalization of economies, resulting in to a complex combination of developed & not so developed markets and related technologies have put tremendous strain on 'employability' of the youth across the world. The skill gaps between business requirements and as available from university pass outs are terribly out of phase resulting in serious issues of 'Employability' for freshers from colleges. At every stage of formal education starting from school level the need for catch up with current levels of competencies has reduced the students (as also the education Providers) as mere robotic creatures picking up things which creates a rat race for employability.[6] Hence, the pragmatic skills are still a challenge.

The skills in management domain that is ubiquitous are conceptual, technical and human as

* Associate Professor, Rajiv Gandhi South Campus, Banaras Hindu University, Varanasi

suggested in classical school of management thought. During that period the emphasis was given more on work rather than worker. The approach of management concluded in boundary by applying the terms like scientific, bureaucracy, administrative and others which are in one way or other incomplete to define in broader manner as it should be. Subsequently, neo classical approach emerged with human relation movement and human resource approach where the priorities given to worker rather than work. As a result, brings a lot of change in the thinking dynamics of management. Then, in this era the quantitative and system approach of management observed. In quantitative, management as science was being realized. Lastly, in system approach it was established that the management basically blends of all elements prevail in intra and inter organisation. Finally, in modern era the management discards all these aforesaid approaches and established that situation actually drives the management approaches and principles. Here we do know that, no two situations are same in nature. Even a situation varies from on situation to another situation. Similarly, no two individuals are same in nature. Also, an Individual behaviour varies in different situation. On one side we have to focus on individuals' customized requirement and on other towards situational variable that demanding to revamp the curriculum to enhance the employability of management students. The paradox perceived in between the examination appraisal pattern (more based on written mode) and the hiring policy (pragmatic mode like Psychometric test/group discussion/personal interviews) of the students from employment point of view by the prospective companies. There is huge gap in between these two aspects, when are concerned. Also the major gap identified that students lack clinical experiences and simultaneously faculty too specialized with lacking ability of seeing the big picture.

Measures to Overcome Gap

Considering the mentioned points, we can now understand the gap and the dynamic nature of management. We do underscore that apart of mentioned skills in field of management there are definite other skills emerged, in view of, when situational factors are concerned. As a result, entrepreneurial orientation and innovation thinking are crucial aspects, business education needs to give stress. A few leading B schools reorganize their curriculum from being functional base to domain based offering specialisation in thematic areas like infrastructure management, hospital management, sports management and others. Attempts are made in integrating classroom learning with compulsory industry visits for every component of course. Management education needs rebalancing act among knowledge skills and attitudes and aim for developing effective leaders and entrepreneurs. Even companies have started urging the Frontline is schools for customised management development for prospective employees. As far as the course curriculum and industry requirement is concerned there is need to bridge the knowing with doing. The question of misfit employability challenge is due to emphasis on knowledge acquisition and to match with marks/grade in order to confirm the same. Hence, it is paradox, when one says that the word and India is increasing increasingly moving towards a knowledge-based economy and yet the knowledge gained through diplomas certificates and degrees is increasingly less relevant. It is also important to note that in an application driven profession like management, it is important to have exposure in a holistic and boundless manner. Therefore, the management education has to dramatically reduce knowledge content testing by rot and replace it with multiple channels of knowledge acquisition from websites, teachers, peers self-directed study etc. They have to update the curriculum that would be needed for the immediate future. More important it is the pedagogy that has to be transformed the most. In order for the student to graduate with sufficient competence to perform a set of task or roles it is important to have a state of equilibrium with Acquisition of knowledge, Application and Assimilation. Higher focus on application and assimilation will ensure that there is a minimal gap between thought, intent and action.

Prof. Gary Hamel sublime Management Thinker on the practice of Management and strategic consultant advocates that the mantra of success for Management education to succeed in this highly volatile environment is not to 'get better' but to 'get different'. Functioning under traditional mindset about the significant role of business education in fostering leadership and its role with marketplace, he argues that most major advancements that have altered the thinking of Management as a profession have come from industries scholars or experts situated outside management schools. Newer Business models and industry best practices have been proposed by dirty

practitioner then arm chair researches hand professor of even the most reputed management schools.

The problem in the operating philosophy that is to be able to create responsible industry who can think innovatively in testing times, management curriculum should develop new mental competencies among the students. Entrepreneurial orientation and innovative thinking are crucial expects which business education leads to stress by providing them as compulsory courses rather than electives in the final stage of MBA completion. Such training would help students find solutions to problems rather than simply managing through them. Even for the existing functional course which have a set pedagogy attempts should be made in integrating classroom learning with compulsory industry visit with proper grading for every component of the course. For teachers, who are expected to initiate the change, incentive policies need to be linked to research having managerial implications and encouraging young faculties and doctoral students to attend industry immersion program for better appreciation in the contest. Also the discipline of Management needs to cross pollinate with other related disciplines like economics, sociology, political science, commerce etc. and explore joint projects to enrich quality of research and improve its relevance for managerial action.

Conclusion

It is fundamental truth that management education no longer remains a sure shot passport to have high paying job. In this connection, many strategic management schools have been thinking for some time now on reinventing their curricula and course content, in order to meet the challenges as a result of variables prevail in the environment. The blend of existence in content and implementation is only possible through experimentation with new pedagogical approaches that involve action based learning field work experience and reflective exercises. The comprehensive pattern of such innovative learning techniques can only bring sustainable solution most for attainment of successful management schools in midst of challenges of an uncertain and unpredictable environment.

References

1. https://www.indiatoday.in/education-today/news/story/by-2030-more-than-half-of-class-12-passed-indians-will-lack-the-skills-to-get-jobs-unicef-1617388-2019-11-09

2. Creating Jobs and Growth by Specializing to Exports in Network Products, Economic Survey of India 2019-20, Volume 1, pp 100.

3. https://www.financialexpress.com/jobs/employability-in-india-where-the-needle-needs-to-move-in-2020/1772595.

4. Dacre Pool, L. and Sewell, P. (2007), "The key to employability: developing a practical model of graduate employability", Education andTraining, Vol. 49 No. 4.

5. https://economictimes.indiatimes.com/jobs/employability-of-graduates-from-new-and-lower-tier-b-schools-a-challenge-aima-director-general/articleshow/70468701.cms?from=mdr.

6. https://www.shiksha.com/mba/articles/the-employability-conundrum-understanding-the-skills-job-gap-blogId-18893.

●

GANDHIAN OVERTONES IN DINA MEHTA'S *AND SOME TAKE A LOVER*

Prof. J. S. JHA*

Dina Mehta is an eminent Parsi writer who shares her birthday with Mahatma Gandhi on 2nd October. She has chronicled the life of the Parsi community in her works in the form of short stories, novels and plays. The Indian Parsis may be called in Toynbee's terminology, one of the important "creative minorities" [1]. They are the "fossil"[2] of an extinct culture. They have undergone a remarkable process of internal change in certain respects and have deeply influenced Indian society.

Mehta's novel *And Some Take A Lover*[3] (1992) projects the conflicting loyalties of a Parsi family enmeshed in the political turmoil of Quit India Movement, and the Naval Ratings Mutiny. Throughout the novel, the conflicting attitudes to Mahatma Gandhi and the freedom struggle represent the typical Parsi political paradox (of love and hate) that surfaces in the novels of another celebrated Parsi novelist Bapsi Sidhwa as well. A major difference between the two writers is that Sidhwa projects the paranoia and insecurity of the Parsis in the wake of the freedom struggle. In contrast, Mehta accommodates the ambivalence of the Parsi psyche.

The novelist makes a sincere attempt to understand Gandhian thought and its varied impact on different characters. The novel effectively depicts two kinds of influences of Gandhism- direct and indirect. For people like Roshni, Ahimsa is only a means to achieve freedom, an instrument to attain liberation whereas for Sudhir it is a way of life. Gandhism is an integral part of his consciousness. It modifies his outlook on life and brings about a radical metamorphosis in him. Sudhir's experiment with truth produces qualitative change in the life of his beloved.

The nature of Gandhian presence in Indian English novels is recounted by Meenakshi Mukherjee in these words:

> The most potent force behind the whole movement, the Mahatma is a recurring presence in these novels, and he is used in different ways to suit the design of each writer. He has been treated variously as an idea, a myth, a symbol, a tangible reality, and a benevolent human being. In a few novels he appears in person, in most others he is an invisible presence[4].

Commenting upon the Gandhian movement, the famous historian Sumit Sarkar writes:

> *Varied sections of the Indian people seem to have fashioned their own images of Gandhi, particularly in the early days when he was still to most people a distant, vaguely-glimpsed or heard-of-tale of a holy man with miracle working powers… . Peasants were giving vague rumours about Gandhi-a radical, anti-Zamindar twist.*[5]

The Parsis generally lived in urban settings and were not swayed by these rumours. Gandhi, they thought, "was fool enough to think he could save India with his milk-and-water non-violence – waiting for a change of heart in the enemy"[6] At times the sense of insecurity made them reject Gandhi and his approach as humbug: "what is that spinach-chewing rascal going to do if the British are not here to protect us"?[7]

It is not the case that Gandhi was hostile to the Parsis. During his stay in South Africa, he had very good relations with some Parsis. One of the books that he had read closely was *The Saying of Zarathrustra.* A Parsi named Rustomji was his close associate. When he met Sir Pherozeshah Mehta, the latter met him as a loving father would meet his grown up son. Gandhi found him insurmountable like the Himalayas and was helped by him generously. Sir Dinshaw Edulji Wacha, the right hand of Sir Pherozshah Mehta, who was the President of the Congress in 1901 when Gandhi met him in Calcutta, also gave him advice and help.[8]

In his teachings, Zarathustra laid emphasis on the relationship between means and ends and repeatedly spoke against violence of any kind. In our times Mahatma Gandhi personified these beliefs: "Freedom is the fundamental value in Zoroastrian ethics. The humanity of a moral agent requires that he be free to choose and then be held responsible for that choice. Not only is the value emphasized in moral

* Professor, Deptt. of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi

notions in the *Gathas*, it is made the basis, the full basis of the judgment of human behavior"[9].

Gandhian ideals of *Satyagraha* were intended for the welfare of all (*Sarvodaya)*. As he states in his autobiography:

> To see the universal all-pervading Spirit of Truth face to face one must be able to love the meanest of creation as oneself. And a man who aspires after that cannot afford to keep out of any field of life. That is why my devotion to Truth has drawn me into the field of Politics; and I can say without the slightest hesitation, and yet with all humility, that those who say that religion has nothing to do with Politics do not know what religion means.[10]

Gandhi denied being a Politician in the traditional sense of the word. He was, he said, a Politician trying to introduce religion to Politics as Gokhale, another 'saintly Politician' taught him in order to find no ego.[11] Gandhi was deeply convinced that Political Power had to be understood as a 'means' for universal welfare *(lokasangraha)* which implied both a radical refusal of the idea that the ends justify the means and an inviolable faith in the ethical and spiritual potential of all humanity.

Justice is not blind. Justice is impartial. In Zarathustra's philosophy, God is omniscient and just; but man must not assume that He is omnipotent. Most men believe that God controls all men's actions, and if anything goes wrong in their lives, they say 'That was my fate, my Destiny, what could I do'? Man must work with honesty and determination and take every step using his faculty of Reason and then he will be writing his own Destiny and not blaming God-as he often does.

Zarathustra's philosophy and his ethical concepts, enunciated 3500 years ago, contained in the *Gathas*, are not only relevant in all the ages, but they also form the basis of all great men's thinking and actions. It is a well known truism that Mahatma Gandhi's life was based on 'Truth, Love, and Justice'. Zarathustra like Gandhi believed in the holiness of being. He pointed out that in each of us there is a divine spark. It is upon us to recognize that divine spark of essence within us. As a practical guide in daily life, his prescription was very simple:

> Think good thought
>
> Speak good words
>
> Do good deeds[12]

This closely parallels Gandhi's three monkeys: See no evil, hear no evil, and speak no evil that in turn may harp on goodness of mind, speech and action.

Gandhi's love of honesty, truth and charity was in tune with the Parsis' cherished ideals in life and would have ordinarily evoked a favourable response from them. But, because of his associations with the Congress Politics, his excessive insistence on simple living and his principle of trusteeship, he evoked a mixed response from the Parsis.

Dina Mehta's protagonist Roshni constantly champions the cause of the freedom movement. She wears Khadi, much to the chagrin of her family, as 'a symbol of identification with her people'. She adores Gandhi because he is the mentor of Sudhir, the man she loves. She thinks that Gandhi's patriotism is for him a stage of his journey to eternal freedom and peace but she is not able to follow him in the details of his policy or political power. The lofty ideals of Gandhi are quite beyond her reach. She does not have the inner resources of a *Satyagrahi*.

Roshni feels aghast when she thinks of the strange, awesome power Gandhi wielded over other people's lives. After her failure to marry Sudhir, an indignant Roshni begins to see Gandhi as a despot: "what manner of man was this Gandhi", she asks "who could command such terrible obedience from his people? A despot, a tyrant more implacable than any feudal lord who ever reigned over his serfs"[13]. The influence of Gandhi is viewed here in terms of 'power play'.

To Roshni's mother and people like her (Roshni's aunt Piroja), Gandhi is merely a "…scoundrel and vagrant… the arch-traitor, the unmentionable, except with abuse…"[14] Roshni's cousin Framroze regards Gandhi's fasting as "a form of political blackmail" to which Roshni rebuts: "It is the Mahatma's means of protest against false propaganda. And the only way of sharing the suffering of the people while in prison".[15] Piroja considers Gandhi's follower 'wicked' and the title 'Mahatma' to her is a misnomer. The underground Congress worker Fazil Baig, though not unimpressed by Gandhi's message of universal charity, mutual forbearance and love, has his own reasons to choose a path different from the one shown by him simply because his approach is too idealistic. In his view, Gandhi is a courting disappointment, humiliation, and failure. He

predicts the defeat of Gandhism in these words: "Yes, we have in Gandhi an example of heroic failure, in spite of all he has achieved. His great spiritual aims are doomed to failure. They will be blurred, obscured, not so much by his enemies, but by his followers. For a prophet's wisest measures must necessarily be executed by the unwise. His purest aims are tarnished, in the course of fulfillment, by human passion".[16] Baig's appraisal of Gandhi and his way of life contain significant grains of truth. Roshni only says: "All this will be for posterity to determine".[17]

Dina Mehta delineates Gandhi's influence not only on the Indians but the foreigners as well. Douglas Archer, the sales manager of Thomas and Green Chemicals, an English firm, came to India because of Gandhi. He was a small town journalist in America who heard about Gandhi and his freedom movement through Mirabehn and made up his mind to come to India. Asked by Roshni about the reason of his arrival and stay in India, Archer says:

> … I had read much about Gandhi. I was very restless in those days. Somehow I had sensed that there was going to be another war in Europe, and he was the only man in the world who was demonstrating the creative power of the moral principle. He alone seemed to take his stand upon the power of truth against the organized forces of money and armaments.[18]

Dina Mehta has justifiably widened the ambit of Gandhi's magnetic appeal even to the westerners. Archer agrees with Gandhian diagnosis of the causes of poverty; but as a westerner, he fails to agree with the Gandhian programme for its solution. He finds Gandhian ideal of the trusteeship of wealth impractical.

Sudhir is an idealized character like Moorthy in Raja Rao's *Kanthapura*. As a college student, he evaluated Gandhi's principles and then became his follower. He is of the view that "Gandhi is a medieval saint who works miracles among the still medieval Indians in the interior of the country".[19] Sudhir lives with the villagers on their level, shares their tasks, suffers with them and is mentally prepared even to perish in realizing his dreams. He teaches the villagers many things-reading, writing, better farming methods, spinning, hygiene and sanitation. According to him these are all "a stupendous *yagna*, sacrifice".[20] He is an austere Gandhian and patriotism fills his heart. His soul has its roots deep down in the Indian soil. He believes in action to be the start like a true *karmayogi*. He recollects the words of Gandhi who said that "the starting point of his work was *satya*, Truth, and this Truth was to be found in the heart of man".[21] Like a true disciple Sudhir also wants to experience this Truth by merging into it, as a drop of water merges into the ocean.

Sudhir is advised by Gandhiji to re-read the *Gita*. The last verses of the second chapter describe the ideal of '*sthitaprajna*, the balanced mind".[22] He realizes that he should achieve equilibrium or his aim would falter and the efforts would go in vain. He is a saint whose life is an open book. His short life is an intense striving, not after a mere social and ethical good, but a hunger and thirst for grace. Although a Brahmin, he marries a Harijan girl Gauribai Mahar, daughter of a leather-worker of the same village. He undertakes this act at the behest of Gandhi that implies a symbolic gesture on his part to remove the last traces of untouchability. Gandhi's crusade against the eradication of untouchability is an established fact. The Harijan Sevak Sangh founded by Gandhi in 1932 was intended "to fight the evil of untouchability….In the course of the meeting Gandhi asked the members if they had eradicated the last trace of untouchability in law as well as in fact from the Hindu society".[23] Sudhir's journal *Hind Namo* which is truly a 'mountain of truth' offers at the end an imaginative reconstruction of Gandhi's Noakhali tour, a heroic one-man odyssey to quell the Partition riots there. The keystone of Gandhian plan was demonstration of personal courage and Sudhir tried to follow it wherever he was. He endeavoured to "become one with… people", to make a place for himself in their hearts and to "inculcate in them faith in and worship of the one God who is the same for both Hindus and Muslims…".[24]

All these emphatically establish the linkage between Gandhi and Sudhir. Gandhi does not appear in the novel, but his overwhelming presence is felt all through. In the course of the freedom struggle, Gandhiji was the moving spirit and in the novel he finds a fitting counterpart in the form of Sudhir who embodies all these ideals.

The two other Gandhian followers mentioned in the novel are Yakub and Lajwanti. Yakub, a survivor in the riots of Bihar, joins Sudhir and shares the living quarters under the same roof. Thus they set an example of communal harmony for others. Although Sudhir tries hard to prove himself a true and loving

friend, Yakub feels that he is crude and an imperfect instrument for the great experiment of amity between Hindus and Muslims of Noakhali as expected by Gandhi. He confides: "I am far from attaining the equipoise commended by the Gita".[25]

The persona of Yakub is presented with a singleness of purpose and his striving is tempered with detachment. His wife and children fall a victim to the forces of hatred, yet he remains undeterred. The novelist ruminates:

> Yakub is like a tree that gives shade to those who have cut off his boughs. This, then, is the glorious revenge: to bring courage, charity and help to those desolate people whose kinds have done unspeakable things to him and to his race. In this labour of a single man something is eternally gained by the universe.[26]

Yakub receives fatal blows from the men of his own community while protecting a Hindu riot victim, Hari in Noakhali. He displays the attitude of the truly religious Muslim who firmly believes that what has happened must have a meaning as well as the unseen presence of the Divine will. This conviction of Yakub puzzles Sudhir. He muses: "Whence this instinct for freedom? Who can trace its beginnings, except to say that man is free, that his struggle for relative freedom is but an expression of the freedom that exists absolutely, infinitely and eternally in self".[27]

Like Sudhir and Yakub, Lajwanti is a true nationalist. Unlike Roshni she has devoted herself wholeheartedly to the nationalist cause. Her way of wearing dress, her way of working- everything is different from Roshni's. In her bid to live up to her set ideals, she loses her life in a lathi charge while picketing a toddy shop. Like a true *Satyagrahi*, she "would never touch foreign goods, however superior, and allow millions of her own people engaged in the various indigenous crafts to be starved out of existence".[28]

The deeper import of Gandhi's Salt March is easily understood by Col. Rustom Bhurucha as he says: "I read about Gandhi's Dandi march in England; and let me tell you that the symbolic making of Salt on our shores has a deeper significance for the country than even he dreams of … Salt is only the beginning. And Salt-based products are today the virtual monopolies of foreign companies."[29] Gandhi's insistence on Khadi and crusade for prohibition have also been adequately represented through these characters.

The novel triumphs as a Gandhian novel because it places the Gandhian thought in a convincing fictional framework. In a world where there is clear mismatch between the sanctity of means and ends, where mind, speech and action act in disunion, Dina Mehta's novel is an excellent fictional rendering of the Gandhian thought. The novel's merit as a Gandhian novel lies in the fact that without becoming obtrusive, it allows the magnetic and colossal personality of Gandhi to get radiated through different fictional cum prototypical characters who define the existing socio-cultural matrix. Had it taken the doctrinaire mode, its appeal was destined to dwindle.

REFERENCES

1. Toyanbee, A.J. *A Study of History*. London. OUP. 1948. p. 29.
2. Ibid 234.
3. Mehta, Dina. *And Some Take A Lover*. Calcutta. Rupa Publishing. 1992. All textual references are from this edition.
4. Mukherjee, Meenakshi. *The Twice Born Fiction.* Delhi. Pencraft International. 2010. Pp 65-66.
5. Sarkar, Sumit. *Modern India* (1885-1947). Madras. Mamillan India. 1983. P. 181.
6. *And Some Take A Lover*. P. 72.
7. *Ibid p*. 99.
8. Gandhi, M.K. *My Experiments with Truth (pp 9-256) in Great Works of Mahatma Gandhi.* Delhi. Jainco Publishers.
9. Sethna, Homi D. "Teaching of Zarathushtra" in Kapadia et al (eds.) *Parsi Fiction* Vol 1 New Delhi. Prestige Books. 2001. P. 19.
10. *Great Works of Mahatma Gandhi. P. 255*.
11. Iyer, R. (ed.) *The Essential Writings of Mahatma Gandhi.* New Delhi. Oxford University Press. 1998 pp. 108-110.
12. Kulke, Eckchand. *The Parsees in India: A Minority as Agent of Social Change.* Delhi. Bell Books. 1978. P. 18.
13. *And Some Take A Lover. p. 200.*
14. *Ibid p.38.*
15. Ibid p. 99.
16. Ibid p. 150.
17. Ibid
18. Ibid. p. 251.
19. Ibid. p. 51.
20. Ibid pp. 179-180.
21. Ibid p. 182.

22. Ibid
23. Ibid p. 197.
24. Ibid p. 316.
25. Ibid pp. 287-288.
26. Ibid p. 300.
27. Ibid pp. 300-301.
28. Ibid p. 44.
29. Ibid p. 90.

●

DOES INDIA REALLY NEED A UNIFORM CIVIL CODE

OM PRASAD TRIPATHY*AND PROF. SIBARAM TRIPATHY**

Since time immemorial, there was no need for a Uniform Civil Code because of the early Aryan civilization followed by the Hindu administration of justice by the Hindu rulers. The Hindu rulers fundamentally followed the rule of Dharma according to Veda, Vedangs, Upanishads and Dharma Shastras. The matter becomes complicated when Mohammad Bin Kasim attacked Sindh Prant of India in 712 that followed a series of Muslim rules in India upto the last Mughal emperor Bahadur Shah Zafar. But during this period the identity of both religion Hindu and Muslim are left untouched, their meaning by the Hindus will be administered according to Hindu personal law so also Muslims administer according to Muslim personal law, with the advent of the English rule in India by the charter Act of 1600 AD and its aftermath period, both the personal laws are recognized by the English rulers. But in the mid of 19thcentury, the English rulers have tried their best to make changes, revised and codified certain laws prevailing then which they found to be unjust in character. For better administration of justice, some changes were also made which provided for the application of personal laws of Hindus and Muslims concerning certain matters. But in the process, they left certain other aspects of 'personal laws' purely for administrative reasons and felt that any reform needed in such laws could well be undertaken by the communities themselves. History has recorded instances of such reforms both among Hindus and Muslims, but of a piecemeal character.

Until 1772 the Britishers followed the prevailing system of administration of justice generally followed by Muslim rulers. But Warren Hastings in 1772 made certain regulations for the administration of civil justice for the native population without showing any discrimination to any community. Later in the year1781 regulations were passed wherein it was prescribed that either community was to be governed by its 'personal 'law in matters relating to inheritance, marriage, religious usage, and institutions. This is evident from one of the observations which reads "nothing could be more obviously just than to determine private contests according to those laws which the parties themselves had ever considered as the rules of their conduct and engagements in civil life, nor could anything wiser than, by a legislative act, to ensure the Hindu and Muslim subjects of Great Britain that the private laws which they severally hold sacred, and a violation of which they would have thought the most grievous oppression, should not be superseded by a new system, of which they would not know, and which they must have considered as imposed on them by a spirit of rigour and intolerance."[1]

With the passage of time confusion and chaos dominated the Indian legal system and thus codification of laws was felt urgently necessary. As a result, we could see the passage of certain codified criminal laws that applied to the whole of India irrespective of religious belief. But as far as a codified civil law is concerned no common Civil Code could be enacted. As Lord Macaulay, the Chairman of the First Law Commission of India observed "We must know that respect must be paid to the feelings generated by differences of religion, of nation and caste. Much, I am persuaded may be done to assimilate the different system of law without wounding those feelings. But whether we assimilate those systems or not, let us ascertain them let us digest them. We propose no rash innovation; we wish to give no shock to the prejudices of any part of our subjects..... Our principle is simply this-Uniformity where you can have it diversity where you must have-but in all cases certainty.'[2]

The atrocious and long existed practice of Sati was put to an end by the demand made by a group of social reformers in Hindu society. The pioneers of social reform who prevailed upon the foreign rulers to bring about that reform in Hindu society were the torchbearers of a social upsurge for modernizing Hindu society.

Over a century elapsed since the first act of reforming Hindu society was finished before the idea

* Assistant Professor, Vikas Law School Sambalpur, Odissa
** Professor, Law School, Banaras Hindu University, Varanasi

of a common civil code embracing the marriage, divorce, inheritance, succession and other civil laws of Indian society came to be incorporated into the Directive Principles chapter of the newly adopted Constitution in the Republic India, but by the time the Constitution with the common civil code as one of the Directive Principles of State Policy was adopted, the British rulers had left the Indian shores. While leaving however they divided the country into a Hindu India or the Indian Union and a Muslim India or Pakistan. The basis of the division was mainly on religious feelings. The demand that a distinctly Islamic state should be carved out of India gave rise to the preservation and protection of all that is Islamic in social life, culture, personal behaviour, etc. Those who preferred to stay in the Indian union after the partition were in a strong belief that there was to be only one Nation and no community will be allowed to remainas a separate entity on the basis of the religion. This was perhaps taken into consideration by the framers of the Constitution while writing into the Constitution the principles of a common Civil Code. It was hoped that the Indian citizen irrespective of their caste, religion, etc. should be governed by the same civil as well as criminal law but it was left to the future- a time when all the communities would accept it voluntarily- thereby implementing the principles through appropriate legislation. But such legislation is still to see the light of the day.[3]

Social Justice and Uniform Civil Code

The peculiarities of the history of the nation have created one nation amidst myriad diversities. The strength of India lies in religious tolerance and secularism. Civil law in India is more or less uniform, I. e., the laws of contract transfer of property and procedure but the area which is referred to as the personal law, mostly relating to marriage, maintenance adoption inheritance and religious properties is dissimilar as those are largely based on religious texts and local customs. Though several legislations do exist in this area, the operation is limited to one religious denomination or the other.[4]

The progressive ideologies, welfare and the promised social justice should not be sacrificed to preserve ideas and systems, which have become anachronistic. This doctrine was the dividing spirit behind the Hindu Code Bill, which manifested as four separate Acts of parliament. Codes are not ending in themselves, judicial interpretation of codes and customary particles also enrich the gamut of law in a nation. Sometimes these adjudications stimulate legislation as the case of Muslim Women (Protection on Divorce) Act, 1986 (Shah Bano Begum).[5]

Judicial review is a peculiarity of our Parliamentary democracy; therefore, the courts are incumbent to test the practices or law on the touchstone of Article 13 and the framework of the Constitution. While solid foundation often exists on both sides, the adjudication of judiciary stamps the seal of correctness on one set thereby charting a direction of the civil society which is necessary for our country held by the Supreme Court in the case of Daniel Latifi.[6]

The uncodified personal laws, which govern ordinary people's lives, need to be examined for injustices. A legislative capitulation or coercion, in fact, complicates the matter and result in a continuance of injustices. The parameters of justice cannot be different for different sections, the objective of equality of opportunity and fraternity has to co-exist, otherwise, the Indian dream would be as illusive as it was ever before.

Article 44 no doubt is a beacon in this direction. Shri K. M. Munshi on 23rd November 1948 state in the Constituent Assembly that the Parliament could enact it when the majority in Parliament would think proper, the may attempt for the unification of the personal law. The little corneras Dr. Ambedkar puts it is still un-invaded though courts have urged the Government at different times to explore possibilities John Vallamattom V. Union of India,[7] Smt. Sarala Mudgal, President Kalayani V. Union of India.[8]

Human relationships and the agonies of common Indians are not greatly different, however, the real issue of the dispensation of justice and equality within the community and among communities is shrouded in the non-issues of fear of lost of cultural identity or that of a majoritarian interference.

Different Religion and personal Law

Different religions developed different types of personal laws in India in the past with the active influence of their respective religions. Britishers did not interfere with the personal laws of the native people even though they regulated public Law in the light of Common Law. They regulated only public law and left the personal law mostly untouched. Accordingly, different people belonging to different

religions have their laws to be guarded in personal matters like marriage, maintenance, adoption, guardianship, succession, etc.

In Hindu law, even though the Hindu Code Bill was failed, 4 legislations were brought in tune with the modern concept of reasonableness. Hindu women's position was improved. The polygamy was abolished, the divorce procedure was designed in favour of women, the simplification of marriage, the property rights conferred on Hindu women, the maintenance are some of the changes brought in Hindu personal law.

In Muslim Law, the law was mostly untouched, the old principles are even regulating the modern Muslim in India like other countries in the world. Even though beneficial provisions like giving some certain share to heirs, mothers and daughters are better in Muslim Law, most of the Muslim provisions paved the way for lowering Muslim women. The major provisions which are understood as unreasonable for Muslim women are (1) Polygamy (2) Divorce Provisions (3) Not the responsibility of the husband to maintain Muslim wife beyond Iddat period etc.

The Christian woman, when compared with Hindu and Muslim woman is in a better position except getting divorce easily. Now the Indian Divorce Act was also changed to simplify the divorce procedure applicable to Christians.[9]

Constitutional Provision and Judicial Pronouncement

The concept of secularism in the preamble of the Indian Constitution reflects the image of Indian Cultural values and its heritage having aims to fulfill the objectives of national integration. As a fact, the various laws and enactments are in force to protect, the person and property in work. In India, there are different personal laws like Hindu laws, Muslim laws, Christian laws, and Parsi laws, etc. Which cover matters relating to the personal relationship like marriage, adoption, inheritance, succession, maintenance and guardianship. The aforesaid laws are closely linked and associated with the religion of various followers.

Article 44 of the Indian Constitution (Directive Principles of the State Policy) states that “The state shall endeavour to secure for its citizens a uniform civil code throughout the territory of India.” This article has always been a subject of debate and such debate has also left the subject of this article i.e. uniform civil code staggering and whirling in an orbit on an axis on its own with the rotating public opinion.

The Constitution of India enshrines Article 44 of the DPSP intending to achieve the uniformity of law, its secularization to make it equitable and non-discriminatory.

The preamble of the Indian Constitution which constitutes the Secular Democratic Republic’ which implies that there shall be no state religion and no state shall discriminate on the basis of religion. The uniform civil code must strike a balance between the protection of fundamental rights and religious principles of different communities of personal laws of each religion that comprises of separate ingredients and are founded on different ideologies. It is often seen that Communalism breeds discrimination at two levels: between people of different religions and between the two sexes. It was only the Hindu law where its codification was taken forward that too in a spat of great protest but till now codification of Muslim Personal law is still a sensitized issue owing to its politicization.[10]

Supreme Court in a series of its Judgments lamented for the absence of a uniform civil code. Through these judgments of our highest court tried to rock and shake our conscience but still, we have not paid any heed to it.

The present-day politicians, the bar, the academics all know that without a uniform civil code we can't achieve freedom in its true sense because freedom signifies equality and there will be no equality if there is no uniform law.

So, it is high time that we should look into the several judgments of the Supreme Court, in which it has propagated for a Uniform Civil Code, though not fully but very substantially. It will enable us to see the substance that is hidden in our society and jeopardizing our Freedom Day by day.

Before drinking deep into the subject, we must know that what is the philosophy of 'Uniform Civil Code'. Firstly Uniform Civil Code aims at the consolidation of different personal laws into one bulk, so that it could be made applicable to all the citizens of India regardless of their religion. Secondly, the Uniform Civil Code envisages the maintenance of equality inside our country.

Article 44 of our Constitution, which forms a part of the Directive principles of state policy's community welfare charter mandates that, 'the State shall endeavour to secure for the citizens a uniform civil code throughout the territory of India. ·

Judicial response and Uniform Civil Code

The first significant decision was given by the Supreme Court concerning the enactment of a uniform civil code, in the case of Mohd. Ahmed Khan V Shah Banoo Begum.[11] A five-judge bench of the Supreme Court comprising of Chief Justice Chandrachud as he then was, Justice D. A. Desai, Justice 0. Chinappa Reddy, Justice E. S. Venkatramaiah and Justice Ranganath Mishra, had given the judgement.

The brief facts of the case are as follows.

Mr. Mohd. Ahmed Khan a lawyer by profession deserted his wife Saha Banoo Begum in the year 1975. In April 1987 Shah Banoo filed a petition against Mr. Khan U FS 125 Cr. PC in the Court of the learned judicial magistrate first class. Indore asking for maintenance @ rs. 500 per month. on November 6, 1987, Mr. Khan divorced Ms.SahaBanoo by an irrevocable Talaq. Afterward, Mr. Khan defended his case on two grounds, firstly that as because she had ceased to be his wife. He has no obligation to maintain her. Secondly that he had already paid maintenance to her @ Rs. 200 per month for the last two years and also deposited a sum of Rs. 3000 in the court by way of dower during the period of lddat. But the learned Magistrate ordered him to pay Rs 25 per month to his wife for, her maintenance. Then Ms. Shah Banoo filed a revision petition in the M. F. High court to enhance the amount and the court enhanced the same to Rs. 179. 20 Per month. Against this order, Mr. Khan filed a special leave petition in the Supreme Court. In Supreme Court he pleaded that under his personal law he has no obligation to maintain his wife after divorce, arid also he has taken the resource of Ss. 127, sub-section (3), clause (b) which reads in sum and substance that if the husband has paid anything at the time of divorce, which is payable to the wife at the time of divorce Under any customary or personal law applicable to the parties then the magistrate can cancel the order made u/5 125, Cr PC.

The Supreme Court speaking through C. Justice Chandrachud denied that deferred dower paid by the husband is an amount which is payable on divorce, and also by quoting Ayat No. 241 & 242 of Quran declared that it is the duty of every Musalman to maintain his wife whether divorced or not.

The Court further observed in the 32nd para of its judgement that, It is a matter of regret that Art. 44 of our Constitution has remained a dead letter. There is no evidence of any official activity for framing a common civil code for the country. Common Civil Code will help the cause of National integration by removing desperate loyalties to laws that have conflicting ideologies. It is the state which is charged with the duty of securing a uniform civil code for the citizens of the country and unquestionably it has the legislative competence to do so. A counsel in the court whispered somewhat audibly that legislative competence is one thing and the political courage to use that competence is quite another. We understand the difficulty involved in bringing persons of different faiths and persuasions on a common platform. But a beginning. Has to be made if the constitution is to have any meaning. Justice to all is a far more satisfactory way of dispensing justice than justice from case to case."

This was the averment made by the Supreme Court in the year of 1985. But in 1986 in order to satisfy the enraged Muslims, our esteemed parliamentarians passed a bill namely the Muslim Women's Rights (Protection on Divorce) Act, 1986 the provisions of this Act negatived the judgment given by the Supreme Court a year earlier.

The second significant case in this behalf is Sarala Mudgal V. Union of India,[12] in this case, the Supreme Court while deciding four petitions regarding a case where the question for consideration was whether a Hindu male married under Hindu law, after conversion to Islam can solemnize a second marriage without dissolving the first one.

The Court speaking through Justice Kuldeep Singh and Justice R. M. Sahai held that such a marriage will be illegal and the husband can be prosecuted for bigamy u/5 494 of IPC.

In this historical case, the court further directed the then Prime Minister, Mr. Narsimha Rao, to take a fresh look at Art. 44 of the Constitution which according to the court is imperative for both protection of the oppressed and promotion of national unity and integrity.

The court going a step further since 1950 several Governments have come and gone but they have failed

to make any effort towards implementing the constitutional mandate Under Art. 44. Consequently, the problem today is that many Hindus have changed their religion and have converted to Islam only to escape the consequences of bigamy. This is because Muslim law permits more than one wife and to the extent of four.

Justice Kuldeep Singh in his separate but concurrent judgment said that Art. 44 is based on the concept that there is no necessary connection between religion and personal law in a civilized society. Marriage, Succession and like matters are of a secular nature and therefore, they can be regulated by law. No religion permits deliberate distortions.

The third significant judgment was given in the case of Noor Saha Khatoon V. Mohd. Qasim.[13]

In this case, the Supreme Court again reiterated the secular character of SS 125, CrPC and held that a divorced Muslim woman is entitled to claim maintenance for her children till they became major.

Moving a step further the Supreme Court disregarded the Provision enumerated U/5 3 sub-section (1) clause (b) [which states that the divorced wife has a right to maintenance for two years only from the date of birth of the children] and held that his provision can't override or supersede on the applicability of Ss 125, CrPC. In this way, in Noor Saha Khatoon's case, the Supreme Court reaffirmed it's stand which it had taken in Shah Banoo's case in 1985.

Recently for the fourth time, the Supreme Court raised the issue of uniform civil code while deciding the case of John Vallamattom V. Union of India.[14]

In this case, while declaring Ss 118 of Indian Succession Act, 1925 as unconstitutional the then Chief Justice Mr. V. N. Khare said that Article 44 of our Constitution mandates for a uniform civil code and it was a matter of regret that still this provision has not been given effect to freedom to follow and propagate his religion. But the religion of individual or denomination has nothing to do in the matter of socio-economic laws because religion signifies the relation between man and God whereas Law signifies the relation between a man and a man. So the freedom of religion under the Constitution does not allow religion to infringe adversely on the secular rights of the citizens and the power of the State to regulate socio-economic relations.

However, in Ahmadabad Women's Action Group (AWAG) v. Union of India, AIR 1997 SC 3614 a PIL was filed challenging gender-discriminatory provisions in Hindu, Muslim and Christian statutory and non-statutory law. In this case, the Supreme Court became a bit reserved and held that the matter of removal of gender discrimination in personal laws involves issues of State polices with which the court will not ordinarily have any concern. The decision was criticized that the apex court had virtually abdicated its role as a sentinel in protecting the principles of equality regarding gender-related issues of personal laws of various communities in India.

The Apex Court pursued the same line in *Lily Thomas etc.* v. *Union of India* and others[15] and held that the desirability of the Uniform Civil Code can hardly be doubted. But it can concretize only when the social climate is properly built up by the society, statesmen amongst leaders who instead of gaining personal mileage rise above and awaken the masses to accept the change for the betterment of the nation at large.

The situation regarding the personal laws for Christians in India was different. In their case, the courts seemed to be bolder and took a progressive stand in terms of gender equality. For instance when the case of *Swapana Ghosh* v. *Sadananda Ghosh*[16] the Calcutta High Court expressed the view that sections 10 and 17 of the Indian Divorce Act, 1869, should be declared unconstitutional but nothing happened till 1995. Again, in yet another case, the Kerela High Court in *Ammini E.J.* v. *Union of India*[17] and Bombay High Court in *Pragati Verghese* v. *Cyrill George Verghese*[18] have categorically struck down section 10 of the Indian Divorce Act, 1869 as being violative of gender equality.

In September 2001, a poor Muslim woman, Julekhabhai, sought changes in the divorce provisions in Muslim law as well as that of polygamy. The Supreme Court asked her to approach the Parliament, who refused to entertain the petition. Julekhabhai had sought equality with Muslim men, requesting the court to declare that "dissolution of marriage under Muslim Marriage Act, 1939, can be invoked equally by either spouse". It also requested the court to strike down provisions relating to "talaq, ila, zihar, lian,

khula, etc", which allowed extra-judicial divorce in Muslim personal law.

Mohammed Abdul Rahim Quraishi, the then Secretary of All India Muslim Personal Law Board said that it needs to be seen that the subjects pertaining to that of marriage and divorce, infants and minors, wills, intestacy and succession, partition, etc, are enumerated in the concurrent list of 7th Schedule of the Constitution and these being concurrent subjects both the central and state governments have the power to make laws. As a result, we find many regional variations affected by the state legislatures in the Hindu Laws. Bigamy is punishable by law in all communities under the I.P.C except the Muslims, who are governed by the Sharia law. The Muslim Personal Law (Shariat) Application Act 1937 was passed by the British government to ensure that the Muslims were insulated from common law and that only their personal law would be applicable to them. Bigamous marriages are illegal among Christians (Act XV of 1872), Parsis (Act II of 1936) and Hindus, Buddhists, Sikhs, and Jains (Act XXV of 1955). Enactment of a Uniform Civil Code would abolish the Muslim rights to polygamy. In almost all recent cases where the need for a Uniform Civil Code has been emphasized women were always found to be at the receiving end of torture in the garb of religious immunity ultimately causing them to suffer irreparable loss and injuries in all cases. Apart from the famous Shah Bano (1986) and Sarla Mudgal (1995) cases, there have been numerous other pleas by Hindu wives whose husbands converted to Islam only to get married again without divorcing the first wife. To conserve the cohesion of Hindu society, the Hindu laws made allowances for customs and usages. The imposition of uniformity would have undermined Hindu social cohesion. If matters relating to family laws and customs fall under the jurisdiction of Parliament and state legislatures, the country will have a variety of regulations thus leading to unnecessary and undue advantage to some while depriving many other people who will be left to their fate to suffer. The State amendments have made many in-roads in the Hindu laws damaging the uniformity of these laws, affecting many substantive rules as well.

In a Uniform Civil Code which is the cherished constitutional goal, if we have a single ground of divorce *viz. that* the marriage has broken down irretrievably, the scope of any controversy is ruled out. Where factually marriage has broken down irretrievably, no useful purpose will be served in finding out the guilt or innocence of the parties and in such cases law proceeds to cut off the tie.

Analytical discussion on these issues shows that there should be one single ground of divorce, *viz.* irretrievable breakdown of a marriage. Irretrievable breakdown of marriage and divorce by mutual consent should be made uniformly a ground to dissolve the marriage of spouses irrespective of their religious faiths. The critical analysis of different existing grounds of divorce contained under various divorce laws shows more uniformity and less contrast in them. Therefore, the conceptual analysis of the different existing grounds of divorce paves the way to push up the matter of uniformity in them legislatively.

In *Naveen Kohli* v. *Neelu Kohli*[19] the Supreme Court, boldly laid down that while permitting dissolution of thirty-year-old mismatch, urged the Government of India to amend Hindu Marriage Act to make Irretrievable break down of marriage a valid ground for divorce. The court held that irretrievable break down of marriage was prevalent as a ground for divorce in many other countries and recommended the Union of India to seriously consider bringing an amendment in the Hindu Marriage Act, 1955 to incorporate irretrievable break down of marriage as a ground for the grant of divorce. The court ordered to send a copy of the judgment to the Secretary, Ministry of law and justice, Department of legal affairs, Government of India for taking appropriate steps and to accommodate such demands that arose before the Court in the instant case.

The express introduction of the principle of irretrievable break which has been in place already in England will be much more conducive and functional than merely relying on the implied principle. Besides, the administration of justice based on clearly codified law is superior to the adjudication from case to case. For this, Parliament could reintroduce the Marriage Laws (Amendment) Bill, 1981 (No.23 of 1981), which earlier did not fructify into law for expressly introducing irretrievable break down of marriage as the singular ground for divorce, as the bill was allowed to lapse.

Recently in *Ramesh Jangid* v. *Sunita,*[20] the wife wanted her husband to leave his parents and live separately. The Court held that the demand of the wife was unreasonable and as a wife was living separately for 13 years and denying the physical relationship, so

divorce was granted on the aforesaid grounds. The court observed that the differences that have grown up between the parties, the distance which has widened for over a decade cannot be brushed aside lightly. Thus irreparable break down of marriage is obvious so a divorce in such a case is the only way available to the parties as well as for the court.

In *Prabhakar* v. *Shanti Bai*,[21] parties were married in 1955 however they have not stayed together since 1958, and no cohabitation was there forthe last 49 years. The court granted the decree of divorce as the marriage between the parties was irretrievably broken and it was no use to continue with such a marriage any longer.

The Law Commission of India and the Supreme Court have recommended that the irretrievable break down of marriage should be made a separate ground of divorce by the legislature. No useful purpose would be served by keeping alive de jure what is dead de facto. It is possible that if Parliament does not act on this recommendation the legislature of some states of India may take the lead, exercising power under entry 5 of the concurrent list of the 7th schedule.[22]

The Law Commission has suggested that immediate action needs to be taken to introduce an amendment in the Hindu Marriage Act, 1955 and the Special Marriage Act, 1954 for the inclusion of irretrievable breakdown of marriage as another ground for grant of divorce.

For long Christian women too had the law loaded against them. A Christian man could obtain a divorce based on adultery; a woman had to establish an additional charge like desertion or cruelty under the Indian Divorce Act 1869 as well. But in 1997, cruelty, physical and mental torture was made ground enough for a Christian woman to obtain a divorce, with the Bombay High Court recognizing cruelty and desertion as independent grounds for the dissolution of Christian marriage. Divorce under the Hindu Marriage Act 1955 can be obtained on the grounds of adultery, cruelty, desertion for two years, conversion in religion, an unsound mind, suffering from venereal disease or leprosy or if the spouse has renounced the world and has not been heard from for seven years. Also, no resumption of cohabitation for one year after the decree of judicial separation, no restitution of conjugal rights for one year after the decree for restitution of conjugal rights, or if the husband is guilty of rape, sodomy or bestiality. All major religions thus have their laws that govern divorces within their community, and there are separate regulations under the Special Marriage Act, 1954 regarding divorce in interfaith marriages. Under a common civil code, one law would govern all divorces for all communities based on religion. One should not forget that nationhood is symbolized by one Constitution, single citizenship, one flag and common law applicable to all citizens and India's obligations under international law and requirements of various international instruments relating to the human rights of women such as Universal Declaration of Human Rights, 1948 and the Convention on the Elimination of all Forms of Discrimination Against Women, 1979 also demand that even if one rules out Article 44 the Union of India cannot evade its international obligation to make laws to remove discrimination against women.

Article 44 of the Constitution of India requires the state to secure for the citizens of India a Uniform Civil Code throughout the territory of India. As has been stated above, India is a unique blend and merger of codified personal laws of Hindus, Christians, Parsis and to some extent the laws of Muslims. However, there exists no uniform family law in a single statute which is applicable for all Indians which are universally acceptable to all religious communities who co-exist in India.

Uniform Succession Code maybe a step for achieving the goal of Uniform Civil Code

In free India even though a Uniform Civil Code is a Constitutional goal under Art. 44, which provided that the state is enjoined to endeavour to secure for its citizens a uniform civil code throughout the territory of India. It has however remained as a dead letter. Thus, there are different personal laws applicable to different religions like Hinduism, Islam Christianity, etc. which allow gender inequality for one reason or the other even in free India. Supreme court of India several times stressed the urgent need of bringing uniform civil code in India without further delay. The recent Supreme Court of India's Judgment again raised the issue.[23]

After having traced out historical inequality resulting in the deprivation of property rights by women and the legislative attempts for the betterment of women in some religions to emphasize the need to bring a comprehensive Code applicable to all women

irrespective of their religious affiliations, an attempt is made to provide a draft Uniform Succession Code. Now let us examine the property rights of different people in different religions.

Hindu women and property rights

Prior to the Hindu Succession Act, 1956, the property of a Hindu woman under Shastric Hindu Law was of 2 types, I. e. 1. Stridhana' and 2. Women's estate. According to Vijnanesware, the women's property goes to her daughter. However, in the case of maiden's Stridhana the first heir was his brother. Regarding other properties, the Hindu women were not given right under the old notion, NA STREET SWATANTRA MARATHI (No woman has right to freedom).

However, the Hinduwoman's right to property act, 1937 was brought to confer property rights in a limited way on Hindu woman I. e. life estate (limited estate) on her husband's property. 'Sec 14 of Hindu succession Act, 1956 4 has abolished woman's estate and conferred absolute property rights on Hindu woman. Sec 14 of the Hindu Succession Act, 1956 thus is a Magna Carta for a Hindu woman. The Hindu Succession Act, 1956 has brought profound changes in the pre-existing system of Hindu Law to improve the status of Hindu of survivorship is operated. The widow or daughter or mother of the deceased coparcener of his pre-deceased Son's daughter or predeceased Act, 1956 b remedied the situation. Daughter, Mother and widow's like unchastity of a widow was now removed. All these are very useful.

Daughter's right in mitakhara coparcenary property

In Andhra Pradesh, Tamil Nadu, Karnataka and Maharashtra amendments were brought to sec 6 of the Hindu Succession Act, 1956 with a view to confer property rights on daughter along with son as a matter of Birth Right. In other words, the daughter is recognized with equal property rights along with son in ancestral property. These amendments were praised as death blows on the Joint Family system, the product of patriarchy.

By drawing the scheme of Class I and Class II heirs based on NATURAL LOVE AND AFFECTION THEORY in the place of Mitakhara's blood consanguinity and Dayabaga's religious efficacy, the Hindu Succession Act, 1956 did a lot in providing property rights to Hindu women.

The Hindu Succession (Amendment) Act 2005 was enacted to remove gender discriminatory provisions in the Hindu Succession Act 1956. Under the amendment, the daughter of a coparcener shall by birth become a coparcener in her own right in the same manner as the son. The daughter shall now have the same right in the coparcenary property (ancestral property of the Hindu undivided family) as a son. This amendment also repeals Section 23 of the Hindu Succession Act which disentitled a female heir to ask for partition in respect of a dwelling house, wholly occupied by a joint family, until the male heirs choose to divide their respective shares. Section 24 of the Act which denied rights of a widow to inherits her husband's property upon her remarriage has been repealed. This Act has brought about a central amendment which is applicable to all the state government (Government of India, national review on Beijing +20, 2015, page 12; CEDAW/C/IND/4-5, PARA.5).

Thus, the history of Hindu Women's property Rights is FROM NOTHING TO SOMETHING AND FROM SOMETHING TO EVERYTHING. However, because of the dowry system, denial of property rights in practice and other social evils forced Hindu women to be deprived off the enjoyment of the property. Moreover, in a dwelling house, Daughter has only a limited right along with sons. This should be changed.

Muslim women and property rights

The Mohammedan Law of Inheritance is developed on the pre- Islamic Customary Law of Succession. Only customary heirs (mostly male agnates) were recognized heirs. No female was allowed to participate in the inheritance.

Prophet recognized this unreasonable scheme of heirs to a Muslim interstate and conferred property rights on certain blood relations such as Mother, Daughter, Father and also relations by affinity such as Widow and Husband. This Group of newly created heirs is called sharers.

However, giving males superior positions to females in getting property rights is unreasonable. In equal degrees, males are given a double portion of the female heir which is a most unequal one. For example, if son and daughter are there to a Muslim, son gets two shares and the daughter gets one share which is the most unreasonable one.

The Koran regulated the testamentary exercise by a Muslim. Will is a device in the hands of a Muslim

to correct the law of Succession. The appreciable concept in Muslim will is 2/3 of the property must be left to heirs and only 1/3 rd property can be bequeathed by a Muslim.

Christian women and property rights

Even though the Indian Succession Act, 1925 is applicable for Christian Intestate Succession, there is some dissatisfaction among Christian women particularly residing in the cochin Travancore Area of Kerala. However, under Christian Law, Mother is not given good position· when the father is alive mother gets nothing. If there are lineal descendants, Father, Mother get nothing. This should be changed.

Comparative analysis of Hindu, Muslim and Christian women's property right

The Old Hindu Law puts Hindu Women at a most disadvantageous position. Now the position of Hindu women has improved. Mother, Daughter, widows are given priority along with sons. The uncodified areas like partition etc., however, brings equality of women at par with her male counterpart after the Hindu Succession Amendment Act.

The Muslim Law which is uncodified even now allows the disparities and inequalities to a greater extent. Mother is given 1/6 or 1/3 share, Widow is given 1/8 or 1/4, whereas Father is given 1/6 of Residuary. The husband is given1/4 or 1/2. Son is given a double portion of Daughter's share. These are some of the inequalities prevalent in the Muslim system.

Christian intestate succession discriminates mother while depriving property right to her along with father that is why, Hindu Mother, Hindu Daughter, Hindu Widow are better than Mother, daughter, and Widow under Muslim and Christian laws.

Absence of a Uniform Civil Code allows different laws that provide inequality for women folk in the country and leads to deprivation of property rights. Ifat all, uniformity is to be brought, it can be brought in the property rights of different women. The advantageous provisions of all the systems can be taken and a Comprehensive Code can be brought. Uniform Succession Code is the first step to the Uniform Civil Code.

For a Uniform and Comprehensive Succession Code, the following suggestions are made:

(1) Unscrupulous people are creating Wills, thereby denying property to near relations. To avoid this type of practice, the testamentary provision of Muslim Law should be incorporated and at least 50% of the property should be kept for intestate succession and a limitation should be imposed to this extent under Indian Succession Act, 1925 which applies to Hindus, Christians, etc., thereby the property should be equally divided as intestate property and testamentary property simultaneously in case any person wants to create a will irrespective of religion.

(2) Under Muslim Law, the male heirs are getting double of female share in equal degrees which should be stopped under the uniform Code and female and males should be given equal shares in equal degrees. The discriminate principles under sharers and the residuary system should be abolished so that equality will be applied between men and women in inheritance matters.

(3) Under Christian Law, Mother is at a disadvantageous position which should be rectified by providing equal treatment to Father and Mother under the proposed Code.

(4) In Parsi Laws also along with widows and children, the mother has no property rights. Irrespective of religion, mother and father should also be given property rights along with widows and children.

The above discussion provides us with an idea that the conferment of the Property Rights of women is not sufficient. They are to be implemented effectively It provides an opportunity for Women Folk in the country to develop themselves. Let us hope in near future there is maybe a Uniform Succession Code which contains fair and equitable aspects of all religions in the country without prejudice to any particular religion.

Conclusion and Suggestion

From the foregoing discussion, it is quite pertinent to note that India no doubt requires a civil code of its own, Firstly we do make understand our fellow minorities about the utility and working of the Uniform Civil Code because till date, the same has been wrongly posted as an assault on religion and religious identity, what is essentially aims at is secular reform property relations in respect of which all religious traditions how grossly discriminated against women, A Uniform Civil Code, therefore, most a matter of gender justice. Secondly, there is a large

reason for the Uniform Civil Code with the slow but steady empowerment modernization and ever globalization of Indian society, the country's real diversity is becoming manifest. Cohort after cohort of the long-suppressed and submerged underclass is thrusting up from below to claim its place in the sun as an equal citizen who will not be denied their fundamental human rights. In the progress their barking traditional barriers of community, caste, race, religion, language, and gender challenging the old increasingly outmoded social order of which conservative laws are part.

Thirdly today with growing education migration and economic and social mobility, unknown and earlier social prohibited relationships, inter-casteinter-religioninter-community marriage and divorce and acquisition and disposal of self-acquired property by women are becoming increasingly common. In the circumstance, there could be social breakdown hard burn and strife even among a couple of the same community without a uniform civil Code and traditional personal laws do not accommodate the emerging multicultural reality and aspiration. Lastly, till date report says 18 countries already framed uniform civil code of their own, 4 Islamic states like Egypt, Iraq, Indonesia even Pakistan, directly or indirectly, has changed its personal laws in catering to the pace of advancement and civilization. In India also, Goa has shown the way. Therefore, the time has ripened, the country is acclimatized and the atmosphere is conducive to provide a uniform civil Code to the citizens of India taking into consideration the sentiments of our fellow minorities. There is absolutely no reason for its delay. A secular Indian needs uniform civil code to mark time is to march with the communality.

Suggestion

1. A national debate in this issue should be convened by the Government above party politics as soon as possible.

2. A committee of eminent Jurists belonging to different religion should be constituted.

3. A liberal, forward-looking Uniform Civil Code may be expected to win the heart of the people of India in general and the religious minorities in particular.

4. A Uniform Civil Code should focus on rights; leavings the rituals embodied in personal law in fact, within the boundary of its constitutionality.

5. Press, media and academician must generate conducive atmospheres for the adoption of the Uniform Civil Code.

Reference

1. M. P. Jain, Outlines of Indian Legal History (1990) at p. 580
2. Ibid at p. 467
3. Desta, Kiran, Uniform Civil Code (1995)
4. Constituent Assembly Debates, dt. 23 Nov. 1948
5. AIR 1985 SC 945
6. AIR 2001 SC 3958
7. AIR 2003 SC 2902
8. AIR 1995 SC 1531
9. Prof. N. S. Jagannadha Rao, ALERT 2003. Vol. 1 Pg. 408
10. D. D. Basu., Introduction to the Constitution of India, 23rd Edition, Lexis Nexis
11. 1985 Crimes Vol-1 p. 975
12. (1995) 3 SCC 635
13. AIR 1997 Sc 3280
14. AIR 2003 SC 2902
15. AIR 2000 SC 1650
16. AIR 1989 Cal. 1
17. AIR 1995 Ker.252
18. AIR 1997 Bom. 349
19. 2006 (4) SCC 558
20. 2008 (1) HLR 8 (Raj.)
21. 2008 HLR 250 (Nagpur)
22. 217th Indian Law Commission Report was forwarded on 30 March 2009.
23. Prof. N. S. Jagannadha Rao, ALERT 2003. Vol. 1 Pg. 409

●

'प्रज्ञा' पत्रिका अंक - 66, भाग-1, वर्ष 2020-21 का लोकार्पण करते हुए कुलगुरू एवं कार्यवाहक कुलपति प्रो. विजय कुमार शुक्ल और साथ में हैं, प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय, संपादक (मानद) 'प्रज्ञा' जर्नल
स्थान एवं दिनांक - कुलगुरू का कक्ष, 19 अगस्त 2021

'प्रज्ञा' जर्नल के लोकार्पण के समय लिया गया चित्र (फोटो)
मध्य में– कुलगुरू एवं कार्यवाहक कुलपति प्रो. विजय कुमार शुक्ल
कुलगुरू एवं कार्यवाहक कुलपति के दायें– प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी, सदस्य सम्पादक मण्डल; प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय, सम्पादक (मानद) 'प्रज्ञा' जर्नल; प्रो. कमल नयन द्विवेदी, सदस्य सम्पादक मण्डल
कुलगुरू एवं कार्यवाहक कुलपति के बायें– प्रो. जय शंकर झा, सदस्य सम्पादक मण्डल; प्रो. आनन्द प्रसाद मिश्र, सदस्य सम्पादक मण्डल

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

BANARAS HINDU UNIVERSITY

सर्वविद्या की राजधानी

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।
2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना।
3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-सम्पदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।
4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

OBJECTIVES OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Sanskrit literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India;
2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches;
3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge, combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country; and
4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.